भारतीय दर्शन

[भारतवर्ष की विविध दार्शनिक–वैदिक और तान्त्रिक–विचारधाराओं का प्रामाणिक विवेचन]

(सभी विश्वविद्यालयों में बी. ए., एम. ए. का पाठ्यग्रन्थ)

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व सञ्चालक, अनुसन्धान संस्थान,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना-लेखक

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
वाराणसी (भारत)

भारतीय दर्शन

[भारतवर्ष की विविध दार्शनिक–वैदिक और तान्त्रिक–
विचारधाराओं का प्रामाणिक विवेचन]

(सभी विश्वविद्यालयों में बी. ए., एम. ए. का पाठ्यग्रन्थ)

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व सञ्चालक, अनुसन्धान संस्थान,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना-लेखक

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

वाराणसी (भारत)

BHĀRATĪYA DARŚANA

[An authentic and comprehensive exposition of the doctrines of the different schools of the Indian Philosophy—Vedic and Tāntric]

(Text Book for B. A., M. A. of all the Universities)

By

ĀCHĀRYA BALDEVA UPĀDHYĀYA

Ex-Director, Research Institute,
Sampūrṇananda Sanskrit Vishvavidyālaya,
Varanasi

Foreword by

M. M. GOPĪNĀTH KAVIRĀJ

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

VARANASI (INDIA)

एक तत्त्व

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

(ऋग्वेद)

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

(कालिदास)

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।

(पुष्पदन्त)

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्वोदधिः

(सिद्धसेन दिवाकर)

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति ।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

(अभिनवगुप्ताचार्य)

Thou Great First Cause least understood,
Who all my sense confin'd
To know but this, that Thou art good,
And that myself am blind.

—Pope.

Our little systems have their day,
They have their day and cease to be;
They are but broken lights of Thee;
And Thou, O Lord, art more than they.

—Lord Tennyson.

O God, our help in ages past,
Our hope for years to come,
Our shelter from the stormy blast.
And our eternal home.

—Isaac Watts.

...trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home.

—Wordsworth.

●

प्राक्कथन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने इन पृष्ठों में प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान का एक साङ्गोपाङ्ग विवरण हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, षड्दर्शन, पाञ्चरात्र और (गौडीयमत को सम्मिलित कर) पाँचों वैष्णव सम्प्रदाय, अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी विभिन्न शैव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों के महत्त्वशाली दर्शनशास्त्रों की इस ग्रन्थ में आलोचना की गयी है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-संग्रह' की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। स्थान के परिमित होने के कारण ग्रन्थकार को विभिन्न तान्त्रिक तथा शैव, शाक्तादि मतों का विवेचन कुछ संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है, परन्तु जो कुछ कार्य वस्तुतः सम्पादित किया गया है वह इतना विशाल है कि यह आवश्यक सङ्कोच विशेष महत्त्व का प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी जनता के सामने यह ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान के विषय में एक अत्यन्त मूल्यवान् कृति है। दार्शनिक विचारों का परिपूर्ण तथा क्रमबद्ध विवेचन होने के अतिरिक्त इस पुस्तक में बहुत ही अधिक उपादेय आलोचना और इतिहाससम्बन्धी सामग्री संकलित की गई है। भारतीय विचारशास्त्र में महत्त्वशाली मतभेद होने पर भी, वह परस्पर-सम्बद्ध अखण्डरूप है और उसके प्रत्येक अंश पर वस्तुतः स्वयं परिपूर्ण होने की छाप पड़ी है। जितनी भिन्नतायें दिखलाई पड़ती हैं विभिन्न दृष्टियों के मानने के कारण, उनकी सुसङ्गत व्याख्या की जा सकती है। 'सत्य' के खोज करने वाले साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रगतिशील होती हैं। उन्हीं पर अवलम्बित होने से तार्किक विकास को ध्यान में रखकर, ये दृष्टियाँ सोपान-परम्परा की तरह क्रमबद्ध रखी जा सकती हैं। प्रत्येक दर्शन का गहरा अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित की जा सकती है।

ग्रन्थकार के पास पर्याप्त स्थान नहीं है कि वह विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करे। विभिन्न दर्शनों के विषयों के समालोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि भारतीय दर्शन के प्रेमी हिन्दी पाठकों की मण्डली में ही नहीं; प्रत्युत भारत के समग्र विश्वविद्यालयों तथा शिक्षासंस्थाओं में जहाँ हिन्दी स्वतन्त्र रूप से पढ़ाई जाती है या शिक्षण का माध्यम है इस नितान्त उपादेय पुस्तक का सहानुभूति तथा आदर के साथ स्वागत किया जावेगा।

गोपीनाथ कविराज
(महामहोपाध्याय, पद्मविभूषण)

काशी }

पण्डित रामसुचित उपाध्याय
(१९३२ सं०—१९७८ सं०)

गोलोकवासी

श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ व्याख्याता

पूज्यपाद पितृचरण

पण्डित श्री रामसुचित उपाध्याय जी

की

पुण्यमयी स्मृति में

सादर सप्रेम

समर्पित

—बलदेव

वक्तव्य

विश्व एक रहस्यमयी पहेली है जिसे सुलझाने के लिए अनेक सभ्य और शिक्षित देशों के चिन्ताशील विद्वानों ने श्लाघनीय प्रयास किया है। भारतवर्ष के तत्त्ववेत्ताओं ने अपनी प्रातिभ चक्षु के द्वारा जिन सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार किया है और अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, वे दर्शन के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली हैं। यही विचारशास्त्र भारतीय धर्म तथा संस्कृति का मेरुदण्ड है। मानसिक दासता के पंक में लिप्त रहनेवाले आजकल के भारतीय पश्चिमी सभ्यता के चाकचिक्य के सामने इन अनुपम ज्ञानराशियों की अवहेलना भले ही करें, परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि यदि भारतवर्ष अतीत में गौरवशाली था तो इन्हीं के कारण; यदि वर्तमानकाल में वह ख्यातनामा है तो इन्हीं के हेतु और यदि भविष्य में इस देश की चिन्तन-जगत् में स्वतन्त्र सत्ता बनी रहेगी, तो पुण्यात्मा महर्षियों के द्वारा साक्षात्कृत इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों के बल पर। तत्त्वज्ञान तो भारतीय संस्कृति और धर्म की मूल प्रतिष्ठा है जिसके उदय और अभ्युदय से परिचित होना प्रत्येक शिक्षित भारतीय का परम पावन कर्तव्य है। इसी भारतीय तत्त्वज्ञान का मार्मिक विश्लेषण और गंभीर अध्ययन इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है।

इस ग्रन्थ में चार खण्ड हैं:—प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शन का उपोद्घात, श्रौत दर्शन और गीता दर्शन का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में वेदबाह्य दर्शनों का—चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन का विवरण है। तृतीय खण्ड में प्रख्यात षड् दर्शनों का—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा (वेदान्त) का विवेचन है। चतुर्थ खण्ड में तन्त्रशास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन है। इस खण्ड में तन्त्र की साधना और उपादेयता की मीमांसा है। तदन्तर वैष्णवतन्त्रों का—पाञ्चरात्र, वैखानस तथा भागवत का—परिचय संक्षेप में दिया गया है। शैवतन्त्रों के नाना भेद उपभेद का—पाशुपत, कापालिक, कालामुख, वीरशैव, शैवसिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा तथा क्रमदर्शन का—क्रमशः सुबोध विवेचन किया गया है। शाक्त दर्शन के प्रसङ्ग में कौल दर्शन के सूक्ष्म रहस्यों का विश्लेषण है। तन्त्र भारतीय मनीषियों के विचारमन्दिर का कलश है जिसकी महनीयता और उदात्तता का परिचय तत्तद् विषयों के गम्भीर अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है। इनमें भी क्रमदर्शन और कुलदर्शन की मीमांसा नितान्त गम्भीर,

आवर्जनीय और मननीय है। निगमागममूलक भारतीय धर्म के दो प्रतिष्ठा-पीठ हैं—निगम (वेद) तथा आगम (तन्त्र)। अतएव सनातन धर्म को समझने के लिए वेदमूलक तथा तन्त्रमूलक विचारधारा से परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। विना इस परिचय के भारतीय धर्म एक रहस्यमय पहेली बना रहेगा। इस ग्रन्थ में तन्त्रों का विस्तृत विवेचन अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यथासम्भव इन तथ्यों का मौलिक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

ग्रन्थ में 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते' की मल्लिनाथी प्रतिज्ञा निभाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक पृष्ठ के नीचे टिप्पणियाँ न देकर उन्हें परिशिष्ट भाग में पृथक् रूपसे संकलित किया गया है। कुछ ऐसे भी गम्भीर तथ्यों का प्रतिपादन है जो सामान्य पाठक को सद्यः बोधगम्य नहीं हो सकता, उन्हें भी परिशिष्ट में रखा गया है। मूल ग्रन्थ के स्थलनिर्देश के लिए पृष्ठों का संकेत किया गया है।

टिप्पणी–भाग की विषय-सूची पृथक् रूप से प्रस्तुत की गई है जिससे तद्गत नवीन विषयों के प्रतिपादन की ओर पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट हो। बौद्धदर्शन के प्रसङ्ग में 'निर्वाण' के स्वरूप तथा महत्त्व के विषय में गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो एतद्-विषयक विवेचनों का सार अंश उपस्थित करता है तथा निर्वाण के विषय में मौलिक दृष्टि अग्रसर करता है। इसी प्रकार 'योगदर्शन' के अन्तर्गत 'निर्माणचित्त' का महनीय प्रसङ्ग तुलनात्मक दृष्टि से उपन्यस्त है जो इस महत्त्वपूर्ण विषय का रहस्य खोलने में वस्तुतः समर्थ होगा–इसकी लेखक पूरी आस्था रखता है।

अन्त में भगवान् श्यामसुन्दर से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपना सन्देश शिक्षित जनता में वितरण कर कृतकृत्यता प्राप्त करे। तथास्तु—

नवीनघनसुन्दरे विमलहेमपीताम्बरे
त्रिभङ्गिमकलेवरे मुरलिचुम्बिबिम्बाधरे।
मनोज्ञ-रसलम्पटे सखि ! विलोक्य वंशीवटे
मनो मम निरन्तरं मदनमोहने मज्जतु ॥

वाराणसी
अक्षयतृतीया, २०३३
२–५–७६

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

तन्त्र-मत का इतिहास

1

परिशिष्ट खण्ड (टिप्पणियाँ)

संकेत सूची

अभि० को० = अभिधर्मकोष
अहि० सं० = अहिर्बुध्न्य-संहिता
ऐत० उप० = ऐतरेय उपनिषद्
ऐत० आर० = ऐतरेय आरण्यक
किरणा० = किरणावली
कौषी० = कौषितकी उपनिषद्
छा० उप० = छान्दोग्य उपनिषद्
त० कौ० = तत्त्वकौमुदी
त० वै० = तत्त्ववैशारदी
त० सू० = तत्त्वार्थसूत्र
ता० टी० = तात्पर्य टीका
तैत्ति० भा० = तैत्तिरीयभाष्य
दी० नि० = दीर्घनिकाय
न्या० क० = न्यायकन्दली
न्या० भा० = न्यायभाष्य
न्या० मं० = न्यायमंजरी
न्या० सू० = न्यायसूत्र
प्र० पा० भा० = प्रशस्तपादभाष्य
बृ० सू० = बृहस्पतिसूत्र
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
भा० भा० = भास्करभाष्य
भा० प० = भाषा परिच्छेद
म० सि० सा० = मध्वसिद्धान्तसार
मा० का० = माण्डूक्यकारिका
मा० मे० = मानमेयोदय
मि० प्र० = मिलिन्दप्रश्न
मी० सू० = मीमांसासूत्र
मुक्ता० = मुक्तावली
मु० उप० = मुण्डक उपनिषद्
यो० भा० = योगभाष्य
यो० सू० = योगसूत्र
वा० प० = वाक्यपदीय
व्या० भा० = व्यासभाष्य
वे० प० = वेदान्तपरिभाषा
वे० सा० = वेदान्तसार
वै० सू० = वैशेषिकसूत्र
श्लो० वा० = श्लोकवार्तिक
शा० भा० = शाङ्करभाष्य
शा० भा० = शारीरकभाष्य
शा० दी० = शास्त्रदीपिका
स० द० सं० = सर्व-दर्शन-संग्रह
सां० का० = सांख्यकारिका

भारतीय दर्शन

प्रथम खण्ड

(१) उपोद्घात
(२) श्रौत दर्शन
(३) गीता दर्शन

भारतीय दर्शन

प्रथम परिच्छेद

उपोद्‌घात

भारत का यह पुण्यमय देश सदा से प्रकृतिनटी का रमणीय रङ्गस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने करकमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार बनाया है। इसका बाह्य रूप कितना मनोरम है! उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय, जिसकी उत्तुङ्ग शिखर-श्रेणियाँ मानो बाहरी संसार को भारत की आध्यात्मिक उन्नति का परिचय दे रही हैं। दक्षिण में नीलाभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चञ्चल लहरिकायें इसके चरणयुगल को प्रक्षालित करती हुई शोभा का विस्तार कर रही हैं। पश्चिम में अरब सागर तथा पूरब में बङ्गाल की श्याम खाड़ी। मध्यप्रदेश में बहनेवाली गंगा-यमुना की विमल धारायें इसे शस्यश्यामल बना रही हैं। भारत का यह बाह्य रूप जितना ही भव्य तथा मनोहर है, उसका आन्तर रूप उतना ही अभिराम तथा आभामय है। इस जगतीतल पर सभ्यता की जननी यही हमारी भारत-मही है। जिस समय अन्य देश अज्ञानान्धकार के गाढ पटल से संच्छन्न होकर अभी बर्बरता का जीवन बिता रहे थे, उस समय इस भारत के गगन में प्रथम प्रभात का उदय हुआ था, ज्ञानसूर्य की प्रकाशमान किरणों ने अविद्या के घने तिमिर-मंडल को छिन्न-भिन्न किया था। पृथ्वीतल पर सभ्यता का विस्तार करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। "इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा था"—निखिल मानवों के

कल्याणार्थ स्मृति की रचना करनेवाले महर्षि मनु का यह कथन[१] कोरी कल्पना नहीं है; अपितु यह इतिहास की कसौटी पर कसे जाने पर नितान्त सत्य प्रमाणित हो चुका है। कुछ ऐसा ही कारण होगा जिससे इस कर्मभूमि के अजिर में जन्म ग्रहण करने के लिए भोगभूमि स्वर्ग के अधिवासी देवतागण भी लालायित थे, तथा यहाँ के निवासियों की भूरी-भूरि प्रशंसा करते हुए कभी नहीं अघाते थे[२]। इसी भारतवर्ष की विद्याओं में से सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या के महत्त्व तथा स्वरूप, आविर्भाव तथा विकास की विविध प्रवृत्तियों के अध्ययन करने का प्रयत्न हम इस ग्रन्थ में कर रहे हैं।

१—'दर्शन' का अर्थ तथा उपयोग

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्ष बनाये रहता है;

उपयोगिता कभी वह लड़ता है अपनी विरोधी परिस्थितियों से और कभी वह संघर्ष करता है उसे दबानेवाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से। भेद इतना ही रहता है कि अन्य जीव विना विचार किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवन-संग्राम में लगा रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है, चाहे इसका ध्यान उसे रहता है या नहीं, पर उपयोग करता है वह अवश्य। शान्त चित्त से विचार करने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानव दृश्य या अदृश्य जगत्-विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का एक समुदायमात्र है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। गीता (१७।३) कहती है—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः", अर्थात् श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है। इस

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।
(मनुस्मृति २।२०)

२. अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥
(श्रीमद्भागवत, स्कं० ५, अ० १६, श्लो० २१)

प्रकार प्रत्येक मनुष्य का 'दर्शन' होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। इस तरह 'दर्शन' हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है। हम उसे अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार कोई उसे निकाल कर अलग फेंकने का दुःसाहस करे, तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होगा; यह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत पशु का जीवन होगा। इसलिये पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है—धर्म = धारण करनेवाला वस्तुसमुदाय, उसका विवेक, उसका विचार या उसका दर्शन।

दर्शन का अर्थ

'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम् = जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय? वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इसकी सृष्टि का कौन कारण है? यह चेतन है या अचेतन? इस संसार में हमारे लिये कौन से कार्य कर्तव्य हैं? जीवन को सुचारु रूप से बिताने के लिये कौन-सा सुन्दर साधन-मार्ग है? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना 'दर्शन' का प्रधान ध्येय है। दर्शन को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ क्या है? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है :—

> शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
> शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
> शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्॥

'शास्त्र' की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है—शास् = आज्ञा करना तथा शंस् = प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करनेवाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेधरूप होने से दो प्रकार के होते हैं। श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य हैं (विधि) तथा निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय हैं (निषेध)। अतः 'शासन' अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिये उपयुक्त है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधक-शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन-शास्त्र क्रिया-परक होता है, पर शंसक-शास्त्र ज्ञान-परक होता है। शंसक-शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' शब्द के साथ होता है। धर्मशास्त्र कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानतया विधान करने से 'पुरुष परतन्त्र' है, पर दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से 'वस्तुतन्त्र' है।

'फ़िलासफ़ी' शब्द के साथ तुलना

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा 'फ़िलासफ़ी' है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है--'फ़िलास' = प्रेम या अनुराग तथा 'सोफ़िया' = विद्या। अतः इस शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम = विद्यानुराग। ग्रीस देश में इस शब्द का पहले पहल प्रचलन हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक हिरोडोटस (विक्रम पूर्व पञ्चम शताब्दी) ने सर्वप्रथम क्रीसस के द्वारा दार्शनिक सोलन के लिये इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख किया है। पेरिक्लीज के प्रसिद्ध व्याख्यान में एथेन्स के निवासियों को विद्यानुरागी बतलाने के लिए थ्युसिडाइड्स ने भी इस शब्द का प्रयोग किया। सुकरात ने उस समय के प्रसिद्ध, विज्ञान आदि विषयों के व्याख्याता सोफ़िस्ट (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिये अपने आपको फ़िलासफ़र (ज्ञानानुरागी = ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील) बतलाया है[1]। सुकरात के शिष्य अफलातू (प्लेटो) तथा प्रशिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) ने इसका प्रचार ही नहीं किया; प्रत्युत इसकी विभिन्न शाखाओं पर प्रामाणिक निबन्धों का निर्माण कर पाश्चात्य दर्शन के वास्तविक प्रचारक बने। इस प्रकार 'फ़िलासफ़ी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है--विद्या का प्रेम या विद्यानुराग। जो विद्वज्जन जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक या सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करने में प्रयत्नशील होते थे वे 'फ़िलासफ़र' (विद्यानुरागी) कहलाते थे। इस मूल अर्थ की अधिक व्यापकता के कारण आजकल इसका प्रयोग कुछ संकुचित अर्थ में होने लगा है। प्रारम्भ में 'फ़िलासफ़ी' के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतीतल के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को 'विज्ञान' कहते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योतिःशास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्भावित सत्यों का एकीकरण 'फिलासफी' का विषय है। अतः ब्रह्माण्ड-जगत्, जीव तथा ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन 'विज्ञान' में तथा सामान्य रूप का अध्ययन 'फ़िलासफ़ी' में किया जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से 'दर्शन' के लिये 'फ़िलासफ़ी' का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों के ध्येय में नितान्त पार्थक्य है, जिस पर दृष्टिपात न करना अनुचित होगा।

---

१. 'फ़िलासफ़ी' के प्रयोग तथा अर्थ के लिये देखिए—
कुल्पे—इन्ट्रोडक्शन टू फ़िलासफ़ी (परिच्छेद प्रथम)।

इन दोनों शब्दों की जो व्युत्पत्ति तथा व्याख्या ऊपर दी गई है, उससे दोनों के उद्देश्यों के पृथक् होने की पर्याप्त सूचना मिलती है। 'फ़िलासफ़ी' कल्पना-कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधनमात्र है। जगतीतल की अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों के जानने के लिए, कौतुक को शान्त करने के लिए, 'फ़िलासफ़ी' की उत्पत्ति बतलाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की छानबीन करने में मनमानी कल्पना करने का बाजार पश्चिमी दर्शन जगत् में खूब गरम है। पश्चिम का तत्त्वज्ञ उस नाविक के समान होता है जो विना किसी गन्तव्य स्थान के निर्धारण किए ही अपनी नौका विचार-सागर में डाल देता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि नाव किस घाट लगेगी; अगर वह मीरघाट पर अटक रही तो भी खुशी है, यदि तीरघाट पर लग जाय तो भी आनन्द है। इसके विपरीत भारतीय दर्शनकार दुःखत्रय—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—के रात्रिदिव विघात से उद्विग्न होकर इनके आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय अपनी सूक्ष्म विवेचना शक्ति के आधार पर करके ही वह साधन-मार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गन्तव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक, लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वाङ्गीण होती है।

दर्शन तथा फ़िलासफ़ी में उद्देश्य-विषयक पार्थक्य

भारतीय दर्शन का पाश्चात्य दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए पाश्चात्य दर्शन के श्रेणी-विभाग का ज्ञान अपेक्षित है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों ने इसे विभिन्न रीति से किया है, पर निम्नलिखित श्रेणीविभाग में अधिकांश दार्शनिकों का ऐकमत्य है—

पाश्चात्य दर्शन का श्रेणी-विभाग

(१) मेटाफ़िज़िक्स (तत्त्वमीमांसा)—इस दर्शन का विवेच्य पदार्थ 'सत्' है। इस संसार में प्रकृति स्वयं प्राणियों के सामने सत्य तथा प्रातीतिक सत्य पदार्थों को उपस्थित करती है। अतः 'प्रतीति' से 'सत्' को पृथक् करने में इस दर्शन-विभाग की उपयोगिता है। दो प्रकार की वस्तुओं के निश्चयात्मक रूप से सत्य माने जाने की सम्भावना है—(१) भौतिक पदार्थ (यथा—वृक्ष, पर्वत नदी आदि) तथा (२) मानसिक दशा (यथा—सुख, दुःख, औदासीन्य आदि)।

जिन दार्शनिकों की दृष्टि में भौतिक पदार्थ की ही स्वतन्त्र सत्ता है और मानसिक दशायें भौतिक सत्यता की आभास मात्र हैं, उन्हें मैटीरिअलिस्ट या नैचुरलिस्ट (भौतिकवादी) कहते हैं, पर जिनकी दृष्टि में सुख, दुःखादि मानसिक दशाओं की या मानस-मात्र की स्वतन्त्र सत्ता है और भौतिक पदार्थ केवल मानस सत्ता के प्रतीति मात्र हैं उन्हें आइडीअलिस्ट (प्रत्ययवादी) कहते हैं। कुछ दार्शनिक भौतिक तथा मानस दोनों जगतों की निरपेक्ष तथा शाश्वतिक सत्यता को अंगीकार करते हैं, उन्हें ड्युअलिस्ट (द्वैतवादी) की संज्ञा दी जाती है। प्रत्ययवाद के विरोधी सिद्धान्त को रीअलिज्म (वास्तववाद) कहते हैं। इनके मन्तव्यानुसार इस जगत् के पदार्थ उसी रूप में 'सत्' हैं जिस रूप में हम उन्हें अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार करते हैं। वास्तववाद प्रत्ययवाद की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विषयप्रधान माना जाता है।

(२) एपिस्टोमोलाजी (प्रमाणमीमांसा)—इसका विषय ज्ञान की विवेचना है। इसके भी अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया जाता है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयों की समीक्षा इस दर्शन में की जाती है। ज्ञान की सीमा के साथ-साथ ज्ञान-गम्यता तथा ज्ञानातीतता का विचार संवलित है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा अधिगम्य हैं, परन्तु कुछ अनुभव से अतीत हैं; इन दोनों का पृथक्करण नितान्त आवश्यक है। जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं उन्हें 'एपोस्टिओरि' (अनुभवजन्य) कहते हैं और जो पदार्थ अपनी सत्ता क लिए अनुभव से स्वतन्त्र रहते हैं उन्हें 'एप्राओरि' (अनुभवाजन्य) कहते हैं। इनकी विशद व्याख्या इस दर्शन में की जाती है।

(३) लॉजिक (तर्कशास्त्र)—इसका उपयोग ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया के विवेचन में किया जाता है। किसी तर्क को सत्य तथा प्रामाणिक होने के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। इन्हीं नियमों का यथार्थ तथा विशद वर्णन 'लॉजिक' में किया जाता है। 'लॉजिक' के दो विभाग हैं—डिडक्टिव (निगमन)—सामान्य से विशेष का अनुसन्धान तथा (२) इन्डक्टिव—विशिष्ट दृष्टान्तों का अध्ययन कर सामान्य सिद्धान्त को खोज निकालना। पहले में केवल वैधिक सत्यता आवश्यक मानी जाती है, पर द्वितीय विभाग में वास्तविक भौतिक सत्यता विद्यमान रहती है। इन तीनों विभागों को सामान्य रूप से थिओरेटिकल फिलासफी (कल्पनात्मक दर्शन) कहते हैं।

(४) एथिक्स (आचारमीमांसा या कर्तव्यशास्त्र)—आचार या कर्तव्य की मीमांसा इस दर्शन का प्रधान विषय है। मानवमात्र के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह अपने जीवन को क्योंकर उपयोगी बनावे। इस संसार के ऊपर दो प्रकार के दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में मानव-जीवन की दशा निसर्गतः बुरी है। जिन कामनाओं की सृष्टि प्रकृति ने सुख की उपलब्धि के उद्देश्य से की है, वे वास्तव में दुःखोत्पादक ही हैं। अतः उनका कथमपि विश्वास नहीं किया जा सकता। इस जगत् में दुःख ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। अतः इससे निराशा की उत्पत्ति ही अन्त में होती है। ऐसे मत का नाम है—पेसिमिज़्म (नैराश्यवाद)। परन्तु दूसरे दार्शनिकों की दृष्टि में मानव-जीवन स्वभावतः शोभन है। दुःख आपाततः ही दिखलाई पड़ता है; विषाद मानव-जीवन को कतिपय क्षणों के लिए ही कलुषित करने में समर्थ होता है, अन्त में आनन्द की ही विजय होती है; दुःख का नाश अवश्य होता है। इस मत का नाम है—ऑप्टिमिज़्म (आशावाद)। जीवन का ध्येय क्या है? सुख की प्राप्ति या कल्याण की उपलब्धि? 'कर्तव्य' किसे कहते हैं, तथा वह कितने प्रकार का होता है? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है? इन प्रश्नों का समुचित विवेचन एथिक्स में किया गया है।

(५) एस्थेटिक्स (सौन्दर्यमीमांसा)—ग्रीस के प्राचीन दार्शनिकों ने इस विषय का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया, परन्तु १८ वीं शताब्दी में यूरोप में इस दर्शन की विशद छानबीन आरम्भ हुई, जो इस समय विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती है। जर्मन दार्शनिक बाउमगार्टेन ने 'एस्थेटिक्स' शब्द का सबसे प्रथम सौन्दर्यशास्त्र के अर्थ में प्रयोग किया। इस दर्शन को स्वतन्त्र विवेचन का भाजन बनाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसके प्रधानतया दो विभाग हैं—

(क) सौन्दर्य-निर्णय—किसी चीज को सुन्दर बनाने का क्या कारण है? किसी वस्तु के अवलोकन से सुख या दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है? 'सुन्दरता' की तात्त्विक व्याख्या क्या है? इन प्रश्नों का उचित उत्तर इस विभाग में मिलता है।

(ख) व्यावहारिक सौन्दर्य—सौन्दर्य को कलारूप में परिवर्तित होने की व्याख्या है। कला का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है। चित्रणीय वस्तु तथा चित्र में कौन सा सम्बन्ध होता है? कलाकार में प्रकृति, कल्पना, स्मृति आदि किन गुणों की सत्ता होने से सामान्य वस्तु कला के रूप में परिवर्तित हो जाती है? इन्हीं का उत्तर इस विभाग में दिया जाता है।

(६) साइकोलॉजी (मनोविज्ञान)—मन की विविध प्रवृत्तियों का शास्त्रीय विवेचन है। इस दर्शन ने आजकल इतनी उन्नति कर ली है कि इसे अधिकांश आलोचक 'विज्ञान' के अन्तर्गत मानने के पक्षपाती हैं। आजकल प्रयोगशाला में प्रयोग-द्वारा मानशिक दशाओं की शास्त्रीय तथा यथार्थ व्याख्यायें की जाती हैं। डाक्टर फ्रायड ने अपनी मौलिक गवेषणाओं के बल पर मनोविज्ञान के जिस नूतन अंग (साइको-एनेलसिस या मानसिक विश्लेषण) को प्रवर्तित किया है उसने दार्शनिक जगत् के बाहर भी एक विशिष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

२—भारतीय दर्शन की कतिपय विशेषताएँ

प्रकृति ने इस भारतभूमि को मानव-जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर इस देश के अधिवासियों को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर किया है। यह देश निसर्गतः विचार-प्रधान है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, दिन-प्रतिदिन के

स्वतन्त्र-स्थिति

व्यावहारिक जीवन की ही समस्याएँ इतनी उलझी हुई हैं कि उन्हीं के सुलझाने में वहाँ के निवासियों का समय व्यतीत हुवा करता है। जगत् के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की छानबीन करना, यथार्थ रूप से विचार करना, उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं, परन्तु भारत में ऐसी दशा नहीं है। मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा बतलाया है[१]। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के अवसर पर समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या (विचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र) को अपना ही स्वरूप बतलाकर उसकी महत्ता पर्याप्तरूपेण प्रदर्शित की है[२]। अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य का कहना है कि 'आन्वीक्षिकी विद्या' सब विद्याओं के लिए दीपक है, सब कर्मों के अनुष्ठान का साधन-मार्ग है तथा सब धर्मों का आश्रय है[३]। जैसी स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी स्वतन्त्रता और कहीं भी इसे प्राप्त नहीं हुई। ग्रीस देश में अपनी उन्नति के

---

१. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (१।१)।

२. अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्—(गीता १०।३२)।

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता ॥
(कौटिल्य अर्थशास्त्र १।२)

समय में प्लेटो और अरिस्टाटल के महत्त्वपूर्ण काल में भी विचारशास्त्र, राजनीति या आचारशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में अध्ययन का विषय था; माध्यमिक काल में क्रिश्चियन धर्मशास्त्र के साथ तथा उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति, इतिहास तथा समाजशास्त्र के संग में इसके तत्त्वों का अन्वेषण किया गया है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र सदा अपने पैरों पर खड़ा रहा है, अध्ययन का स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, साथ ही सदा अन्य विद्याओं की प्रगति में सहायता देता आया है।

दर्शन और धर्म

भारततर्ष में दर्शनशास्त्र की लोक-प्रियता जितनी है उतनी किसी भी अन्य देश में नहीं। पाश्चात्त्य देशों में दर्शनशास्त्र विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन-मात्र है। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मन-मानी कल्पना किया करते हैं उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है, परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति करने के लिए ही भारत में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। विचारशास्त्र पण्डितजनों की कमनीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है; अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक जगतीतल पर है। अन्य देश में विचारशास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है, किन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ प्रतिष्ठा है; जैसा विचार, वैसा आचार। विना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और विना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। इन दोनों का सामञ्जस्य जितना इस भारतवर्ष में दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं। पश्चिमी विचारशास्त्र के अनेकांश में प्रतिष्ठाता यूनानी दार्शनिक अफलातूँ (प्लेटो) की यह नितान्त विख्यात उक्ति है कि दर्शन का उद्गम आश्चर्य से होता है (फिलासफी बिगिन्स इन वन्डर), आश्चर्य-जनक तथा कौतुक-मय घटना की व्याख्या से विचारशास्त्र की उत्पत्ति होती है, परन्तु भारत मे तो इसकी उत्पत्ति दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या तथा उसके निराकरण करने के लिए साधन-मार्ग की विवेचना से होती है। भारतीय जीवन तथा धर्म के ऊपर इतना प्रकृष्ट प्रभाव डालने के कारण ही दर्शन की इतनी लोकप्रियता है।

भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिककाल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस धारा में विराम के दर्शन तो कभी नहीं हुए। अन्य देशों के दर्शनशास्त्र से तुलना करने पर इस विशेषता की महत्ता का पर्याप्त रूप से अनुभव किया जा सकता है। क्या किसी अन्य देश में विचार-धारा इतने प्राचीनकाल से प्रवाहित हो रही है? आधुनिक काल में महत्ता पानेवाला पाश्चात्य दर्शन क्या अपने जीवन में इतना विपुल विकास पाने में समर्थ हो सका है? पाश्चात्य दर्शन की उत्पत्ति विक्रम-पूर्व सातवीं शताब्दी के आसपास प्राचीन यूनान में हुई, परन्तु उसका प्रवाह चलते चलते रुक गया; फिर किसी विशेष दार्शनिक का जन्म हुआ और उसके प्रभाव से वह विचारधारा कुछ और अग्रसर हुई। जब तक उसका प्रभाव बना रहता है तब तक इसका प्रवाह भी समीचीन रूप से बहता है, परन्तु उसके प्रभाव के न्यून होते ही यह प्रवाह फिर स्थगित हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन की धारा उस नदी के समान है, जो कभी दृष्टिगत होती है और कभी दृष्टि से ओझल हो जाती है, परन्तु भारतीय दर्शन की धारा उस पुण्यसलिला गंगा के समान है, जो अनेक क्षुद्र नद तथा विपुलकाय नदियों के जल से परिपुष्ट होती हुई शुष्क स्थानों को जलाप्लावित तथा क्षेत्रों को शस्य-सम्पन्न बनाती हुई अपने निश्चित गन्तव्य स्थान की ओर समभाव से सदैव बहती चली जाती है। इस दीर्घकाल के जीवन में विभिन्न सभ्यताभिमानी जातियों तथा धर्माभिमानी पुरुषों के साथ सम्पर्क होने पर भी भारतेतर विचारों का प्रभाव इस दर्शन पर तनिक भी न पड़ सका; प्रत्युत अपनी विशालता तथा विशुद्धता के कारण इसी ने अन्य दर्शनों के ऊपर प्रकृष्ट प्रभाव जमाने में विशेष क्षमता प्राप्त की। प्राचीन यूनान के विचारक-मूर्धन्य पाइथेगोरस के रेखागणित, धर्म तथा दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर--विशेषतः पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के ऊपर--भारतीय दर्शन के प्रभाव पड़ने की घटना इतिहास के साक्ष्य पर प्रामाणिक मानी जाती है। सूफी लोगों के ऊपर वेदान्त तथा तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा ही था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कर उनके सिद्धान्तों को स्वधर्मावलम्बियों में फैलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। फारसी भाषा में अनूदित इन्हीं उपनिषदों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया, जिसके कारण भारतीय विचार की श्रेष्ठता तथा सुन्दरता का परिचय पहले पहल यूरोप के दार्शनिकों को हुआ। इन्हीं अनुवादों को पढ़कर जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावेर उपनिषदों के सूक्ष्म, उन्नत विचारों पर इतने रीझ गये थे कि उन्हें

अविच्छिन्नता

अनेक सिद्धान्तों की स्फूर्ति इन ग्रन्थों से हुई और उन्होंने यह उदार हृदयोद्गार निकाला कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देनेवाले हैं और मेरी मृत्यु में भी सन्तोष देनेवाले रहेंगे। आजकल भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद संसार की समस्त सभ्य भाषाओं में हो गये हैं या हो रहे हैं। साथ ही इन अनुवादों के द्वारा भारत के विचार-शास्त्र का प्रभाव अलक्षित रूप से संसार के धर्मों तथा दर्शनों पर पड़ रहा है। इस प्रकार अन्य किसी विचारधारा से विना प्रभावित हुए अन्य दर्शनों पर प्रभाव डालने की विशेषता भारतीय दर्शनों की महत्ता सूचित कर रही है[1]।

भारतीय तत्त्वज्ञान भारतीय धर्मज्ञान के समान उदार तथा व्यापक, विशाल तथा विवेचनात्मक रहा है। भारतीय जनश्रुति का बोझ कभी इसके उन्नति-मार्ग में व्याघातक नहीं रहा है। ऐहिक तथा पारलौकिक तत्त्वों के विश्लेषण कार्य में तार्किक बुद्धि का उपयोग करने में ही दर्शन की दर्शनता है। यदि धार्मिक परम्परा इस नैसर्गिक कार्य में व्याघातक बनती है, तो विचारों का विकास स्वाभाविक रूप से अग्रसर नहीं हो सकता। यूरोप के माध्यमिक काल में ईसाई धर्म के संप्रदाय ने दर्शन का गला घोंट डाला। वह उस धर्म के अस्वाभाविक तर्क-विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगा। फलतः माध्यमिक काल में यूरोपीय तत्त्वज्ञान की बाढ़ रुक गई, वह धर्म के स्रोतहीन जलाशय के ऊपर ही तैरता रह गया। परन्तु इस पुण्यमय भारत देश में ऐसी विषम स्थिति कभी उपस्थित ही नहीं हुई। आरम्भ से ही भारतीय तत्त्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है और तार्किक बुद्धि की कसौटी पर धर्म के मानवीय सिद्धान्तों को भी बताने तथा परखने से वह कभी नहीं हिचकता। ईश्वर जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर भी वह अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में तनिक भी पीछे नहीं हटता। सांख्य ने ईश्वर की सत्ता के विषय में मौनावलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझा, यद्यपि उसे निश्चय है कि वह तार्किक युक्तियों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता[2]। योग एक निरतिशय ज्ञान-सम्पन्न परम पुरुष की कल्पना को स्वीकार करता है[3], परन्तु नैयायिकों की भाँति वह उसे जगत् का कर्ता

विवेचनात्मकता

---

१. कीथ—रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद, पृ० ६३४-३७।

२. ईश्वरासिद्धेः—सांख्यसूत्र १।९२।

३. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योगसूत्र १।२४।)

मानने के लिए उद्यत नहीं है। कर्ममीमांसा खंडन करने के लिए पूर्व पक्ष के रूप में ईश्वर का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करती है[१], क्योंकि जगत् के समस्त व्यवहार के लिए वह कर्म को ही सर्वप्रधान स्थान देती है[२]। प्राचीन बौद्धों (हीनयान मतावलम्बियों) को तथा जैनों को इस संसार के कार्य कलाप की व्याख्या के लिए ईश्वर के प्रति तनिक भी पक्ष-पात नहीं है। भौतिकवादी चार्वाकों ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर का निराकरण किया है, वैदिक विधि-विधानों की अस्वाभाविक तथा तर्क-विरुद्ध होने के कारण खुले शब्दों में खिल्ली उड़ाई है, ब्राह्मण पुरोहितों पर गालियों की बौछार की है, परन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में वेद-बाह्य चार्वाक भी उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना वेदानुयायी नैयायिक। निरीश्वरवादी सांख्य को उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्त को। इस प्रकार भारत के तत्त्वज्ञान में जो व्यापकता, उदार-हृदयता, विवेचना-शक्ति आलोचकों की दृष्टि को आनन्दित करती है, वह अन्य देश के तत्त्वज्ञान में अप्राप्य ही है।

३—भारतीय दर्शन का लक्ष्य

आर्यावर्त के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहेली को समझाने का जो प्रयत्न अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर किया है वह विचारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरव की वस्तु है। इन अनेक रूपात्मक, क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करनेवाले पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान रहनेवाली एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता को खोज निकालना प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शनशास्त्र को बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिवर्तन-शील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है—ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम ब्रह्म है तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा आत्मा है। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड तथा पिण्डाण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है। ब्रह्म कोई अलभ्य तथा अलौकिक और अद्भुत पदार्थ नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक (अन्तर्यामी) आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव किया करता है। इसीलिए ब्रह्म का साक्षात्कार करने तथा उसे पहचानने का

---

१. मानमेयोदय (अड्यार संस्करण, पृ० १६६–१७१।)

२. देखिए इसी ग्रन्थ में इन दर्शनों का वर्णन।

सबसे बड़ा उपाय है आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना। जगत् के समस्त प्रिय पदार्थों में श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा ही है।

आत्मा की श्रेष्ठता

क्या आत्मा की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की आवश्यकता है? जीवन के समस्त कार्य-कलापों के बीच इसी की शक्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। किसी जगह से शुरू कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ही ऊपर पर्यवसान होगा। शिक्षालयों के छात्र कितनी लगन से विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहते हैं? किस उद्देश्य से? मानना पड़ेगा कि ज्ञान-प्राप्ति की ही कामना से। ज्ञानोपलब्धि का फल है धन, धन से कौटुम्बिक सुख और कौटुम्बिक सुख का अन्तिम लाभ है—आत्मसुख। इसीसे हम कहते हैं कि कहीं से भी देखा जाय प्रिय पदार्थों की गणना में आत्मा ही प्रियतम (श्रेष्ठ) ठहरता है। इस विशाल विश्वरूपी वृत्त के केन्द्र में स्थित होनेवाला है—यही आत्मा। प्रियतम होने के कारण ही पुत्रवत्सल करुणामयी माता की भांति श्रुति उपदेश देती है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करो—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"। मुक्ति की कल्पना में पर्याप्त मतभेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में नितान्त एकमत हैं—"आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः"। आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है।

याज्ञवल्क्य का उपदेश

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४) की यह कथा प्रसिद्ध है कि वृद्धावस्था आने पर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी दोनों पत्नियों (कात्यायनी तथा मैत्रेयी) के बीच में कर दिया। तब विदुषी मैत्रेयी ने अस्थिर लौकिक सम्पत्ति के ग्रहण करने में बड़ी अनास्था दिखलाई और पूछा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे लिए धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उससे अमरत्व को प्राप्त कर सकूँगी? 'बिल्कुल नहीं' महर्षि ने उत्तर में कहा। "तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा जिसे आनन्द की समस्त सामग्रियाँ प्राप्त हैं, परन्तु केवल धन-प्राप्ति से अमरत्व पाने की तनिक भी आशा नहीं है"। तब मैत्रेयी ने पुनः पूछा कि जिस धन से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती उसको लेकर मैं क्या करूँगी? मैं तो अमरत्व की भूखी हूँ। तब महर्षि ने उससे सम्पत्ति से बढ़कर प्रियतर वस्तुओं का नाम पूछा। मैत्रेयी ने ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया। इस उत्तर को सुनकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के

इतिहास में सदा अमर रहेगा। उन्होंने कहा—"पति के लिए पति प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए। पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। पुत्र के लिए पुत्र प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होती, बल्कि आत्मा के लिए। अतः सबसे प्रिय वस्तु आत्मा ही है। इसलिये इस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान करना) चाहिये। क्योंकि आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है[1]।"

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश भारतीय दर्शन तथा धर्म की मूल भित्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का साक्षात्कार—आत्मा का साक्षात् अनुभव है। इस अनुभव के लिये उपनिषद् तीन साधनों का उपदेश देती है—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। आत्म-तत्त्व का श्रवण करना चाहिये श्रुति-वाक्यों से, मनन करना चाहिये तार्किक युक्तियों से तथा निदिध्यासन करना चाहिये योग-प्रतिपादित उपायों के द्वारा[2]।

श्रवण--आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से हमें प्राप्त करना चाहिये जिनमें आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के अनुभवों का वर्णन है। भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रन्थ-रत्न वेद हैं। इसीलिये भारतीय दर्शन में वेदों की इतनी महत्ता है, क्योंकि जिन ग्रन्थकारों ने अपने अनुभव के विना दूसरों के अनुभवों का वर्णन किया है उनके वचन हमारे लिये मान्य नहीं हो सकते। इसीलिये महर्षियों की स्वानुभूति को प्रदर्शित करनेवाली श्रुति तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रकट करने में सबसे अधिक प्रमाण मानी जाती है[3]। इसीलिये आत्म-तत्त्व-विचार के लिये भगवती श्रुति (वेद) की शरण लेना परमावश्यक है।

---

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति॥
(बृह० उप० २।४।८)

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

३. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
(मनु० २।१३।)

मनन—आत्मानुभव का दूसरा साधन मनन है। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त निःसंदिग्ध हैं, संशय के लिये उसमें कोई भी स्थान नहीं है; तथापि मनन जरूरी है। बिना तर्क का उपयोग किये किसी वस्तु का स्वरूप हृदयंगम नहीं किया जा सकता। संदेहहीन ज्ञान के एकमात्र उपयोगी होने से मनन की आवश्यकता है। इसी मननरूपी द्वितीय साधन के परमोपयोगी होने से दर्शनों का वास्तविक मूल्य है। दर्शनों ने इसी प्रमेयसिद्धि को लक्ष्य में रख कर स्वमतानुसार प्रमाण तथा उसकी पद्धति का विवेचन किया है। प्रमाणों का वास्तविक उपयोग प्रमेय की सिद्धि में ही होता है। इसीलिये मननोपयोगी दर्शनों ने प्रमाण-मीमांसा को इतना अधिक महत्त्व दिया है।

निदिध्यासन—आत्म-साधना का तृतीय साधन है—निदिध्यासन। योग-दर्शन में यह साधन प्रधानतया वर्णित तथा विवेचित है। 'अष्टाङ्गयोग' निदि-ध्यासन ही का उपाय है। ध्यान के द्वारा जब तक आत्मा का स्वानुभव नहीं होता, तबतक श्रवण तथा मनन का उपयोग ही क्या है? दिक्-काल से अनव-च्छिन्न, शान्त, तेजःस्वरूप परमात्मा की सत्ता का प्रधान प्रमाण है अपने आपका अनुभव। इसलिये भर्तृहरि ने ब्रह्म को "स्वानुभूत्येकमान" बतलाया है[1]। ध्यान ही इसके लिये प्रधान साधन है। संशय तभी हटाया जा सकता है जब मनन के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों का निरन्तर चिन्तन किया जाय। इन भ्रान्तियों को अपने हृदय से बिना उन्मूलित किये सच्चे सिद्धान्तों की कल्पना नहीं जम सकती। इसलिये निदिध्यासन आत्म-साधन का अन्तिम उपाय बतलाया गया है।

आत्म-साधन के इन त्रिविध साधनों में केन्द्रभूत उपाय मनन का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये आपस में एक दूसरे के उपकारी हैं। धर्म के सहयोग से भारतीय विचारशास्त्र की जीवन के ऊपर व्यापक दृष्टि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा दर्शन की आधारशिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म तर्कसिद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार इस पुण्य भूमि भारतवर्ष में गङ्गा और यमुना के सम्मिलन के समान धर्म तथा दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामञ्जस्य का सूचक है।

---

१. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्ताचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥
(भर्तृहरि—नीतिशतक, श्लो० १)

४—भारतीय दर्शन का श्रेणी-विभाग

हिन्दू ग्रन्थकारों ने भारतीय दर्शनों को दो विभागों में सिभक्त किया है—आस्तिक तथा नास्तिक।

(१) साधारण बोलचाल की भाषा में 'आस्तिक' ईश्वर को सत्ता मानने वाले को तथा 'नास्तिक' उस सत्ता के निषेध करने वाले को कहते हैं। परन्तु इस प्रचलित अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग दर्शनों के साथ नहीं किया गया है। आस्तिक दर्शनों में अन्तर्भुक्त होने पर भी कर्म-मीमांसा कर्म की महत्ता स्वीकार कर तथा फल के लिये 'अपूर्व' की कल्पना को प्रमाणयुक्त मानकर ईश्वर का निषेध करती है तथा सांख्य प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से सृष्टि-कार्य की सुसम्पन्नता मानकर ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है। बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शनों के लिये ईश्वर सत्ता के निषेधक होने के हेतु 'नास्तिक' शब्द प्रयोग के उपयुक्त भले हो, पर मीमांसा तथा सांख्य का आस्तिक दर्शनों के भीतर अन्तर्भाव इस दृष्टि से नितान्त अनुचित होगा।

(२) पाणिनि ने इसकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में की है—'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः'—अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वासशील पुरुष। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दों की व्युत्पत्ति—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०) सूत्र से ठक् प्रत्यय के द्वारा सिद्ध मानी गई है। इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ में व्यवहृत होने पर जैन तथा बौद्ध दर्शनों की भी गणना आस्तिक मतों में होने लगेगी, क्योंकि इन दर्शनों में भी अन्य दर्शनों के समान कर्म-सिद्धान्त अंगीकृत है तथा परलोक की सत्ता में इन्हें पक्का विश्वास है। इस दृष्टि से चर्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन ठहरेगा।

(३) अतः यहाँ 'आस्तिक' का प्रयोग पूर्वोक्त दोनों अर्थों में न होकर एक तीसरे ही अर्थ में किया गया है। 'आस्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा 'नास्तिक' वह है जो वेद की प्रमाणिकता का समर्थक न होकर उसका निन्दक है। मनु ने वेद-निन्दक को (नास्तिको वेद-निन्दकः २।११) नास्तिक माना है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया गया है। वेद की प्रमाणिकता मानने से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन माने जाते हैं तथा वेद की प्रामाणिकता न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक माने जाते हैं। तिस पर भी सब दृष्टि से ईश्वर, वेद तथा परलोक को न माननेवाला चार्वाक ही पक्का नास्तिक है।

परन्तु भारतीय दर्शनों का यह श्रेणी-विभाग उतना युक्तियुक्त नहीं है। पाञ्चरात्र संहिता, शैव संहिता तथा शाक्त संहिता में वैदिक तथा वेदबाह्य सिद्धान्तों का विचित्र संमिलन है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२) में बादरायण ने पाञ्चरात्र तथा शैव सिद्धान्तों को अवैदिक मानकर इनका सप्रमाण खण्डन किया है। पाञ्चरात्र के अंश को शंकराचार्य खण्डनात्मक मानते हैं, परन्तु रामानुजाचार्य के मन्तव्यानुसार सूत्रों में पाञ्चरात्र का मण्डन किया गया है। इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि पाशुपत तथा पाञ्चरात्र के सिद्धान्त नितान्त वेद-सम्मत स्वीकार नहीं किये जाते थे। शिवमहिम्नःस्तोत्र में "त्रयी सांख्यं योगः पशुपति-मतं वैष्णवमिति" पद्यांश में पाशुपात मत तथा वैष्णव मत की त्रयी से पृथक् गणना करने का तात्पर्य भी यही है। अतः तन्त्रमूलक दर्शनों का निर्वाह पूर्वोक्त वर्गीकरण के स्वीकृत होने पर कहीं नहीं हो सकेगा, क्योंकि इनके सिद्धान्तों (चतुर्व्यूह की कल्पना आदि) को वेदानुकूल न मानने पर भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, दुःखात्यन्त-निवृत्ति आदि अनेक सिद्धान्तों की वेदानुकूलता स्पष्ट है। अतः इन आगम ग्रन्थों के आधार पर निर्मित दर्शनों की उत्पत्ति के लिये पूर्वोक्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का श्रेणी-विभाग नितान्त अनुपयुक्त है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में श्रुति तथा गीता के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का वर्णन किया जायेगा, जो सर्वसाधारण में नास्तिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। तृतीय खण्ड में उन षड्दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त) का विवेचन किया जायेगा, जो श्रुतिमूलक होने से 'आस्तिक' दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ खण्ड में भक्ति की सुन्दर कल्पना को महत्त्व देनेवाले तथा आगमों की मूल भित्ति पर अवलम्बित होनेवाले पाञ्चरात्र, शैव तथा शाक्त दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन किया जायेगा। साधारणतया बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक) में विभक्त होने से नास्तिक दर्शन भी आस्तिक दर्शनों के समान छः प्रकार का होता है और इन्हीं बारह दर्शनों का विवेचन प्रचलित दर्शन पुस्तकों में उपलब्ध होता है, परन्तु आगममूलक दर्शनों का विवेचन न करना एक बड़ी भारी त्रुटि है। भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगमागम मूलक है। एक धारा है निगम (वेद)–मूलक और दूसरी है आगम (तंत्र)–मूलक। अतः इन द्विविध विचार-धाराओं से प्रभावित दर्शनों का निरूपण करना व्यापक दृष्टि से नितान्त उपयुक्त है।

५—भारतीय दर्शनों का काल-विभाग

भारतीय दर्शन के इतिहास को हम निश्चित कालों में बाँट सकते हैं—

(१) वैदिक काल—यह काल बड़े महत्त्व का है। इस काल में ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओं में संकेतित तत्त्वों का विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ है। उपनिषदों में हम अनेक तत्त्वों की पर्यालोचना पाते हैं। इन तत्त्वों का विवेचन आत्म-स्फूर्ति या प्रातिभ-ज्ञान के बल पर इतनी सुन्दर रीति से किया गया है कि वे हमारे अन्तस्तल को स्पर्श करते हैं। उपनिषत्कालीन दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके द्वारा चरम तत्त्व का साक्षात्कार अनुभव के ही सहारे किया गया था, अन्यथा उनके वर्णनों में इतनी तलस्पर्शिता रोचकता तथा सरलता नहीं होती।

(२) आदिम उत्तरवैदिक काल—यह काल वैदिक धर्म के विरोध का युग है। उपनिषत्काल में ही अनेक वेदविरोधी मतों की दबी हुई अस्फुट वाणी हमें सुनाई पड़ती है, लेकिन इतनी अस्फुटता से कि उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उपनिषदों के महत्त्वशाली युग के बीतते ही इन विरोधी दलों ने अपनी वाणी ऊँची की; ये अपने मतों की घोषणा उच्च स्वर से करने लगे। इन विरोधी दलों में आजीवक तथा चार्वाक का प्रभाव तो थोड़े ही समय तक व्यापक था, किन्तु जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि अवान्तर काल में ब्राह्मण दार्शनिकों से वे सदा टक्कर लेते रहे, साथ ही साधारण जनता के प्रेमपात्र होने से अपनी वृद्धि करने में कृतकार्य भी हुए।

(३) दर्शनकाल—इस काल को हम दो अवान्तर विभागों में बाँट सकते हैं—(क) सूत्रकाल तथा (ख) वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय तथा वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। उपनिषदों में सूचित तथ्यों को ग्रहण कर दार्शनिकों ने विभिन्न मतों की स्थापना इसी युग में की। सूत्रों की रचना का यह अभिप्राय नहीं है कि उसी समय से दर्शनशास्त्र का आरम्भ होता है; प्रत्युत ये सूत्र अनेक शताब्दियों की आध्यात्मिक गवेषणा के परिनिष्ठित फलस्वरूप हैं। सूत्रों में पारस्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं। वेदान्त सूत्रों (३।४।२८) में मीमांसा का उल्लेख है, न्याय-सूत्र (अ० ३, आ० २) वैशेषिक सूत्रों से परिचित है। सांख्य-सूत्र (पञ्चमाध्याय) अन्य दर्शनों के सिद्धान्त का निर्देश करता है। इन सूत्रों के रचनाकाल के विषय में विद्वान् लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु मोटे तौर

से ४०० विक्रम-पूर्व से २०० विक्रम-पूर्व तक इनका निर्माण-काल स्वीकार किया जा सकता है।

(ख) वृत्तिकाल—सूत्रों की शब्दावली इतनी स्वल्प तथा निगूढ है कि वृत्ति की सहायता के बिना इसका अर्थ बोधगम्य नहीं होता। अतः भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना सूत्रों के रहस्य समझाने के लिए इस युग में की गई। शबर तथा कुमारिल, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद, शङ्कर तथा रामानुज, वाचस्पति तथा उदयन के आविर्भाव-काल होने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है। टीकाकार होने से इन आचार्यों की रचनाओं की मौलिकता कम नहीं है; प्रत्युत मूल लेखक के समान ही ये भी नितान्त प्रामाणिक हैं। इनकी सहायता से प्राचीन आचार्यों के मतों का रहस्योद्घाटन ही नहीं होता; प्रत्युत अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना कर ये तत्तद्दर्शनों के सिद्धान्तों को विकसित करनेवाले हैं। तार्किक युक्तियों के द्वारा प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना इस काल की प्रमुख विशेषता है। उपनिषद् के पृष्ठों में स्फुरित तत्त्वों की तर्क के द्वारा स्थापना करना इस युग के लिए एक गौरव की वस्तु है। यह काल ३०० विक्रमी से लेकर १५०० विक्रमी तक माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन के काल-विभाग की यही सामान्य रूप-रेखा है, परन्तु पूर्वोक्त काल-विभाग एकदम नियमित तथा सुव्यवस्थित नहीं है। हमने इस ग्रन्थ में इन तीनों युगों के दर्शनों का परिचय दिया है। दूसरे परिच्छेद में श्रौत दर्शन के वर्णन के रूप में वैदिक-कालीन तत्त्वज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त, किन्तु तथ्यपूर्ण निरूपण किया गया है। गीता, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का आविर्भाव दूसरे युग से सम्बन्ध रखता है, जिनका भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में निरूपित दर्शनों का विवेचन तीसरे युग का संक्षिप्त विषय है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के विभिन्न युगों के विकास का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया गया है। भिन्न-भिन्न कालों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की चर्चा तत्तत् स्थानों पर उचित रीति से की गई है।

ऊपर निर्दिष्ट षड्दर्शन के सिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी कतिपय अंशों में उनमें समानता दीख पड़ती है। हिन्दू दार्शनिक अधिकार-भेद से दर्शन का भेद मानता है। मनुष्य का मानसिक विकास निसर्गतः भिन्न-भिन्न श्रेणी का है। सब मानवों की विचारधारा एक ही प्रवृत्ति को लेकर प्रवृत्त नहीं होती। दर्शन के व्यावहारिक होने से प्रत्यक्ष है कि

षड्दर्शन का श्रेणी-विभाग

मनुष्य के बौद्धिक विकास के अनुरूप ही दर्शनों का निर्माण होना चाहिए। इसका ध्यान भारतीय दर्शन में सुन्दर ढंग से रखा गया है। दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म की ओर बढ़ने में है। सबसे स्थूल तथा प्रत्यक्ष गम्य वस्तु है—यह जगत् तथा इसका अनुभव। अतः जगत् के अनुभव की व्याख्या करने में प्रवृत्त होने से न्याय-वैशेषिक की गणना सर्व-प्रथम की जाती है। अनन्तर सांख्य-योग की गणना है, जो मानस अनुभव तथा मानसिक प्रक्रिया के वर्णन में विशेष रूप से व्यस्त है। मीमांसा तथा वेदान्त का स्थान इन दोनों दर्शनों के अनन्तर है। मीमांसा धर्म का तथा वेदान्त परमात्म-तत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार षड्दर्शनों की तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं—

(१) न्याय तथा वैशेषिक, (२) सांख्य तथा योग, (३) कर्म-मीमांसा (मीमांसा) तथा ज्ञान-मीमांसा (वेदान्त)। परस्पर विभिन्नता के सद्भाव में भी इनमें विशेष समानता है, जिसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

६—भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता

किसी देश का विचारशास्त्र उस देश की सभ्यता और संस्कृति का सबसे मूल्यवान् पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होनेवाले विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में कुछ भेद भले ही दिखलावें, परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है।

सबसे बड़ी विशेषता भारतीय दर्शनों की यह है कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। जनता के आधि-व्याधि-पूरित दैनिक जीवन से हटकर वे किसी काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते। विपद्ग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करा देना ही उनका प्रधान लक्ष्य है। इनका लक्ष्य मानसिक कौतूहल का हटाना ही नहीं; अपितु ऐसा जीवन व्यतीत करना सिखलाना है जो राग-द्वेष से संयुक्त न होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्पृहणीय है।

व्यावहारिक उद्देश्य

इस व्यावहारिक उद्देश्य का कारण यह है कि भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के आध्यात्मिक असन्तोष के ऊपर अवलम्बित है। वर्तमान से असन्तोष.

वर्तमान से सन्तोष

दिन-प्रतिदिन की दुःखद घटनाओं से निराशा विचारशास्त्र का जनक होता है। दुःखमय वर्तमान से असन्तोष हुए विना सुखमय भविष्य की कल्पना दुराशा-मात्र है। इस लिये भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय इस मौलिक प्रश्न को लेकर आगे बढ़ते हैं। बुद्ध ने निरतिशय गाढ समाधि के बल पर जिन चार 'आर्य सत्यों' को खोज निकाला, वे समग्र सम्प्रदाय में उसी प्रकार माननीय हैं। व्यास[1] तथा विज्ञानभिक्षु[2] का यह कथन नितान्त सत्य है कि अध्यात्मशास्त्र चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगनिदान, आरोग्य तथा भैषज्य—इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्र दुःख, दुःखहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय—इस सिद्धान्त-चतुष्टय को मूल-भूत मानकर इनकी व्याख्या यथाशक्ति करता है। इस जगत् के कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने पर विवेकी जन इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह संसार नितान्त दुःखमय है तथा दुःख ही परम सत्यभूत पदार्थ है[3]। यह पहिला सत्य है, दूसरा सत्य इस दुःख का कारण द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग है (यो॰ सू॰ २।१७), तीसरा सत्य यह है कि इस दुःख का निरोध (रोकना) है और अन्तिम सत्य इस निरोध के मार्ग की व्याख्या करने में है। इस प्रकार भारतीय दर्शन दुःख की सत्ता को इस जगतीतल पर विद्यमान मान कर अवश्य प्रवृत्त होता है, परन्तु वह वहीं समाप्त नहीं हो जाता; प्रत्युत आगे बढ़कर उसे दूर करने का मौलिक उपाय खोज निकालता है। सांख्यकारिका के आरम्भ में विचारशास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बतलाया है[4]। इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा से असन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने की

---

१. 'यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुः, आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद् यथा-संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपायः" इति—(व्यासभाष्य २।१५)

२. सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ॰ ६।

३. दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेयं दुःखमनागतम्।
(योगसूत्र २।१५, १६)

४. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
(सां॰ का॰, का॰ १)

प्रवृत्ति साधारण रूप से पाई जाती है। भारतीय संस्कृति में निराशावाद के अभाव का साहित्यिक प्रमाण भी है। संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटक (ट्रैजडी) का अभाव है। संस्कृत नाटककार मनुष्यमात्र के हृदय में आशासंचार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर दुःखमय अन्त दिखलाने की कभी कल्पना ही नहीं करता। नाटक के भीतर दुःखमयी घटनाओं का प्रदर्शन करने पर भी वह अन्त में इन्हीं घटनाओं को दुःखमय और आनन्दमय बना डालता है।

नैतिक व्यवस्था में विश्वास

मनुष्य स्वभाव से ही आशावादी है। निराशावाद की कालिमा उसके जीवन तथा विचार के नभो मण्डल को क्षण भर के लिये भले ही दूषित कर दे, परन्तु आशावाद की नैसर्गिक प्रवृत्ति इस कालिमा को बहुत शीघ्र धो डालने में समर्थ होती है। क्रान्तदर्शी कविजनों की दृष्टि ने इस तरह तत्त्व को खोजा था कि इस विश्व में अव्यवस्था के लिए तनिक भी स्थान नहीं है, प्रत्युत सर्वत्र व्यवस्था ने अपना साम्राज्य जमा रखा है। यह जगत् व्यवस्था-नर्तकी की मनोरम रंगशाला है, जिसकी छोटी से छोटी वस्तु भी यदृच्छा से प्रवृत्त नहीं होती; प्रत्युत एक व्यापक नियम के वशीभूत होकर अपने जीवन का विस्तार करती है। दिन के अनन्तर रात का आगमन, नित्य प्रातःकाल सुवर्णमय रश्मियों को छिटकाते हुए पूर्व क्षितिज पर भगवान् सविता का मंगलमय उदय, रात्रि के समय रजतरश्मियों का विस्तार करने वाले सुधाकर का आविर्भाव तथा क्रमशः वृद्धि और ह्रास आदि प्राकृतिक दृश्यों का निरीक्षण करने वाले वैदिक ऋषियों के हृदय में यह विश्वास स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हो गया कि इस जगत् के मूल में व्यवस्था है। ऋग्वेद के ऋषियों ने इस अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा दी है। इस जगत् में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला 'ऋत' ही है "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ० वे० १०।१९०।१)। ऋत की उत्पत्ति पहले हुई, तदनन्तर सत्य का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। भारतीय दार्शनिकों ने इसी 'ऋत' के सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाया है। वैदिक कार्यकलाप अनुष्ठान किये जाने पर सर्वथा लुप्त नहीं हो जाते; प्रत्युत एक 'अपूर्व' की सृष्टि करने में वे समर्थ होते हैं। यही अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतः मीमांसा ने ऋत को ही 'अपूर्व' के रूप में अंगीकार किया है। न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट' की कल्पना का मूल आधार 'ऋत' की यही वैदिक कल्पना है।

जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म-सिद्धान्त है, जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य

कर्म-सिद्धान्त

उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्व जन्म में किये गये कर्म का ही परिणाम है। वह विना कारण उद्भूत होने वाला नहीं है। कर्म-सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा के लिए कोई भी स्थान नहीं, सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य विराजमान है। कर्म-सिद्धान्त को अंगीकार करने से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के विकास के लिये उसे पर्याप्त अवसर मिलता है। कर्म-सिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषत्-काल में हुई थी और वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने इस सिद्धान्त को वहीं से ग्रहण किया है[1]।

अविद्या से बन्धन तथा विद्या से मुक्तिलाभ

संसार के जितने बन्धन हैं उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही इस जगत् में प्राणीमात्र का जन्म-मरण हुआ करता है तथा वह अपने को विपुल क्लेशों का भाजन बनाये हुए है—इस सिद्धान्त को भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय एक रूप से स्वीकार करते हैं। अविद्या के स्वरूप-निरूपण में भी सर्वत्र ऐकमत्य है। योगसूत्रों के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमश नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (यो० सू० २।५)। यह अविद्या ही अन्य समस्त अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेशों की जननी है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अविद्या का सामान्य लक्षण है। ज्ञान ही मुक्ति का एकान्त उपाय है। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—यह सिद्धान्त सबको समान रूप से मान्य है।

तत्त्व ज्ञान के साधन से केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति ध्येय नहीं है; अपितु उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के तापत्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक

---

१. (क) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।

(बृह० उप० ३।२।१३।

(ख) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥

(कठ० उप० २।५।७)

मोक्ष

तथा आधिदैविक सन्तापों) से सदा के लिये प्रणीमात्र को छुटकारा प्राप्त कराने में है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है। इसी कारण जैनधर्म के आचार्यों की संज्ञा 'तीर्थंकर' है। इस शब्द का अर्थ है—नदी के ऊपर उस पार जाने के लिये मार्ग का निर्माणकर्ता। इस अभिधान की उपयुक्तता इस कारण से है कि साधन मार्ग के उपदेशक आचार्यगण इस आधिव्याधिप्रपूरित भवसागर से पार जाने के लिए साधनाभूत तत्त्वज्ञान की साधना का उपदेश देते हैं। मनुष्यमात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'पुरुषार्थ' कहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। विचार-शास्त्ररूपी कल्पतरु का मोक्ष ही अमृतफल है। मोक्ष के विषय में एक विचित्र धारणा फैली हुई है कि इसकी प्राप्ति का स्थान यह जीवन नहीं है, परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। अधिकांश दर्शनों में इस जन्म में ही ताप-संताप से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेना—जीवन्मुक्ति—परम लक्ष्य स्वीकृत किया गया है। यह नितान्त दूरस्थ आदर्श अवश्य है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का लक्ष्य काल्पनिक परलोक में दुःखनिवृत्ति न होकर जीते जी इसी देह में उस आदर्श को सिद्ध करने में है। जैन, बौद्ध तथा वेदान्त आदि षड्दर्शन जीवनमुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैत[1] आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन्मुक्ति का आदर्श मान्य नहीं है, तथापि तत्त्वज्ञान के साधन से आत्मा ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच जाती है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि से बदल कर एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है। कठोपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि जब हृदय में रहने वाली समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है।[2] मोक्ष के ध्येय के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य होने पर भी उसके स्वरूप के विषय में

---

१. द्रष्टव्य श्रीभाष्य ४ । १ । १३ ।

२. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः ।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ उप० २।३।१४)

पर्याप्त मतवैषम्य है। कुछ दार्शनिक (न्याय तथा वैशेषिक) मोक्ष की उन्नत अवस्था में दुःख की केवल निवृत्तिमात्र मानते हैं, परन्तु अन्य दार्शनिकों (मीमांसा, वेदान्त, जैन तथा महायान बौद्ध) के मत में उस समय आनन्द की उपलब्धि निश्चितरूपेण होती है।

मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में जो अनेक दर्शनों ने बता रक्खा है, एक विचित्र एकता का भाव दृष्टिगोचर होता है। विचारशास्त्र सिद्धि के द्वार तक पहुँचाकर विरत हो जाता है। इस द्वार के भीतर प्रवेश करने के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है। हम लोग गाढ अन्धकार से परिपूरित इस संसार में अपने गन्तव्य स्थानों को जाने के लिए अपने अपने रास्ते टटोल रहे हैं। दर्शनशास्त्र उज्ज्वल प्रकाश की किरणों को दिखलाकर हमारे लिए मार्ग की सूचना देता है, परन्तु केवल शुष्क ज्ञान हमें लक्ष्य-प्राप्ति में कथमपि सहायता नहीं दे सकता। सुविचारित औषध भी क्या नाममात्र से आतुर पुरुष को रोग से उन्मुक्त करने में समर्थ हो सकती है ? काल्पनिक तत्त्वज्ञान को व्यवहारिक रूप में परिवर्तन करना चाहिए। इसका वर्णन योगसूत्रों में पूर्णरूपेण किया गया है। योगदर्शन में वर्णित प्रक्रियायें भारत के प्रत्येक दर्शन को सर्वथा मान्य है। बौद्धधर्म में मोक्षोपयोगी विविध साधनों में समाधि विशिष्ट साधन के रूप में स्वीकार की गई है[1]। जैन धर्म 'सम्यक् चारित्र्य' के लिये यम, नियम तथा ध्यान को सबसे अधिक महत्त्व देता है[2]। न्यायदर्शन में भी यौगिक प्रक्रियायें आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक बतलायी गई है[3]। सांख्य-दर्शन में इन प्रक्रियाओं की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। वेदान्त-दर्शन में भी ज्ञान के आन्तरिक साधनरूप में योगसम्मत यम, नियमादि का उपयोग स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनकी कल्पनाओं में कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है[4]। इन दर्शनों के अनुयायियों का यह दृढ विश्वास है कि तर्क के द्वारा सिद्ध किया गया दार्शनिक सिद्धान्त तब तक हमारे अज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता, जब तक उसे हम आत्मसात् न कर लें। इसके लिये इन तत्त्वों का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से अभ्यास तथा मनन आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन के ऊपर अविद्या, राग तथा द्वेष का तमःपटल इतना गाढ है कि ज्ञानतत्त्व के निरन्तर मनन तथा अभ्यास के बिना यह छिन्न-

मोक्ष-मार्ग

---

१. द्रष्टव्य—दीर्घनिकाय (हिन्दी अनुवाद)—पृ० २८-२९।

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।३९।४६।

३. न्यायसूत्र—अध्याय ४, आह्निक २, सूत्र ३८-४८।

४. वेदान्तसार, पृ० ४७-५०।

भिन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारतीय दर्शन में तर्क-सिद्ध तत्त्वों के ऊपर निरन्तर गाढ मनन तथा निदिध्यासन की बात स्वीकार की गई है।

उपनिषद् का कहना है कि प्राणीमात्र के जीवन-यापन के हेतु दो मार्ग हैं[1]—प्रेयोमार्ग तथा श्रेयोमार्ग। प्रेयोमार्ग में मनुष्य आपाततः रमणीय विषयों की ओर आकृष्ट होकर संसार में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के मूल कारण राग तथा द्वेष हैं। सुख देनेवाले पदार्थों से राग, अनुराग तथा प्रेम उत्पन्न होता है और दुःख पहुँचानेवाली चीजों से चित्त स्वतः घृणा करने लगता है। इन्हीं राग-द्वेषों का प्रभाव हमारे चित्त तथा इन्द्रियों पर इतना अधिक होता है कि वे अवश बन 'श्रेयोमार्ग' की अवहेलना कर 'प्रेयोमार्ग' का ही अवलम्बन किया करती हैं। 'श्रेयोमार्ग' वास्तव में परम मंगलसाधन करने का रास्ता है। जब तक विषयोन्मुखी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों से बलात् खींचकर अन्तर्मुखी न बनाया जायगा, तब तक सच्चे कल्याण की साधना नहीं हो सकती। इस प्रकार मंगल मार्ग पर चलने के लिए आत्म-संयम तथा शुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। चित्तशुद्धि के लिए योगदर्शन ने आठ योगाङ्गों की व्यवस्था बतलाई है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन उपायों को प्रत्येक दर्शन ने आवश्यक बतला कर स्वीकार किया है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनों के विभिन्न सम्प्रदाय यह प्रकट करते हैं कि भारतीय विवेचक नाना मौलिक दृष्टिकोणों से तत्त्वों का विवेचन कर सकता है। वह लकीर का फकीर नहीं है, बल्कि अपनी बुद्धि से नये-नये तत्त्वों की मीमांसा करने में समर्थ है। इसीलिए इन सम्प्रदायों में एकता है, भिन्नता नहीं; सामरस्य है, विरोध नहीं। ये सम्प्रदाय अपनी-अपनी दृष्टि से परमतत्त्व का सुन्दर विवेचन कर एक दूसरे के पूरक हैं। अधिकारी भेद से उनमें भेद होना स्वाभाविक है। प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि तथा बुद्धि एक समान नहीं हो सकती। इसलिए यह सबके लिए चिन्तन का विषय प्रस्तुत करता है।

भारतीय दर्शन संश्लेषण-प्रधान है। उसमें नाना दृष्टियों से विवेचित तत्त्वों को एक साथ एक लड़ी में पिरोने का श्लाघनीय उद्योग है। यह पाश्चात्य दर्शन के समान विश्लेषण-प्रधान नहीं है। इस विवेचना से भारतीय दर्शन का रूप पाठकों के सामने भली-भाँति आ सकता है।

---

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
(कठ० उप० १।२।२)

द्वितीय परिच्छेद

श्रौत दर्शन

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन का प्राण है। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है, जहाँ से विचारधारा प्रवाहित होकर भारतभूमि

वेद का महत्त्व

के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं; प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति एवं प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है, परन्तु श्रुतिसम्मत दार्शनिक विचारों की रूपरेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार से किया जाता है—प्राचीन पद्धति से तथा अर्वाचीन पाश्चात्य रीति से। पाश्चात्य पद्धति वेदार्थ परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है, प्राचीन पद्धति इतिहास पुराण को वेदार्थ का उपबृंहण मानती है[1] तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टिभेद की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्य लोग वेदों को असभ्य या अर्धसभ्य आरम्भिक आर्यजनों के अनगढ़ गायनों से बढ़कर अधिक महत्त्व देना नहीं चाहते, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार एवं धर्म का साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद ही हैं[2]। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

(महाभारत आदिपर्व १।२५)

२. द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका, पृ० २।

तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं[1]। इसी भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर श्रुति-प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' (आप० परि० ३१)। वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ स्मारक वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं। मन्त्रों के समुदाय को 'संहिता' कहते हैं, संहिताएँ चार हैं—ऋक् संहिता, साम संहिता, यजुः संहिता तथा अथर्व संहिता। पुराणों का कहना है कि इस संहिता-चतुष्टय का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर किया[2]। यज्ञानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता (पुकारनेवाला) देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों को उच्चारण कर तत्तद्देवता का आवाहान किया करता है। हौत्र कार्य के लिए आवश्यक मन्त्रसमुदाय का संकलन ऋग्वेद में किया गया है। उद्गाता का कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर मधुर स्वर में उन्हें गाना होता है। इस कार्य के लिए सामवेद का संकलन किया गया है। याग के विविध अंग तथा उपांगभूत अनुष्ठानों का विधिवत् सम्पादन करना अध्वर्यु का उत्तरदायी कर्तव्य है। इस आध्वर्यव कर्म के लिए यजुः संहिता का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मा का महत्त्वपूर्ण कार्य समग्र याग का विधिवत निरीक्षण करना होता है, जिससे किसी प्रकार की त्रुटि अनुष्ठान की पूर्णता तथा सिद्धि में कथमपि बाधा उपस्थित न होने दे। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। इनका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है। इस प्रकार यज्ञ-विधान के सुचारु रूप से निष्पादन के लिए भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये भिन्न-भिन्न संहिताओं का संकलन किया गया है। वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इस नामकरण का भी एक रहस्य है। यह संज्ञा-विधान मंत्रों की उपयोगिता की अपेक्षा मंत्रों के स्वरूप के ऊपर अवलम्बित है। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों की 'ऋक्' संज्ञा है। इन ऋचाओं के गायन—गीति को 'साम' कहते हैं तथा इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को 'यजुः' के नाम से

वेदविभाग संहिता

---

१ श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।
(शांकरभाष्य २।३।१)।

२ द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १।४।१९-२२।

पुकारते हैं[1]। वेद को ऋक्, यजुः तथा साम रूप से विभक्त होने के कारण 'त्रयी' कहते हैं। इसीलिए वेद-प्रतिपाद्य धर्म को 'त्रयी धर्म' तथा इस धर्म के मर्मज्ञ विद्वज्जन को 'त्रैविद्य' कहते हैं[2]।

वेद के तीन विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक। संहिता मन्त्रों के समूह को कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान का विस्तृत तथा परिनिष्ठित वर्णन किया गया है। 'ब्राह्मण' नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृह् वर्धने, बढ़ने वाला, अर्थात् वितान, यज्ञ) है। आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों के अनन्तर है। अरण्य में पठनीय होने से इन्हें 'आरण्यक' कहते हैं। इन ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के उपयोगी क्रिया-कलापों का वर्णन है, विशेषतः याग-विधान के आध्यात्मिक रहस्य की मीमांसा इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। उपनिषदों में अध्यात्मविषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। उपनिषद् को ही 'वेदान्त' कहते हैं। इस नामकरण के दो कारण हैं—एक तो यह कि इनका स्थान वेद के अन्त में आता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं; अतः ये वेदान्त (वेद + अन्त) कहलाते हैं। दूसरा कारण यह है कि इनमें वेदों के निश्चित प्रतिपाद्य सिद्धान्त विवेचित हैं। इसी कारण उपनिषदों का अध्यात्मशास्त्र-विषयक समस्याओं के सुलझाने के लिए प्रकृष्ट महत्त्व है। प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण इनका कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव है। ज्ञान की विवेचना करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त इन उपनिषदों में प्रतिपादित किये गये हैं, पर कर्मप्रधान होने पर भी संहितादि में अध्यात्म-विषयक विपुल रहस्यों का उद्‌घाटन उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य का जो अंश प्रकाशित हो चुका है वह भी मात्रा में अधिक है। अप्रकाशित अंश भी मात्रा में न्यून नहीं है, परन्तु खेद का विषय है कि हमारी अवहेलना से वेद की अनेक शाखायें लुप्त हो गईं।

वैदिक साहित्य

महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखायें, यजुर्वेद की १०० शाखायें, सामवेद की

---

१ तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः-शब्दः—(जैमिनिसूत्र २।१।३५—३७)।

२ द्रष्टव्य गीता ६।२०–२१।

१ हजार शाखायें तथा अथर्ववेद की केवल ९ शाखायें थी। इस प्रकार कुल मिल कर ११३० शाखायें थीं, जिनमें आजकल दस-बारह शाखाओं से अधिक नहीं मिलतीं। विषय की दृष्टि से समस्त संहिताओं में ऋग्वेद संहिता महत्त्वपूर्ण तथा प्रथम मानी जाती है। ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या सब मिला कर १०२८ है। ऋग्वेद का विभाग दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(१) मण्डल, अनुवाक तथा सूक्त; (२) अष्टक, अध्याय तथा सूक्त। समस्त ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है; प्रत्येक मण्डल में अवान्तर विभाग को अनुवाक कहते हैं तथा उनके विभाग को सूक्त। अष्टकों की संख्या ८ है, प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय होते हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं। अध्यायों के भीतर सूक्त होते हैं। इन दोनों में प्रथम विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन मण्डलों में से प्रथम तथा दशम मण्डल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है। नवम मण्डल में केवल 'सोम' विषयक मंत्र हैं, परन्तु अन्य मण्डलों में एक ही ऋषि के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। द्वितीय मण्डल से लेकर अष्टम मण्डल तक ऋषियों के नाम क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा कण्व हैं। ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, रचयिता नहीं। ऋग्वेद की आध्यात्मिक तत्त्व-विवेचना ही हमारे लिए यहाँ आवश्यक है। अतः उसके ही अनुसन्धान में हम प्रवृत्त होते हैं।

देवता-बहुत्व

वेदों में देवताओं की स्तुति ही प्रधान विषय है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान-विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सबसे अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसीकी कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धि को प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादन करने वाला) तथा सम्राट् (सम्यक् रूप से प्रकाशित होने वाला तथा शासन करने वाला) कहा गया है (ऋ० १।२५)। सर्वज्ञ वरुण प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र वीर योद्धाओं को संग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करने वाले

देवता हैं। वज्रबाहु (वज्र के समान बलशाली बाहु वाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है; जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंग वाले दस्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के द्वारा रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं (ऋ० २।१२)। विष्णु आकाशगामी सतत क्रिया-शील सूर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को माप डाला। इस कारण वे 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पादविन्यास किया गया है मधु का कूप है। वहाँ शीघ्रगामिनी भूरिशृंङ्ग गाएँ (किरणें) उधर से इधर सतत आया जाया करती हैं (ऋ०१५४)।

सवितृदेव सुप्त प्राणियों में जीवन का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० ६।५३) भूले-भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। वह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। नित्य मानवमात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ-साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सबसे सुन्दर देवी उषा है, जो द्यौः (आकाश) की पुत्री है। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूप-धारिणी भगिनी है। वह पुराणी युवती है—पुरानी होने पर भी सतत युवती है। वैदिक मन्त्रों में सबसे सुन्दर कमनीय कल्पना वाले मंत्र उषा की स्तुति में प्रयुक्त किये गये हैं (ऋ० ३।६१)। आगे चल कर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा और मन्यु, श्रद्धा आदि नये-नये देवताओं की सृष्टि होने लगी।

देवताओं की जो भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में पाश्चात्य कल्पना है वह निर्मूल है, उसी के साथ वैदिक धर्म के विकास का कल्पित क्रम भी निःसार है। सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नानात्व के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढतम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिककालीन आर्षचक्षुःसम्पन्न महर्षियों को ही है।

इस एक देवता की विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं—प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष आदि। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२१ वाँ सूक्त गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों से भरा हुआ है। उच्च दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आनन्द रूप होने से अथवा इदमित्थं रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये प्रजापति 'कः' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं, क्यों कि उनका स्वरूप अनिर्वचनीय है या सुखस्वरूप है। "यही हिरण्यगर्भ सबके आगे उत्पन्न हुए, उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियों के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करनेवाले हैं। यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं"[1]। वे समस्त प्राणियों के प्राणदाता (आत्मदा) तथा बलदाता हैं। अमरता तथा मृत्यु छाया के समान उनके अधीन रहती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण (५।१।२।१०) का कहना है कि देवताओं की संख्या तंतीस है, परन्तु प्रजापति ३४ वें देवता है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।

हिरण्यगर्भ

ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है। इसका सबसे सुन्दर दृष्टान्त पुरुषसूक्त (१०।९०) तथा अदितिसूक्त (१।८९) में मिलता है। वह हजार मस्तक (सहस्रशीर्षा पुरुष), हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरुष' चारों ओर से इसी पृथ्वी को घेर कर परिणाम में दस अंगुल अधिक है। "जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है (भविष्य काल में) वह सब पुरुष ही है" :—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सुस्पष्ट है। इसी प्रकार अदिति के वर्णन के अवसर पर रहूगणपुत्र गौतम ऋषि का कहना है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है; अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषादसहित चतुर्वर्ण) है।

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० वे० १०।१२१।१)

जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब अदिति ही है[1]।

इस प्रकार पुरुष तथा अदिति की सर्वव्यापकता मानकर उनकी विश्व से अभिन्नता स्वीकार की गई है।

अथर्ववेद के 'स्कम्भ' सूक्त (१० काण्ड, ७वां तथा ८वां सूक्त) तथा 'उच्छिष्ट' सूक्त (११।९) की परीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धान्त अथर्ववेद को सर्वथा मान्य हैं। ब्रह्म की ही अन्यतम संज्ञा 'स्कम्भ' (आधार) है। जगत् के समस्त पदार्थ उसी के आश्रय में निवास करते हैं तथा अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। अतः उसकी 'स्कम्भ' संज्ञा अन्वर्थक है। 'स्कम्भ' विश्व का कारण है, ब्रह्म का भी वह कारण है। अतः उसे ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहते हैं। "जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश समाहित हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है" (१०।२।१२); द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदिशों का धारण करनेवाला वही 'स्कम्भ' है (१०।७।३५)। इतना ही नहीं, वह भूत, भव्य (भविष्य) तथा समस्त वर्तमान का अधीश्वर है (१०।८।१) एक मन्त्र 'स्कम्भ' की आत्मा के साथ एकता भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करता है—

स्कम्भ

> अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
> रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
> तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
> रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
> (१०।८।४४)

'उच्छिष्ट' सूक्त में उच्छिष्ट नाम के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य-प्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो

---

१. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋ० वे० १।८९।१०)

उच्छिष्ट

अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है, अर्थात् बाधा-रहित परब्रह्म। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' पुकारता है।[1] सुक्त भर में विश्व के समस्त पदार्थ 'उच्छिष्ट' के ऊपर अवलम्बित बतलाये गये हैं। सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] में प्रतिपादित "उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलम्बित है" सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है। 'नामरूप' का दृश्यमान जगत् के लिये प्रयोग कितना सारगर्भित है। समस्त वेद तथा पुराण की उत्पत्ति 'उच्छिष्ट' से हुई है (२४); प्राण, अपान, चक्षु तथा श्रोत्र, अक्षिति (स्थिति) तथा क्षिति (लय)—सब 'उच्छिष्ट' से उत्पन्न हुए हैं (२५)। अतः 'उच्छिष्ट' की महिमा अवर्णनीय है। इन सूक्तों के अनुसन्धान से स्पष्ट है कि प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं। उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यह पूर्वपीठिका है। इन्हीं संकेतों का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। इस विवेचन को पढ़कर गीता (१५।१५) के "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" तथा "आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते" पुराण के इस वाक्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

अद्वैत की भावना

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस जगत् के कर्ता तथा नियामक मूल तत्त्व को अपनी सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से ढूंढ निकाला था। इस विषय में नासदीय सूक्त (ऋ० वे० १०।१२९) ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया व्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत भावना को जिस रूप में अभिव्यक्त करता है उस रूप में अभिव्यक्त करनेवाले अन्य सूक्तों का नितान्त अभाव है। नासदीय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ? इसके मूल में कौन सा तत्त्व विद्यमान था? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई? आदि

---

१. अथात आदेशो नेति नेति—बृ० उप० २।३।११।
नेह नानास्ति किञ्चन—वही, ४।४।१९।

२. उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तःसमाहितम्॥
(अ० सं ११।७।१)

प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है, परन्तु इस सूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। 'सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था और न सत् ही था। वहाँ न तो आकाश था, न तो स्वर्ग ही विद्यमान था, जो उससे परे है। किसने ढका था? यह कहाँ था? और किसकी रक्षा में था? क्या उस समय गहन तथा गम्भीर जल था (जिसमें वह पड़ा हुआ था?), उस समय न मृत्यु थी, न तो अमरत्व ही था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था।' इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि उस समय बस एक ही था, जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं।

यह है नितान्त उदात्त एकत्वभावना। "तदेकम्"—वह एक। उसके लिङ्ग-निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परमतत्त्व के लिए नपुंसक 'तत्' तथा 'सत्' शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत् का मूल कारण है। उसी से यावत् चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। वह एक है, अद्वितीय है; उसके साथ तथा समकक्ष रहनेवाले अन्य वस्तु का वास्तव अभाव है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करने वाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
> (ऋ० वे० १।१६४।४६)

मनुष्य की मधुर-वाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोध-भाव प्रकट करता है, नभोमण्डल में चन्द्र, सूर्य तथा ताराओं को वही तत्तत् स्थानों पर स्थित कर देता है[1]। भिन्नता के स्तरों में अभिन्नता को यदि किसी ने पहचाना, तो वैदिक आर्यों ने। इस अभिन्नता का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान विषय है, पर इसका बीज ऋग्वेदीय-संहिता में सुस्पष्ट रूप से निहित है, जिसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं।

---

१. ऋ० वे० १०।१२।१५।

ब्राह्मण तथा आरण्यक की समीक्षा करके से हम उनके सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। ब्राह्मण-काल संहिता तथा उपनिषद् काल का मध्यवर्ती युग है। इसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर्याप्त रूप से सम्पन्न की गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने (३।१२।३) चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। 'ब्राह्मणों' में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार किया गया है। यज्ञ का महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह किसी देवता-विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्यागरूप है; प्रत्युत वह इस विश्व के नियामक रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त विश्व ही यज्ञरूप है। यज्ञ के कारण देवता लोग अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ की निष्पत्ति से समस्त विश्व का कल्याणसाधन होता है। यज्ञ विष्णु का रूप बतलाया गया है (विष्णुर्वै यज्ञः)। आरण्यकों में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या है तथा उसके रहस्यों की यथार्थ मीमांसा है। आरण्यकों में कर्मों से उत्पन्न फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दीख पड़ता है। स्वर्ग के क्षय होने से कर्ममार्ग आत्यन्तिक सुख का सम्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञानमार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः ज्ञान-कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषद् काल में प्रधानतया विद्यमान है उसका आरम्भ इसी युग में हो गया था।

ब्राह्मण तथा आरण्यक

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। इन ग्रन्थरत्नों में वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक विद्या के गूढतम रहस्यों का विशद विवेचन किया है। भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं उपनिषदों में है। उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरितायें निकलकर इस पुण्यभूमि आर्यावर्त में मानवमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण-साधन के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं, जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। भारतीय विचार-शास्त्र के लिए सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भग-वद्गीता है, जो समस्त उपनिषद्-रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिए भगवान्

महत्त्व

गोपाल कृष्ण द्वारा दूहा गया सुधा-सहोदर सारभूत दूध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण-व्यास-विचरित ब्रह्मसूत्र है, जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय तथा एकमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी प्रस्थान-त्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भारतीय वैदिक-धर्म तथा दर्शन अवलम्बित है, परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्त्व सबसे अधिक है। इसी से नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रमाणिकता तथा अक्षुण्णता प्रदर्शित करने के लिये इन्हीं तीनों ग्रन्थरत्नों पर स्वमतानुकूल भाष्यों की रचना की है।

उपनिषद् का अर्थ

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण = नाश होना; गति = प्राप्ति होना, अवसादन = शिथिल करना। उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्मविद्या। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार-बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःख-वृन्दों का सर्वदा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है। शंकराचार्य के इस आख्यान के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है—ब्रह्मविद्या, तथा गौण अर्थ है—ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष (कठभाष्य)। ब्रह्म के स्वरूप, उससे उत्पन्न जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय आदि विषयों का विस्तृत तथा विशद वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा अन्वर्थक है।

संख्या

प्राचीन काल में प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट उपनिषद् था, परन्तु आजकल उतने उपनिषदों की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की सूची दी गई है। उसके अनुसार उपनिषद् १०८ हैं, जिसमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं, परन्तु मुक्तिकोपनिषद् के ही अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक थी। अष्टोत्तरशत उपनिषद् तो उपनिषत्साहित्य के सारभूत हैं। कतिपय वर्ष हुए

अड्यार (मद्रास) की थिओसोफिकल सोसायटी ने अप्रकाशित उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो संख्या में लगभग साठ हैं और जिनमें कतिपय उपनिषदों का अनुवाद दाराशिकोह (बादशाह शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र) ने फारसी भाषा में १७ वीं शताब्दी में किया था।

इन १०८ उपनिषदों में भी बारह-तेरह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के विचार से नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदीय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौषीतकि, साम उपनिषदों में छान्दोग्य तथा केन, कृष्णयजुः उपनिषदों में तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी, शुक्लयजुर्वेद के ईशावास्य तथा बृहदारण्यक; अथर्व उपनिषदों में मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा प्रामाणिक स्वीकार किये गये हैं। शंकराचार्य ने इन्हीं उपनिषदों पर भाष्य लिखा है—ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंह-पूर्वतापनी। इनके अतिरिक्त अपने भाष्यों में उन्होंने लगभग ६ अन्य उपनिषदों को प्रमाण के लिए उद्धृत किया है। इनमें शङ्कराचार्य के द्वारा व्याख्यात उपनिषद्-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली माने जाते हैं तथा लोकप्रिय होने से उन्हीं का पठनपाठन विशेषतया आजकल होता है। इनमें भी छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक हैं। उपनिषदों के रचना-काल के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के अविर्भाव से पहले हो चुकी थी, परन्तु समस्त उपनिषदों का निर्माण एक काल का विषय न होकर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषद् वेदान्त (आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध) के प्रतिपादक हैं, कुछ योग के स्वरूपविवेचन में निरत हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्तिपरक है।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सद्भाव है, इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब

मुख्य तात्पर्य

श्रुतियाँ युक्तियुक्त हैं, केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। आचार्यों ने स्वसिद्धान्त-प्रतिष्ठापक श्रुतियों को प्रधानत्वेन स्वीकार किया है तथा अन्य श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उपपत्ति दिखलाई है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की, परन्तु अवान्तरकाल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखीं। रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। श्रीमध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में इन ग्रन्थरत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा को भिन्नता (द्वैत) के प्रतिपादन में है। आधुनिक आलोचकों के मत से उपनिषदों में समस्त दर्शनों का बीज निहित है। इन्हीं सूक्ष्म सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्ररूपेण प्रतिष्ठित किया है। आस्तिक दर्शनों की कौन कहे ? जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के भी मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद् वैदिक-कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के बहुमूल्य भाण्डागार हैं। इन विचारों में सुव्यवस्था होने पर भी कहीं-कहीं विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। अतः इन उपदेशों में सामञ्जस्य का अभाव होना नितान्त स्वाभाविक है; तथापि उपनिषदों की तारतम्यपरीक्षा से उनके मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

१—आत्मतत्त्व

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान-बीन के साथ किया गया है। आत्मा की सत्ता इसी जीवनकाल तक विद्यमान रहती है अथवा इस जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी उसकी स्थिति बनी रहती है ? इस समस्या की मीमांसा कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर रीति से की गई है। नचिकेता ने यमराज से इसी समस्या को सुलझाने के लिए आग्रह किया। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। उसका यथोचित विवेचन यमराज ने स्वयं किया। आत्मा नित्य वस्तु है, वह न कभी मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। वह विषयों को ग्रहण करनेवाली हमारी समस्त इन्द्रियों से, संकल्प-विकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण-भूत प्राणों से पृथक् है। एक रमणीय रूपक के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया

गया है—'यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी है।'[१] आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि वस्तुओं का व्यापार हुआ करता है, उसी प्रकार रथी-स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीरादि विषयों का व्यापार होता है। बाह्य-विषयों से आरम्भ कर श्रेष्ठताक्रम से विचार करने पर आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ ठहरता है[२]।

माण्डूक्य उपनिषद् में भी शुद्ध आत्मा को 'तुरीय' बतलाया गया है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जाग्रत दशा में आत्मा बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नदशा में यह आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करता है, सुषुप्ति (घोर निद्रितावस्था) में वह अपने केवल आनन्द-स्वरूपता का अनुभव करता है। ये तीनों दशाएँ आत्मा की अपर अवस्थाओं को सूचित करती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं।

आत्मा की चार अवस्थाएँ

इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के अंशमात्र का ही परिचय प्राप्त होता है, परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है जो इन दशाओं में उपलब्ध होते हैं। 'उस समय न तो बाह्य चेतना रहती है, न अन्तश्चेतना और न दोनों का संमिश्रण; न प्रज्ञा रहती है और न अप्रज्ञा। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण (लक्षण या चिह्न से विहित), अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य (नामरहित), केवल आत्म-प्रत्ययसार (एक आत्मा की ही सत्ता का केवल भान होता है), प्रपञ्चोपशम (जहाँ समस्त बाह्य जगत् शान्त रहता है), शान्त, शिव, अद्वैत, यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है, इसे ही जानना चाहिए' (माण्डूक्य उप० ७)। इस आत्मा को 'तुरीय' (चतुर्थ) कहते हैं। वह जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् है। यह आत्मा कूटस्थ अधिकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण ब्रह्म से सर्वतोभावेन सिद्ध मानी जाती है। ओंकार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है।

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठोपनिषद् १।३-४)

२—ब्रह्मतत्त्व

कहा गया है कि उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति-संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापों के अवलोकन करने से उनके मूल-भूत आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है। इन तीनों शैलियों के उपयोग करने से उपनिषद्-कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व, परम सत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया, उसे 'ब्रह्म' कहते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन है—सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावों में भेदनिर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कहीं 'परब्रह्म' कहा गया है और सविशेषभाव को कहीं 'अपर ब्रह्म' तथा कहीं 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता, जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, ऐसे गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता जिससे उसे धारण किया जा सके। इसलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। सविशेष भाव ठीक इससे विपरीत होता है। इसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है, जिनके द्वारा उसका उक्त स्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। एक निर्विशेष-लिङ्ग, दूसरा सविशेष-लिङ्ग। सविशेषलिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेषलिङ्ग श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि हैं[1]। इन वाक्यों में एक विशेषता और ध्यान देने

द्विविध ब्रह्म—सगुण तथा निर्गुण

१. सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेषलिङ्गाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः।—शाङ्करभाष्य।

योग्य हैं। सविशेष ब्रह्म के लिए पुंल्लिग शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा—सर्वकर्मा, सर्वरसः आदि। परन्तु निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'अस्थूलम्' आदि नपुंसक शब्दों के द्वारा परब्रह्म का निर्देश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं। श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी तद्द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। निर्विशेष तथा सविशेष भाव-विभेद के सूचक हैं, इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्त्व के निर्देशक हैं, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियों के एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया गया है। मुण्डक-उपनिषद् (१।१।६) में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"यत् तद् अद्रेश्यमग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तद् अपाणिपादम्" (यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है), "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (इन पुंल्लिग पदों में सविशेष ब्रह्म का निर्देश किया गया है)।

इस प्रकार जब एक ही मन्त्र उभयविध पदों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। भाष्यकारों में इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मतभेद है। आचार्य शंकर श्रुति को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक मानते हैं, पर आचार्य रामानुज उसे सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं, परन्तु परम तत्त्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण।

(क) सगुण ब्रह्म

अपर या सगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद् में दो प्रकार से दिया गया है। किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है—तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण। जिसके द्वारा वस्तु के शुद्धस्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है, वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म के उभयविध लक्षण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं[४]।

(ख) निर्गुण ब्रह्म

पहले दिखाया गया है कि ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न के द्वारा चिह्नित नहीं किया जा सकता, किसी गुण से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता; अर्थात् पर-ब्रह्म निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है—उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तु का निर्देश किसी गुण के द्वारा हो सकता है, परन्तु जब ब्रह्म निर्गुण है, तो उसका निर्देश किया जाना नितान्त असम्भव है। इसी कारण बाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बारबार पूछे जाने पर बाध्य होकर ऋषि ने मौनालम्बन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया[1]। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता[2]। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है, इसीलिये श्रुति सदा 'नेति' 'नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर उसका परिचय देती है।

इसलिये परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। बृह० (३।६।६) के अनुसार वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ है। कठ० (१।३।१५) उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त बतलाती है।

बृहदारण्यक उपनिषत् (३।८।८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय 'अक्षर' के स्वरूप का विवेचन करते हैं—"हे गार्गी! वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है; ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है; रक्त नहीं है, न चिकना है; वह छाया से भिन्न है और अन्धकार से पृथक् है; वायु तथा आकाश से अलग है, असङ्ग है; रस तथा गन्ध से विहीन है; न चक्षु उसे ग्रहण कर सकती है, न श्रोत्र; मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है; वह तेज से रहित है; प्राण तथा मुख से उसका सम्बन्ध नहीं है; वह परिणाम-रहित है; न अन्दर है, न बाहर है; वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है।"

---

१. बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते। स होवाच अधीहि भो इति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वचन उवाच 'ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा।
(शांकरभाष्य ३।२।१७)

२. बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२२) कहती है—स एष नेति नेति आत्मा। अर्थात् आदेशो भवति, नेति नेति, नह्येतस्माद् अन्यत् परम् अस्ति।

केनोपनिषद् में निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा ही सजीवन वर्णन है—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१५)

[जिसे वाणी कह नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही तुम 'ब्रह्म' जानो । यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो ।]

परब्रह्म निरुपाधि है । देश, काल तथा निमित्तरूपी उपाधियों से वह नितान्त विरहित है । वह देशातीत, कालातीत तथा निमित्तातीत है । प्रमाणातीत होने से वह नितरां अप्रमेय है, चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है । अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण-वृत्ति के ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता । ब्रह्म को 'अरस' आदि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्द, स्पर्शादि के तुल्य विषय नहीं हो सकता । वह विपुलकाय अगाध प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है । इस जगत् के समस्त प्रकाश का हेतुभूत यही ब्रह्म है । "वहाँ न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा, न तारायें । ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं; यह अग्नि कहाँ से चमक सकता है ? उसी के चमकने के पीछे सब चीजें चमकती हैं, उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है (कठ उप० ५।१५) ।"

ब्रह्म ही उस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है । मुण्डक उपनिषद् (१।१७) का कहना है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाला तानता है तथा उसे अपने शरीर में फिर समेट लेता है; जगत् जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है[1] । परमात्मा से पहले उत्पन्न हुआ आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से समस्त जीवजन्तुमय जगत् । इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है ।

---

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(मु० उप० १।१।७)

३—उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष

उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष बड़ा ही सुन्दर है। हम पहले कह आये हैं कि दार्शनिक तत्त्वों को व्यवहार में लाकर उससे मानव जीवन को प्रभावित करने में भारतीय विचार-शास्त्र की विशेषता है। उपनिषदों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ होने के लिए अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।२।१-३) ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसंयम), दान तथा दया की सुशिक्षा दी है।[1] छान्दोग्य (३।१७।४) ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय (१।२।१-३) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षाएँ दी है। इन शिक्षाओं में माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्यायचिन्तन तथा धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु 'सत्यं वद' को समस्त उपदेशों में विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य (४।४ १-५) ने सत्य-काम जाबाल की कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया है। प्रश्नोपनिषद् में अनृतभाषण की निन्दा[2] तथा मुण्डक (३।१।६) में सत्य की प्रशंसा है[3]। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है (बृह० उप० ४।४।२३), परन्तु ज्ञान-साधन के मूलभूत गुण हैं—विवेक तथा वैराग्य। ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक जीव अग्रसर नहीं होता, जब तक उसे विवेक, सत्यासत्य का विवेचन, श्रेय तथा प्रेय का वास्तव निर्धारण तथा जगत् से आत्यन्तिक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। मुण्डक (१।२।१२) ने इन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। "कर्म के द्वारा प्राप्त लोक विनश्वर है, इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय में

---

१. एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति।

(बृह० उप० ५।२।३)।

२. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतं वदति।

(प्रश्नोप० ६।१)

३. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

(मु० उप० ३।१।६)

निर्वेद—वैराग्य का उदय होता है। विवेक ही उसे निश्चय करा देता है कि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्य, ब्रह्म) की उपलब्धि नहीं हो सकती।"

कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं या नहीं ? उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है। बृहदारण्यक ने निःसंदिग्ध शब्दों के संकल्प की स्वतन्त्रता प्रतिपादित की है। "यह पुरुष काममय है; जैसी उसकी इच्छा है, वैसा ही उसका क्रतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है[1]।" कौषीतकि (३।८) ने मनुष्य की कर्म करने में स्वतन्त्र प्रवृत्ति का निषेध किया है, परन्तु छान्दोग्य में इस स्वतन्त्रता का सुन्दर वर्णन है। आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सब लोकों में विचरण कर सकता है (छा० उप० ८।१६); वह जिस चीज की कामना करता है वह उसके संकल्प-मात्र से उत्पन्न हो जाती है (छा० उप० ८।२।१०)। मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) में स्पष्टतः पुरुषार्थ पर जोर दिया गया है।

कर्म-स्वातन्त्र्य

"वासनारूपी नदी दो मार्गों में प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग से तथा अशुभ मार्ग से। मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ में ही ले जाय"[2]। कर्म-निष्पादन में आत्म-स्वातन्त्र्य का उपपादन ही उपनिषद् की समस्त शिक्षाओं का सार है।

४—उपनिषदों का चरम लक्ष्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य क्या है ? कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्पन्न आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान उनका लक्ष्य नहीं है। उपनिषद् के सिद्धान्तों में मौलिभूत सिद्धान्त है—आत्मा की अपरोक्षानुभूति। परोक्ष अनुभूति से हमें अपना कौनसा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है ? जब तक हम अपने प्रयत्न से अपने को तात्त्विक रूप से न जानें या 'स्व' रूप का साक्षात् अनुभव न करें, तबतक शास्त्र का रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) व्यर्थ है। शंकराचार्य ने शुष्क ज्ञान की निन्दा करने में

---

१. अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, तदभिसंपद्यते।

(बृह० उप० ४।४।५)

२. शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।

उपनिषत्तत्त्व का ही अनुसरण किया है[1]। उपनिषदों ने इस अपरोक्षानुभूति के लिए आचार्य की महिमा का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। ओंकार की उपासना इसका प्रधानतम साधन है। ओंकार के निरंतर ध्यान करने से निगूढ देव का दर्शन किया जा सकता है (श्वेता० १।१४)। इसी प्रसंग में 'योग' की उपयोगिता का वर्णन श्वेताश्वतर में किया गया है (२।८-१०)। सुख दो प्रकार के होते हैं—छोटा सुख तथा बड़ा सुख। विषय-प्रपञ्च में सुखोपलब्धि अल्पकोटि की ही है, परन्तु वास्तव सुख तो उस 'भूमा' = आत्मा की उपलब्धि में ही है, जो सर्वत्र विद्यमान है। ऊपर है तथा नीचे है, आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही संज्ञा 'भूमा' है। जहाँ पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है, वह है 'भूमा'। भूमा ही अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है, अनित्य है—"यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छा० ८।२२)।

स्वाराज्य प्राप्ति

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है? वह 'स्वाराज्य' प्राप्ति कर लेता है, वह अपने आत्मा से प्रेम करता है (आत्मरतिः), अपने आत्मा से क्रीडा करता है (आत्मक्रीडः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिथुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। आत्मा तो आनन्दरूप ठहरा, अतः स्वोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्दमय रूप में विहार करता है। परन्तु क्या उस आनन्द की मात्रा लौकिक दृष्टान्तों से बतलाई जा सकती है? बृहदारण्यक (४।३।२१) ने एक लौकिक उदाहरण से उसका तनिक आभास सा दिया है। उसका कहना है[2] कि जिस प्रकार प्रिया से आलिंगन किये जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है और न भीतरी वस्तु को, उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) से आलिंगन किये जाने पर यह जीव न तो बाह्य को

---

१. विवेकचूडामणि ६०–६१।

२. तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद् वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम्।
(बृह० ४।३।२१)।

जानता है, न अन्तर को। उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती।

पर क्या लौकिक भाषा में उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि समझाई जा सकती है? ये समस्त उपाय व्यर्थ हैं। आत्मवेत्ता ही उसे जानता है, समझता है, पर उस अवस्था में पहुंचते ही उसकी वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है, वह मूक बन जाता है। कौन कहे और कौन सुने? उस समय बस "शिवः केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि होती है। आत्मा निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति स्वानुभूत्येकगम्य है; अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है, परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है। यह अपरोक्षानुभूति ही वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय है। इसे हम उपनिषदों का 'रहस्यवाद' कह सकते हैं। उपनिषद् के अन्य सिद्धान्त इसके साधनमात्र हैं। यह रहस्यवाद 'श्रौत-दर्शन' का सार है, रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिषदों का उपनिषद् है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का यह चूडान्त सिद्धान्त है—जीव की शिव के साथ एकता तथा साधनों के द्वारा उस एकता को पा लेना। उपनिषद् के तत्त्व-ज्ञान की यहीं समाप्ति है। यह केवल सिद्धान्त ही नहीं है, उपायों के द्वारा उसका ज्ञान भी प्रत्येक मानव प्राप्त कर सकता है। भारतीय दर्शन का आग्रह है ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय पर। "ज्ञानं भारः क्रियां विना" बिना क्रिया के ज्ञान केवल एक बोझ है, जिसे व्यर्थ ही ढोना पड़ता है और उसका जीवन में कुछ भी उपयोग नहीं होता। फलतः उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है; प्रत्युत उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना भी है। इसीलिए उपनिषद् अध्यात्म तत्त्व-ज्ञान के ऊपर आश्रित एक श्लाघनीय साधन मार्ग है।

तृतीय परिच्छेद

गीता दर्शन

(१) महाभारत-पूर्व काल

उपनिषद् युग से पीछे की शताब्दियाँ बड़ी विलक्षण थीं। उपनिषत्काल में ही वैदिक धर्म से विरोध रखने वाले दार्शनिकों के सद्भाव का पता चलता है (कठ उप० १।१।२०), परन्तु जो विरोधाग्नि अब तक मन्दरूप से जल रही थी, वह अब अपने प्रखर रूप से धधकने लगी। भिन्न-भिन्न मतवालों ने विरोध का झंडा ऊँचा किया। विरोध का विषय वैदिक धर्म तथा दर्शन था। इन लोगों ने धार्मिक तथा दार्शनिक श्रद्धा का मूलोच्छेद कर डाला। इन विरोधी मतवादों की संख्या भी अपनी अधिकता से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस युग के इतिहास के साधन नितान्त स्वल्प हैं, परन्तु जो कुछ आज उपलब्ध है उसी से इस युग में सक्रिय विरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। जैन-अंगों, बौद्ध-निकायों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में पिछले उपनिषदों तथा महाभारत में जो एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है वह एक दूसरे को पूरा करती है तथा उसकी प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है। इनकी छानबीन से जैन तथा बौद्ध धर्म के सच्चे स्वरूप का परिचय मिलता है। इन्होंने इन विरोधी दलों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। उस समय अक्रियावाद का बोल-बाला था कि न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया, न तो कोई प्रयत्न (नत्थि कम्म, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं)। इसके उत्तर में जैन दर्शन ने इस मत का खण्डन करते हुए यह घोषणा की कि कर्म है, उत्थान (उद्योग) है, बल है, वीर्य है (अत्थि उत्थानेति वा, कम्मोति वा, बलेति वा, विरियेति वा, पुरिसकारे परक्कमेति वा; भगवतीसूत्र १।३।५)। इस प्रकार के सिद्धान्त को बुद्ध धम ने भी स्वीकृत किया, जिनके कारण उसे भी कर्मवाद या क्रियावाद के नाम से पुकारते हैं। अतः अधिकतर सयुक्तिक होने के कारण जैन तथा बौद्ध दर्शन तो जनता के प्रियपात्र हुए तथा अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ हुए, परन्तु अन्य मत कुछ दिनों तक ही अपना प्रभाव जमाये रहे। अन्ततः तर्कहीन होने के कारण वे सदा के लिए लुप्त हो गए।

जैन ग्रन्थों ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद तथा विनयवाद के अन्तर्गत ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख किया है। इन मतों के प्रचार को हम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु कतिपय मतों का प्रचलित होना अवश्य निःसंदिग्ध है। दीर्घनिकाय के 'ब्रह्मजाल सुत्त' में बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित ६२ मतवादों का वर्णन किया गया है[1]। ब्राह्मण ग्रन्थों में श्वेताश्वतर[2] तथा मैत्रायणी उपनिषद् ने मूल कारण की मीमांसा के विषय में भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है, जिसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति (भाग्य), यदृच्छा भूत आदि जगत् के मूल कारण माने जाते थे[3]। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।२०।२३) ने प्राचीनतम सांख्य ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' के विषयों का संक्षेप वर्णन किया है; उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र आदि ३२ तन्त्रों का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इन तन्त्रों में कतिपय तन्त्र श्वेताश्वतर के निर्दिष्ट मत से सम्बन्ध रखते हैं। महाभारत में भी इन मतवादों का वर्णन तथा खण्डन है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्व-महाभारत युग में इन अवैदिक सिद्धान्तों की प्रचण्ड आंधी ने वैदिक धर्म को डाँवाडोल कर दिया था। सामान्य-वाद के साथ-साथ विशिष्ट दार्शनिकों का नामोल्लेख भी किया गया है। ऐसे आचार्यों में ६ तीर्थङ्करों के नाम आदर के साथ लिखे गये हैं तथा इनके मत का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है[4]।

पूर्णकश्यप के मतवाद का नाम अक्रियावाद है। उनके अनुसार किसी भी क्रिया का, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, फल कर्ता को भोगना नहीं पड़ता है।

---

१. देखिए दीर्घनिकाय (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५-१५।

२. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
(श्वेता० उप० १।२)

३. कालवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। अथर्वेद के १८ वें काण्ड के ५३ वें सुक्त में काल की महिमा का वर्णन है। काल की सृष्टि का मूल कारण मानना वैदिक तत्त्व है। कालतत्त्व का वर्णन महाभारत में भी है।
(आदिपर्व २४७-२५१)

४. लेखक का 'बौद्ध-दर्शन मीमांसा'—पृ १९-४२।

पूर्णकश्यप

उनका कहना है कि गाँव लूटने से, चोरी करने से, बटमारी करने से, परस्त्री गमन करने से, झूठ बोलने से–न तो पाप किया जाता है और न पाप का आगम होता है। इसी प्रकार दान देने से, दान दिलाने से, यज्ञ करने से या कराने से—न पुण्य होता है, न पुण्य का आगम।

अजित केशकम्बल

इनका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि के समान जान पड़ता है, जो इनके मतवाद के कारण तिरस्कार प्रदर्शन के लिए दिया गया था। इनके मत का नाम था—उच्छेदवाद या जडवाद। मृत्यु के अनन्तर कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता। शरीरस्थ सभी पदार्थ अस्थायी हैं। मृत्यु के बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु अपने मूलरूप में लीन हो जाते हैं। शरीर के भस्म हो जाने पर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। आत्मा की सत्ता भी एक झूठी बात है।

प्रक्रुध कात्यायन

इनके मत का नाम शाश्वतवाद है। इनकी सम्मति में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा आत्मा—ये सातों पदार्थ अकृत तथा अनिर्मित हैं, अतः कूटस्थ, स्तम्भवत अचल हैं। सब पदार्थ शाश्वत हैं, नित्य हैं, न उनकी उत्पत्ति होती है, न विनाश। न कोई हन्ता है न घातयिता। जो तीक्ष्ण सस्त्र से शीर्ष भी काटे, तो भी किसी को प्राण से नहीं मारता, क्योंकि उसका हथियार सात कायों से अलग, विवर में—खाली जगह में—गिरता है।

संजय वेलट्ठिपुत्त

यह दार्शनिक वेलट्ठि कुल में उत्पन्न संजय, नामधारी था। यह बड़ा तर्क-कुशल प्रतीत होता है। इसके मत का नाम था—अनिश्चिततावाद। किसी भी वस्तु का रूप किसी भी प्रकार से निश्चित नहीं है। न तो उसके विषय में 'हाँ' कहा जा सकता है और न 'नहीं'। परलोक के विषय में पूछे जाने पर वह न तो उसकी सत्ता को स्वीकार करता है और न उसकी असत्ता का निषेध करता है। उसका सब बल वस्तु की अनिश्चितता के ऊपर है। बहुत सम्भव है 'स्याद्वाद' की उत्पत्ति ऐसी ही किसी कल्पना से हुई हो।

यह अपने समय का एक विशिष्ट दार्शनिक था। मंखलि का शुद्ध संस्कृत रूप मस्करी था, जो या तो मस्कर (बांस) के धारण करने से या कर्मनिषेध के

मंखलि गोसाल

उपदेश देने के कारण इन्हें दिया गया था। महावीर के साथ यह बहुत दिनों तक रहता था, पर सिद्धान्त में भेद होने से उसने पृथक् होकर 'आजीवक' मत की स्थापना की। वह नियतिवाद का समर्थक था। प्राणियों के क्लेश का उदय बिना किसी हेतु या प्रत्यय के ही होता है और बिना किसी हेतु के ही वह स्वतः शान्त हो जाता है। अतः गोसाल के उपदेशों का सार यही था[१]-(नत्थि कम्म, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं) न कर्म है और न वीर्य। भाग्य का सहारा लेना चाहिए। जो कुछ होगा भाग्य से। अतः शास्त्र-निर्दिष्ट यज्ञ-याग, दान-पुण्य का सुखद पन्था निरर्थक है। पक्के भाग्यवादी के लिये कर्मों का आश्रय अभीष्ट नहीं है। इस सम्प्रदाय का विस्तृत इतिहास है[२]। पाणिनि के समय में भी 'मस्करी' परिव्राजक की कहानी अतीत की चर्चा न थी[३], क्योंकि इस नाम की व्युत्पत्ति उन्होंने प्रदर्शित की है। महाभाष्यकार (द्वितीय शताब्दी विक्रम पूर्व) इनसे परिचित थे तथा इस मत का उल्लेख नितान्त प्रामाणिक है—(मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसी)। षष्ठ शताब्दी के महाकवि कुमारदास 'मस्करी' के आकार-प्रकार से अभिज्ञ प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने रावण का जानकी के हरण के अवसर पर इस तापस-वेश में वर्णन किया है[४]। अतः 'आजीवक' मत का प्रचार अन्य मतों की अपेक्षा समधिक व्यापक प्रतीत होता है। लोकायत मत की उत्पत्ति का काल यही युग है। चार्वाक-दर्शन की प्राचीनता दिखलाते समय बृहस्पति को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जायगा। इस युग का आध्यात्मिक वायुमण्डल लोकायत मत के उदय के लिए अत्यन्त उपयुक्त था। इस युग के कतिपय साधारण विचार तथा आचार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अब तक विचार-शास्त्र उच्च श्रेणी के विद्वानों की कल्पना की वस्तु था, परन्तु इस युग में इसका प्रचार साधारण जनता में किया जाने लगा।

---

१. अंगुत्तर निकाय, जिल्द १, पृ० २८६।

२. डाक्टर वेणीमाधव बरुआ—आजीवक (अ०)

३. मस्करमस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः। ६।१।१५४।

४. दम्भाजीविकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिद् मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥

(जानकीहरण १०।७६)

स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने विचारों के प्रचार करने की प्रवृत्ति का उदय इसी समय में प्रथमतः उत्पन्न हुआ, जिसका अनुकरण महावीर तथा बुद्ध ने अवान्तर काल में किया। अपने आध्यात्मिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने की तथा अपने विचारों के अनुरूप जीवन यापन करने की प्रवृत्ति का विशेष लक्ष्य इस युग में दीख पड़ता है।

इन समस्त विरोधी मतों का खण्डन कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने की जरूरत पड़ी। विरोधियों के झंझावात से बचाकर वैदिक धर्म की नौका को सुरक्षित घाट पर लगाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति महाभारत ने की। महाभारत ने इन अवैदिक मतों की अप्रामाणिकता दिखलाकर वैदिक मत की पुनः प्रतिष्ठा का पवित्र कार्य सम्पन्न किया। महाभारत के पञ्चम वेद होने का यही रहस्य है। भागवत (१।४।२५) ने ठीक ही कहा है कि स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विजों को श्रुति के अनधिकारी होने के कारण कारुणिक कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना की। 'महाभारत' सरहस्य वेदचतुष्टय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है (म० भा०, आदिपर्व १।२७२)। महाभारत इस युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

इस काल में आस्तिक विचारों की धारा रुकी नहीं, प्रत्युत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप वह भी प्रवाहित होती रही। इस काल में भक्ति के ऊपर विशेष जोर दिया जाने लगा तथा भिन्न-भिन्न देवताओं का रूप परिष्कृत होने लगा। शिव तथा विष्णु के प्रधान देवता की कल्पना इसी युग की वस्तु है। 'एकायन' नाम से जिस भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय का उल्लेख 'छान्दोग्य उपनिषद्' (७।१) में किया गया है; उस पांचरात्र मत का अभ्युदय तथा विपुल प्रचार इस काल में आकर निष्पन्न हुआ। यादववंशी क्षत्रियों में विशेष प्रचार होने के कारण इसे 'सात्वत' संज्ञा भी प्राप्त हुई। आस्तिक दर्शनों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क भूमि में इसी काल में उगने लगे थे। इन दर्शनों में सांख्य के आध्यात्मिक विचारों का प्रचार विशेषता से लक्षित होता है। 'योग' की प्रक्रिया तो उपनिषत्काल से ही भारतीय दार्शनिकों के लिए श्रद्धा तथा आदर का विषय बन गई थी। वेद से अपना नाता तोड़ने वाले मतवादियों ने भी 'योग' के व्यावहारिक बहुमूल्य उपदेश ग्रहण करने में आना-कानी नहीं की। व्यावहारिक जगत् में 'अहिंसा' की ओर जनता की रुचि स्वतः बढ़ रही थी और पशुयाग उनके लिए मीमांसा तथा सन्देह का विषय बन रहा था। ऐसे ही समय में महाभारत की रचना हुई, जिसने विरोधवादियों का

खण्डन कर औपनिषद ज्ञान के साथ नवीन आस्तिक धारा के सामञ्जस्य को उपस्थित किया। इस युग को दार्शनिक प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए महत्त्वशाली आध्यात्मिक रहस्य शान्तिपर्व तथा अनुशासन पर्व में भी भरे पड़े हैं, परन्तु महाभारत के इस लक्षश्लोकात्मक विपुलकाय ग्रन्थ में 'शतसाहस्री संहिता' में गीता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् मानी जाती है। अतः उसके विशेष अध्ययन की ओर अब हम प्रवृत्त होते हैं।

२—श्रीमद्भगवद्गीता

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का 'श्रीमद्भगवद्गीता' सारतम अंश है। इसके सात सौ श्लोकों के भीतर निःश्रेयस प्राप्ति के उपाय इतनी सुबोध तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये गये हैं कि सर्वसाधारण उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और बिना किसी झगड़ा-टंटा के राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं। गीता दलबन्दी के दलदल से कोसों दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी। उन सबका उपयोग कर गीता एक परम रमणीय साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है, जो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुखकर है। इसीलिए केवल सात सौ श्लोकों की लघुकाय गीता को कामधेनु तथा कल्पवृक्ष से उपमा दी गई है। गीता के महत्त्व का कारण उसकी समन्वय दृष्टि है। गीता के समय में मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा के अपरोक्षानुभूति की प्रतिपादक थी उपनिषद्; प्रकृति-पुरुष की विवेकख्याति से मोक्षलाभ का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम-सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टांग-साधन के द्वारा प्रकृति के बन्धन से जीव को निर्मुक्त कर कैवल्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मा में समर्पण सिद्धान्त को बतलाने वाला था पाञ्चरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैसा मनोरम सामञ्जस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय एवं नितान्त उपादेय है। प्राञ्जल तथा सुबोध भाषा में आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है। भारतीय दर्शनकारों ने गीता की गणना द्वितीय प्रस्थान में कर इसकी महिमा का पूरा आभास दिया है तथा अवान्तर काल के धार्मिकमतों के संस्थापक

महत्त्व

आचार्यों ने इसे भाष्य से सुशोभित कर इसके गूढ़तम तात्पर्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भारत के बाहर भी गीता का प्रचार कम नहीं है। शायद ही ऐसी कोई सभ्य भाषा होगी, जिसमें गीता का अनुवाद न मिले। गीता के कितने ही सुन्दर अनुवाद हैं तथा कितने ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। गीता का आकर्षण सार्वजनिक है, वह सब देश तथा काल के लिए समान है।

गीता का स्वरूप

जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था, वह विलक्षण थी। महाभारत का प्रलयंकारी संग्राम होने जा रहा था, जिसमें भाई के सामने भाई उसका खून पीने के लिए तैयार खड़ा था। ऐसी दशा में अर्जुन का विषादी होना नितान्त स्वाभाविक है। अर्जुन महाभारत-कालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशील था। इस प्रकार सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़ कर कर्म के विषय में संशय रखने वाले मानव का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीताज्ञान के वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण थे, जो उस युग के परम मेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी—युद्ध करूँ या न करूँ? इस विकट प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करने में ही गीता का उदय होता है। अतः गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है; वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिये गीता 'योगशास्त्र' कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यवहार है। 'सांख्य' का अर्थ है—तत्त्वज्ञान तथा 'योग का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कहने से तात्पर्य यही है कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार का प्रतिपादन है। तत्त्व-समीक्षा के आधार पर ही आचार मीमांसा की सुन्दर प्रतिष्ठा होती है। अतः गीतार्थ के विवेचन के लिए इन उभय पक्षों का निरूपण नितान्त आवश्यक है।

(क) गीता का अध्यात्मपक्ष

१. ब्रह्मतत्त्व

अध्यात्म-तत्त्व का विवेचन गीता में बड़ी ही साफ-सुथरी भाषा में स्थान-स्थान पर किया गया गया है, परन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापित करना कुछ कठिन कार्य है। इसलिए आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाते हैं–"तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्"—गीताभाष्य

का उपोद्घात। चरमतत्त्व के निर्देश भिन्न-भिन्न अध्यायों में किये गये हैं, परन्तु आठवें तथा तेरहवें अध्याय में इसका वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूप से परिचित है, परन्तु यह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। निम्न श्लोक में इन दोनों रूपों की एकता स्पष्टतः प्रतिपादित की गई है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(१३।१४)

ब्रह्म समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि में समर्थ होता है— आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा यह प्रतिभाषित होता है। अथ च वह स्वयं समस्त इन्द्रियों से हीन है, वह सब प्रकार के देहादिक संबंध से रहित है, परन्तु सबको धारण करता है। वह निर्गुण है, तथापि गुणों का भोक्ता है—सत्त्वादि गुणों के परिणाम रूप, शब्द, स्पर्शादि विषयों का उपभोक्ता है। वह सत् भी है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है (सदसत् तत्परं यत्— ११।३७); परब्रह्म न तो सत् और न तो असत् कहा जाता है (न सन्नासदुच्यते १३।१२); ब्रह्म भूतों के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर, चर दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ है (१३।१५)। इन वर्णनों में विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि देश-काल निमित्तादि उपाधियों से विरहित परम तत्त्व समस्त विरोधों का अन्त है, यह विचारशास्त्र का गूढ सिद्धान्त है। भगवान् जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय (लयस्थान) है (७।६); वह समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस तरह डोरे में मणियों का समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह भगवान् में समग्र जगत् ओत-प्रोत, अनुस्यूत, गूँथा हुआ है (७।७)। उसके हाथ-पैर चारों ओर हैं, आँख, सिर, कान, तथा मुँह चारों तरफ हैं, वह इस पूरे विश्व को आवरण कर स्थित है (१३।१३)।

इस प्रकार गीता की दृष्टि में ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार का है और इन रूपों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

गीता भगवान् के दो प्रकार के भावों की सत्ता बतलाती है। भगवान् के दो भाव हैं—अपर भाव तथा पर भाव। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहता है तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होता है। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—१०।४१);

ब्रह्म के दो भाव

इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप। परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वे इसे अतिक्रमण करने वाले भी हैं। यह उनका वास्तव रूप है। इस अनुत्तम, अव्यय रूप का नाम है—पर भाव, विश्वातिग रूप; (परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्—७।२४)। गीता की यह कल्पना ठीक पुरुषसूक्त के अनुरूप है। 'पुरुष का यह जगत् केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं[1]।' ब्रह्म के उभय भाव भी इसी प्रकार हैं। 'भगवान् विश्व के घट-घट में व्याप्त हो रहे हैं। ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें उनका अंश न हो ? फिर विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का प्राकट्य समधिक दीखता है[2]।' दशम अध्याय में भगवान् की विभूतियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

यह स्थावर तथा जंगम विश्व भगवदाकार ही है, इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है। इसीलिए गीता भगवान् की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है। इस विषय में सांख्य तथा गीता के तत्त्वविवेचन के पार्थक्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। सांख्यशास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड प्रकृति तथा चेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि समस्त पदार्थ इन्हीं दोनों तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं—इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है, परन्तु गीता इससे सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है, जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं। परमेश्वर की प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—अपरा तथा परा (७।४-५)। अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम क्षेत्र तथा क्षर पुरुष है। परा प्रकृति की अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष है। परा (उत्कृष्ट) प्रकृति से तात्पर्य जीव से है (७।५) तथा अपरा, चैतन्य के अभाव से निकृष्ट प्रकृति से अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है। समस्त भौतिक पदार्थों का ग्रहण 'क्षर' पुरुष के रूप में किया गया है (क्षरः सर्वाणि भूतानि—१५।१६), जिसका विकास अष्टविधा अपरा प्रकृति तथा चतुर्विंशति प्रकार के क्षेत्र के रूप में

दो प्रकृतियाँ

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(ऋग्वेद १०।९०।३)

२. यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(१०।४१)

अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है (७।४) तथा पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेद्रिय, मन तथा शब्दस्पर्शादि पञ्च इन्द्रियविषय—यही चौबीस प्रकार का क्षेत्र है (१३-५)। इस प्रकार सांख्यों के २४ तत्त्वों का अन्तर्भाव गीता क्षेत्र, अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष में करती है। एक विषय और ध्यान देने योग्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (देह तथा इन्द्रियों का समूह), चेतना (प्राणशक्ति) तथा धृति—इन्हें गीता 'क्षेत्र' का विकार मानती है (१३।६)। इनमें इच्छा-द्वेषादि को वैशेषिक दर्शन आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का गुण मानता है, परन्तु गीता की सम्मति में इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र से ही है।

जीव चैतन्यात्मक होने से परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है, वही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। किये गये कर्मों का फल धारण करने के कारण या भोगायतन होने से शरीर की ही क्षेत्र (खेत) संज्ञा है। क्षेत्र के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित ही है।

२. जीवतत्त्व

आत्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है, विशेषतः द्वितीय अध्याय में। आत्मा षड्विकारों से रहित है। न तो वह जन्मता है, न मरता है; वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता (भूत्वा न अभविता)। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण—अर्थात् प्राचीन होने पर भी नवीन ही है। हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता (२।२०); अतः जो व्यक्ति उसे मारने वाला, या मारे जाने वाला समझता है, वे दोनों उसके तत्त्व से अपरचित हैं, क्यों कि वह न तो मरता है, न मारा जाता है (२।१९)। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों को ग्रहण करता है ,उसी प्रकार जीव प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण (क्षीणकर्म) शरीर को छोड़कर नये शरीरों को पाता है (२।३०)। वह स्वयं अविकार है; वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है; वह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है (२।२४)।

यह जीव नाना न होकर एक ही है। गीता में इस विषय में एक उपमा दी गई है—'जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को (शरीर को) प्रकाशित करता है, (१३।३३)। इस श्लोक में क्षेत्री की उपमा सूर्य से देकर उसको एकत्व-भावना का सुस्पष्ट समर्थन है। जीव परमेश्वर का

सनातन अंश है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—१५।७)। भगवान् अंशी है तथा जीव अंश। ब्रह्मसूत्र (२।३।४२–५३) का भी यही तात्पर्य है, जिसमें यही गीतावाक्य स्मृति कह कर प्रमाण रूप में उल्लिखित किया गया है। यह अंशांशी भाव गीता के अनुसार किस प्रकार का है? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। परवर्ती अद्वैती टीकाकारों ने प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति दिखलाई है, परन्तु ये सब कल्पनायें पीछे की जान पड़ती हैं।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। गीता के शब्दों में भगवान् सब भूतों का सनातन—अविनाशी बीज है (सनातनं बीजम् ७।१०) या अव्यय बीज है (बीजमव्ययम् ९।१८)। जिस प्रकार

३. जगत्तत्त्व

बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर बीज में ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् के अवान्तर आविर्भाव काल को 'ब्रह्मा का दिन' कहते हैं तथा अवान्तर तिरोभाव काल को 'ब्रह्मा की रात्रि' कहते हैं (८।१८ १९)। गीता में सांख्यों की 'प्रकृति' स्वीकृत की गई है। गीता में प्रकृति को कहीं 'अव्यक्त' (८।१८;८।२०) तथा कहीं 'महद् ब्रह्म' (१४।३) की संज्ञा दी गई है। सांख्य 'प्रकृति' से ही जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके मतानुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् को पैदा करती है, नहीं तो अचेतन जडात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता?

> मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
> हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥
> (९।१०)

पशु-पक्षी आदि सब योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि (उत्पत्ति स्थान) महत् ब्रह्म है तथा ईश्वर बीज रखने वाला है (१४।४)। अतः स्पष्ट है कि प्रकृति विश्व की मातृस्थानीया है तथा ईश्वर पितृस्थानीय है। इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर से न्यून है। गीता 'नासतो विद्यते भावो नभावो विद्यते सतः' का प्रतिपादन करती है। यह सत्कार्यवाद है। अतः गीता की दृष्टि में जगत् मायिक तथा काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है।

पुरुषोत्तम-तत्त्व भगवद्गीता का परम रहस्य तथा महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। सांख्य की आलोचना के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे 'अव्यक्त' है। अतः सांख्य-ग्रन्थों में उसी के लिए 'अव्यक्त' का प्रयोग पाया जाता है, परन्तु गीतानुशीलन के अवसर पर याद रखना चाहिए कि अव्यक्त तथा अक्षर का प्रयोग गीता में व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति-पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व के लिए भी किया गया है। वह तत्त्व है अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म, जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) निकृष्ट विभूति है। गीता में अचला प्रकृति को क्षर तथा कूटस्थ अविकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है। अक्षर से भी उत्तम है 'पुरुषोत्तम'। कहा गया है :—

४. पुरुषोत्तम

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम का पार्थक्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जड जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति से भी परे विद्यमान रहने वाले सचेतन तत्त्व को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं (८।२०-२१); परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित और साथ ही साथ उनसे पृथक् भी है—जो विश्वानुग होकर विश्वातीत है—वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' पद-वाच्य है। पूर्वोक्त श्लोक में 'पुरुषोत्तम' क्षर को अतिक्रमण करने वाले तथा अक्षर से उत्तम बतलाये गये हैं। 'अतीतः' उनके विश्वातिक्रमणकारी स्वरूप का परिचायक है तथा 'उत्तम' शब्द 'अक्षर' से उनकी उत्तमता का द्योतक है। इसी पुरुषोत्तम को सर्वकर्म-समर्पण कर देने की शिक्षा गीता देती है। इस प्रकार गीता में औपनिषद ब्रह्मवाद, सांख्य-सम्मत प्रकृतिपुरुष-वाद तथा भागवतधर्माभिमत ईश्वरवाद का हृद्य समन्वय उपस्थित किया गया है।

(ख) गीता का व्यवहारपक्ष

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता के जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा देना था, परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य के

विभिन्न मार्गों का सामञ्जस्य

मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचार-दृष्टि से वासुदेव-भक्ति ही है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्म का निष्पादन सिद्ध नहीं होता। इधर लोकमान्य तिलक जी ने 'गीतारहस्य' की रचना कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में अरुचि दिखलाकर भागवतधर्माभिमत प्रवृत्ति-मार्ग को गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोग को तत्साधन बतलाया है। ग्रन्थकार ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल युक्तियाँ दी है। इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता, परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है। शास्त्रों ने मानवी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रख चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। चिन्तन का प्रेमी साधक ज्ञानमार्ग से, सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्मयोग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों का विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। इन भिन्न-भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते थे। गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक् पृथक् मार्ग प्रचलित थे (१३।२४–२५)। इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं, परन्तु भगवान् ने इस गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है, जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धारायें भारत भूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें गीता में मिल कर तत्त्वजिज्ञासुओं को

---

१. नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥
(महाभारत शान्ति-पर्व ३४७।८०)

ज्ञान-पिपासा मिटाती हुई भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीतार्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

गीता से बहुत पहले मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है, ज्ञानकाण्ड निरर्थक है। जैमिनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है, अतः उससे भिन्न ज्ञान-प्रतिपादक वाक्य निरर्थक हैं[1]। कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या? देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग, अर्थात् किसी देवताविशेष के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना।

(१) गीता तथा कर्मयोग

गीता कर्मकाण्ड की निरर्थकता से न सहमत है और न यज्ञ का यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है। वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३।१०–१६), क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं, परन्तु गीता ने 'यज्ञ' का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है। निःस्वार्थ बुद्धि से किये गए परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्मों को 'यज्ञ' कहते हैं। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं—द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि (४।२५–३२)। परन्तु गीता का कहना है कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये गये कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से कभी कोई भाग नहीं सकता। इस जीवन-यात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों ही गुण बलात्कार से उस प्राणी से कर्म कराते ही हैं (३।५)।

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है, जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है वासना—फलकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस कामना या इच्छा से कर्म किया जाता है, उस फल को तो भोगना ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता; परन्तु फल के बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। कर्मसंन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गी० ५।२), परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है—(१) फलाकांक्षा का वर्जन,

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्—मी० सू० १।२१।

(२) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग, (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार कर्म करने में है, फल में कभी नहीं है; फल की आकांक्षा से कभी कर्म मत करो तथा अकर्म में—कर्म के न करने में—कभी तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी० २।४७)

कर्मयोग का यही महामन्त्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्ति का परित्याग कर कर्म करने में किसी प्रकार की बुराई का तनिक भी डर नहीं है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत कर्म के फल का त्याग करना चाहिए। इसलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु चतुर पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फल का त्याग ही वास्तव संन्यास है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
(१८।२)

कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों के दास हैं, जो बलात्कार से प्राणियों से कार्य कराया करती है। तब कर्तृत्व का अभिमान कहाँ? तीसरा सोपान यह है कि समस्त कार्यों की निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना चाहिए। गीता (९।२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि 'जीव जो कुछ करे, खाय आहुति दे, दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् को समर्पण कर दे। इसका फल यह होगा कि कर्मबन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जायेगा।' इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है। अज्ञ तथा पण्डित के कर्म करने में यही तो अन्तर है। अज्ञ आसक्ति से कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण कर्तव्य-बुद्धि से 'लोक-संह' के निमित्त करता है (३।२५)। 'लोक-संग्रह' गीता का एक विशिष्ट सारगर्भित शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यों का यथावत् रूप से निर्वाह है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते हैं:—
(१) आलस्यवश फलों की इच्छा न रखना और न उसके लिए कर्म करना।

यह प्रकृत जन-सम्मत मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (२) फल की आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना—यह 'सकाम' मार्ग है, जिसमें कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना—यह 'निष्काम' मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भलीभाँति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना—यही गीतासम्मत कर्मयोग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतों का समन्वय है। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करने में गीता की विशिष्टता है।

पक्के कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान तथा भक्ति के पुट की नितान्त आवश्यकता है। कर्म से कर्तृत्वाभिमान को छोड़ना ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है तथा ईश्वर में कर्मों का समर्पण भक्तिप्रवण चित्त से ही किया जा सकता है।

२. गीता तथा ज्ञानयोग

गीता ज्ञानमार्ग के महत्त्व को स्वीकार करती है, परन्तु उसका ज्ञानयोग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है। ज्ञानवादी (जैसा सांख्य) जिसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाये हैं, वह चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान है, परन्तु गीतासम्मत ज्ञान आत्मा की एकता का सम्पूर्ण अनुभव है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं (६।२९)—सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थमात्मानम्) एक दिशा है, जिसमें सर्वभूत आधार तथा आत्मा आधेय है, परन्तु इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इसकी दूसरी दिशा भी है—आत्मा में सब भूतों को देखना (सर्वभूतानि चात्मनि)। इसमें आधारभूत आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशायें परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष 'समदर्शन' कहलाता है। 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' का दृष्टान्त जगत् में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु 'सर्वभूतानि चात्मनि' के दृष्टान्त को भगवान् ने अर्जुन को अपने देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखलाया है। एक विराट् आत्मा के भीतर एक जगह पर अनेकधा विभक्त समस्त जगत् को अर्जुन ने दिव्यचक्षु से देखा। विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थं कृत्स्नं जगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में है। तब अर्जुन का आत्मैकत्व ज्ञान यथार्थ हुआ, परन्तु ऐसा सच्चा ज्ञानी महात्मा होना बिल्कुल दुर्लभ बात है, जो सब किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे (वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः—७।१९)। ऐसे समदृक् पुरुष को विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, बैल,

हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में समदृष्टि रहती है। (५।१८)। गीता 'पण्डिताः समदर्शिनः' में 'समदर्शिनः' शब्द का प्रयोग करती है, 'समवर्तिनः' का नहीं। गीता समस्त प्राणियों के साथ एक प्रकार का व्यवहार, अर्थात् समवर्तित्व का निषेध करती है। इसे भूलना नहीं चाहिए।

गीता ने ध्यानयोग को भी अपनाया है। छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशद वर्णन उपनिषद्पद्धति के अनुसार है। इस वर्णन में श्वेताश्वतर (२८–१५) की झलक साफ तौर पर दीख पड़ती है।

३. गीता तथा ध्यानयोग

चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए गीता आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि समस्त योग-साधनों का उपदेश देती है (६।११–१८), परन्तु ध्यान के द्वारा एकसंस्थ चित्त का उपयोग क्या है? अखिलाधार भगवान् में उसका अर्पण करना। मनुष्य विषयपंक से अशुद्ध, कलुषित चित्त को भगवान् को क्यों कर अर्पण कर सकता है? प्राणायामादि से परिष्कृत शुद्ध चित्त को ही भगवान् के आश्रय में लगाना उचित है। गीता (६।३१) कहती है कि योगी एकत्व की भावना कर सर्वभूतों में निवास करने वाले भगवान् को भजता है, वह जिस किसी अवस्था में रहने पर भी भगवान् के ही साथ रहता है। अतः गीता शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है। उसके अनुसार तो ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त से सर्वत्र वर्तमान घट-घट में व्यापक भगवान् के भजन करने में है (६।२८)। भगवान् ने (६।४६) योगी का पद तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मी—इन तीनों से बढ़कर बतलाया है, तथा योगी होने का उपदेश दिया है। योगी भी गीता के अनुसार दो प्रकार का होता है—युक्त तथा युक्ततम। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, मिट्टी, पत्थर तथा सोने को एक समान समझने वाला, जितेन्द्रिय, विकाररहित योगी 'युक्त' कहलाता है (६।८), परन्तु इन 'युक्त' योगियों में भी वही सर्वश्रेष्ठ युक्ततम है, जो अपने अन्तरात्मा को भगवान् में लगाकर पूरी श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरन्तर भजन करता है:—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)

ध्यानयोग का यही निष्कर्ष है। बिना भगवान् के श्रद्धापूर्वक हृदय से भजन किये ध्यानयोग केवल शारीरिक व्यायाममात्र है, काया को कष्ट पहुँचाना है। अतः गीता को ध्यान तथा भक्ति का सामञ्जस्य अभीष्ट है।

भक्तियोग गीता-ज्ञान का अमृत फल है। यह सब विद्याओं का राजा है (राजविद्या) तथा समस्त रहस्यों का रहस्य (राजगुह्य—९।२) है। गीता का हृदय भक्ति है। विविध साधनों की आलोचना से हम इसी तत्त्व पर पहुँचते हैं कि बिना भक्ति से सम्पुटित हुए इसका आचरण अधूरा है, अपूर्ण है। विराट् रूपदर्शन के अन्त में इस रूप के दर्शन की साधना बतलाते समय श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि यह देव दुर्लभ रूप न वेद, न तपस्या, न दान, न इज्या के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है (११।५३)। इसका एकमात्र साधन है—अनन्या भक्ति। इसी के द्वारा जीव भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वतः जान सकता है तथा प्रवेश कर सकता है, भगवान् के साथ ऐक्य भाव को प्राप्त हो सकता है (८।२२, ११।५४)। पर अनन्या भक्ति किसे कहते हैं? गीता ने इस तत्त्व को इस श्लोक में समझाया है :—

४. गीता तथा भक्ति-योग

> मत्कर्मकृद् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (११।५५)

यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने वाला, भगवान् को परम आश्रय मानकर उनकी प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील (मत्परमः), भगवान् की सच्ची भक्ति करने वाला, आसक्ति रहित, सम्पूर्ण प्राणियों में वैरभाव से रहित पुरुष अनन्य भक्त कहलाता है। ऐसे भक्ति का फल भगवत्-प्राप्ति ही है। गीता सकाम (९।२०, २१) तथा निष्काम उपासना[1] (९।२२) के भेद को मान कर अन्तिम को श्रेष्ठ बतलाती है (९।२६, २७); वह निराकार उपासना को नितान्त क्लेशकर बतला कर (१२।५) सगुण उपासना का उपदेश देती है (१२।६–८)। गीता के भक्तियोग में अन्य साधनों से भी अविरोध है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों से कहीं बढ़कर

---

१. उपासना के तात्पर्य को शंकराचार्य ने बड़े सुबोध शब्दों में समझाया है—"उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं यद् उपासनमाचक्षते" अर्थात् उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँच कर तैलधारा की तरह समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थिर रहने को उपासना कहते हैं। द्रष्टव्य गीता १२।३ पर शाङ्करभाष्य।

ज्ञानी भक्त का पद है। ज्ञानी भक्त तो भगवान् का आत्मा-स्वरूप है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्—७।१८), अतः सर्वश्रेष्ठ है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते—७।१७)।

इस प्रकार गीता भिन्न-भिन्न मार्गों में समन्वय प्रदर्शित कर साधनमार्ग को सुगम तथा सुलभ बना देती है। गीता की सम्मति में कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्तियोग भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधनसरणी न होकर एक ही रास्ते के विभिन्न ठिकाने हैं, जिन्हें आध्यात्मिक पथिक को पार करना आवश्यक होता है। अठारहवें अध्याय में इन मार्गों का परस्पर सामञ्जस्य संक्षेप में दिखलाया गया है। गीता के साधन-मार्ग का आरम्भ निष्काम-कर्म से तथा अन्त शरणागति से है। निष्काम कर्म करने से तथा नियम पूर्वक ध्यान-योग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, जिस दशा में वह प्रसन्न चित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है (१८।५१-५३)। इस ब्राह्मी स्थिति के उदय होने पर साधक परा भक्ति—परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति—को प्राप्त करता है (१८।५४) तथा भक्ति के उदय होने से वह 'परज्ञान' का अधिकारी होता है, जिसके द्वारा वह भगवान् के स्वभाव तथा स्वरूप (यश्चास्मि), विभूति तथा गुण को (यावान्) यथार्थरूपेण जानता है। इसका फल भगवत्-प्रवेश—ईश्वरोपालब्धि है (१८।५५), परन्तु इस अन्तिम फल के लिए प्रपत्ति की नितान्त उपयोगिता है। गीता का 'सर्वगुह्यतम' ज्ञान यही है कि हृदयस्थित अन्तर्यामी ईश्वर के शरण में जाकर सब धर्मों का परित्याग कर दे। स्वरूपतः परित्याग न करे, अपितु ईश्वर को समर्पण-बुद्धि से उनका निष्पादन करे (१८।६६), प्रपत्ति-मार्ग अन्य मार्गों का नैसर्गिक पर्यवसान है। गीता का गुह्यतम ज्ञान यही है:—

५. समन्वय मार्ग

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९।३४)

गीता के साधन-मार्ग की जानकारी के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किंचित् पाठभेद से गीता में दो बार आया है (९।३४; १८।६५)। एक प्रकार से यह गीता का सार है। इसका तात्पर्य यह है कि जितने विभिन्न साधन विद्यमान हैं, ईश्वर उनके केन्द्र में स्थित रहने वाला है। उसी को लक्ष्य में रखने से विभिन्न साधनों का अपूर्व सामञ्जस्य निष्पन्न होता है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन लगाना चाहिए भगवान् में (ज्ञानयोग), भक्ति करनी चाहिए

भगवान् की (भक्तियोग), यज्ञ करना चाहिए भगवान् के निमित्त (कर्मयोग) तथा आश्रय लेना चाहिए भगवान् का ही (शरणागति)—इस प्रकार इन विविध मार्गों का अविरोध केवल भगवान् में आश्रित होने से ही होता है। गीताकार 'मत्परायणः' शब्द को श्लोकान्त में रखकर तथा इसे 'सर्वगुह्यतमं वचनम्' कह कर (१८।६४) शरणागति की श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं।

इन साधनों के फल का भी वर्णन गीता ने विस्तार के साथ किया है। आत्मा को जानने वाले, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले ज्ञानी को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारती है। वह स्थितप्रज्ञ है (२।५२), भक्त है (१२।१३), त्रिगुणातीत है (१४।२२–२७), ब्रह्मभूत है (१८।५४)। ऐसे

६. सिद्धावस्था

ब्रह्मभूत की स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' (२।७२) कहलाती है। साधनाओं का चरम लक्ष्य परमतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञानमार्ग से, भक्तिमार्ग से, सांख्य से समभावेन प्राप्य है। इसीलिए गीता में सिद्ध पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है, परन्तु तत्त्व एक ही है। सिद्ध पुरुष सब प्राणियों का अद्वेष्टा, सबका निःस्वार्थ प्रेमी, दयालु, ममता तथा अहंकार से रहित, सुख तथा दुःख की प्राप्ति में सम, शान्तचित्त तथा क्षमावान् होता है (१२।१३)। वह अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, दुःखों के बीच वह उद्वेग-रहित रहता है तथा सुखों की प्राप्ति होने पर वह स्पृहा नहीं रखता; सर्वत्र आत्मस्वरूप को देखने के कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों से वह उन्मुक्त रहता है। ऐसे पुरुष की ही संज्ञा है—स्थितप्रज्ञ, स्थितधी तथा प्रतिष्ठितप्रज्ञ (२।५५–५८)। गीता के अनुसार मानव जीवन के लिए यही आदर्श है, सफल जीवन के परखने की यही कुंजी है; 'जीवन्मुक्ति' के औपनिषद आदर्श का इससे सुन्दर सरल रोचक वर्णन नहीं मिल सकता।

भगवान् को स्मरण करते हुए इस संसार-युद्ध में प्रवृत्त होने तथा अपने समस्त धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते रहने "मामनुस्मर युध्य च" की गीता-शिक्षा आज भी उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जिस प्रकार वह महाभारतकाल में थी। भारतीय धर्म तथा दर्शन का यह परम प्रामाणिक प्राञ्जल, सरल तथा सरस सारांश है। इसलिए शास्त्र इसी के अध्ययन करने का उपदेश देते हैं। शास्त्रविस्तार से लाभ क्या ? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिए। (गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः—गीता-माहात्म्य)। गीता का ज्ञान पुण्यसलिला गंगा के जल के समान पावन, पवित्र

तथा कलिकल्मषनाशन है, जिसमें स्नान कर कौन मनुष्य विधूतपाप नहीं हो जाता ? गीताकल्पपद्रुम की शीतल छाया का आश्रय लेने पर किसको मनोवाञ्छा सफल नहीं हो होती ? इसीलिये गीता का अनुशीलन तथा मनन आजकल नितान्त अपेक्षित है। शास्त्र से बढ़कर गीता का व्यवहार परमोपयोगी है। गीता के उपदेशों को अपने जोवन में उतारना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है ।

गीता का सुलभ साधन

भगवान् को पाने का सुलभ साधन कौन-सा है ? विचार करने पर भगवान् की शरण में जाने से बढ़कर अन्य कोई साधन है ही नहीं। जो सब शक्तियों का का आधार है, जो अघटना को भी घटित कर सकता है, उस परमात्मा की शरण में जाने से दुर्बल आत्मा में अमित बल का संचार हो जाता है। उस मार्ग को पकड़ने पर अनायास ही हम लोग भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। गीता का भी तात्पर्य इसी शरणागति में प्रतीत होता है। गीता के नवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वह विद्या बतलाई है, जो सब विद्याओं को सार है और सब गुह्य बातों में भी गुह्य है। वह है भगवान् को अनन्य भाव से भजना। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' में 'अनन्य' पद महत्त्व का है, जिसके लिए कोई आधार या आश्रय न हो उसके उपर भगवान् की दया होती है। जबतक हम जगत् की वस्तुओं का अवलम्बन कर बैठे हुए हैं तबतक भगवान् की दया हो तो कैसे हो ? जब हृदय सबसे विमुख होकर केवल भगवान् ही पर अवलम्बित हो यह कहता है कि हे भगवान्—मुझे किसीका सहारा नहीं, कोई देखभाल करने वाला नहीं, अन्धकारमयी रजनी में कहीं से भी प्रकाश की झलक नहीं आ रही है, आगे का रास्ता सूझता नहीं, क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? तब भगवान् का आसन डिगने लगता है, भक्त की आर्त पुकार भगवान् के आसन को हिला देती है। परन्तु भक्त को 'नित्ययुक्त' होना चाहिए, भगवान् में भक्त की निष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय में भी इसी बात को भगवान् ने गुह्यतम बतलाया है। १८।६४ में गुह्यतम ज्ञान के बतलाने की प्रतिज्ञा है और वह ज्ञान दो पद्यों में है—'मन्मना भव' तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य।' इसलिए गीता का तात्पर्य यही शरणागत वाली भक्ति है; पर उस भक्त को ज्ञानसम्पन्न होना चाहिए 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' परलोकसंग्रह के लिए सब कर्मों को करते रहना होगा। अतः गीता के अनुसार भक्ति को प्रधानता दी गई है।

ज्ञान और कर्म का समन्वय भक्ति में है। भक्त ही यथार्थ में ज्ञानी और कर्मयोगी हो सकता है। मेरे विचार से गीता में प्रधान लक्ष्य इसी समन्वय की

ओर है, जिसमें भक्ति की प्रधानता बनी रहती है। शुष्क ज्ञान को लेकर हम क्या करेंगे; साथ ही इसी प्रकार केवल भक्ति से भी हमारा काम नहीं चलेगा। देखने में ये भिन्न-भिन्न दो मार्ग प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः इनमें भेद नहीं है।

गीता के तात्पर्य के ऊपर जितना विचार किया जाता है, उतना ही अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान् के भजन का ही तात्पर्य निकलता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से यही कहा है कि शास्त्र का ज्ञान, प्रत्यक्षरूप से दर्शन (ग्यारहवाँ अध्याय), तथा तन्मयता से भगवान् के साथ एकीकरण—इन तीनों की प्राप्ति अनन्य भक्ति के द्वारा होती है। (११।५४)। इससे बढ़कर स्पष्ट उक्ति और क्या हो सकती है। भगवान् का सदा स्मरण करते हुये अपने काम में लगे रहना चाहिए, परन्तु सदा अनन्यभाव से। भगवान् से बढ़कर अन्य हमारी गति नहीं है। वही हमारा आधार है। वही, अथर्ववेद के अनुसार, 'स्कम्भ' है। उसी से यह हमारा जीवन है। नाशवान् पदार्थों में वह स्वयं अनश्वर होकर विद्यमान रहने वाला है। ऐसे भगवान् के ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। जो हम करते हैं, वह उसका है, क्यों कि वह उसी की अध्यक्षता में निष्पन्न हुआ है। ऐसे भाव की अहेतुकी भक्ति ही वास्तव में भगवान् के प्रति सच्चा अनुराग है। प्रियतम को सर्वस्व मानकर जो अनुराग नहीं किया जाता, वह भला सच्चा अनुराग क्योंकर माना जा सकता है। अतः अनुराग को 'अनन्य' होना ही पड़ेगा। यदि भगवान् से माँगने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वह सच्चा नहीं हो सकता। जब पक्का प्रेम हुआ, तब माँगना क्या ? जो अपने हृदय में निवास करता है, जो हृदय की बातों से सर्वथा परिचित है, उससे कुछ कहना या माँगना उसकी सर्वज्ञता का अनादर करना है और अपनी तुच्छता प्रकट करना है। अतः भगवान् से माँगने की प्रवृत्ति बड़ी बुरी है। यह तो लेन-देन का व्यापार बनियापन हुआ। वणिक्-वृत्ति में साधुता के संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को समेट भगवान् के चरण में लगा देना ही मनुष्य का काम है। यही अनन्य भजन हुआ। पर बिना सात्त्विकी श्रद्धा तथा दैवी सम्पत्ति के पाये यह हो नहीं सकता। अतः भगवद्भक्ति के लिए अभय, सत्त्वशुद्धि आदि सद्गुणों का उपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। ये भी सात्त्विकी श्रद्धा से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतः दैवी सम्पत्ति को पाकर कर्मयोग तथा ज्ञान में लगाकर अनन्य भक्ति करना ही गीता का तात्पर्य प्रतीत होता है।

ज्ञान और भक्ति में कुछ लोग अन्तर बतलाते हैं और एक को दूसरे का प्रतिबन्धक समझते हैं, पर बात ठीक इसके विपरीत है। जबतक ज्ञान नहीं तबतक

सच्ची भक्ति नहीं होती। जिस व्यक्ति के रूप के अवलोकन का अवसर ही नहीं मिला है, भला उससे हम प्रेम क्यों कर सकते हैं। अनुराग करने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को हम सब प्रकार से जानें, उससे परिचित हो जाँय, उसके भीतरी तथा बाहरी तत्त्वों से हम अवगत हो जायँ। अतः ज्ञान होने पर ही सच्चे अनुराग का उदय होता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी कितना सुन्दर है। विना भक्ति के ज्ञान नीरस है और विना ज्ञान के भक्ति अंधी है। अतः इनकी जुगल जोड़ी ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। ज्ञानी भक्त को पहला दर्जा देकर इस बात की पुष्टि की गई है। ज्ञान से सम्पन्न भक्त हो तो सच्चा भक्त हो सकता है। भक्त ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और न ज्ञानी को भक्ति की उपेक्षा करनी चाहिए।

आदर्श भाव

गीता के अनुसार जीवन का आदर्श क्या है? आदर्श मानव कैसा होता है? वह जो घरबार छोड़कर जंगल में भागकर अरण्य की शरण लेता है अथवा वह, जो इस संसार में विषम स्थितियों के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाकर जीवन को आगे बढ़ाता है? इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु तथ्य तो यह है कि गीता व्यवहार-शास्त्र है, जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढ भूमि पर अवस्थित है। इसीलिए गीता की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ये दो महत्त्व के शब्द मिलते हैं। यह योगशास्त्र है—कर्तव्यशास्त्र है, जो अपने खड़े होने के लिए ब्रह्मविद्या के दृढ आधार पर आश्रित है। गीता का सारांश कहीं श्लोक में, कहीं श्लोक के अर्धभाग में और कहीं श्लोक के चतुर्थ भाग में ही उद्घोषित किया गया है। इस श्लोक में गीता का तात्पर्य निविष्ट है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

अर्थात्—जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुई कि वे अपने विशिष्ट कर्मों में लगे तथा जिससे यह समस्त विश्व रचित है, उस भगवान् को अपने कर्म से पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है—इस श्लोक के अनुसार सिद्धि-लाभ का एक ही मार्ग है—भगवान् की अर्चना और वह सिद्ध होती है 'स्वकर्म' की उपासना से। फलतः मानव को चाहिए कि वह अपने वर्णाश्रम के द्वारा नियत कर्मों का सम्पादन करे, उनके फलों को भगवान् के चरणों में अर्पित करे और इस प्रकार उसे अपने

जीवन में सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वकर्म से भगवत्-चर्चा और भगवत्-चर्चा से सिद्धि-लाभ यह साधना का व्यवहारिक पक्ष गीता को अभीष्ट है। 'मामनुस्मर युध्य च' (मुझे सतत स्मरण करते हुए युद्ध करो, जीवनसंग्राम में अपनी विरुद्ध शक्तियों से)—इसका भी आशय यही है। इस प्रकार गीता संसार से भागने का उपदेश नहीं देती, प्रत्युत संसार में डटकर खड़ा होने, अपनी विषम परिस्थितियों से जूझने तथा अन्त में विजय पाने की उदात्त शिक्षा गीता हमें सर्वदा देती है। इसलिए गीता का आकर्षण सार्वभौम तथा सार्वकालिक है—सब समयों के लिए, सब परिस्थितियों के लिए, सब मानवों के लिए इसका उपदेश समान रूप से उपयोगी है।

गीता ने आदर्श मानव का वर्णन तीन स्थलों पर किया है—स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय ५५-७२), भक्त (१२।१३।१९) तथा गुणातीत (१४।२१-२७)। ये तीनों वर्णन एक समान हैं—इनमें समरसता है। यही गीताभिमत जीवन्मुक्त का भी लक्षण है। आदर्श मानव सब प्राणियों से मित्रता करनेवाला, अद्वेष्टा, करुणा, ममता तथा अहंकार से हीन, दुःख और सुख को समान मानने वाला तथा क्षमाशील होता है। वह न हर्ष के वश में जाता है और न द्वेष के; न शोक करता है और न आकांक्षा रखता है। वह शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल का त्याग करने वाला होता है। 'स्थितप्रज्ञ' का मान्य लक्षण यही है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

(गीता १२।१३)

अर्थात्—वह दुःखों से कभी उद्विग्नन नहीं होता, सुखों में स्पृहा नहीं रखता। राग, भय तथा क्रोध से विरहित होता है। यही मननशील व्यक्ति 'स्थितधी, स्थितप्रज्ञ, स्थिरधी—आदि नाना नामों से अभिहित किया जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

(गीता १२।१३)

गीता की दृष्टि में ऐसा ही मानव जगत् का उपकार करने वाला तथा स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय कर जीवन की लक्ष्यसिद्धि करने वाला होता है।

भारतीय दर्शन

द्वितीय खण्ड

(१) चार्वाक

(२) जैन

(३) बौद्ध

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक दर्शन

महाभारतोत्तर युग

सन्देहवाद बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी दर्शन की भूमि में लग जाते हैं, तो उन्हें दूर करने के सतत प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। वृक्षरूप में वे बढ़कर तैयार हो ही जाते हैं। उन्हें कितना भी काटा जाय, बेर के पेड़ के समान वे आप से आप पुनः उत्पन्न हो जाया करते हैं। विचार का झोंका सन्देह के बादलों को इतस्ततः विक्षिप्त करने में कतिपय क्षण के लिए ही समर्थ हो सकता है, परन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होता है, वे फिर गगन मण्डल में आ धमकते हैं और गाढ तिमिर-पटल से ज्ञानसूर्य को भी निगल जाने के लिए तैयार रहते हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान के इस नये युग के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। हमने गत परिच्छेद में देखा है कि उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों ने अनेक अवैदिक मतवादों को जन्म दिया। अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि समस्त वादों के मूल में यही सन्देहवाद क्रियाशील था। इन मतवादों को भारतभूमि से निकाल कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए पञ्चम वेद—महाभारत—का निर्माण किया गया। गीता ने सन्देहवादियों के आपाततः रमणीय युक्तियों की निःसारता भी दिखलाई। आसुरी सम्पत् के वर्णन के अवसर पर सोलहवें अध्याय में गीता उन लोगों की प्रवृत्तियों का उल्लेख करती है जो जगत् को आश्रय-रहित, नितान्त असत्य, अनीश्वर, अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला (अपरस्परसंभूत) तथा केवल भोगवृत्ति को चरितार्थ करने वाला (कामहेतुक) बतलाते हैं (१६।८), जो काम को परम पुरुषार्थ (कामोपभोगपरमा) मान कर मरणपर्यन्त अनन्त चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं (१६।११) तथा जो नाममात्र के यज्ञों का पाखण्ड से अविधिपूर्वक सम्पादन करनेवाले हैं (१६।१७)। परन्तु गीता के

अनन्तर चार्वाकों की प्रगति रुकी नहीं, प्रत्युत अनुकूल स्थिति में वे और भी पनपे। इन लोगों ने वैदिक धर्म के अध्यात्म-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष दोनों की आमूलतः उपेक्षा कर भूतात्मवाद का प्रचार किया। ये उस युग के सच्चे विज्ञानवादी प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका मतवाद समाज तथा धर्म के लिए इतना विद्रोही था कि इनके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार न हो सका। कोई भी व्यवस्थित समाज 'चार्वाक-दर्शन' का अनुयायी बन अपना वास्तव कल्याण-साधन नहीं कर सकता। अतः ये जनता की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट न कर सके।

इस युग में पनपनेवाले अन्य धर्मों की दशा इससे भिन्न थी। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म ने जनता के पीड़ित हृदय को पहचाना, उससे सहानुभूति दिखलाई, भवरोग के औषध ढूंढ़ निकाले और सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती होने के हेतु जनता के प्रेमभाजन बने। जरामरण के क्लेश से मुक्ति प्राप्त करना प्राचीन उपनिषत्-कालीन ऋषियों का भी लक्ष्य था तथा उनकी बतलाई पगडंडी पर चलने वाले महावीर और बुद्ध का भी। महावीर और बुद्ध ने उपनिषत्-प्रतिपादित विचार-पद्धति का ही अवलम्बन किया है, परन्तु अपने सिद्धान्तों में विशिष्टता लाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं श्रुतिमूल का तिरस्कार किया है। इसे आगे दिखलाया जायेगा कि महावीर तथा बुद्ध उपनिषत्-परम्परा के बहिर्भूत नहीं हैं। एक ही विशालकाय प्रच्छाय शीतल भारतीय धर्मरूपी महाद्रुम की जिस प्रकार वैदिक धर्म एक शाखा माना जाता है, उसी प्रकार जैनधर्म तथा बौद्धधर्म भी शाखायें हैं। आरम्भ काल में दोनों का अवान्तर भेद नगण्य था, पर परवर्ती शताब्दियों ने इतने भेदभाव की कल्पना कर दी कि दोनों एक दूसरे से नितान्त विभिन्न प्रतीत होने लगे। परन्तु सच्ची बात ऐसी नहीं है। श्रुति-प्रमाण के निषेध करने के कारण ये तीनों 'अवैदिक' कहे जाते हैं। इन्हीं अवैदिक सम्प्रदायों का वर्णन इस खण्ड का विषय है।

आरम्भ

अवैदिक दर्शनों में 'चार्वाक-दर्शन' ही प्राचीनता की दृष्टि से सर्वप्रथम माना जाता है। यही लोक आत्मा का क्रीडास्थल है; इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है; यह शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है। अत एव जब तक इस शरीर में प्राण है, तब तक सुख प्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए। धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है। मानव जीवन के लिए 'काम' ही पुरुषार्थ है—आदि चार्वाक सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में सुदूर प्राचीन काल से चला आया है। उपनिषत्-काल में भी चार्वाकों के समान सिद्धान्त का प्रचार जहाँ-तहाँ इस देश में था। इस समय में भी मृत्यु के

अनन्तर आत्मा की स्थिती के विषय में लोगों में सन्देह का भाव बना हुआ था (कठ उप० १।१।२०)। कुछ लोग आत्मा की सत्ता मरणानन्तर स्वीकार करते थे, पर अन्य जन स्पष्ट शब्दों में उसके अभाव का प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगों की सम्मति में 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० उप० ४।५ १३) वाक्य 'मरण के अनन्तर चैतन्य नहीं रहता' इस अर्थ में चार्वाकों की प्राचीन स्थिति की सूचना दे रहा है। गत परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि बौद्ध ग्रन्थों में चार्वाक सिद्धान्तों का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। उच्छेदवाद के प्रतिपादक 'अजित केशकम्बल' का सिद्धान्त लोकायतिक मत के अनुरूप ही है। जैन ग्रन्थों में भी इस मत का निर्देश पाया जाता है। इस प्रकार चार्वाक मत की प्राचीनता का अनुमान इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है। श्रुतिकाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्याचरण पर विशेष रूप से जोर दिया जाता था; ऐहिकता की अपेक्षा पारलौकिकता की चिन्ता प्राणियों को विशेष थी। चार्वाक-दर्शन में इन सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। परलोक की चर्चा सुनते-सुनते लोग इतने ऊब गये थे कि उन्होंने परलोक को ही उड़ा डाला तथा परलोक के साधन-भूत धर्म की सत्ता को ही चट कर डाला। उस लोक में जाने वाले नित्य आत्मा के ही अस्तित्व का लोप कर डाला; इन्द्रिय-गम्य जगत् ही सत्य है, इसी सिद्धान्त पर डट गये। इस प्रकार श्रौतकालीन अधिक धर्मानुष्ठान की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन का उदय मानना उचित होगा।

नामकरण

इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत' है। इसके मानने वाले लोग शुद्ध बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे तथा परपक्ष का खण्डन ही उनका प्रधान ध्येय था। स्वपक्ष की स्थापना में उनका ध्यान न था, प्रत्युत इन लोगों का लक्ष्य वैदिक मार्गानुयायी लोगों के पक्ष का केवल शुष्क तर्क से खण्डन करना ही था। इस तरह लोकायतिक प्राचीनकाल के वैतण्डिक[1] थे। अपने तर्कों को छोड़ ये लोग किसी भी शास्त्र का प्रमाण नहीं मानते थे। ये वेद के विदूषक तो थे ही; साथ ही साथ बुद्ध तथा जैन आगमों के भी निन्दक थे। इसलिए आपस में सिद्धान्तगत मतभेद होने पर भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्माचार्य इनके प्रति बड़ी घृणा का भाव रखते थे। रामायण में रामचन्द्र ने भरत से इन लोकायतिकों की निन्दा की है[2]। विनयपिटक में बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को लोकायत शास्त्र सीखने या सिखाने का स्पष्ट निषेध किया है। सद्धर्मपुण्डरीक में (१३ परिच्छेद) बोधिसत्त्व को इस शास्त्र के पढ़ने तथा पढ़ाने का स्पष्ट निषेध मिलता है। जैन ग्रन्थ इसे

'मिच्छादिट्ठि' (मिथ्यादृष्टि) का एक प्रकार मानता है। इस प्रकार तीनों धर्मों का लोकायतमत की निन्दा के विषय में ऐकमत्य था। सामान्य निर्विचार लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों की 'लोकायत' या 'लोकायतिक' संज्ञा पड़ी थी। आगे चल कर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे। कुछ लोग बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इन्हें इस नाम से पुकारते हैं[3]। खाओ, (चर्व् = भोजन करना), पीओ, मौज उड़ाओ—इसी सिद्धान्त के कारण 'चार्वाक' संज्ञा भी मानी जाती है। पुण्य-पापादिक परोक्ष वस्तु-जात के चर्वण कर जाने से (चटकर जाने से) इन दार्शनिकों का नाम 'चार्वाक' पड़ा; यह गुणरत्न का कहना है[4]। यह भी सम्भव है कि बहुत से लोग सुखप्राप्ति के उपदेशक इन दार्शनिकों की 'चारु वाक्' को सुनकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे थे। जो कुछ भी सच्चा कारण हो, पर इस नाम का खूब प्रचार हुआ। आजकल किसी प्रकार की नास्तिकता के सिद्धान्त को मानने वाला 'चार्वाक' नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन का तीसरा नाम 'बार्हस्पत्य दर्शन' है। भारतीय दर्शन के इतिहास में बृहस्पति चार्वाक मत के संस्थापक माने जाते हैं। इसी कारण इस मत को 'बार्हस्पत्य' मत तथा उनके अनुयायी को 'बार्हस्पत्य' कहते हैं।

संस्थापक

नास्तिक मत के संस्थापक कोई बृहस्पति नाम के आचार्य थे। यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत इसके लिए ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। यह बृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं। बृहस्पति-रचित सूत्रों का उल्लेख अनेक प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में मिलता है। "एक आत्मनः शरीरे भावात्" (ब्र० सू० ३।३।५३) के भास्कर-भाष्य में तथा शांकर-भाष्य में, गीता (१६।११) की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी में और अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि में निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किये गये हैं—

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।
(२) तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।
(३) तेभ्यश्चैतन्यम्।
(४) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
(५) मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
(६) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।
(७) काम एवैकः पुरुषार्थः।
(८) मरणमेवापवर्गः।

ये सूत्र बृहस्पति की ऐतिहासिक सत्ता के लिए पर्याप्त साधन हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति-शास्त्र के इतिहास में बृहस्पति का मत उल्लिखित किया गया है। भास ने प्रतिमा नाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का तथा कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में (१।२) बृहस्पति के मत का निर्देश किया है। उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख के साधनभूत वार्ता तथा दण्डनीति ही प्रधान विद्यायें हैं (वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः)। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों बृहस्पति—चार्वाकमत के संस्थापक तथा अर्थशास्त्रप्रणेता—अभिन्न व्यक्ति हैं या भिन्न। मतों की समानता दोनों की अभिन्नता मानने के लिए हमें प्रलोभित करती सी प्रतीत होती है।

चार्वाक ग्रन्थ

ये ही इने-गिने बार्हस्पत्य-सूत्र चार्वाक दर्शन के सर्वस्व हैं। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन के मूल ग्रन्थ भी विद्यमान थे, परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति अवहेलना के कारण उन ग्रन्थों का लोप हो गया। पतञ्जलि के समय में (वि० पू० द्वितीय शतक) 'भागुरी' नामक टीका-ग्रन्थ विद्यमान था[५]। भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में भी चार्वाक के तथ्यों का ही प्रतिपादन है[६]। यह तर्कबहुल ग्रन्थ १० वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था। इस मत के सिद्धान्तों का परिचय हमें सब दर्शनों के संग्रहात्मक ग्रन्थों से तथा न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रन्थों से मिलता है, जिन में ये पूर्वपक्ष के रूप में बहुलतया निविष्ट किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के ३।३।५३-५४ सूत्रों के भाष्य, न्यायमञ्जरी, विवरणप्रमेय-संग्रह, सर्वसिद्धान्त-संग्रह, सर्वमत-संग्रह, षड्दर्शन-समुच्चय तथा इसकी गुणरत्न-कृत टीका, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका, नैषध काव्य का १७ वाँ सर्ग, कृष्णयतिमिश्र-कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक)—के अध्ययन करने से इसके मूलभूत तत्त्वों का पता पर्याप्त रूप से चलता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रथम अध्याय में माधवाचार्य ने चार्वाकमत का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है।

अब इस परिच्छेद में चार्वाकों के सिद्धान्त तीन मीमांसाओं—ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांस, आचार-मीमांसा—के अन्तर्गत दिखलाये जायेंगे।

(१) चार्वाक ज्ञान-मीमांसा

चार्वाक मत में प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता निराधार मानी जाती है। विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला

प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता

ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, उससे अन्य पदार्थ नितरां असत् हैं; ये केवल कल्पना के विषय हैं, वास्तविकता के नहीं। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा मृदु, कठोर, शीत, उष्णादि भावों का ग्रहण होता है; रसनेन्द्रिय से कटु, कषाय, अम्ल, मधुरादि रसों का ग्रहण होता है; घ्राणेन्द्रिय से मृगमद, मलयचन्दन, कपूर आदि सुरभि पदार्थों का परिचय प्राप्त होता है; चक्षुरिन्द्रिय से भू, भूधर, घट, पट, पशु, मनुष्यादि स्थावर-जंगम पदार्थों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है; श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान हमें होता है। इन्हीं पांच प्रकार के प्रत्यक्षों के द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाणभूत मानी जाती है। अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती।

अनुमान की अप्रामाणिकता

बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शन तथा न्याय-वैशेषिकादि वैदिक दर्शन अनुमान की प्रामाणिकता मानते हैं। प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती और न समस्त लोक-व्यवहार की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है। अतः अगत्या इन दर्शनों को अनुमानप्रमाण मानना ही पड़ता है, पर चार्वाक दर्शन अनुमान को प्रमाण कोटि में स्वीकार नहीं करता। इस विषय में उसकी तर्कप्रणाली बड़ी ही पैनी तथा मर्मस्पर्शिनी है।[७]

अनुमान तथा लोक-व्यवहार

अनुमान लोकव्यवहार का साधक माना जाता है; पर चार्वाक का कहना है कि लोकव्यवहार के लिए निश्चय की आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है सम्भावना की। सम्भावना के आधार पर जगत् का समस्त व्यवहार चलता है। दूर पर कटोरे में रखी गई सफेद रंग की चीज दूध सी है, तथा उसके लिये बालक आगे बढ़ता है। यह प्रवृत्ति सम्भावना-मूलक है, निश्चय-मूलक नहीं। बालक उस वस्तु को ग्रहण करने के लिये जब प्रवृत्त होता है, तब वह इसीलिये नहीं आगे बढ़ता कि वहाँ उसे दूध मिल ही जायगा, प्रत्युत सम्भव है दूध मिल जाय; यही ज्ञान उसकी प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त कारण है। ऐसी दशा में निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। अतः सम्भावनामात्र को उत्पन्न कर देने से ही लोकव्यवहार के लिये अनुमान आवश्यक है।

अनुमानवादी यदि धूम-वह्नि के कार्य-कारणभाव को मान कर उनके साहचर्य को न्यायसंगत स्वीकार करे तो भी चार्वाक व्याप्ति मानने के लिए तैयार नहीं है। उसकी दृष्टि में जगत् में कार्य-कारणभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार की विचित्रता कार्य-कारणभाव की विचित्रता से नहीं है, बल्कि स्वभाव के कारण है। सुखी मनुष्य को देखकर धर्म की कल्पना तथा दुःखी मनुष्य को देखकर अधर्म की कल्पना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। सुख का कारण न तो धर्म है और न दुःख का अधर्म। मनुष्य स्वभाव से सुखी अथवा स्वभाव से दुःखी हुआ करता है। इसके लिए दूसरा कोई कारण नहीं। अग्नि जलाने वाला है तथा जल स्पर्श में शीतल होता है; इसके लिए किसी कारण को मानना ठीक नहीं है। यहाँ तो वस्तु का स्वभाव ही कारण है। मयूरों को इतना रंग-बिरंगा किसने पैदा किया? कोकिल की वाणी किसने इतनी मीठी बनाई? इसका कारण स्वभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है[८]? चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाववाद के नाम से दार्शनिक जगत् में विख्यात है। वे जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण 'स्वभाव' ही मानते हैं। वस्तु-स्वभाव जगत् की विचित्रता का कारण है, अन्य कुछ भी नहीं[९]।

स्वभाववाद

कार्य-कारण का ठीक ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के समय अनेक साधक-उपाधियों की सत्ता रहती है, जिनमें बहुत से व्यक्त और बहुत से छिपे रहते हैं। इन समग्र व्यक्त तथा अव्यक्त उपाधियों के पूर्ण ज्ञान हुए विना कार्य-कारणभाव की ठीक कल्पना हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि चार्वाक लोग कार्य-कारणभाव को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। विना हेतु के ही वस्तु के सद्भाव—अकस्मात् भूति—को अंगीकार करते हैं।[१०]

इन्हीं सब कारणों से बाध्य होकर चार्वाक लोग अनुमान को प्रमाण नहीं मानते। वे शब्द को भी प्रमाण नहीं मानते।

शब्द प्रमाण की सत्यता पर विभिन्न दर्शनों का पूर्ण विश्वास है। जैन तथा बौद्ध दर्शनों में वेद-प्रामाण्य के न मानने पर भी शब्द-प्रामाण्य का तिरस्कार नहीं किया गया है। जैनागमों तथा बुद्धवचनों की पर्याप्त प्रामाणिकता सिद्ध मानी जाती है, पर चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है कि किसी आप्त पुरुष के वाक्य को सुनने से जो अर्थज्ञान होता है वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है, उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितरां व्यर्थ है। किसी पुरुष के आप्त, प्रामाणिक, सत्यवचन तथा हितेच्छु होने के कारण उसके वचनों में

शब्द-प्रमाण की असिद्धि

आस्था रखना अनुमान ही है और अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन अभी प्रबल युक्तियों से किया जा चुका है। अतः आप्त पुरुषों के वाक्यों की सत्यता में विश्वास करना एकदम निःसार है। यदि वे प्रत्यक्ष पदार्थों का वर्णन करें, तो विश्वास रखा भी जाय, पर अदृष्ट लोक के अश्रुतपूर्व पदार्थों का वर्णन मनोरञ्जन कहानी से बढ़कर और सत्यता नहीं रखता। इसी कारण वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। आपस में विरोध होने से, अनर्थक शब्दों के प्रयोग करने से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करने से वेद प्रमाण-बाह्य हैं। अश्वमेध में घृणित कार्यकलाप के वर्णन करने से, जर्भरी, तुर्फरी, पफरीका, जेमना, मदेरू आदि अनर्थक शब्दों के प्रयोग से (ऋ० १०।१०६।६) तथा यज्ञों में मांसभक्षण के विधान करने से यही प्रतीत होता है कि वेद के बनाने वाले भण्ड, धूर्त तथा निशाचर थे[११]। वेदों का जितना खण्डन चार्वाकों ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। उन्होंने वैदिक ऋषियों को तथा तद्वर्णित श्रौत विधियों को पानी पी-पी कर कोसा है।

(२) चार्वाक तत्त्वमीमांसा

चार्वाकों की तत्त्वसमीक्षा भी अपने ढंग की एक निराली वस्तु है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये ही चार जगत् के तत्त्व हैं। बौद्धों के ही समान चार्वाकों का भी मत था कि आवरणाभाव के कारण आकाश शून्य ही है; कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं। ये ही चार पदार्थ अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूलकारण हैं। बाह्य जगत्, इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूलभूतों से उत्पन्न होते हैं, पर इनकी उत्पत्ति होती है कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर देने से चार्वाक लोग सदा विरत थे। उन्होंने इस सम्बन्ध को समझाया ही नहीं। दृष्ट तथा अदृष्ट कारणों के साक्षात् निषेध करने से तथा इस जगत् के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व, चार्वाकों की दृष्टि में अकस्मात् सम्मिलित होने वाले भूतचतुष्टय का एक संग्रहमात्र है। इसकी उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक मानवबुद्धि को लगा ही नहीं है। अतः इसे ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा विडम्बनामात्र है।

१. जगत्

पृथिवी आदि चारों भूत के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है; पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही

२. जीव

आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पुष्ट किया जा सकता है:—

(क) नैयायिकपद्धति से—शरीर रहने पर ही चैतन्य का उदय होता है और शरीर के नाश हो जाने पर चैतन्य का भी नाश सिद्ध हो जाता है। अन्नपान के उपयोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होने से चेतना का ह्रास हो जाता है। चैतन्य के कारण कार्य करने के लिए शरीर आवश्यक साधन है। अतः चैतन्य शरीर का ही सिद्ध होता है, आत्मा का नहीं।

(ख) अनुभव से—'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं श्रान्त हूँ', 'मैं प्रसन्न हूँ, आदि अनुभवों का ज्ञान हमें जगत् में पद-पद पर प्राप्त होता है। यहाँ पर स्थूलता, कृशता, श्रान्ति तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न है।

(ग) वैद्यकशास्त्र के प्रमाण से— चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सत्य प्रतीत होता है[1]। ब्राह्मीघृत के उपयोग से संस्कृत कुमार-शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं, वर्षा काल में दही में बहुत ही जल्द छोटे-छोटे कीड़े रेंगते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर शरीर में चैतन्य मानना क्या तर्कसंगत नहीं है? अतः **'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'** यह बृहस्पति का सूत्र युक्तियुक्त है। यही है चार्वाकों का सुप्रसिद्ध **'भूतचैतन्यवाद'**।

पर भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका भी उत्तर चार्वाक लोग लोकसिद्ध अनुभव के आधार पर देते हैं। मदिरा के साधक द्रव्यों में मादकशक्ति नाममात्र को नहीं है, पर मदिरा में मादकता का आविर्भाव अनुभवसिद्ध है। इससे पता चलता है कि किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्थाविशेष में नये धर्म का उदय आप से आप हो जाता है[2]। भूत की एक विशेष ढङ्ग या परिणाम में समष्टि होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसके लिये एक दूसरा उदाहरण भी दिया जाता है—पान, खैर, चूना तथा सुपारी में अलग-अलग ललाई दीख नहीं पड़ती, पर एक विशिष्ट मात्रा में इनके संयोग होने से पान खानेवाले के मुँह में ललाई की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की

---

१. न्यायमञ्जरी (चौखम्भा संस्करण) द्वितीय भाग, पृ० १३।

२. द्रष्टव्य 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्' (बृ० सू०) 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता है, जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था।

आधार-शिला पर समझाई जा सकती है।[१] अतः चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश के साधन तथा आधार होने के कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा मानते हैं ।

चार्वाकों में आत्मतत्व के विवेक के विषय में अनेक मत थे। सदानन्द ने इन मतों का उल्लेख किया है। कुछ चार्वाक लोग एक-देशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर इन्द्रियों को, कुछ लोग प्राणों को और अन्य लोग मन को आत्मा मानते थे।[१२]

३. ईश्वर

ईश्वर की सत्ता शब्द-प्रमाण तथा अनुमानप्रमाणों से सिद्ध मानी जाती है। श्रुति एक स्वर से पुकार कर कह रही है कि ब्रह्म इस संसार के जनन, स्थिति तथा नाश का कारणभूत है। पर श्रुति के प्रमाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता शब्द के आधार पर मानने के लिए उद्यत नहीं है। नैयायिक लोग ईश्वर का सद्भाव अनुमान के आधार पर मानते हैं। वे लौकिक दृष्टान्तों की सहायता से ईश्वर को स्वीकार करते हैं। यदि घड़ा कोई कार्य पदार्थ है तो उसका कर्त्ता कुम्भकार अवश्य ही विद्यमान है। यह जगत् भी कार्य है, अतः इसका भी कर्त्ता कोई अवश्यमेव होगा। पर चार्वाक अनुमान की भी प्रामाणिकता नहीं मानता। अतः उसके मत में शब्द तथा अनुमान के झूठा होने से ईश्वर असिद्ध है। स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या हल कर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर मानने की जरूरत ही नहीं होती।

(२) चार्वाक आचार-मीमांसा

चार्वाकों की ज्ञान-मीमांसा तथा तत्त्व-मीमांसा के अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस जगत् के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ को अंगीकार नहीं करते। इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानव जीवन के कर्तव्य की भी विशद समीक्षा करते हैं। दार्शनिक लोग मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पदार्थों को उपादेय बतलाते हैं तथा पुरुषमात्र के लिए उपादय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से पुकारते हैं। पार चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

---

१. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ॥
(स० सि० सं० १।७)

मीमांसकगण देवविहित विधिविधानों के अनुष्ठान को धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। मानवमात्र का कर्तव्य है कि वेदप्रतिपाद्य यज्ञयागादिकों का अनुष्ठान कर मरने के बाद स्वर्ग सुख का उपभोग करे।

धर्म की अस्वीकृति पर इस लोक के ही अस्तित्व को माननेवाले चार्वाक लोग स्वर्ग को स्वीकार नहीं करते। जब स्वर्ग नामक सुखप्रधान ही लोक है, तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह का क्लेश देकर तपस्या करना तथा द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देनेवालों को बड़ी खरी-खोटी सुनाई है। उनका कहना है कि किसी कपोलकल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जीव-विशेष की हत्या कर योग-साधन करना पहले दर्जे की मूर्खता है। 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ में मारा गया पशु यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता, तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता ? कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है ? 'यदि श्राद्ध करने से मरे हुए जन्तुओं की तृप्ति होती, तो तेल डालने से बुझे हुए दीपक की भी शिखा बढ़ती ?' पर जगत् में क्या ऐसी घटना देखी गई है ? दीपक के बुझ जाने पर कितना भी तेल क्यों न डाला जाय, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। इन स्पष्ट उदाहरणों के आधार पर मृतक की तृप्ति के लिए श्राद्ध करने की कल्पना नितान्त निराधार है। क्या यहाँ दान देने से स्वर्गस्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है ? यदि ऐसी बात सम्भव मानें, तो महल के ऊपर रहने वाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीजें दे दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमता सिद्ध होती है। चार्वाक लोग वेद-विधानों को कपोल-कल्पना सिद्ध करने के लिये बड़े-बड़े लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं[१९]। वे स्पष्ट शब्दों में धर्म तथा अधर्म में न तो विश्वास करते हैं और न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते हैं।

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाकों की विलक्षण है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। जबतक शरीर है तबतक जीव नाना प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'मरणमेवापवर्गः' (बृ० सू०) मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है।

मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है (आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः), परन्तु चार्वाक मत में इसकी उपपत्ति नहीं होती; देह ही

आत्मा ठहरा, तब देह-पात हो जाने पर अभिमत आत्मा के अभाव में कौन अपने स्वरूप में विद्यमान रहेगा ? मरण के साथ-साथ आत्मा भी जब नष्ट हो गया, तब 'स्वरूप' में स्थिति किस पदार्थ की मानी जाय ? अतः देहपात के अनन्तर किसी स्थायी नित्य पदार्थ को न मानने के कारण ही चार्वाकों की मुक्ति सर्वथा असत्य है।

तब जीवन के लिए लक्ष्य क्या है ? अर्थ और काम। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तद्-सहायक होने से अर्थ भी। प्राणिमात्र के लिए जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ऐहिक सुख की प्राप्ति। लौकिक सुख ही जीवन का चरम-लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के ही द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ और काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीए, सुखपूर्वक जीए। अपने पास द्रव्य न होने पर ऋण लेकर घृत पीए—आनन्द से मालपूवा चाभे। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता न करे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है ?

आधिभौतिक सुखवाद

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ'—यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है। दुःख से मिश्रित होने से सुख त्याज्य नहीं है ? विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है, तो क्या मिश्रित सुख को चाह हमें नहीं करनी चाहिए ? जिस प्रकार मछली खानेवाला कण्टक-युक्त मछलियों को ग्रहण कर ग्राह्यांश को ले लेता है और अन्य अंश को छोड़ देता है; जैसे धान्य को चाहनेवाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेय अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से मिश्रित सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-लाभ करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही ठहरी कि दुःख के भय से सुख का सर्वथा त्याग किया जाय। जगत् में मृग हैं, तो उनके डर से क्या धान नहीं रोपे जाते ? माँगनेवाले भिक्षुओं की सत्ता बनी हुई है, तो क्या भोजन बनाने के लिए आग पर हाँड़ी न चढ़ायी जाय[१४] ? विषय के संगम से उत्पन्न सुख दुःख के साथ होने से त्याज्य है—यह मूर्खों का विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफेद, सुन्दर कणों से युक्त धान को इसी कारण छोड़ देता है कि उनके ऊपर भूसी का हलका छिलका लगा रहता है[१५]। सारांश यही है कि जीवन भोगविलास के साथ सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। स्वर्ग-नरक तो इसी जगत् में विद्यमान है। सुख की

प्राप्ति स्वर्ग तथा दुःख का मिलना नरक है। अतः सांसारिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणिमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

(४) समीक्षा

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक चार्वाक मत के खण्डन करने के लिए सतत उद्यत थे, क्योंकि व्यवहार की सिद्धि केवल प्रत्यक्ष के अंगीकार करने से नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष ही केवलमात्र प्रमाण हो, तो पति के विदेश चले जाने पर उसके न रहने पर उसका नितान्त अभाव मानकर, क्या पत्नी अपने को विधवा मान लेती है? यदि लोकव्यवहार में ऐसा कभी नहीं होता तो प्रत्यक्ष अकेले लँगड़ा है। भूतचिद्वाद भी इसी प्रकार प्रबल युक्तियों के आधार पर टिक नहीं सकता। चार्वाक के आधार-सिद्धान्त से समाज के विशेष अस्त-व्यस्त होने की सम्भावना है। अतः इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। इस प्रसंग में यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि बार्हस्पत्य सूत्रों में उच्छृंखल जीवन का—ऋण लेकर घृतपान का—कहीं भी विधान नहीं मिलता। बृहस्पति विश्व की पहेली को समझाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करने वाले विद्वान् थे। उनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप है। दार्शनिकों ने इन लोकप्रिय उपदेशों को चार्वाक के मत्थे मढ़कर उन्हें स्वार्थी भौतिकसुखवादी बतलाया है, परन्तु वास्तविक बात कुछ दूसरी ही थी। अतः ये सिद्धान्त चार्वाक के न होकर पीछे किसी के द्वारा उनके ऊपर मढ़े गये जान पड़ते हैं।

चार्वाकों की निन्दा दार्शनिकों ने जो खोलकर शतमुख से की है। इस निन्दा के यथार्थ होने में कोई सन्देह नहीं, पर इसका मूल आधार उनकी आचार-मीमांसा ही है। जिस दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं, स्थूल भौतिक सुखवाद ही प्राणिमात्र के लिए परम पुरुषार्थ है, वह मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर उनके लिए एक आदर्श मार्ग की सृष्टि करेगा? यह आशा दुराशा मात्र है। अतः चार्वाकमत में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, पर फिर भी उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान न देना भी उसके साथ अन्याय करना है।

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की प्रधान विशेषता है—आप्तवचनों में अन्धश्रद्धा या विश्वास का न रखना। श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं है; सिद्धान्त की

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की विशेषतायें

सृष्टि तो तर्क से होती है। सच्चा अविश्वास अन्धविश्वास की अपेक्षा दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा के लिए अधिक मूल्य रखता है। आप्तवाक्यों के व्यामोह से अपना उद्धार बिना किए तथा अपनी तर्क-प्रधान बुद्धि का सहारा लिए बिना दर्शन का उदय नहीं हो सकता। शुद्ध तर्क की उपयोगिता दिखलाकर चार्वाकों ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग की सृष्टि की है।

व्याप्तिनिरसन

अनुमान की अप्रामाणिकता दिखलाते समय इन लोगों ने 'व्याप्ति' के जिन दोषों का उद्घाटन किया है उन्हें आधुनिक पश्चिमी तर्क के पण्डितों ने 'इन्डक्शन' (आगमन) की परीक्षा करते समय अनेक ग्रंथों में स्वीकृत कर लिया है। जान स्टुअर्ट मिल ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के आधार पर आगमन (इन्डक्शन) को सम्भावनामात्र बतलाया है। आगमन के निश्चय के लिए यूनिवर्सल मेजर प्रेमिस (व्याप्तिवाक्य) की सत्यता नितान्त अपेक्षित है, परन्तु 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इस वाक्य की सत्यता क्या कभी प्रमाणित की जा सकती है? समस्त मानवों में मरणशीलता की सत्ता को व्यापक बतलाना केवल अन्दाजा ही है। अतः उस सन्दिग्ध वाक्य के आधार पर आगमन का किला खड़ा करना ठीक नहीं है। मिल की इस तर्क प्रणाली का चार्वाकशैली से साम्य रखने में आश्चर्य न होना चाहिए, क्योंकि मिल भी दार्शनिक अभिरुचि में मेटीरीअलिस्ट (भौतिकवादी) ही थे।[१६]

समाज व्यवस्था

इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने ऐहिक सुखमय जीवन के साधनभूत कला-कौशल की सृष्टि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य बृहस्पति ने अर्थ-शास्त्र लिखकर मनुष्यमात्र के लिए उच्छृङ्खलता का त्याग कर नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धति पर आग्रह दिखलाया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन की उन्नति समाज की उन्नति को छोड़कर कभी नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को समाज के अनुकूल बनावे। समाज का नियमानुकूल चलना संसार के कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक है। चार्वाक लोग इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह, दण्ड तथा दया करने वाले राजा को ही ईश्वर मानते थे (निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः)। वे जानते थे कि दण्ड का भय न होने पर मनुष्य को पशुरूप में परिवर्तित होने में विलम्ब नहीं लगेगा। इसी कारण चार्वाक उच्छृंखल जीवन के पक्षपाती न थे, प्रत्युत नियमबद्ध

सामाजिक जीवन को ही आदर्श मानते थे। अतः आधिभौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने मानव जीवन को विशृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलाने वाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया। उनकी इस सेवा की ओर ध्यान देना हमारे लिए न्यायसंगत ही है।

चार्वाक के मत में एक ही प्रधान विद्या है दण्डनीति और वार्ता नामक विद्या इसी के भीतर अन्तर्भुक्त होती है। यहाँ दण्डनीति से तात्पर्य 'राजनीति' से तथा वार्ता से अभिप्राय कृषि वाणिज्य, व्यापार आदि विषयों से संवलित अर्थशास्त्र से है। प्राचीन काल में बृहस्पति नामक आचार्य थे जिनके मत में दण्डनीति तथा वार्ता को विद्याओं में प्रमुखता थी। 'वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः'—कौटिल्य ने इस सूत्र में इनके अनुयायियों का उल्लेख किया है। ये बृहस्पति चार्वाक मत के प्रतिष्ठापक से अभिन्न प्रतीत होते हैं। चार्वाक को 'लौकिक मार्ग' का अनुसरण अभीष्ट है। इस तथ्य का प्रमापक उनका सूत्र ही है—लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः। 'लौकिक' शब्द का अर्थ है लोकोपकारी। बहुजनहिताय तथा बहुजनसुखाय वाला मार्ग ही चार्वाक को अभीष्ट है। फलतः चार्वाकमत को लौकिक मार्ग का पोषक मार्ग मानना नितान्त उचित है। भारतीय दृष्टि से वह सम्पूर्ण रूप से नास्तिक है; वह न वेद को मानता है, न परलोक को, न ईश्वर को और न धर्म को। वह प्रत्यक्षवादी दार्शनिक है, जो इन्द्रिय से अननुभूत पदार्थ को असत्य मानता है। इसी प्रकार समाज की दृष्टि से भौतिक सुख पर ही आस्था रखना इसका विप्लवकारी सिद्धान्त थे। अतः चार्वाकों की निन्दा शास्त्र में सर्वत्र है। परन्तु चार्वाक की समाज-व्यवस्था के भीतर विद्यमान तथ्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती है।

सच पूछिए तो चार्वाक प्राचीन काल के भारतीय वैज्ञानिक हैं जो 'तर्क' की कसौटी पर ही सत्य को कसते हैं, परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा वे संयमी हैं तथा संयत जीवन विताने के पक्षपाती हैं। इसलिए वे ऋण लेकर भी घी पीने का उपदेश देते हैं, शराब पीने का नहीं। सुन्दर समाज में रह कर ही प्राणी अपनी उन्नति कर सकता है, इस बात की ओर चार्वाकों ने अधिक आग्रह दिखलाया है। अतः उनके सिद्धान्तों का भी मूल्य है। वे एकदम निःसार नहीं हैं।

पञ्चम परिच्छेद

जैन दर्शन

(१) जैनधर्म का उदय तथा विस्तार

जैनधर्म का उदय बौद्धधर्म से पहले की घटना है। दीर्घनिकाय (पृ० १८) में जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का तत्कालीन विख्याततम ६ तीर्थङ्करों में 'निगण्ठ नातपुत्त' के नाम से उल्लेख ही नहीं मिलता, बल्कि उनके 'चतुर्यामसंवर' के सिद्धान्त तथा उनकी मृत्यु का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था, जो 'निर्ग्रन्थ' शब्द का पाली रूपान्तर है। भवबन्धन की ग्रन्थियों के खुल जाने के कारण महावीर को यह उपाधि दी गई थी। इस धर्म में सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-पूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों की संज्ञा 'अर्हत्' है[१]। अतः तद्द्वारा प्रचारित होने से यह धर्म 'आर्हत' कहलाता है। रागद्वेषी शत्रुओं पर विजय पाने के कारण वर्धमान की उपाधि 'जिन' (जेता) थी। अतः उनके द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन' कहलाता है। इन नामकरणों के मूल में इस धर्म की प्राचीन आचार-प्रधानता ही कारण है। जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को 'तीर्थङ्कर' कहते हैं, जिनमें आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में पुराणों के आधार पर संशय नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवत के कई अध्याय (स्क० ५, अ० ४—६) ऋषभनाथ के वर्णन में लगाये गये हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि तथा महाराज्ञी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय-वैजयन्ती अखिल महीमण्डल के ऊपर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ थे महाराज भरत, जो जडभरत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकता के कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु हमारा देश 'भारतवर्ष' के नाम से विख्यात हुआ है। ऋषभनाथ को जैन लोग ही आद्य तीर्थङ्कर होने से आदर नहीं करते; प्रत्युत ब्राह्मण-धर्म में भी विष्णु के

---

१. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥
(स० द० सं०, पृ० ६।)

चौबीस अवतारों में इनकी गणना की गई है। इनके पीछे होने वाले २३ तीर्थङ्करों का विस्तृत विवरण जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है, पर इनकी ऐतिहासिकता मान्य आलोचकों के लिए आज भी संशय का विषय बनी हुई है। अन्तिम दो तीर्थङ्कर—पार्श्वनाथ तथा महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक पुरुष थे।

विवेचक विद्वान् पार्श्वनाथ को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इन्होंने चाहे कालक्रम से विलुप्त तथा शिथिलप्राय धर्म को नवीन जीवन प्रदान कर पुनरुज्जीवित किया, चाहे स्वयं जैनधर्म को प्रवर्तित किया, इतना तो निश्चित है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले इस देश को इन्होंने अपने जन्म से अलंकृत किया था। इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे तथा माता थी महारानी वामादेवी। काशी नगरी में ८७४ वि० पू० = ८१७ ईसवी पूर्व में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म से पहले इनकी माता ने एक कृष्णवर्ण सर्प को अपने बगल में रेंगते हुए देखा था। इसी कारण इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। तीस वर्षों तक इन्होंने सांसारिक वैभव के बीच गार्हस्थ्य जीवन को बिताया। बाद में इन्होंने अगणित सम्पत्ति को लात मारकर भिक्षु-जीवन को स्वीकार किया तथा घोर तपस्या कर कैवल्यज्ञान का सम्पादन किया। इन्होंने सत्तर वर्ष तक अपने सदुपदेशों द्वारा जैनधर्म का प्रचार किया। अनन्तर 'समेत शिखर' पर निर्वाण प्राप्त किया।

पार्श्वनाथ

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी आचार-शिक्षा तथा महावीर की शिक्षा में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है, पर महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतला कर इसकी भी गणना महाव्रतों में की है। पार्श्वनाथ वस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे, पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियों के लिए वस्त्र परिधान का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आज कल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का विभेद इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर का नाम था—वर्धमान। ये वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ ग्राम) में पार्श्वनाथ से ढाई सौ वर्ष बाद (६५६ वि० पू०) में पैदा हुये थे। वैशाली में उस समय कई क्षत्रिय सरदार मिलकर राज्य किया करते थे। ऐसे ही 'ज्ञातृक' नामक क्षत्रियवंश में इनका जन्म हुआ था।

वर्धमान महावीर

पिता का नाम था सिद्धार्थ तथा माता का त्रिशला। इनकी पूजनीय जननी राजकन्या थी। अपने कुल के नाम पर ही पाली ग्रन्थों में इन्हें नातपुत्त (ज्ञातृ-पुत्र) के नाम से निर्देश किया गया है। इनका शुभ विवाह यशोदादेवी के साथ सम्पन्न होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं। इन्होंने माता-पिता के अनन्तर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर घर-बार से नाता तोड़ा। हृदय में सच्चे वैराग्य के बीज पहले से विद्यमान थे, अवसर पाकर वे अंकुरित हो उठे। तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ६७२ वि० पू०) इन्होंने यतिधर्म को ग्रहण किया—बड़ी कठोर तपस्या का साधन किया तथा अन्त में तेरह वर्षों के लगातार अभ्यास के अनन्तर इन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने पहले-पहल पञ्च महाव्रतों की शिक्षा अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभूति को दी। इसके अनन्तर इन्होंने अङ्ग, मगध, कौशाम्बी आदि राज्यों के अधिपतियों को अपने धर्म का मधुर उपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप वे इनके धर्म में दीक्षित हो गये, पर इनका प्रधान स्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगिर' थी। उत्तर भारत में 'अर्धमागधी' भाषा के द्वारा अपने प्रभावशाली व्याख्यानों से जैनधर्म का प्रचुर विस्तार सम्पादन कर पावापुरी में ७२ वर्ष की आयु में बुद्ध के निर्वाण से पचास वर्ष पहले महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। रागद्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के उपलक्ष्य में इन्हें 'जिन' तथा 'महावीर' की उपाधि प्राप्त हुई। जैन सम्प्रदाय के अनुसार इनका जन्म ६५६ वि० पू० =(५९९ ई० पू०) तथा मृत्यु ५८४ वि० पू० (५२७ ई० पू०) में बतलाई जाती है।

इनकी मृत्यु के अनन्तर इस धर्म को विशेष राजाश्रय प्राप्त हो गया। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिंग के अधिपति सम्राट् खारवेल इसी धर्म में दीक्षित हुए तथा उन लोगों ने इसकी श्रीवृद्धि करने में यथेष्ट परिश्रम किया। मौर्यवंश के संस्थापक आर्यावर्त के एकछत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन-धर्मानुयायी थे। मगध में अकाल के प्रचण्ड ताण्डव के कारण यतिवर भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अन्यान्य अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर चले गये। चन्द्रगुप्त ने महीशूर प्रदेश के 'श्रवणबेल गोल' के पास तपस्या में निरत रह अपनी ऐहिक लीला समाप्त की, पर भद्रबाहु अकाल के शान्त होने पर उत्तरी भारत में आये और जैन-यतियों में आचार-सम्बन्धी परिवर्तनों को देखकर वे नितान्त दुःखित हुए। संघभद्र इस समय के जैनसंघ के प्रधान नेता थे। इन्होंने समय की गति के कारण उग्र तपस्या के गूढ भाव को भुला कर जैनाचार में अनेक संशोधन कर डाला था। प्राचीन संघ में नग्नता के आदर्श का ही बोल-

'श्वेताम्बर' तथा 'दिगम्बर' का भेद

वाला था, पर अब मागध संघ ने श्वेताम्बर (सफेद कपड़ा) को धारण करना न्यायानुमोदित बतलाया। इस प्रकार ई० पूर्व द्वितीय शतक से श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो अवान्तर भेदों का उदय जैनधर्म में हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार दिगम्बरों की उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (अर्थात् वि० सं० १३९ = ८२ ई०) हुई है। तत्त्वज्ञान के विषय में इन दोनों में कोई भी मतभेद नहीं है, पर अनेक विषयों में आचारगत पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता स्पष्ट दीख पड़ती है, पर श्वेताम्बरों ने मानव कमजोरियों का स्मरण कर कुछ अंशों में कठोर नियमों में शिथिलता ला दी है। दिगम्बरों का कहना है कि केवली (केवलज्ञानसम्पन्न पुरुष) भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। स्त्रियों को पुरुष-जन्म ग्रहण के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति का विधान है।

भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह ॥
(सर्वदर्शन-संग्रह में जिनदत्तसूरि का श्लोक)

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त यापनीय या 'गोप्य' संघ प्राचीन काल में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। 'दर्शनसार' के कर्ता देवसेनसूरि के कथनानुसार वि०सं० २०५ से इसका पता चलता है। इसकी भी उत्पत्ति उन दोनों सम्प्रदायों के समय में ही हुई। इनके कतिपय सिद्धान्त दिगम्बरियों से तथा अन्य श्वेताम्बरियों से मिलते हैं। इस संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर का पिच्छ रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे, इन बातों में वे दिगम्बरियों के समान थे, परन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि स्त्रियों को भी इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं (जिसे श्वेताम्बर लोग मानते हैं)। इनका विपुल साहित्य नष्टप्राय सा है[1]।

(२) जैन प्रमाण-साहित्य

जैन दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थों की बहुलता है, पर आचार सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या प्रमाण-सम्बन्धी ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम इन दर्शन-ग्रन्थों को चार काल-विभागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. द्रष्टव्य 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ० ४१–६०।

(क) आगम ग्रन्थ— जैनधर्म के मूल आगम ग्रन्थों की रचना के विषय में दोनों सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। दिगम्बरों का कहना है कि 'पूर्व' संज्ञक मूल आगम विलुप्त हो गये हैं, आजकल समुपलब्ध आगम श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही संरक्षित हुआ है। इसकी आदिम रचना के काल का पता हमें नहीं चलता, पर अन्तिम संशोधन छठी शताब्दी में वलभी की समिति में आचार्य देवर्धिगणि के द्वारा किया गया था। ऐसा श्वेताम्बरों का सम्प्रदाय है कि भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने पर स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में जैन-यतियों की समिति ने जैनागमों का स्थिरीकरण किया था। ११ अङ्गों का रूपविनिश्चय उसी समय हुआ था तथा विलुप्त १४ पुब्वों के अवशिष्ट अंशों को १२ वें (दिट्ठवाय नामक) अङ्ग में संकलन किया गया था, पर दिगम्बर सम्प्रदाय इस पर आस्था नहीं रखता। उसका कहना है कि पूर्व तथा अङ्ग दोनों सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में विलुप्त हो गये हैं।

जैनसिद्धान्तों की संख्या ४५ है[1]-जिनमें ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलग्रन्थ तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वार) माने जाते हैं। अंगों की महत्ता के कारण उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं :— (१) आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र), (२) सूयगडंग (सूत्रकृतांग), (३) थाणंग (स्थानांग), (४) समवायांग, (५) भगवतीसूत्र, (६) नायाधम्म कहाओ (ज्ञाताधर्मकथाः), (७) उपासगदसाओ (उपासकदशाः), (८) अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकदशा), (१०) पण्हावागरणआई (प्रश्नव्याकरणानि), (११) विवागसुयं (विपाकश्रुत), (१२) दिट्ठवाय (दृष्टिवाद–जो अधुना उपलब्ध नहीं होता)। इन आगमों की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई है। अनेकान्तवाद, जीव तथा पुद्गल आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन उन आगम ग्रन्थों में मिलता है।

(ख) आरम्भकाल—जैन दर्शन की सुव्यवस्था विक्रम की प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुई। इस काल में तीन विद्वान् तथा महामान्य ग्रन्थकारों ने इसकी दार्शनिक नींव को खूब मजबूत बनाने का उद्योग किया। इनमें एक का नाम था उमास्वाति, दूसरे का कुन्दकुन्दाचार्य और तीसरे का समन्तभद्र।

---

१. इन ४५ ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए द्रष्टव्य डाक्टर विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४२८–४७४।

उमास्वाति—इन्हें दोनों सम्प्रदाय के लोग बड़े आदर तथा श्रद्धा के भाव से देखते हैं तथा इन्हें अपने सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। दिगम्बर लोग इन्हें उमास्वामी के नाम से पुकारते हैं। ये मगध के निवासी थे तथा विक्रम के आरम्भ काल में कुसुमपुर में इन्होंने अपना प्रख्याततम ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' या 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' की रचना की। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी बात से समझी जा सकती है कि इसकी वृत्ति, भाष्य तथा टीकायें मान्य जैनाचार्यों ने समय-समय पर कीं। न्यायसूत्र के समान निगूढार्थ यह तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शन के माननीय मन्तव्यों का प्रकाण्ड भाण्डार समझा जाता है। उमास्वाति ने स्वयं इस पर अपना भाष्य बनाया। पूज्यपाद देवनन्दि का 'सर्वार्थसिद्धि' दिगम्बरों के सम्प्रदायानुसार समन्तभद्र का तथा श्वेताम्बरों के मतानुसार सिद्धसेनदिवाकर का तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार सिद्धसेनगणि (विक्रम ७ शतक—९ शतक के बीच उत्पन्न होने वाले) का 'गन्धहस्तिभाष्य', भट्ट अकलंक का 'राजवार्तिक' तथा विद्यानन्दि का 'श्लोकवार्तिक'—ये इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथा प्रधान भाष्य एवं वृत्तियाँ हैं[1]।

कुन्दकुन्दाचार्य—द्रविड देश के विख्यात दिगम्बर जैनाचार्य थे। इनके काल के विषय में बड़ा मतभेद है, पर मान्य ऐतिहासिक इन्हें विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्यमान बतलाते हैं[2]। इस प्रकार ये उमास्वाति के समसामयिक प्रतीत होते हैं। ये जैन दर्शन के प्रकाण्ड आचार्य माने जाते हैं तथा इनके ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विश्वकोष का काम करते हैं। इनका द्राविड नाम 'कोण्डकुण्ड' था जिसका संस्कृत रूपान्तर 'कुन्दकुन्द' के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें ८४ पाहुडों (या प्राभृत—एक विशिष्ट विषय पर लिखे गये ग्रन्थ) का नाम बतलाया जाता है। इनके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं:—(१) नियमसार, (२) पञ्चास्तिकायसार, (३) समयसार, (४) प्रवचनसार। विद्वत्ता की दृष्टि से तथा विषयप्रतिपादन की शैली की दृष्टि से ये प्रामाणिक तथा तथा विद्वत्तासूचक माने जाते हैं। अन्तिम तीन ग्रन्थों की जैन सम्प्रदाय में 'नाटकत्रयी' की संज्ञा है। जिस प्रकार ब्राह्मण दर्शन में प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्,

---

१. उमास्वाति के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ के लिए देखिए पण्डित सुखलालजी की तत्त्वार्थ की विस्तृत भूमिका, पृ०—३६।

२. द्रष्टव्य प्रोफेसर उपाध्ये—प्रवचनसार की भूमिका, पृष्ठ—२२।

ब्रह्मसूत्र तथा गीता का समधिक आदर है, उसी प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान में नाटकत्रयी को समधिक महत्त्व तथा आदर प्राप्त है।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। इनके समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है; परन्तु इनके ग्रन्थों की अन्त:परीक्षा से इनका समय तृतीय या चतुर्थ शतक विक्रमी में पड़ता है। देवनन्दि (अपर नाम पूज्यपाद) के ग्रन्थों में समन्तभद्र का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद ने अपने 'जैनेन्द्र व्याकरण' में समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है ('चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' ५।४।१६८)। पूज्यपाद ने आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर जो 'सर्वार्थ-सिद्धि' नामक टीका लिखी है उस पर समन्तभद्र के सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। ऐसी दशा में इनका समय पूज्यपाद (वि० षष्ठ शतक) से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। ये दिङ्नाग से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।

स्वामी समन्तभद्र एक साथ ही धर्मशास्त्री, तार्किक तथा योगी तीनों थे। इनकी रचना-सम्पत्ति बड़ी मार्मिक है। इनका प्रख्याततम ग्रन्थ 'आप्तमीमांसा' है, जो आरम्भिक शब्दों के आधार पर 'देवागमस्तोत्र' भी कहलाता है (११४ कारिकाओं में) भट्ट अकलंक रचित 'अष्टशती' तथा विद्यानन्दकृत 'अष्टसाहस्री' प्रसिद्ध व्याख्यायें हैं। युक्त्यनुशासन ६४ पद्यों द्वारा स्वमत तथा परमत के गुणदोषों का सूत्ररूप में विवेचन करता है। स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्रस्तोत्र) जैनधर्म के चौबीसों तीर्थङ्करों के धर्म का प्रतिपादन १४३ पद्यों में करता है। स्तुतिविद्या (अपर नाम 'जिनस्तुतिशतक', 'जिनशतक' तथा 'जिनशतकालङ्कार') भक्ति रस से लबालब भरा है। चित्रकाव्य के उत्कर्ष से मण्डित होने से नितान्त दुरूह तथा विद्वानों के लिए व्याख्या के अभाव में अगम्य है। पद्यों की संख्या ११६ है। धर्मशास्त्रीय आचार के विषय में समन्तभद्र की प्रमुख रचना 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' है, जिसमें अखिल सागार मार्ग का प्रकाशन किया गया है। इस प्रौढ ग्रन्थ की प्रसिद्धि जैन समाज में नितान्त व्यापक है। कन्नड़ी तथा तमिल में इसकी टीका अथवा भावार्थ उपलब्ध होता है[1]।

(ग) मध्ययुग—(६ वीं शताब्दी– ६ म शताब्दी) यह युग जैन दर्शन के इतिहास में सुवर्ण-युग समझा जाता है। इस काल को अनेक मौलिक

---

१. विशेष द्रष्टव्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार रचित 'जैन साहित्य और इतिहास पर 'विशद प्रकाश' नामक ग्रन्थ, पृ० २५८—२७० (कलकत्ता, सं० २०१३)।

विद्वत्तापूर्ण सारगर्भित रचनाओं के निर्माण करने का गौरव प्राप्त है। इस काल का आरम्भ गुप्तकाल के भीतर पड़ता है। कतिपय माननीय आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है :—

सिद्धसेन दिवाकर (पंचम शताब्दी) अपने समय के सबसे बड़े पण्डित थे। उज्जैन के किसी विक्रमादित्य के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इनके गुरु का नाम 'वृद्धवादी' था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं :—(१) न्यायावतार (सिद्धर्षि ने १०वें शतक में टीका लिखी), (२) सन्मतितर्क (विशद-व्याख्याकार अभयदेवसूरि), (३) तत्त्वार्थटीका, (४) कल्याणमन्दिर-स्तोत्र तथा अनेक द्वात्रिंशिकायें। न्यायावतार की रचना कर इन्होंने जैन-न्याय को जन्म दिया है। 'सन्मति-तर्क' नितान्त प्रमेयबहुल ग्रन्थ है[१]।

हरिभद्र (८ शतक विक्रमी)—जैनधर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने लोकप्रिय 'षड्दर्शन-समुच्चय' तथा 'अनेकान्त-जयपताका' की रचना की है।

भट्ट अकलंक—(८ शतक)—दिगम्बर मतानुयायी थे। अष्टम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर महत्त्वपूर्ण 'राजवार्त्तिक' तथा आप्त-मीमांसा के व्याख्यारूप में 'अष्टशती' की रचना की है। अभी हाल में इनके जिन तीन छोटे दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है उनके नाम—लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाणसंग्रह हैं। इन सब ग्रन्थों का विषय जैनन्याय है।

विद्यानन्द—(नवम शताब्दी) इन्होंने 'अष्टशती' पर 'अष्टसाहस्री' तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'श्लोकवार्त्तिक' लिखकर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिलभट्ट की शैली का अनुकरण किया है। अकलंक और विद्यानन्द जैनदर्शन को प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य बनाने वाले विद्वान् हैं। इन दोनों की कृतियाँ प्रौढ़; विद्वत्तापूर्ण तथा माननीय हैं। विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक' में जितना और जैसा पूर्व-मीमांसा का सबल खण्डन है, वैसा तत्त्वार्थ की किसी टीका में उपलब्ध नहीं। भट्ट अकलंक के 'राजवार्त्तिक' में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है, तो 'श्लोकवार्त्तिक' में इसके साथ गम्भीरता भी विशेष रूप से है। भट्ट अकलंक ने जैन परम्परा में न्याय, अर्थात् प्रमाणशास्त्र का जो प्राथमिक निर्माण किया,

---

१. इनके जीवन चरित तथा ग्रन्थों के विशेष वर्णन के लिए द्रष्टव्य—'सन्मतितर्क' की पं० सुखलालजी कृत भूमिका (अं०), पृ० १—५५।

परिभाषायें निर्दिष्ट कीं, लक्षण और परीक्षण किया वही सर्वमान्य हुआ। इन्होंने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति को मुँहतोड़ उत्तर दिया था। विद्यानन्द ने शान्तरक्षित के परीक्षणों की जैन परम्परा में समीक्षा का सूत्रपात किया। ये दोनों जैनेतर दर्शनों के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे।

वादिराजसूरि (एकादश शतक)—दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक माने जाते हैं। ये द्राविड़ संघ के अनुयायी थे। षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद, विद्यापति आदि उपाधियों से इनकी विद्वता का स्पष्ट पता चलता है। इनके 'एकीभावस्तोत्र' के अनुसार इनके समान कोई भी अन्य शाब्दिक, तार्किक तथा कवि न था[1]। दक्षिण के सोलंकी वंश के विख्यात राजा जयसिंह प्रथम (९३८ श० सं०—९६४ श० सं०) के ये समकालीन थे। काव्यग्रन्थ में 'पार्श्वनाथचरित' की पर्याप्त ख्याति है, (रचनाकाल ९४७ शक = १०२५ ई०)। 'न्यायविनिश्चय-विवरण' इनका न्यायविषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें भट्ट अकलंकदेव के 'न्यायविनिश्चय' का भाष्य है। यशोधर के प्रख्यात जैन आख्यान पर वादिराज का 'यशोधरचरित' नामक चार सर्ग का लघुकाव्य प्रख्यात है। इस प्रकार ये कवि तथा तत्त्वज्ञ रूप से सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं।

(घ) अवान्तरयुग के दार्शनिक जैन ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से समधिक प्रसिद्ध कतिपय ग्रन्थकारों का ही परिचय देना पर्याप्त होगा[2]:—

देवसूरि—(१२वीं शताब्दी) इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' तथा इसकी टीका 'स्याद्वादरत्नाकार' की रचना की है। ये ग्रन्थ जैनन्याय के महत्त्व-पूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं।

हेमचन्द्र—(११४५ वि०—१२२९ वि० = १०८८–११७२ ई०)—ये देवसूरि के समकालीन थे। ये अपने समय के उद्भट विद्वान् तथा विख्यात जैनाचार्य माने जाते थे। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य, व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने स्वयं जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादिकों की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैनन्याय के विषय में 'प्रमाणमीमांसा' नामक विद्वतापूर्ण तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थरत्न का भी निर्माण किया है। निखिल-शास्त्र निपुणता तथा बहुश्रुता के कारण इन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्राप्त थी।

---

१. वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक (पृ० १८८—२२०)।

मल्लिषेणसूरि—(१३४९ वि० = १२९२ई०) की रचना 'स्याद्वादमञ्जरी' है जो हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण टीका है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनों की जैन-दृष्ट्या समालोचना है एवं जैन-सिद्धान्तों का प्रमाणपुरःसर विवेचन हैं।

गुणरत्न—(१४६६ वि० = १४०९ ई०)—इन्होंने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की बड़ी सुन्दर तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है, जिसमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना की गई है तथा उनके विषय में अनेक विशिष्ट साम्प्रदायिक बातों का भी उल्लेख किया है।

यशोविजय—(१७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध)—इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती तथा हिन्दी में खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक तथा समन्वयात्मक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका 'जैन-तर्कभाषा' सरल, संक्षिप्त तथा अत्यन्त उपादेय है।

(३) जैनज्ञानमीमांसा

जैनमतानुसार जीव चैतन्य है, ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। वह निसर्गतः अनन्तज्ञान विशिष्ट है, पर कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहा करता है, परन्तु सम्यक्-चरित्र के सेवन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को फिर से पा सकता है; वह कैवल्य तथा सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है।

यह ज्ञान दो प्रकार है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। इन दोनों शब्दों की व्याख्या में जैन दर्शन जैनेतर दर्शनों से नितान्त पृथक् है। यहाँ आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय-मनःसापेक्ष-ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है, अन्य किसी की सहायता के लिये परतन्त्र नहीं है, उसे जैन दर्शन 'प्रत्यक्ष' के नाम से पुकारता है; पर जिस ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होती है, उसे 'परोक्ष' का नाम दिया जाता है।

परोक्ष ज्ञान उमास्वाति के विवेचन के अनुसार दो प्रकार का होता है:—(१) मति तथा (२) श्रुत। ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। (१) अवधि, (२) मनःपर्याय तथा (३) केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष के भेद माने जाते हैं, क्यों कि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही केवल आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय तथा मन के सम्पर्क से समुद्भूत विषयज्ञान को 'मतिज्ञान' कहते हैं। स्मृति, संज्ञा चिन्ता, अभिनिबोध—ये चारों मतिज्ञान के पर्याय हैं। मति सामान्यतः दो प्रकार की बतलायी जाती है:—(१) इन्द्रियजन्य—बाह्येन्द्रियों के द्वारा जन्य ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहते हैं। (२) अनिन्द्रियजन्य—मानस ज्ञान।

परोक्ष के भेद

शब्द से उत्पन्न ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भविष्य इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता, जब कि श्रुतज्ञान में शब्दोल्लेख रहता है। जैनागम के द्वादश अंगों के ज्ञान को अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान और गणधरों के पश्चात् शुद्ध बुद्धिवाले आचार्यों के द्वारा विरचित शास्त्रों का ज्ञान अंगबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकारों का निर्देश ऊपर किया गया है। इनमें दूरस्थित व्यवधान-युक्त पदार्थों का ज्ञान 'अवधि ज्ञान' कहलाता है। जब जीव विशिष्ट सात्त्विक साधनों की सहायता से आवरणीय कर्मों का क्षय करने लगता है, तब उसे दूरस्थित पदार्थों का ज्ञान भी स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण उत्पन्न हो जाता है, यही अवधि ज्ञान है। जो अवधि ज्ञान जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं और जिस ज्ञान के लिए व्रत, नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा बनी रहती है उसे 'गुणप्रत्यय' की संज्ञा दी जाती है (त०सू०१।२१–२३)। आगे चलकर जब जीव द्रोह, ईर्ष्या आदि परकीय मन की प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों का क्षय कर लेता है, तब उसमें दूसरों के मन के विचारों को जानने की योग्यता आ जाती है। यही 'मनःपर्याय ज्ञान' कहलाता है। पर जब ज्ञान के समस्त आवारणीय कर्मों का नितान्त क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा अपने शुद्ध सर्वज्ञ रूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसमें सर्वज्ञता आदि धर्मों का उदय

प्रत्यक्ष के भेद

स्वतः हो जाता है। यही प्रत्यक्ष का पारमार्थिक रूप है जिसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं। इसके अधिकारी सम्यक् चरित्र के अनुष्ठान करनेवाले सिद्ध पुरुष ही होते हैं।

यह विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर किया गया है, पर पीछे के जैनाचार्य प्रत्यक्ष तथा परोक्ष का विभाग एक दूससे प्रकार से करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र

हेमचन्द्र—प्रमाण-विभाग

ने प्रमाणमीमांसा में तथा गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका (पृ० २०४) में प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक तथा पारमार्थिक दो भेद माने हैं। हमारा प्रत्यक्ष, जिसमें इन्द्रिय तथा मन की सहायता नितान्त आवश्यक है 'सांव्यवहारिक' प्रत्यक्ष कहलाता है। आवरण के नाश हो जाने पर चेतन जीव के स्वरूप का प्रकट होना 'केवल ज्ञान' या 'पारमार्थिक प्रत्यय' कहलाता है। परोक्ष ज्ञान के पाँच प्रकार स्वीकृत किये गये हैं–(१) स्मृति = वासना के उद्बोध के कारण जायमान अतीत का यथार्थ स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञान = 'यह वस्तु वही है' इत्यादि ज्ञान, (३) तर्क = उपलम्भ तथा अनुपलम्भ, निमित्तव्याप्ति का ज्ञान, (४) अनुमान हेतु से साध्य का अनुमान, (५) आगम = आप्त पुरुषों तथा आगमों के वाक्यों से समुत्पन्न प्रामाणिक ज्ञान।

सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैनन्यायप्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य है। अनुमान चार्वाक को अस्वीकृत है, पर जैनाचार्यों ने बड़ी प्रबल युक्तियों के आधार पर लोकव्यवहार के लिए अनुमान की प्रामाणिकता मानी है। जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूलभित्ति है, पर जैन लोग ब्राह्मण-शास्त्र, श्रुति तथा स्मृति की प्रामाणिकता को अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

स्याद्वाद

जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हुआ करती है। इन समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ ज्ञान उसी पुरुष को हो सकता है जिसने कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया है। पर भ्रान्ति-बहुल मानवों में इतना सामर्थ्य कहाँ है कि वे प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। वह तो वस्तु के केवल एक धर्ममात्र को जान सकता है। अतः उसका ज्ञान सदा आंशिक हुआ करता है। जैन दर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को

'नय' के नाम से पुकारता है[1] । वस्तु-स्थिति पर विचार करने से प्रत्येक ज्ञान का आंशिक या सापेक्ष होना ही न्यायसंगत है, परन्तु वास्तविक ज्ञान इससे भिन्न पदार्थ है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है—(१) दुर्णय, (२) नय, (३) प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तु को हम विद्यमान ही (सदैव) बतलावें, तो उसके अन्य प्रकारों के निषेध किये जाने के कारण यह ज्ञान 'दुर्णय' (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जायेगा। अन्य प्रकारों का विना निषेध किये हुए वस्तु को सत् बतलाना आंशिक-ज्ञान-संवलित होने के कारण 'नय' कहलायेगा, पर प्रमाण इन दोनों से भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में 'संभवतः यह सत् है' (स्यात् सत्) यही ज्ञान वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात समस्त धर्मों के संकलन होने के कारण प्रमाणकोटि में आता है (स्याद्वाद-मञ्जरी, श्लोक २८)।

'नय' सिद्धान्त जैन दर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। किसी विषय का साक्षेप निरूपण नयवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस नयवाद का विवेचन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया गया उपलब्ध होता है (त० सू० १।३४-३५)। वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से उसके प्रत्येक विशेष के निरूपण करने से नयों की संख्या भी अनन्त है, परन्तु विवेक-दृष्टि से उसके सामान्यतः दो भेद स्वीकृत किये जाते हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय तथा (२) पर्यायार्थिक नय। किसी वस्तु के दो धर्म हो सकते हैं—एक तो वह जिसके कारण विविध परिणामों के बीच वस्तु की एकता बनी रहती है। इसकी ही 'द्रव्यार्थिक नय' की संज्ञा है। दूसरे वे धर्म जो देश तथा काल के कारण किसी वस्तु में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन विशेषों के निरूपण को 'पर्यायार्थिक नय' की संज्ञा दी जाती है। प्रथम नय तीन प्रकार का तथा अन्तिम चार प्रकार का, दोनों मिलकर सात प्रकार के होते हैं—नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजु नय, शब्द नय, समभिरूढ नय तथा एवंभूत नय। इनके नामों में समानता होने पर भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इनके स्वरूप के विषय में विशेष मतभेद दीख पड़ता है।

नयवाद

---

१. एकदेशविशिष्टो यो नयस्य विषयो मतः।

(न्यायावतार, श्लोक २९)।

'नय' शब्द की निरुक्ति यों है—'नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेन इति 'नयः'। (स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १५९)

इस आंशिक ज्ञान के कारण ही जगत् में पारस्परिक कलह दिखलाई पड़ रहा है। प्रत्येक दर्शन इस विचित्र नानात्मक विश्व के ही विवेचन करने में व्यस्त है, पर वह किसी एक अंश को ही लेकर ऊहापोह में लगा रहता है। दर्शनों में पारस्परिक कलह का बीज यही है कि वे अपने ही विवेचन को यथार्थ मानकर अन्य दर्शनों के विवेचनों को अयथार्थ ठहराते हैं।

दार्शनिक विरोध का कारण

इस विषय में दार्शनिकों का पारस्परिक विरोध हाथी के स्वरूप-निर्णय के विषय में झगड़ा करनेवाले अन्धों के कलह के समान ही है। पर जैन दर्शन का कहना है कि दर्शन नानारूपिणी सत्ता के अंशमात्र के विवेचन करने में अपना महत्त्व रखते हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नहीं है। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशालहृदयता के कारण जैन-तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैनदर्शन न केवल आचार के लिए ही अहिंसा का पक्षपाती है; प्रत्युत तात्त्विक समीक्षा के विषय में भी वह 'बौद्धिक अहिंसा' को मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द अस् धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़े के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति = कथंचित् यह

स्याद्वाद का अर्थ

विद्यमान है' इसी रूप में होना चाहिये। वर्तमान काल तथा देश के विचार करने से हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, परन्तु यह सत्ता त्रैकालिक सत्य नहीं है; अपितु सापेक्षिक सत्य है, क्योंकि प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक दशा में तथा एतादृश अन्य प्रकारों में घट की सत्ता का अनुभव हमें नहीं हो सकता। अतः घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति' का ही रूप धारण कर सकता हैं। इसी कारण जैन दर्शन प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद का योग करने के लिए आग्रह करता है। यही सुप्रसिद्ध स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है, जो जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा के इतिहास को एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण देन माना जाता है।

'स्याद्वाद' की उत्पत्ति भी बड़ी रोचक है। बुद्धकाल में अनेकान्तवाद मानने वाले दार्शनिकों की कमी नहीं थी। ये ब्राह्मण तथा परिव्राजकों में पाये जाते थे।

सामञ्ञफल-सुत्त में 'संजय बेलट्ठिपुत्त' के मत का जो वर्णन मिलता है वह स्याद्वाद के अनुरूप ही था। संजय ने स्पष्ट शब्दों में परलोक के अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों की सत्ता के विधान तथा प्रतिषेध के विषय में अपने को नितान्त असमर्थ ठहराया है। पाली ग्रन्थों में 'अमराविक्खेपिक'[1] संज्ञक दार्शनिकों के मत की चर्चा उपलब्ध होती है, जो वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व की स्थिति तथा अनुभव के विषय में एक मत को अंगीकार न करके अनेक मतवाद की पुष्टि किया करते थे। ये मत ब्राह्मणों तथा परिव्राजकों के बतलाये गये हैं। अतः स्याद्वाद की उत्पत्ति को कतिपय विद्वान् जैनेतर सम्प्रदायों में मानते हैं[2]। उपनिषदों में ब्रह्म कहीं सत्, कहीं असत्, कहीं उभयात्मक बतलाया गया है। इन मतों के आधार पर ही सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना अवान्तरकाल में मानी गई; यह मत भी सम्भव है। स्याद्वाद की उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक भले न चले, पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भगवतीसूत्र में स्वयं महावीर ने 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्याद् अवक्तव्यम्' इन ३ भंगों का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसी कारण इन भंगों को 'मूलभंग' की संज्ञा दी गई है। आगे चलकर इन्हीं मूलभंगों के पारस्परिक मिश्रण से 'सप्तभंगी' की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ[3]।

स्याद्वाद की उत्पत्ति

सप्तभङ्गी नय

साधारणतया न्यायशास्त्र में परामर्श के दो ही प्रकार के रूप हो सकते हैं:— (१) अन्वयी, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का विधान

---

१. 'अमराविक्षेपवाद' का अर्थ किसी निश्चित सिद्धान्त को न मानना है। 'अमराविक्षेप' नामक छोटी-छोटी मछलियाँ बड़ी चञ्चल हुआ करती हैं, जो बहुत प्रयत्न करने पर भी हाथ में नहीं आती हैं। अतः प्रयत्न करने पर भी किसी निर्णय पर न पहुँचने के कारण इस वाद को 'अमराविक्षेप' की संज्ञा दी गयी है। यह ब्रह्मजालसुत्त में उल्लिखित बुद्धकालीन १३ वाँ सिद्धान्त है। देखिये दीर्घनिकाय, पृ० ६–१०।

२. द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जरी की भूमिका, पृ० ७५–७६।

३. अनेकान्तवाद के विषय में द्रष्टव्य प्रमाणसमुच्चय की पं० सुखलालजी कृत प्रस्तावना, पृ० १८–२८; सन्मतितर्क की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १३२–१४०, उपाध्येकृत प्रवचनसार की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ८६–९१।

किया जाय अथवा (२) व्यतिरेक, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का निषेध किया जाय, परन्तु जैन न्याय में सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे 'सप्तभंगी नय' के नाम से पुकारते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं :—

(१) स्यादस्ति (किसी प्रकार में है)।

(२) स्यान्नास्ति (किसी प्रकार में नहीं भी है)।

(३) स्यादस्ति च नास्ति च (कथञ्चित् है और नहीं है)।

(४) स्याद् अवक्तव्यम् (कथञ्चित् अवक्तव्य = वर्णनातीत है)।

(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् अथवा किसी प्रकार में है और अवक्तव्य है)।

(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् नहीं है और अवक्तव्य है)।

(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् है, नहीं है तथा अवक्तव्य है)।

इनके स्वरूप को जानने के लिए थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। पहले वाक्य का अर्थ है कि कथञ्चित् कोई पदार्थ किसी धर्म विशेष के साथ सम्बद्ध है। जैसे 'स्यात् घड़ा है' अर्थात् 'इस समय में एक विशेष प्रकार के स्थान में (घर में) एक विशेष रूप को रखनेवाला घड़ा विद्यमान है' इस वाक्य का यही अर्थ समझा जाना चाहिये। दूसरे वाक्य का प्रयोग पदार्थ-विशेष का धर्मविशेष के साथ सम्बन्ध-प्रतिषेध के अवसर पर किया जाता है। जैसे 'स्यात् इस घर के बाहर घड़ा नहीं है' इसका यह अर्थ है कि 'किसी विशेष प्रकार का घड़ा विशिष्ट समय में एक विशिष्ट गृह के बाहर अभाव धारण किये हुए है'। किसी वस्तु के सत्तात्मक तथा निषेधात्मक उभयविध स्वरूप के संवलित रूप से ज्ञान के लिए पूर्ववाले दोनों परामर्शों को एकत्र करने से तीसरे प्रकार के परामर्श का उदय होता है। जैसे—स्याद् गृहे अस्ति घटः, गृहाद् बहिर्नास्ति घटः (स्यात् घर के भीतर घट विद्यमान है तथा गृह के बाहर वह अविद्यमान है)। इसका निर्देश तृतीय वाक्य में किया गया है। कच्चा होने पर घड़ा काला है, पर पक जाने पर वही लाल बन जाता है, तब घट का यथार्थ रूप क्या है ? इस प्रश्न का निष्कपट उत्तर यही हो सकता है कि परिस्थितियों की विपुलता के कारण एकत्र विरोधात्मक नाना धर्मों की सत्ता होने के कारण घट का वास्तविक रूप अवक्तव्य अनिर्वचनीय है। जैनन्याय के अनुसार चतुर्थ परामर्श इसी सिद्धान्त को

प्रतिपादित करता है। अन्तिम तीन परामर्शों की उत्पत्ति पूर्वनिर्दिष्ट चारों विचार-बिन्दुओं के सम्मिश्रण से होती है। जैनन्याय के अनुसार किसी भी पदार्थ के विषय में इतने ही विकल्पक ज्ञानों का उदय हो सकता है। अतः, सात प्रकारों को धारण करने के कारण इसे 'सप्तभंगी नय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

(४) जैन तत्त्वसमीक्षा

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है (अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्)। किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिये उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ण, समाज

वस्तु

आदि का जानना तो अत्यन्त आवश्यक है। इन सत्तात्मक धर्मों का नाम 'स्वपर्याय' है; ये अल्प ही हुआ करते हैं; पर वस्तु के निषेधात्मक धर्म अनन्त होते हैं, जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से पृथक् किया करते हैं। 'देवदत्त' के विषय में इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि वह भारतवर्षवासी, श्यामवर्ण, हिन्दू, आर्य-धर्मानुयायी, ब्राह्मण-कुलोत्पन्न है, ये तो सत्तात्मक गुण हुए। निषेधात्मक गुणों की जानकारी भी उतनी ही जरूरी है। यह भी जानना पड़ेगा कि वह न तो यूयरोपियन है, न चीनदेशीय, न श्वेतवर्ण का है, न पीत वर्ण का—आदि आदि। इन इयत्ताहीन निषेधात्मक धर्मों को 'परपर्याय' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन की कल्पना में प्रत्येक वस्तु 'स्वपर्याय' तथा 'परपर्याय' का समुच्चय है।

द्रव्य

'सत्' के स्वरूप के विषय में दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्तदर्शन केवल ब्रह्म को 'सत्' मानता है, बौद्धदर्शन 'सत्' पदार्थ को निरन्वयक्षणिक (अर्थात्

'सत्' की व्याख्या

उत्पादन विनाशशील) मानता है, सांख्यदर्शन चेतन तत्त्वरूप 'सत्' पदार्थ (पुरुष) को कूटस्थ नित्य मानता है, पर अचेतन तत्त्वरूप 'सत्' पदार्थ (प्रकृति) को परिणामिनित्य अर्थात् नित्यानित्य मानता है, परन्तु जैनदर्शन के अनुसार 'सत्' का विवेचन एक विभिन्न ही प्रकार से किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हुआ करते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक, अर्थात् नित्य है और

अशाश्वत अंश के कारण हर-एक वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति तथा विनाशशाली अर्थात् अनित्य है) यदि केवल एक अंश पर दृष्टिपात करते हैं तो वस्तु स्थिर प्रतीत होती है, तथा दूसरे अंश पर दृष्टि डालते हैं तो वह अस्थिर प्रतीत होती है। किन्तु एकांश पर दृष्टि डालना एकांगी सत्य हो सकता है, सर्वाङ्गीण सत्यता उभयांशों के निरीक्षण पर ही अवलम्बित है। अतः इन दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैनशास्त्र प्रत्येक वस्तु को उत्पादव्यय-ध्रौव्य युक्त बतलाता है। अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने तथा नाश होनेवाला होता है; साथ ही साथ वह स्थिर होने वाला भी होता है।[1] अर्थात् वह नित्यानित्य होता है। यहाँ पर शंका का उदय होना स्वाभाविक है कि जो पदार्थ नित्य है वह उसी क्षण में अनित्य कैसे हो सकता है? क्या एक ही पदार्थ में नित्यता तथा अनित्यता का एककालिक सम्बन्ध मानना विरुद्ध नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर जैनदर्शन में बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है। बिना किसी प्रकार के परिवर्तन हुए समान भाव से रहने वाली वस्तु को वह नित्य नहीं मानता। उसकी दृष्टि में 'अपनी जाति से च्युत न होना' ही नित्यत्व का लक्षण है। वस्तु में परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विघटित नहीं होती, अतः इन्हें नित्य मानने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए। अनुभव इस परिणामिनित्यता के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। सुवर्ण में कुण्डलत्व, अंगुलीयत्व आदि धर्म के उत्पन्न होने पर भी वह सुवर्णत्व जाति से च्युत नहीं होता। 'परिणामिनित्यता' के सिद्धान्त में वेदान्तियों के 'कूटस्थनित्यता' तथा सौगतों के 'परिणामवाद' का हृद्य समन्वय है। प्रपञ्च के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को जैन-दर्शन अंगीकार करता है। वह कहता है कि जगत् का नानात्व भी वास्तविक है तथा एकत्व भी सत्य है।

सतत विद्यमान रहनेवाले तथा वस्तुसत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्मों को 'गुण' कहते हैं तथा देशकालजन्य परिणामशाली धर्म को 'पर्याय' कहते हैं। गुण तथा पर्यायविशिष्ट वस्तु को जैनन्याय के अनुसार 'द्रव्य' कहते हैं (गुणपर्यायवद् द्रव्यम्—तत्त्वार्थसूत्र ५-३७)।

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्—(तत्त्वार्थसूत्र ५।२९)।

द्रव्य का सबसे बड़ा विभाग दो प्रकार का होता है :—(१) एक देशव्यापी द्रव्य तथा (२) बहुप्रदेश-व्यापी द्रव्य। काल ही एक पदार्थ ऐसा है जो एक प्रदेशव्यापी माना जाता है। जगत् के अन्य समस्त पदार्थों में

द्रव्यविभाग

विस्तार उपलब्ध होता है। अतः वे बहुप्रदेश-व्यापी माने जाते हैं। जैनदर्शन में विस्तार धारण करनेवाले द्रव्य 'अस्ति-काय' कहे जाते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर की भाँति विस्तार से समन्वित होने से वे 'काय' कहे जाते हैं[1]। ऐसे पाँच द्रव्यों की सत्ता स्वीकृत की गई है—(१) जीवास्तिकाय, (२) पुद्गलास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) धर्मास्तिकाय तथा (५) अधर्मास्तिकाय।

देशव्यापी (अस्तिकाय) द्रव्यों के दो प्रधान भेद हैं—जीव और अजीव। इनमें जीव आत्मा का वाचक है। जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—बद्ध (संसारी) तथा बन्धन से निर्मुक्त (मुक्त)। इनमें संसारी जीवों के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। वे जीव जो उद्देश्यपूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं 'त्रस' कहलाते हैं और जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते हैं उन्हें 'स्थावर' कहते हैं। संसारी जीव के अन्य चार प्रकारों का वर्णन तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२।३२-३६) में दिया गया है :—(१) नारक—विविध नरकों में निवास करनेवाले जीव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च—पशु-पक्षी आदि लघुकाय जीव, (४) देव—ऊर्ध्वलोक में निवास करनेवाले जीव। स्थावर जीव सबसे निकृष्ट माने जाते हैं, क्योंकि इनमें केवल स्पर्शेन्द्रिय की ही सत्ता मानी जाती है। जङ्गम जीवों में कुछ दो इन्द्रियसम्पन्न, कुछ तीन इन्द्रिय से युक्त और कुछ चतुरिन्द्रिय से युक्त होते हैं; परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी आदि उन्नत जीवों में पाँचों इन्द्रियाँ पाई जाती हैं। यह तो जीव का सामान्य- निरूपण हुआ। अजीव चार प्रकार के होते हैं—पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म।

---

१. संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य॥
(द्रव्यसंग्रह, गाथा २४)

द्रव्य-विभाग का संक्षिप्त वर्णन
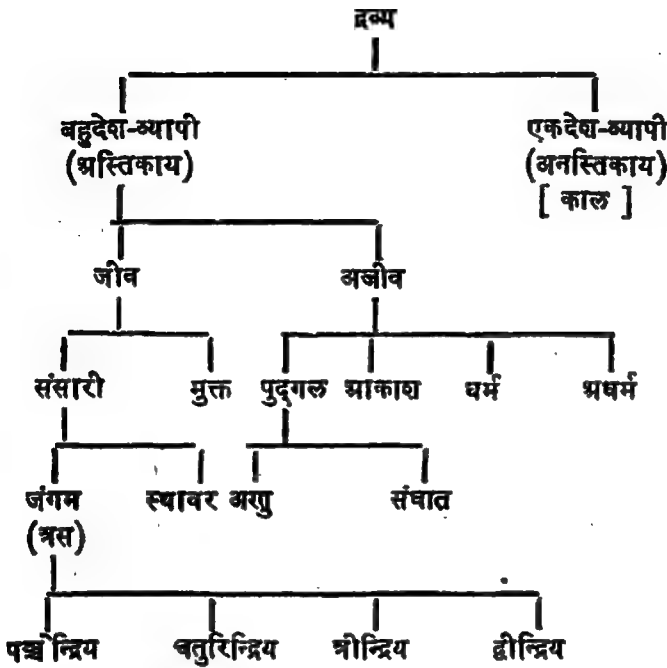
जीव

चेतनद्रव्य को जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है[1]। संसार के समस्त जीवों में, चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों, चैतन्य उपलब्ध होता ही है। प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हुआ करता। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुणों पर एक प्रकार का आवरण पड़ा रहता है। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से इस आवरण के तिरोधान होने से इन गुणों का साक्षात्कार जीव को हुआ करता है। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता है तथा कर्म-फलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जगत् के प्रत्येक भाग में जीवों की सत्ता मानी गयी है।

---

१. चैतन्यलक्षणो जीवः—(षड्दर्शन-समुच्चय, कारिका ४९)।

जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्मों का सम्पादन करता है, सुख का भोक्ता है, दुःख को सहता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है और उसकी सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैन दर्शन जीव को मध्यम परिमाणविशिष्ट मानता है। इस विषय में भी आत्मा को विभु माननेवाले अद्वैत वेदान्तियों तथा अणु मानन‌वाले वैष्णवों के उभय अन्तों को छोड़कर मध्यम-मार्ग को माननेवाला है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। यह स्वयं अमूर्त है, पर दीपक के प्रकाश की तरह आधारभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को धारण करता है। इस प्रकार हस्ती के विशालकाय में रहनेवाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है। प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकाशशाली होता है[१]। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर उसका ज्ञान किया जा सकता है।

अजीव

जैन दर्शन में 'पुद्गल' शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण माना जाता है। यह भूत सामान्य के लिए व्यवहृत किया जाता है। 'पुद्गलास्तिकाय' यह संज्ञा जैन शास्त्र में ही प्रसिद्ध है, अन्य दर्शनों में पुद्गल-स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं। सर्व-दर्शन-संग्रह में 'पुद्गल' शब्द की

१. पुद्गल

निरुक्ति बतलाई गई है—पूरयन्ति गलन्ति च (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय), अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर का निष्पादन करनेवाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं—अणु तथा संघात। पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा

---

१. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।

(त० सू० ५।१६)।

सकता 'अणु' कहलाता है। दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से 'संघात' बनता है। इन्हीं संघातों के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अंग, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। पौग्दलिक पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण। ये गुण उनके द्विविध रूपों में विद्यमान रहते हैं। अणु या संघात—दोनों प्रकार में ये चारों गुण पाये जाते हैं। अन्य दार्शनिक 'शब्द' को भी भूतों का गुणविशेष स्वीकार करते हैं, पर जैन दार्शनिक शब्द को मूलभूत गुण नहीं मानते, प्रत्युत सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, अन्धकार, छाया आदि के समान होनेवाला अवान्तर परिणाम बतलाते हैं (तत्त्वार्थसूत्र ५।२४)

२. आकाश

'आकाश' जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देनेवाला पदार्थ है। आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर अंगीकृत की जाती है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेशव्यापी हैं। अतः उनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्यायवाले आकाश-द्रव्य की सत्ता मानना न्याय-संगत है। आकाश दो प्रकार का माना जाता है:—(१) जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है उसे 'लोकाकाश' की संज्ञा दी जाती है, (२) तथा लोक से उपरितन आकाश की 'अलोकाकाश' संज्ञा है।

३. काल

काल की कल्पना अनुमान के आधार पर मानी जाती है। जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील हैं। इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पाँचों काल के 'उपकार' माने जाते हैं। काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थिति का अर्थ पदार्थ का अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान है। काल के अवयवों को बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापरक्षण-व्यापिनी क्रिया काल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना जाता, अतः वह अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में भिन्न ही है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता रत्नों की राशि के समान मानी जाती है। रत्नों के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक

रत्न पृथक् रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थित रहता है (द्र० सं० का० २३)। 'द्रव्यसंग्रह' में काल के दो भेद माने गये हैं (गाथा २२)—

(१) व्यावहारिक काल—द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, घटी, पल आदि अवयव से सम्पन्न काल का व्यावहारिक काल कहते हैं।

(२) पारमार्थिक काल—यह काल नित्य निरवयव माना जाता है। वर्तना—पदार्थ की स्थिति—इनका सामान्य लक्षण है। व्यावहारिक काल के ही अंगों की कल्पना है। अतः वह सादि तथा सान्त है, पर पारमार्थिक काल एक अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहता है।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की जैन कल्पना अन्य दर्शनों में स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न ठहरती है। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। जल में चलनेवाली मछली के लिए जिस प्रकार जल सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए धर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। धर्म स्वयं जीव की गति की प्रेरणा में असमर्थ है, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र करता है। जल मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

४. धर्म

अधर्म की कल्पना धर्म के ठीक विरुद्ध है। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'अधर्म' की संज्ञा जैनदर्शन में दी गई है। जिस प्रकार श्रान्त पथिक के ठहरने के लिए वृक्षों की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति के वास्ते अधर्मास्तिकाय की कल्पना स्वीकृत की गई है। छाया पथिक के टिकने के लिए कारण नहीं हो सकती, न उसे टिकने के लिए प्रेरणा कर सकती है, केवल सामान्यरूपेण कारण बन सकती है। जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी इसी तरह मानी गई है।

५. अधर्म

(५) जैन आचारमीमांसा

जैनदर्शन में मोक्ष के साधन तीन हैं[1]—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चरित्र। 'दर्शन' शब्द का अर्थ है—श्रद्धा, अतः

---

१. सम्यक्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः— (तत्त्वार्थसूत्र १।१)।

मोक्षमार्ग में जाने के लिए साधक के पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक् श्रद्धा[1]। तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्र-सिद्धान्तों में अटूट तथा गहरी श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए सबसे अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण पाथेय सम्यक् श्रद्धा है। सम्यक् ज्ञान दूसरा साधन है। शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित निखिल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का यथार्थ एवं गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही आवश्यक तथा उपादेय है। सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता सम्यक् चरित्र में ही सम्पन्न होती है। इन्हीं मोक्षोपयोगी तीनों साधनों—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य—को जैन दर्शन में 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी गई है।

रत्नत्रय

जीव निसर्गतः मुक्त है; पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहता है। इस कर्म के स्वरूप को जैन दर्शन अन्य दर्शनों से नितान्त भिन्न मानता है। कर्म पौद्गलिक होते हैं। पृथिवी, जल आदि के समान कर्म भी भौतिक माना जाता है। यह जीव को सर्वांशतः व्याप्त कर इस दुःखमय प्रपंच में डाले रहता है। कर्म के साथ सम्बद्ध जीव ही बद्धपुरुष के रूप में दीख पड़ता है। कर्म के आठ मुख्य प्रकारों का वर्णन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ किया गया मिलता है। कुछ कर्म ज्ञान को ढके हुए रहते हैं, कुछ दर्शन को आच्छादित किये रहते हैं तथा कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने रहते हैं। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—इन आठ कर्मों के १४४ भेदों का वर्णन जैन ग्रन्थों में दिया गया है (त० सू० ८।५–१६)।

कर्म

जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिखलाने के लिए जैन दर्शन-सम्मत सप्त पदार्थों का वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। इन पदार्थों के नाम हैं—(१) आस्रव, (२) बन्ध, (३) संवर, (४) निर्जरा, (५) मोक्ष—जो पूर्ववर्णित, (६) जीव तथा (७) अजीव के साथ मिलकर सात पदार्थ माने जाते हैं (त० सू० १।४) भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के

सप्त पदार्थ

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्— (तत्त्वार्थसूत्र १।२)।

साथ जीव के सम्बन्ध कराने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसी के साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन तथा उसके प्रभाव से हीन होने पर जीव का मोक्ष निर्भर रहता है। अपने व्यापार के लिए अपरतन्त्र कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना 'आस्रव' कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (६।१-२) में शरीर, वचन तथा मन की क्रिया को योग का नाम दिया गया है और यह योग ही 'आस्रव' कहलाता है। जिस प्रकार जलाशय में जल के प्रवेश करानेवाले नाले का मुख आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार कर्म के प्रवेश कराने का मार्ग होने के कारण योग को 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। इस तरह चरम तत्त्वों के अज्ञान तथा वासनादि के कारण कर्मों का जीव के प्रति जो संयुक्त होने की क्रिया हुआ करती है उसे ही जैन दर्शन 'आस्रव' कहता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—भावास्रव (कर्मोत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यास्रव (पुद्गलकर्मों का आना, द्रव्यसंग्रह, गाथा ३०)।

उसके अनन्तर कर्मों के द्वारा जीवों का साक्षात् व्याप्त कर लेना 'बन्ध' कहलाता है। दूसरे शब्दों में जब जीव कषाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तब इसे 'बन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है। उमास्वामी (त० सू० ८।१) बन्धन के पाँच कारण मानते हैं—(१) मिथ्यात्व (अतत्त्व में तात्त्विक दृष्टि रखना); (२) अविरति (दोषों से विरत न होकर सदा उनमें लगे रहना); (३) प्रमाद (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्यों में अविवेक के कारण सावधान न होना); (४) कषाय (समभाव की मर्यादा का तोड़ना); (५) योग (मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्ति)। इन्हीं कारणों से जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त करता है।

अब इन कर्मों का सम्बन्ध-विच्छेद भी दो भिन्न-भिन्न क्रमों से निष्फल हो सकता है। आगे आने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देने को 'संवर' कहते हैं (त० सू० ६।१)। यह 'आस्रव' से विपरीत क्रिया है। संवर का ग्रहण करना अग्रिम कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर जीव को अत्यधिक बन्धन में पड़ने से बचाता है तथा उसे मुक्ति की ओर उन्मुख करता है। संवर दो प्रकार का होता है—भावसंवर तथा द्रव्यसंवर। 'भावसंवर' मुमुक्षु के उन मानसिक उद्योगों तथा नैतिक प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके द्वारा वह कर्म के मार्ग का निरोध कर देता है। 'द्रव्यसंवर' नवीन पुद्गलकर्म के सम्बन्ध के वास्तविक निरोध की संज्ञा है। वास्तव क्रिया के पहिले ही मानस व्यापार का होना अनिवार्य है। अतः संवर दो प्रकार का माना जाता है।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी निर्जरा की होती है जिसके द्वारा सम्पादित कार्यों को निर्वीर्य बनाकर फलाभाव के लिये उन्हें जीर्ण कर देना होता है। फलस्वरूप वही 'मोक्ष' कहलाता है। इसकी स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के विना सम्भव नहीं हो सकती; इसलिए उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है[1]। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें इन 'अनन्त-चतुष्टयों' की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज का परम मङ्गल सम्पादन करने में लगा रहता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्यमात्र के हृदय में दुःखनिवृत्ति के लिए आशा का सञ्चार करता रहता है।

सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एकदम नहीं हो सकता, प्रत्युत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानों को जैन दर्शन में 'गुणस्थान' कहते हैं। प्रत्येक धर्म इस कल्पना की युक्तिमत्ता स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार गुणस्थानों की संख्या १४ है, जिनमें मिथ्यात्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचना लक्ष्य माना जाता है। गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है। इन गुणस्थानों के नाम क्रमशः यों हैं—

गुणस्थान

(१) मिथ्यात्व (विवेक-हीनता की दशा), (२) ग्रन्थिभेद (सत्-असत् के विवेक का उदय), (३) मिश्र (निश्चय और अनिश्चय की मिश्रित दशा), (४) अविरत सम्यग्-दृष्टि (संशय के नाश होने पर सम्यक् श्रद्धा की अवस्था), (५) देशविरति (पापों का आंशिक त्याग) (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्व करण, (९) अनिवृत्ति करण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह (मोक्ष को आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों के नाश से उत्पन्न दशायें), (१३) संयोग केवल (इस गुणस्थान में साधक अनन्त ज्ञान तथा अनन्त सुख से देदीप्यमान हो उठता है। वह तीर्थङ्कर कहलाता है और उसमें उपदेश देने की तथा धार्मिक सम्प्रदाय के स्थापन की योग्यता हो जाती है, इस दशा में शुक्ल ध्यान की सहायता से जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है), (१४)

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। (त० सू० १०।५-३)।

अयोग केवल—यही अन्तिम दशा है। इस अवस्था के उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश और आलोकाकाश के बीच में एक नितान्त पवित्र स्थान है, यही इन सिद्धों की निवासभूमि है। इस स्थान को 'सिद्ध-शिला' कहते हैं। साधक अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त कर चरम शान्ति का अनुभव करता है। साधकों के लिए यही चरम मुक्तावस्था है।

सम्यक् चारित्र्य की सिद्धि के लिए इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है—(१) अहिंसा (शरीर, वचन या मन से किसी भाँति किसी प्राणी को हानि न पहुँचाना), (२) सत्य

सम्यक् चारित्र्य

(जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान हो उसे उसी रूप में कहना), (३) अस्तेय (दूसरे किसी की वस्तु को उसकी आज्ञा के विना कभी ग्रहण न करना), (४) ब्रह्मचर्य (विर्य रक्षा करते हुए नैष्ठिक जीवन व्यतीत करना), (५) अपरिग्रह (किसी भी पदार्थ में आसक्त हो कर उसे ग्रहण न करना, अर्थात् संसार के समस्त विषयों से सच्चा वैराग्य)। इन व्रतों में सांसारिक गृहस्थों के लिए कभी-कभी वस्तु-स्थिति के विचार से शिथिलता भी दिखलाई गई है। यतियों के लिए अपरिग्रह के कठोर नियम का विधान है, पर गृहस्थों के लिए उसके स्थान पर सन्तोष का ही निर्देश है। जैन धर्म में आचार के नियमों के पालन में बड़ी कठोरता तथा व्यवस्था दीख पड़ती है।

(६) समीक्षा

जैन दर्शन इस जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करता है। अतः वह दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक के रूप में हमारे सामने आता है। वह आरम्भ से ही वास्तववाद (रीअलिज़म) का अनुयायी है। वह हमारी बाह्येन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता को वास्तव मानता है। कुछ दार्शनिक लोग जगत् की सत्ता में बाह्य इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं। उनकी सम्मति में चक्षुरादि बाहरी इन्द्रियाँ जिन पदार्थों का स्वयं अनुभव जिस रूप में करती हैं वे पदार्थ उसी रूप में सत्य हैं। इसके विपरीत कुछ दार्शनिक लोग अन्तरिन्द्रिय—मन बुद्धि के—द्वारा ग्राह्य विषय को ही सत्यत्वेन अङ्गीकार करते हैं; परन्तु जैन दर्शन इस विषय में दोनों के समन्वय का इच्छुक है। उसके अनुसार बाह्य जगत् की सत्यता प्रमाणित करने के लिए मन के साथ-साथ बाह्य इन्द्रियों की भी उपयोगिता किसी प्रकार न्यून नहीं है।

इस प्रकार जैन दर्शन का दृष्टिबिन्दु निःसन्देह बहुत्व-संवलित वास्तववाद (प्ल्युरलिस्टिक रीअलिज़म) है। इस दृष्टि के अनुयायी होने से पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनित्स के समान ही जैन दार्शनिक इस जगत् के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है[1]? इस विश्व में उस प्रदेश का सर्वथा अभाव है, जिसे जीव अपनी उपस्थिति से सजीव नहीं बनाते। वह विविध विचित्रतामय विपुल प्रदेश से संवलित विश्व के कण-कण में जीवों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा किसी प्रकार की इन्हें हानि न पहुँचाने के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अहिंसा को परम धर्म मानता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का माननीय तथा बहुमूल्य देन माना जाता है। समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये सत्य-ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। गुणरत्न ने एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की पर्याप्त पुष्टि की है[2]। जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान सम्पादन कर लिया, उसने समग्र वस्तुओं के सर्वथा ज्ञान को प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं का सर्वथा अनुभवकर्ता एक वस्तु का सर्वथा अनुभव करनेवाला है। नानात्मक सत्ता की तात्त्विक आलोचना 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त को मानकर ही की जा सकती है। यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है, परन्तु अनेकान्त-वाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जायगा। यह निश्चित है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता, तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिकभाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यह जैन सिद्धान्त दार्शनिक विवेचन के लिए आपाततः उपादेय तथा मनोरञ्जक प्रतीत होता है, पर वह मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वता असमर्थ है। इसी कारण यह

---

१. राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३३४।

२. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
(षड्-दर्शनसमुच्चयटीका, पृ० २२२)।

व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोबीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षणों के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से बढ़कर महत्त्व नहीं रखता।

आचार-मीमांसा जैन दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जैन मत आरम्भ में धर्म रूप में उदित हुआ था, क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसे अवान्तर शतकों में प्राप्त हुआ है। अतः विद्वज्जन आस्रव तथा संवर के मोक्षोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन ही जैन दर्शन का प्रधान विषय बतलाते हैं[1]; अन्य सब बातें उसी की प्रपंचभूत हैं। जैन धर्म की एक बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है—कर्मफल के दाता ईश्वर की सत्ता न मानने में। वह ईश्वरविषयक युक्तियों का तर्क से खण्डन करता है तथा वह ईश्वर के निषेध करने में सविशेष जागरूक बना हुआ है। कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर की अध्यक्षता के अभाव में भी तत्तत् फल देने में स्वयं कारण मानी जा सकती है। इस विषय में जैनदर्शन मीमांसक मत के साथ समता रखता है, पर जहाँ मीमांसा धर्म-कर्म के अन्तिम निर्णय के लिए श्रुति का आश्रय लेती है वहाँ जैनधर्म उस आश्रय से भी वंचित रहता है। मानव हृदय अपनी श्रद्धा तथा भक्ति की विशेष उन्नति के लिए किसी साकार वस्तु को चाहता है। सिद्धों को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर जैनधर्म ने इस कमी की पूर्ति कर दी है। 'अर्हत्' की देवत्व-कल्पना मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए सञ्जीवनी ओषधि का काम करती है, पर इससे भी बढ़कर है उसका जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य तथा अनन्त सौख्य में गम्भीर विश्वास। वह मनुष्य मात्र के लिए आशा का सन्देश तथा स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है। इस विषय में यह धर्म उपनिषत् प्रतिपादित आध्यात्मिक परम्परा के अधिकारी होने से ही इतना प्रभावशाली बन पाया है, यह कहना ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दोनों दृष्टियों से अयुक्त न होगा।

---
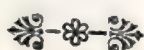
१. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३१)।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध दर्शन

ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्ध धर्म का उदय जैन धर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध 'निकायों' में अन्तिम जैन तीर्थङ्कर नाटपुत्त के नाम, सिद्धान्त तथा मृत्यु के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं, परन्तु जैन 'अंगों' में बुद्ध धर्म-विषयक उल्लेखों का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। बुद्ध धर्म के दो रूप हमें इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं—पहला बुद्ध धार्मिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्‌घाटन को अनावश्यक मान कर आचार-मार्ग का ही जनता के कल्याण के लिए सरल रीति से प्रतिपादन किया गया है। दूसरा दार्शनिक रूप है, जिसमें बौद्ध तत्त्व-विवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा के तह में रहने वाले सूक्ष्म सिद्धान्तों का तर्क-निष्णात बुद्धि से गहरा अनुशीलन किया तथा बुद्ध धर्म की धु धली दार्शनिक रूप-रेखा को स्पष्ट कर दिखलाया। इन दोनों रूपों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद का विवेच्य विषय है।

इस धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है (४४८ ई० पूर्व) ५०५ विक्रम पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्य-गणाधिप शुद्धोदन की भार्या मायादेवी के गर्भ से गौतम का जन्म हुआ।

गौतम बुद्ध

१६ वें वर्ष में उन्होंने पत्नी के प्रेममय आलिंगन, नवजात शिशु की मन्द मुसुकान तथा राजपाट के विशाल वैभव को लात मार कर महाभिनिष्क्रमण किया। सांख्योपदेशक आराड-कालाम के उपदेशों को उन्होंने सुना, पर सन्तोष न हुआ। अन्ततोगत्वा पचीस साल की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने उरुवेल में चार आर्यसत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर ४७१ वि० पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। मृगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पञ्चवर्गीय पञ्च भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' किया। गणराज्य के आदर्श पर बुद्ध ने भिक्षुओं के 'संघ' की स्थापना की और मानव क्लेशों से उद्धार पाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जनसाधारण को 'मागधी भाषा' में दी। ४२६ वि० पू० वैशाखी पूर्णिमा को ८० वर्ष की आयु में मल्ल-

गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में निर्वाण प्राप्त किया। जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति की घटनाएँ एक ही तिथि वैशाखी पूर्णिमा को घटित हुई थीं। अतः बुद्ध धर्म के लिए यह तिथि अत्यन्त पवित्र मानी जाती है।

त्रिपिटक

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। अतः उन्हें विस्मृति के गर्भ से बचाने के लिए बुद्ध के निर्वाणकाल में महाकश्यप के सभापतित्व में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति (सम्मेलन) राजगृह में सम्पन्न हुई, जिसमें बुद्ध के पट्टशिष्य आनन्द के सहयोग से 'सुत्तपिटक' तथा नापितकुलोद्भूत उपालि के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। सुत्तपिटक के अन्तर्गत 'मातिका' (मात्रिका = दार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से अवान्तर काल में 'अभिधम्म पिटक' का निर्माण किया गया। बुद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक सर्वस्व हैं—सुत्त-पिटक (बुद्ध के उपदेश), विनय पिटक (आचार-सम्बन्धी ग्रन्थ), अभिधम्म पिटक (दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रन्थ)। इन पिटकों (पेटारियों) के भीतर अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थ हैं[1]। सुत्तपिटक में पाँच निकाय (सुत्त-समूह) हैं—(१) दीर्घनिकाय (३४ सुत्त), (२) मज्झिमनिकाय (१५२ सुत्त), (३) संयुत्तनिकाय (५६ संयुत्त), (४) अंगुत्तरनिकाय (११ निपात), (५) खुद्दकनिकाय (१५ छोटे-मोटे ग्रन्थ) जिनमें बुद्ध की ४२३ उपदेशात्मक गाथाओं का संग्रहात्मक 'धम्मपद' तथा बुद्ध के पूर्व-जन्म से सम्बद्ध ५५० कथाओं का संग्रहरूप 'जातक' नितान्त विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त खुद्दक पाठ, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस तथा चरियापिटक हैं। विनयपिटक के तीन अङ्ग हैं—(१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, भिक्खु-पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी-पातिमोक्ख, (२) खन्धक—(क) महावग्ग तथा (ख) चूलवग्ग तथा (३) परिवार। अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, धम्मसंगणि, विभंग, पट्ठान, पकरण, कथावत्थु तथा यमक। नागसेनकृत 'मिलिंदपञ्हो' भी त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

---

१. इन ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए देखिए डा० विमलाचरण ला—हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर (दो भाग) तथा डा० विन्तरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दूसरा।

(१) बुद्ध की आचार शिक्षा

बुद्ध की शिक्षाओं का रहस्य समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का लक्ष्य नहीं था, प्रत्युत इस क्लेश-बहुल प्रपञ्च से उद्धार पाने के लिए सरल आचार-मार्ग का निर्देश करना ही उनका प्रधान ध्येय था। शिष्यों के द्वारा आध्यात्मविषयक प्रश्नों को सुनकर बुद्ध के चुप हो जाने का यही रहस्य है। ऐसे प्रसंग निकायों में अनेक बार आये हैं कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में 'अतिप्रश्नों' के पूछने से अपने शिष्यों को रोका। श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुक्यपुत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान्, अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा, परन्तु भगवान् ने आचारमार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तरज्ञान), संबोध (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) के उत्पन्न करने में साधक न होने से उन्हें अव्याकृत (व्याकरण—कथन के अयोग्य) बतलाया। इस विषय में उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है—यदि कोई व्यक्ति विष-दग्ध बाण से विद्ध होकर कराहता हो, और बन्धु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों, तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना पहले दर्जे की मूर्खता नहीं है? भवरोग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठीक ऐसी ही है। उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है? उन्हें तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना ही जरूरी है।

कर्तव्य-शास्त्र के विषय में बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है—(१) इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है (दुःखम्); (२) इन दुःखों का कारण विद्यमान है (दुःख समुदयः); (३) इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है (दुःखनिरोधः) तथा (४) इस निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग (दुःखनिरोध-गामिनी-प्रतिपद्)। सत्यों की संख्या अनन्त है; परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं। चन्द्रकीर्ति के कथनानुसार इन सत्यों को 'आर्य' कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्यों के तह तक पहुंचते हैं, पामरजन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत् का अनुभव प्रतिक्षण करने पर भी इन सत्यों तक नहीं पहुँच पाते। हमने पहले बतलाया है कि

चिकित्सा-शास्त्र के ढंग पर मोक्ष-शास्त्र को चतुर्व्यूह मानना भारत में एक मान्य सिद्धान्त है। वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध की 'महाभिषक्' (वैद्यराज) संज्ञा है तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य में 'भैषज्य' नामधारी ग्रन्थ भी मिलते हैं (जैसे 'भैषज्यगुरुवैदूर्यप्रभराजसूत्र' जो चीन और जापान में बौद्ध-सिद्धान्तों के लिए नितान्त मान्य है)।

प्रथम आर्यसत्य दुःख है। लौकिक अनुभव कहता है कि इस जगतीतल पर दुःख की सत्ता इतनी ठोस तथा स्थूल है कि उसका कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। द्वितीय आर्यसत्य दुःखसमुदय है—दुःखों का कारण। इस विषम दुःख के उदय के लिए केवल एक ही कारण नहीं है, प्रत्युक्त कारणों की एक लम्बी शृंखला है। इस कारण-परम्परा की लोकप्रिय संज्ञा है द्वादश निदान—(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। पूर्व के प्रति पर-निर्दिष्ट कारण है। जरा-मरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव, अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म। वसुबन्धु ने 'भव' का यही अर्थ किया है (यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भावः—अभिधर्मकोश ३।२४)। भव उत्पन्न होता है उपादान—आसक्ति से। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं—कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति) और इनसे कहीं बढ़कर है आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)। आसक्ति पैदा होती है तृष्णा—इच्छा के कारण। इन्द्रिय द्वारा बाह्यार्थानुभव के बिना तृष्णा की उत्पत्ति हो नहीं सकती; अतः वेदना (इन्द्रियजन्मानुभूति) तृष्णा की जननी है। वेदना का उद्गमस्थल है स्पर्श, अर्थात् विषयेन्द्रिय का सम्पर्क; जो स्वयं षडायतन (मन सहित ज्ञानेन्द्रियपञ्चक) के ऊपर निर्भर रहता है। यह षडायतन नामरूप—दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान-विशेष—का कार्य है। नामरूप की सत्ता विज्ञान (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ में भ्रूण के नामरूप का साधक है। यह विज्ञान संस्कार (पूर्व जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार) से उत्पन्न होता है, जो स्वयं अविद्या—अज्ञान का कार्य है। इस प्रकार समस्त दुःखपुञ्जों का आदि कारण अविद्या ही है। इन द्वादश निकायों के चक्र को 'भवचक्र' (संसार का चक्कर) कहते हैं।

आर्यसत्य

इस भवचक्र का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीन जन्मों से है। इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है, जो बुद्धधर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है—प्रतीत्य [प्रति + इ (जाना) + ल्यप्] किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद = अन्य वस्तु की उत्पत्ति, अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' बुद्धसम्मत 'कारणवाद' है। उसका उपयोग मानव व्यक्ति की स्थिति समझाने के लिए किया गया है। मनुष्य की उत्पत्ति शृंखला-बद्ध होती है। इस शृंखला के बारह अंग तथा तीन काण्ड हैं :—

प्रतीत्यसमुत्पाद

क—अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान
- १ अविद्या
- २ संस्कार

ख—वर्तमान जीवन से सम्बद्ध निदान
- ३ विज्ञान
- ४ नामरूप
- ५ षडायतन
- ६ स्पर्श
- ७ वेदना
- ८ तृष्णा
- ९ उपादान
- १० भव

ग—भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान
- ११ जाति
- १२ जरामरण

तृतीय आर्यसत्य दुःख-निरोध या निर्वाण है। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण—परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो आप से आप चलने वाली मशीन की तरह कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायेगा। मूल कारण अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःखनिरोध अवश्य हो जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्, अर्थात् निर्वाण-मार्ग है। बुद्ध ने सुख-समृद्धि में जीवन-यापन करने वाले सुखमार्गियों तथा घोर व्रताचरण से इस काञ्चन काया को सुखाकर काँटा बना देनेवाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक न मान कर इन उभय सुख तथा दुःख के छोरों को छोड़कर

'मध्यम प्रतिपदा' को खोज निकाला। इस प्रतिपद् को 'आर्य अष्टांगिक-मार्ग' भी कहते हैं, जिसके आठ अंगों का संक्षिप्त वर्णन यों है—(१) सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान), (२) सम्यक् संकल्प (दृढ निश्चय, (३) सम्यक् वचन (सत्य वचन), (४) सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण रहित कर्म), (५) सम्यक् आजीव (न्याय-पूर्ण जीविका), (६) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत उद्योग करना), (७) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्तसंताप से अलग हटना), (८) सम्यक् समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

आर्यसत्यों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग से एकान्त भिन्न नहीं है। उपनिषदों का 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था, परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता; ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है। बुद्ध ने भी 'शील' के द्वारा शारीरिक शोधन पर विशेष जोर दिया है। बुद्ध दर्शन में तीन साधन हैं—शील, समाधि तथा प्रज्ञा।

त्रिरत्न

(१) शील से समग्र सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के कतिपय साधारण शील हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है (दी० नि०, पृ० २४–२८)। अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना—ये 'पञ्चशील' कहे जाते हैं। इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान है, परन्तु भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का (दश शीलों) उपदेश है—अपराह्ण भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या का त्याग। दीर्घनिकाय के ३१ वें सुत्त 'सिगालोवादसुत्त' में गृहस्थाचार का विस्तृत-प्रामाणिक वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में यानद्वय का विधान है—समथयान तथा विपस्सनायान। निर्वाण के लिए समाधि के स्वतन्त्र साधनरूप से अभ्यासी साधक 'समथयानी' कहलाता है। समाधि के अभ्यास करने का अन्तिम फल चित्तवृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है, जिसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति की संज्ञा 'कामसक्खो' है।

(२) समाधि से तीन प्रकार की विद्यायें उत्पन्न होती हैं—पूर्व जन्म की स्मृति, जीव को उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामञ्ञफलसुत्त (दी० नि० पृ० २८–२९) में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त-सहित सुन्दर वर्णन दिया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' का मुख्य विषय यही समाधि तथा उसके अवान्तर विभेद हैं। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषद् मूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है।

(३) प्रज्ञा तीन प्रकार की है[1]—श्रुतमयी (आप्त प्रमाण-जन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शीलसम्पन्न, श्रुति-चिन्ता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु से श्रामण्य फलों की चर्चा करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद वर्णन किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञानदर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म स्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामास्रव (भोगने की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव, (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है[2] और साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अतः बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति किया जा सकता है। धम्मपद ने बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्य-संचय, चित्त-परिशुद्धि—इन तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥
(धम्मपद १४।५)

(२) दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध धर्म की आचार प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं:—(१) संघातवाद और (२) सन्तानवाद।

---

१. द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ६।५।
२. द्रष्टव्य सामञ्ञफलसुत्त, दीर्घनिकाय, पृ० ३०-३२।

१. नैरात्म्यवाद

बुद्ध का उपनिषत्-प्रतिपादित आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान विषय था। सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में इसी आत्मवाद को कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की सत्ता को ही अस्वीकार किया है (दी० नि०, पृ० १३—११५)। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा को उनके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा प्रत्यक्ष गोचर मानस प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता क्या कभी प्रत्यक्षरूप से दीख पड़ती है? उसका सिद्धान्त आजकल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष है, जो मानस दशाओं को मान कर भी तदेकीकरणात्मक आत्म-पदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं है।

यह आत्मा नामरूपात्मक है। इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये जाने के लिए जो अपने स्वरूप का निरूपण करते हैं उन पदार्थों को 'संज्ञा' कहते हैं (अनुभ-यमानं रूपयतीति)। वह वस्तु जिसमें भारीपन हो और जो स्थान घेरती है 'रूप' कहलाती है। अतः रूप से तात्पर्य जल, तेज तथा वायु चतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है। जिसमें न तो भारीपन है और न तो जो स्थान घेरता हो ऐसे द्रव्य को 'नाम' कहते हैं, अर्थात् मन तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ। अतः नामरूप का अर्थ हुआ शरीर और मन, शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ। आत्मा इस शरीर तथा मन, भौतिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों का एक समुच्चयमात्र है। रूप एक ही प्रकार का है, पर नाम चार प्रकार का होता है—वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों (समुदाय) का पुञ्जमात्र है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को 'रूप', किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को 'संज्ञा', तज्जन्य दुःख, सुख तथा उदासीनता के भाव को 'वेदना', प्रतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को 'संस्कार' तथा चैतन्य को 'विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। विज्ञान तथा संज्ञा स्कन्धों में वही भेद है जो निर्विकल्पक तथा सवि-कल्पक प्रत्यक्ष में होता है। 'यत् किञ्चित्' रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष 'विज्ञान' है तथा नामजात्यादि योजनाविशिष्ट ज्ञान 'संज्ञा' है। ये ही 'पञ्चस्कन्ध' हैं।

मिलिन्दप्रश्न (पृ० ३०-३२) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द से बौद्ध-सम्मत आत्म-स्वरूप का वर्णन एक बड़ा सुन्दर उपमा के सहारे

आत्मा के विषय में नागसेन

बतलाया है। नागसेन ने राजा से पूछा कि इस कड़कड़ाती धूप में जिस रथ पर सवार होकर आप इस स्थान पर पधारे हैं उस रथ का इदमित्थं वर्णन क्या आप कर सकते हैं? क्या दण्ड रथ है या अक्ष रथ है? राजा के निषेध करने पर फिर पूछा कि क्या चक्के रथ हैं? या रस्सियाँ रथ हैं? या लगाम या चाबुक रथ है? बारम्बार निषेध करने पर नागसेन ने पूछा—आखिर रथ है क्या चीज? अगत्या मिलिन्द को स्वीकार करना पड़ा कि दण्ड, चक्र आदि अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिये 'रथ' नाम दिया गया है; इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी की सत्ता नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा 'आत्मा' की भी है; पंचस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी के नितरां अगोचर होने के कारण इन अवयवों के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के ही लिए दिया गया है। आत्मा की वास्तव सत्ता है ही नहीं। इस अज्ञात अवास्तव आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपंच में पड़नेवाले लोग उसी प्रकार उपहास्यास्पद तथा अनादरणीय हैं, जिस प्रकार गुण, वर्णादि को न जानने पर भी जनपदकल्याणी की कामना वाला पुरुष अथवा प्रसाद की सत्ता विना जाने, उसपर चढ़ने के गरज से चौरस्ते पर सीढ़ी लगाने वाला व्यक्ति। यही बौद्धों का संघातवाद या नैरात्म्यवाद है।

२. सन्तानवाद

त्रिपिटिकों के कथानुसार यह आत्मा तथा जगत् अनित्य है। इसका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। यह पंच स्कन्ध बौद्धों के अनुसार दो क्षण तक भी समानरूप से स्थिर नहीं रहता; वह तो प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। जल-प्रवाह तथा दीपशिखा के उदाहरणों से इस सन्तान के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है। जिस जल में हम एक बार स्नान करते हैं; क्या दूसरी बार हमारे स्नान के समय भी वह जल वही पुराना अनुभूत जल रहता है? उसी प्रकार दीपशिखा की अभिन्नता कैसे मानी जा सकती। क्षण-क्षण में एक लौ निकलकर अस्त हो जाती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है।

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस तत्त्व को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के उपरान्त जम कर दही बन जाता है, दही से मक्खन तथा मक्खन से घी बना दिया जाता है। यहाँ भिन्न-

भिन्न विकारों के सद्भाव में भी वस्तु की एकता का अपलाप नहीं किया जाता। ठीक इसी भाँति किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है, पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। जन्मान्तर ग्रहण में भी यही प्रवाह जारी रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है (मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ४९-५०)। इसी प्रकार अनुभव की वस्तु क्षण-क्षण में परिणाम प्राप्त हो रही है; वस्तु की एकना तदाकार वस्तुओं की एक वीथी है। वास्तविक एकता जगत् में अलभ्य वस्तु है बुद्ध के इस सिद्धान्त में हम दो विपरीत मतों के समन्वय करने का उद्योग पाते हैं—एक मत सत्ता पर विश्वास करता है तथा दूसरा मत असत्ता पर निश्चय रखता है, पर मध्यम प्रतिपदा के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीचो-बीच में कहीं है। बुद्ध सत्ता तथा असत्ता के बीच 'पणिाम' के सिद्धान्त को मानते हैं जगत् के सत्यं रूप की अवहेलना न करते हुए भी वे उसकी परिणामात्मक व्याख्या करते हैं। इस विश्व में परिणाम ही सत्य है, पर इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी दार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। बुद्ध की यह सूक्ष्म दार्शनिक जगत् को एक अपूर्व बहुमूल्य देन मानी जाती है। पश्चिम जगत् में 'परिणाम' की सत्यता का सिद्धान्त बुद्ध से अवान्तर काल का है। ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक 'हिरेक्लिटस' ने इस सिद्धान्त को बुद्ध के कई पुश्त पीछे निर्धारित किया तथा फ्रेंच दार्शनिक 'वर्गसाँ' ने 'क्रिएटिभ इवोल्यूशन' ग्रन्थ में आधुनिक जगत् में इसी सिद्धान्त की मनोरम व्याख्या कर विपुल कीर्ति अर्जित किया है।

(३) धार्मिक विकास[1]

आज कल महायान का प्रचार भारत के उत्तरी प्रदेशों—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान—में पाया जाता है। महायानवादी थेरवाद को अपनी दृष्टि से हेय मान कर उन्हें 'हीनयान' अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का निकृष्ट मार्ग कहते हैं और अपने सिद्धान्त को 'महायान' कहते हैं। बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानने वाले भारत के दक्षिण तथा पूरब के सिंघल, बरमां, श्याम, जावा आदि प्रदेशों में 'हीनयान' का प्रचार है।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार त्रिविध यान है तथा प्रत्येक यान में जीवन्मुक्ति या बोधि की कल्पना एक दूसरे से नितान्त विलक्षण है—श्रावक बोधि, प्रत्येकबुद्ध

त्रिविध यान

बोधि तथा सम्यक् संबोधि। (१) श्रावक बोधि का आदर्श हीनयान को मान्य है। बुद्ध के पास धर्म सीखने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीव को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं है; यदि वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्ग का यथावत् अनुसरण करे, तो संसार की रागद्वेषमयी विषयवागुरा से मुक्ति पा सकता है। श्रावक के लिए चार अवस्थाओं का विधान किया गया है—स्रोतापन्न (स्रोत आपन्न), सकृदागामी (सकृद् आगामी), अनागामी तथा अरहत्त (अर्हत)। स्रोतापन्न साधक का चित्त प्रपञ्चमार्ग से एकदम हटकर निर्वाणरूपी स्रोत-प्रवाह में पड़कर आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर होता है। व्यासभाष्य के शब्दों में चित्त-नदी उभयतोवाहिनी है—पाप की ओर भी बहती है, कल्याण की ओर भी बहती है। (**चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च**। योगसूत्र १।१२)। अतः कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल देना प्रथम अवस्था का मूल मन्त्र है। महालिसुत्त (दी० नि० ६ ठा सुत्त) ने तीन संयोजनों (बन्धन—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श) के क्षय होने से फिर पतित न होनेवाले नियत संबोधि की ओर जानेवाले व्यक्ति को 'स्रोत-आपन्न' कहा है। इसके ४ अंग होते हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, तथा संघानुस्मृति अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ में अत्यन्त श्रद्धा तथा अखण्ड अनिन्दित समाधिगामी कमनीय शीलों का सम्पादन।

चार अवस्थायें

संसार के प्रपञ्च में अज्ञानपूर्वक जीवनयापन करने वाला व्यक्ति 'पृथक् जन' कहा जाता है। बुद्ध के ज्ञानरश्मियों से जब साधक का सम्बन्ध हो जाता है तथा वह निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'आर्य' है। आर्य को अर्हत् अवस्था तक पहुँचने में चार भूमियों को पार करना होता है। प्रत्येक भूमि में दो दशायें हैं:—मार्गावस्था तथा फलावस्था। स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को 'गोत्रभू' कहते हैं, जब कामक्षय होने से कामलोक से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तथा साधक रूपलोक की ओर अग्रसर होता है उस समय उसका नवीन (लोकोत्तर) जन्म सम्पन्न होता है। एक क्षण के लिए अनास्रव ज्ञान को पा लेता है। तीन संयोजनों (बन्धनों) के क्षय होने से साधक को सात जन्म से अधिक जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

द्वितीय भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से आरम्भ कर अर्हत् की मार्गदशा तक रहती है। इस भूमि में उसे 'कायसाक्खी' की संज्ञा मिलती है। आस्रव-क्षय

करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है । 'सकृदागामी' संसार में एक ही बार आता है । 'अनागामी' के लिए फिर इस भवचक्र में आने की आवश्यकता नहीं होती । अन्तिम भूमि में आस्रवों का नितान्त क्षय हो जाता है । अतः जीव अर्हत् पद को प्राप्तकर स्वकीय व्यक्तिगत कल्याण साधन में तत्पर हो जाता है । उसे दूसरों को निर्वाण प्राप्त कराने की योग्यता नहीं रहती । श्रावकयान का यही अर्हत् प्राप्ति लक्ष्य है ।

(२) 'प्रत्येकबुद्ध' की कल्पना अर्हत तथा बोधिसत्त्व के बीच की साधना का सूचक है । जिस व्यक्ति को बिना गुरूपदेश के ही स्वस्फूर्ति से बुद्धत्व लाभ हो जाय, उसे कहते हैं—प्रत्येकबुद्ध । बुद्धत्व लाभ हो जाने पर भी उसे दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती । वह तो द्वन्द्वमय जगत् से अलग हट कर निर्जन स्थान में एकान्त वास करता हुआ विमुक्तिसुख का प्रत्यक्ष अनुभव किया करता है ।

महायान के मुख्य सिद्धान्तों त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय तथा संभोग-काय); दशभूमि, धर्मशून्यता या धर्मसमता अथवा तथता तथा बोधिसत्त्व—में

बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व के रहस्य को प्रथमतः यथार्थ रूप से निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है । बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की सबसे बड़ी विशेषता है । 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः) । इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है । उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण-साधन होता है । बोधिसत्त्व का 'स्वार्थ' इतना विस्तृत होता है कि उसके स्व' की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं । उसके प्रधान गुण होते हैं—महामैत्री तथा महाकरुणा । विश्व के पिपीलिका से लेकर हस्ती पर्यन्त जीवों में जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता । उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है । बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद) में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है—

> एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम् ।
> तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥
> मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
> तैरेव ननु पर्याप्तं मक्षेनारसिकेन किम् ॥

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का मैंने अर्जन किया है उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो। मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द सागर हिलोरें मारने लगता है वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है? बोधिसत्त्व की क्रमिकशिक्षा का विवरण ग्रन्थोंमें मिलता है[२]।

इस प्रकार हीनयान तथा महायान का परस्पर भेद नितान्त प्रकट है। हीनयान का आदर्श है अर्हत् और महायान का आदर्श है बोधिसत्त्व[१]। अर्हत् अपने ही निर्वाण की प्राप्ति के लिए सदा उद्योगशील रहता है। 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता[१]' के अनुसार हीनयानी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ; तथा एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी शिक्षा, समग्र साधना इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर रहती है, परन्तु बोधिसत्त्व का लक्ष्य केवल अपने को ही निर्वाण में प्रतिष्ठित कराना नहीं होता; प्रत्युत सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है। हीनयान कोरा निवृत्तिमार्ग है, इसके विपरीत महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान में केवल ज्ञान का ही साधन के लिए प्राधान्य है, परन्तु महायान में भक्ति की विशिष्टता है। बुद्ध के मूर्ति की स्थापना और भक्ति के द्वारा उसकी पूजा अर्चना महायान में प्रमुख स्थान रखती है। इस प्रकार दोनों मार्गों का लक्ष्य तथा साधनक्रम नितान्त भिन्न है।

निष्कर्ष—महायान सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे प्रवृत्तिप्रधान तथा भक्ति-भावान्वित बनाकर मानवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना दिया। हीनयान में शुष्क ज्ञान की ही प्रधानता थी, परन्तु महायान ने भक्तिभाव को आश्रय देकर जीवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के नैसर्गिक विकास के लिए अवसर प्रदान किया। बौद्धधर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में भी होता ही गया। वैपुल्यवादियों ने मन्त्र-तन्त्र की ओर विशेष अभिरुचि दिखलायी थी। इनके प्रधान आचार्य तान्त्रिकशिरोमणि नागार्जुन की गुह्य शिक्षाओं ने महायान का रूप परिवर्तन कर दिया। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में मन्त्र-तन्त्रों का पर्याप्त विधान है। भोट ग्रन्थों का कहना है कि 'धान्यकटक' तथा 'श्रीपर्वत' के प्रान्त में 'मन्त्रयान' का उदय हुआ। आगे चलकर इसी मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिससे मद्य, मन्त्र, हठयोग

आदि तान्त्रिक आचारों का विपुल प्रचार हुआ। अविनाशी, अच्छेद्य तथा अभेद्य होने से 'शून्यता' ही वज्र का वाच्यार्थ है।

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥

(वज्रशेखर)।

वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है, पर आचार में तान्त्रिक क्रिया-कलाप की बहुलता है। इस प्रकार वज्रयान तान्त्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप है। यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर भारतेतर प्रदेशों तथा पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का प्रधान साधन बना।

(४) दार्शनिक विकास

पहले कहा गया है कि बुद्ध ने तत्त्वों के ऊहापोह को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बतलाकर अपने शिष्यों को इन व्यर्थ के बकवादों से सदा रोका, पर हुआ वही, जिसके विरुद्ध वे उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध के उपदेशों के तह में पहुँचकर विशेष सूक्ष्म विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकाला। तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपना बदला खूब चुकाया। धर्म एक कोने में पड़ा रह गया और तत्त्वज्ञान की तूती बोलने लगी।

तार्किक विकास

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है, पर ब्राह्मण दार्शनिकों ने इन भेदों पर दृष्टिपात न कर बौद्धदर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा है। चारों सम्प्रदायों के नाम हैं:—

(१) वैभाषिक—बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद
(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद
(३) योगाचार—विज्ञानवाद
(४) माध्यमिक—शून्यवाद

यह श्रेणिविभाग 'सत्ता' विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही किया गया है। 'सत्ता' की मीमांसा करने वाले दर्शन चार ही हो सकते हैं। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है। स्थूल से सूक्ष्म विवेचन की ओर बढ़ने से पहला मत उन दार्शनिकों का होगा जो बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बाह्य वस्तु का व्यावहारिक जगत् में अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष-

रूपेण सत्य मानने वाले बौद्धों को वैभाषिक कहते हैं। दूसरा मत बाह्यार्थ को प्रत्यक्षसिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है। इस मत के अनुयायी सौत्रान्तिक कहे जाते हैं। तीसरा मत बाह्यभौतिक जगत् का नितान्त मिथ्यात्व स्वीकार कर चित्त को ही एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। यह मत विज्ञानवादी योगाचार दार्शनिकों का है। चौथा मत वह है जो चित्त को भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करता। उसके मन्तव्यानुसार न बाह्यार्थ है और न विज्ञान है; प्रत्युत शून्य ही परमार्थ सत्य है। ये शून्याद्वैत के अनुयायी हैं। इस समस्त जगत् की सत्ता प्रातिभासिक (सांवृतिक) है, शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादी माध्यमिक कहे जाते हैं। अतः 'सत्' के विषय में ही विभिन्न कल्पना-चतुष्टय के आधार पर जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को इन चार श्रेणियों में विभक्त किया।

इन चारों मतों के स्वरूप को प्रथमतः संक्षेप में समझने की आवश्यकता है—
वैभाषिक—इस मत के अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है उसकी 'बाह्यसत्ता' अवश्यमेव है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्ररूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों की सहायता से बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्षरूप से मानते हैं। बाह्य तथा आन्तर पदार्थ स्वतन्त्र रूप से पृथक् सत्ता धारण करते हैं।

सौत्रान्तिक—इनका कहना है कि 'बाह्यसत्ता' है तो अवश्य, परन्तु उसका ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से नहीं होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जिस क्षण में किसी भी पदार्थ का हमारी इन्द्रियों के साथ सम्पर्क घटित होता है, वह पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत हो चुका रहता है, केवल उससे उत्पन्न संवेदन शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों का नीला, पीला या काला चित्र चित्त के ऊपर खिंच जाता है। चित्त को इसी का ज्ञान होता है और इनके द्वारा वह इनके उत्पादक बाहरी पदार्थों की सत्ता का अनुमान करता है। फलतः बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध न होकर अनुमान के द्वारा गम्य है। यही है सौत्रान्तिकों की बाह्यार्थ की अनुमेयता का सिद्धान्त। इस मत में चित्त के आकारों के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है, उनको चित्त-निरपेक्ष सत्ता नहीं है। फलतः ये दोनों ही सर्वास्तिवादी हैं। दोनों मतों में 'सर्व है' (सर्वम् अस्ति) का सिद्धान्त मान्य है। अन्तर इतना ही है कि

वैभाषिक मत में बाह्यसत्ता चित्तनिरपेक्ष है, परन्तु सौत्रान्तिक मत में बाह्यसत्ता चित्तसापेक्ष है।

विज्ञानवाद—विज्ञानवाद सत्ता की मीमांसा में एक पग आगे बढ़कर जाता है। यह बाह्यसत्ता को कथमपि नहीं मानता। अन्ततः बाह्यसत्ता का पता ही कैसे चलता है हमको? चित्त में होने वाले समय-समय पर उत्पन्न होने वाले आकारों के ज्ञान द्वारा ही तो! ऐसी दशा में ज्ञान की सत्ता मानना ही तर्कसंगत सिद्धान्त है। यदि बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है, तो ज्ञान ही वास्तव सत्ता है। विज्ञान (या विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन तथा विज्ञप्ति अन्य पर्याय हैं। एक ही वस्तु विभिन्न नामों के द्वारा अपनी क्रिया के भेद के कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से पुकारी जाती है। चेतनक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यह 'चित्त' कहलाता है; मननक्रिया करने से वही 'मन' है, तथा विषयों के ग्रहण करने में कारण होने से वही 'विज्ञान' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। 'आलयविज्ञान' भी विज्ञान का ही एक प्रकार है। योगाचार दार्शनिकों की यही मत है।

शून्यवाद—माध्यमिक लोग न तो बाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है; प्रत्युत यह अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतक है, जो न सत् है, न असत् है, न सदसद् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह परमार्थ 'शून्य' नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्यसत्ता' से 'अनुमेय बाह्यसत्ता' पर हम आते हैं। तदनन्तर 'विज्ञानमात्र सत्ता' से आगे बढ़कर हम 'शून्य' में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित 'शून्य' ही परम तत्त्व है। इस स्थान पर पहुँचना ही बौद्ध-साधना का अन्तिम फल है।

इन मतों के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से इस श्लोक में किया गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है, तथा अन्य तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है, क्योंकि सत्ता-विषयक प्रश्न को लेकर मतभेद होने पर भी ये महायान के समस्त सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। तत्त्व समीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है तो योगाचार-माध्यमिक दूसरे छोर पर टिके हुए हैं। सौत्रान्तिक का स्थान इन दोनों के बीच का है, क्योंकि कतिपय अंश में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, पर अन्य सिद्धान्तों में वह योगचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्त्वपूर्ण विषय पर भी इन मतों की विशेषता निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है—

वैभाषिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य, निर्वाण असत्य।
सौत्रान्तिक	संसार सत्य, निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य, निर्वाण सत्य।

ऐतिहासिक विकास

बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास भी अत्यन्त रोचक है। विक्रम के पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष बौद्ध दर्शन की स्थिति का महत्त्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्ध आचार्य बुद्ध धर्म के तीन बार परिवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे 'त्रिचक्र' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग पाँच सौ वर्ष का माना जा सकता है। पहले काल विभाग में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धान्त प्रधान था। बाह्य आयतन या विषय के अस्तित्व का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूल-सत्ता-विहीन एक क्षणिक परिणाममात्र, सन्तानमात्र है। पारस्परिक कार्य-कारणभाव की सत्ता मानी जाती थी। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर 'अर्हत्' पद की प्राप्ति ही मानवमात्र का कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वरूप का परिचय हमें वैभाषिक मत से उपलब्ध होता है।

दूसरा काल-विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पञ्चम शताब्दी तक था। पुद्गल शून्यता के स्थान को सर्वधर्म-शून्यता या धर्म-नैरात्म्यवाद ने ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत कल्याण की जगह विश्व-कल्याण की उन्नत भावना विराजने लगी। इस नवीन बौद्ध मत ने जगत् की सत्ता का एकदम तिरस्कार न कर उसे परमार्थ दृष्टि से आभासमात्र माना। आर्य सत्य की जगह द्विविध सत्यता (सांवृतिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया। मूल

बौद्धधर्म के बहुत्ववाद के स्थान पर अद्वैतवाद (शून्याद्वैतवाद) के सिद्धान्त को प्रश्रय दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिभ चक्षु ही कर सकता है। अतः तर्क बुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के संकीर्ण आदर्श ने पलटा खाया और बोधिसत्त्व के उदार भाव ने विश्व के प्राणियों के सामने उन्नति तथा परमानन्द-प्राप्ति का मंगलमय आदर्श समुपस्थित किया। 'मानव बुद्ध' के स्थान पर 'लोकोत्तर बुद्ध' का सिद्धान्त लाया गया। बौद्ध दर्शन का यह विकास 'शून्यवाद' के नाम से पुकारा जाता है।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। 'न्याय' की उन्नति होना इस समय का प्रधान दार्शनिक कार्य था। सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसके स्थान पर विज्ञान-चैतन्य—चित्त की सत्यता मानी गई। बाह्यार्थ का निषेध स्वीकार कर समग्र प्रपञ्च चित्त का विविध परिणाममात्र माना गया। विषयीगत प्रत्ययवाद का सिद्धान्त विद्वज्जन मान्य हुआ, परन्तु इस नवीन दर्शन की एक विलक्षण कल्पना थी आलय-विज्ञान की। विज्ञानवाद के आदिम आचार्य असंग और वसुबन्धु को यह कल्पना मान्य थी, पर उनकी शिष्य-मण्डली (दिङ्नाग आदि) ने आलयविज्ञान को आत्मा का ही निगूढ़ रूप बतलाकर न्यायपद्धति से इसका खण्डन किया। बौद्ध दर्शन का यह तृतीय विकास विज्ञानवाद या योगाचार के नाम से विख्यात है। इसके बाद बौद्ध दर्शन में मौलिक कल्पना का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पुरानी कल्पना ही नवीन रूप धारण करने लगी। अतः दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व की बात नहीं हुई। एक बात ध्यान देने योग्य है कि शून्यवाद का उदय न नागार्जुन से हुआ, न विज्ञानवाद का उदय मैत्रेय से। ये मत प्राचीन महायानसूत्रों के आधार पर अवान्तर शताब्दियों में इन आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित किये गये। शून्यवाद की झलक 'प्रज्ञापारमितासूत्र' में तथा विज्ञानवाद का आभास 'लंकावतारसूत्र' में उपलब्ध होता है। अश्वघोष (प्रथम शतक) कृत 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' में 'भूततथता' के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

(बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास[1])

	प्रथम		मध्यम		अन्तिम	
समय विभाग	विक्रमपूर्व ५००–१ विक्रमी		विक्रमी १–५००		विक्रमी ५००–१०००	
मुख्य सिद्धान्त	बहुत्ववाद (पुद्गल शून्यता)		अद्वैतवाद (सर्वधर्म-शून्यता)		प्रत्ययवाद (बाह्यार्थ-शून्यता)	
	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत
सम्प्रदायवादी	सर्वास्तिवादी	वात्सी पुत्रीय	प्रासंगिक (माध्यमिक)	स्वातन्त्रिक (माध्यमिक)	आगमानुसारी	न्यायवादी
आचार्य	कात्यायनीपुत्र और संघभद्र		नागार्जुन तथा आर्यदेव	भव्य	असंग तथा वसुबन्धु	दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति

---

१. द्रष्टव्य डा॰ चेरबास्की (Dr. Stcherbatsky)—बुधिस्ट लाजिक, भाग प्रथम, पृष्ठ १४ ।

(क) वैभाषिक मत

इन चारों सम्प्रदायों में आचार्यों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। बौद्ध दर्शन की ग्रन्थ सम्पत्ति बड़ी विशाल, मौलिक तथा मूल्यवान् है, परन्तु आजकल अनेक संस्कृत मूल ग्रन्थों के अभाव में तिब्बती तथा चीनी अनुवादों से ही सन्तोष करना पड़ता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' है, जिसका कात्यायनीपुत्र ने बुद्ध-निर्वाण के तीन सौ वर्ष पीछे निर्माण किया था। इस विपुलकाय ग्रन्थ में ८ परिच्छेद, ४४ वर्ग तथा १५ हजार श्लोक थे। संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, परन्तु चौथी तथा सातवीं शताब्दी (हुएनच्वांगकृत) के चीनी भाषा के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कनिष्क के समय चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म-विभाषाशास्त्र' के नाम से एक भाष्यग्रन्थ की रचना की गई। मूल संस्कृत का यहाँ भी अभाव है, परन्तु तिब्बती तथा चीनी (हुएन-च्वांगकृत) अनुवाद प्राप्त हैं। इसी 'विभाषा' के आधार पर प्रतिष्ठित होने से इस सम्प्रदाय का नाम 'वैभाषिक' पड़ा।

साहित्य

(१) 'वसुबन्धु' का 'अभिधर्मकोश' काश्मीर-वैभाषिकों की परम आदर-णीय, प्रामाणिक तथा मौलिक रचना है। अपनी विद्वत्ता, उन्नत आचरण, प्रकाण्ड आचार्यत्व के कारण इनका नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में एक गौरवास्पद वस्तु है। अपने जीवन के आरम्भिक काल में ये वैभाषिक थे, परन्तु पीछे अपने जेठे भाई असंग के उपदेश से विज्ञानवादी हो गए। पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिकगोत्री एक ब्राह्मण के तीन पुत्रों में ये मध्यम पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में इन्होंने अयोध्या को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। यहीं स्थविर बुद्धमित्र के द्वारा हीनयान में दीक्षित होकर प्रतिपक्षियों को विवाद में परास्त कर इन्होंने अपनी वावदूकता, विद्वत्ता तथा शास्त्रनिपुणता का पर्याप्त परिचय दिया। कुमारजीव ने ४०१–४०९ ई० के बीचोबीच वसुबन्धु का पुण्य चरित लिखा। इनका समय अनेक अकाट्य प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शतक (२८०–३६० ई०) माना जाता है। इनका वैभाषिक विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है, जिसकी विपुल ख्याति तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया में आज भी अक्षुण्ण है, जहाँ यह ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय स्तोत्रों के समान कण्ठ किया जाता है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः' लिखकर ब्राह्मणों में भी इस ग्रन्थ की महत्ता का निदर्शन उपस्थित किया है। इसकी अनेक टीकाओं में

स्थिरमति (तत्त्वार्थ), दिङ्नाग (मर्मप्रदीप), यशोमित्र (स्फुटार्था) की टीकायें प्रामाणिक तथा बहुमूल्य मानी जाती हैं। यशोमित्र ने अनुमति तथा वसुमित्र की व्याख्याओं को अपना उपजीव बतलाया है (स्फुटार्था श्लो० ५)। अतः ये टीकायें निःसन्दिग्ध नितान्त प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं। डाक्टर पुसें ने अश्रान्त घोर परिश्रम कर कोश के मूल का उद्धार किया है, तथा चीनी अनुवाद को फ्रेंच भाषा में पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियों के साथ अनेक भागों में प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त परमार्थसप्तति (सांख्यसप्तति का खण्डन), तर्कशास्त्र तथा वादविधि वसुबन्धु के बौद्ध न्याय के माननीय ग्रन्थ हैं।

(२) संघभद्र (चतुर्थ शतक) वसुबन्धु के प्रतिस्पर्धी बौद्धाचार्य थे। वसुबन्धु के मतों का खण्डन करने के लिए इन्होंने 'कोशकरका' का निर्माण किया, जिसमें कोश के मन्तव्यों का सप्रमाण खण्डन है। 'समय-प्रदीपिका' वैभाषिक सिद्धान्तों का सार ग्रन्थ है। 'करका' में ७ लक्ष श्लोक थे, प्रदीपिका में १० हज़ार। हुएनच्वांगकृत इनके चीनी अनुवाद ही प्राप्त उपलब्ध हैं।

सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन के स्वरूप को जानने के लिए 'धर्म' शब्द का अर्थ जानना जरूरी है। 'धर्म' की दार्शनिक मीमांसा अनेक अर्थों में की गई है। सामान्यतः धर्म से अभिप्राय भूत (बाहरी) तथा चित्त (भीतरी) के सूक्ष्म तत्त्वों से है, जिनका पृथक्करण और नहीं किया जा सकता। धर्मों के आघात-प्रतिघात से ही यह विचित्र जगत् उत्पन्न होता है। यह विश्व बौद्धदर्शन के अनुसार धर्मों के परस्पर मेल से होने वाला एक संघातमात्र है। ये धर्म अत्यन्त सूक्ष्म तथा सत्तात्मक होते हैं। इनकी सत्ता के विषय में प्रथम तीन मतों में कोई अन्तर नहीं है। केवल संख्या के विषय में ही भिन्नता मानी जानी है। जगत् में जितने धर्म हैं, वे सब 'हेतु' से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत (बुद्ध) ने बतलाया है, तथा इनके 'निरोध' को भी कहा है। इस प्रकार धर्म, उनके हेतु तथा उनके निरोध का ज्ञान ही बुद्धधर्म का सार है।

वैभाषिकों के मतानुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है; इनकी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध भेद की कल्पना कर वैभाषिक भौतिक तथा मानसिक जगत् दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। वस्तु-विभाग दो प्रकार से किया जाता है—विषयीगत तथा विषयगत। विषयीगत विभाजन पद्धति से समस्त पदार्थ तीन प्रकार से बाँटे जा सकते हैं :—

(१) पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान ।

(२) द्वादश आयतन—'आयतन' अनुभव के साधनभूत द्वार को कहते हैं। इनकी संख्या बारह है—षट् इन्द्रिय तथा षट् विषय। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन—इन इन्द्रियों को अभ्यतन्तरवर्ती होने के कारण 'अध्यात्मआयतन' तथा उनके विषयभूत रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य तथा धर्म आयतन (अतीन्द्रिय) को बाह्य आयतन कहते हैं।

(३) अष्टादश धातु—जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह या सन्तान निष्पन्न होता है उन्हें 'धातु' कहते हैं। इन धातुओं की संख्या १८ है जिसमें आदिम द्वादश ऊपर निर्दिष्ट आयतन हैं तथा नवीन धातुओं में चक्षुविज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु तथा मनोविज्ञानधातु की गणना की जाती है।

विषयगत विभाजन—यह त्रैधातुक जगत् दो प्रकार के धर्मों का समुच्चय है। वैभाषिक लोग प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को 'धर्म' कहते हैं। अभिधर्म कोश (प्रथम कोशस्थान) के अनुसार धर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) सास्रव (मलसहित) तथा (२) अनास्रव (मलरहित विशुद्ध)। मलरहित धर्मों की दूसरी संज्ञा 'संस्कृत' है। हेतु तथा प्रत्यय से उत्पन्न धर्मों को 'संस्कृत' कहते हैं, अर्थात् संस्कार वाले धर्म। रागद्वेष आदि मलों के आश्रय होने से 'सास्रव' भी कहे जाते हैं। अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले (अत एव अनित्य) पदार्थ 'संस्कृत' हैं (संस्कृतं क्षणिकं यतः)[५]।

असंस्कृत को अनास्रव (विशुद्ध) तथा मार्गसत्य कहते हैं। ये धर्म हेतु-प्रत्यय-जनित न होने से नित्य हैं। अतः असंस्कृत से अभिप्राय नित्य धर्मों से है, जो तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) आकाश—यह निर्विशेष, अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक, सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नहीं होता, यह भौतिक वस्तु नहीं है; प्रत्युत स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ है। आवरणाभाव आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं है। आकाश को अभावात्मक मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों का खण्डन औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इसे भावपदार्थ मानने के कारण कमलशील ने 'तत्त्व-संग्रह पञ्जिका' में वैभाषिकों को बौद्ध मानने में संशय प्रकट किया है।

(२) प्रतिसंख्यानिरोध—प्रतिसंख्या (प्रज्ञा) के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग (प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक्—अभि० को० १।६) यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी सास्रव धर्म के विषय में

राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय तो उस धर्म के लिए प्रतिसंख्या-निरोध का उदय होता है।

(३) अप्रतिसंख्यानिरोध– बिना प्रज्ञा के ही निरोध। जिस वस्तु का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है, वह भविष्य में उत्पन्न नहीं होती। प्रतिसंख्यानिरोध से 'आस्रव-क्षय ज्ञान' उदित होता है, अर्थात् समस्त मलों के नाश होने का ज्ञान उत्पन्न होता है, भविष्य में उनके उत्पत्ति की संभावना रहती है। यह 'अनुत्पाद ज्ञान' अप्रतिसंख्यानिरोध का फल है जिसमें भविष्य में रागादिकों की कथमपि उत्पत्ति न होने से जीव भवचक्र से मुक्ति लाभ करता है।

संस्कृत धर्म के चार मुख्य भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्त-विप्रयुक्त। इनमें रूपधर्म ११ प्रकार का होता है, चित्तधर्म (मन या विज्ञान) एक ही प्रकार का माना जाता है, चैतसिक ४६ प्रकार के तथा चित्तविप्रयुक्त धर्म १४ प्रकार के होते हैं। इन चारों प्रकारों का सम्मिलित भेद ७२ होता है।

संस्कृत धर्म के भेद

(१) रूप— रूप का अर्थ है—भूत अर्थात् वह धर्म जो रूप धारण करे। रूप वह पदार्थ है जो अवरोध उत्पन्न करता है। रूप एकादश प्रकार का होता है, जिसमें पाँच बाह्य इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय) तथा पाँच इनके विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) मिलकर दस भेद होते हैं। अन्तिम भेद है—अविज्ञप्ति। वसुबन्धु के अनुसार अविज्ञप्ति कर्म का एक भेद है। चेतनाजन्य कर्म दो प्रकार के होते हैं—कुछ कर्मों का फल तुरन्त प्रकट होता है (विज्ञप्ति), परन्तु कुछ कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में प्रकट होता है। इन्हीं कर्मों का नाम 'अविज्ञप्ति' है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। कोई व्यक्ति किसी व्रत का अनुष्ठान करता है, तो यह हुआ विज्ञप्ति-कर्म, परन्तु उस व्रत के अनुष्ठान से उस व्यक्ति का विज्ञान गूढ़रूप से शोभन तथा सुन्दर बन जाता है। इसी का नाम है—अविज्ञप्ति-कर्म। इस प्रकार अविज्ञप्ति वही तत्त्व है जिसे वैशेषिक 'अदृष्ट' के नाम से और मीमांसक 'अपूर्व' के नाम से पुकारते हैं।

(२) चित्त— साधारण रूप से हम जिसे 'जीव' कहते हैं, उसे ही बौद्ध लोग 'चित्त' की संज्ञा देते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है जब तक इन्द्रियों तथा उनके विषयों में घात-प्रतिघात होता रहता है। चित्त, मन तथा विज्ञान समानार्थक शब्द हैं। मन की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से होने के कारण इसका अर्थ है—नापने वाला या किसी वस्तु का निश्चय करने वाला। 'चित्त' का अर्थ है किसी

वस्तु का सामान्य ज्ञान (आलोचनमात्र या निर्विकल्पक ज्ञान)। यही चित्त जब वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, तब इसे 'विज्ञान' कहते हैं। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कार्य कारण के नियमानुसार नवीन रूप धारण करता है। चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु आलम्बनों की भिन्नता के कारण वह सात प्रकार का होता है।

(३) चैतसिक (या चैत्त धर्म)—चित्त से सम्बन्ध रखने वाले धर्म या संस्कार चैतसिक या चित्तसंप्रयुक्त के नाम से पुकार जाते हैं। विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले ये धर्म गणना में ४६ माने जाते हैं।

(४) चित्त-विप्रयुक्त धर्म—जिन धर्मों का समावेश न तो भौतिक-धर्मों के भीतर किया जाता है और न चैत्त धर्मों में ही, उन्हें ही इस नाम से पुकारते हैं। इनका विस्तृत तथा अन्वर्थक नाम है रूपचित्त-विप्रयुक्त अर्थात् रूप और चित्त दोनों से पृथक् रहने वाले धर्म। इनकी संख्या १४ है।

एक बात ध्यान देने की है। धर्म के ऊपर वर्णित ७५ भेद सर्वास्तिवादियों के अनुसार हैं। स्थविरवादियों के मत में प्रथम तीन ही भेद मान्य हैं, जिनके प्रकारों की सम्मिलित संख्या १७० है, तथा विज्ञानवादियों के अनुसार यह संख्या पूरी एक शती १०० है[१]।

इस प्रकार समस्त धर्मों की संख्या (संस्कृत ७२ + असंस्कृत ३) ७५ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये ही चार भूत हैं; आकाश भूत नहीं है। पृथिव्यादि भूत-चतुष्टय के अन्तिम उपादान 'अणु' है, जो चार प्रकार के होते हैं। पार्थिव होते हैं। परमाणु षट्कोणात्मक होते हैं।

ज्ञान के साधन दो प्रकार के होते हैं—ग्रहण और अध्यवसाय। ग्रहण के द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। वस्तु को नाम-जाति आदि योजना (कल्पना) से संयुक्त करना अध्यवसाय कहलाता है। 'इस पदार्थ का नाम गो है, तथा यह काले रंग की है' इस प्रकार के विशेष ज्ञान को 'अध्यवसाय' कहते हैं। यह निश्चयात्मक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। ग्रहण तथा अध्यवसाय का बौद्ध भेद न्याय के निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के अनुरूप ही है।

---

१. इस तुलनात्मक विवरण के निमित्त देखिये—बलदेव उपाध्याय रचित 'बौद्धदर्शनमीमांसा' पृष्ठ १८७-२०२ (द्वितीय संस्करण, १९५४)

वैभाषिकों के अनुसार निर्वाणधातु दो प्रकार का होता है—सोपधिशेष तथा निरुपधिशेष। कुछ लोग सोपधिशेष को सास्रव, संस्कृत, कुशल आदि बतलाते हैं और निरुपधिशेष को अनास्रव, असंस्कृत, अव्याकृत, परन्तु दोनों ही अनास्रव, असंस्कृत तथा अव्याकृत हैं। आस्रवक्षय होने पर भी जो अर्हत् जीवित रहते हैं, उनके पञ्च-स्कन्ध से उत्पन्न अनेक विज्ञान शेष रहते हैं; अतः उसकी दशा का नाम है सोपधिशेष दशा; परन्तु शरीरपात होने पर, संयोजन-क्षय होने पर, समस्त उपाधियों के हटने से निरुपधिशेष निर्वाण होता है। अतः इन दोनों निर्वाणों में वही अन्तर है जो वेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में है।

निर्वाण

(ख) सौत्रान्तिक मत

हीनयान के दार्शनिक दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। सौत्रान्तिक दार्शनिक 'अभिधर्म' को बुद्धरचित न होने के कारण अप्रामाणिक मानते हैं। तथागत के आध्यात्मिक उपदेश सुत्तपिटक के ही कतिपय सूत्रों (सुत्रान्तों) में सन्निवेशित हैं। अभिधर्म बुद्ध की रचना होने से भ्रान्त हो सकता है, परन्तु सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के भण्डार होने से नितान्त प्रामाणिक हैं। इस मत की यही मान्यता है। अतः इस सम्प्रदाय का नामकरण 'सौत्रान्तिक' है।[1] 'दार्ष्टान्तिक' सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों की एक शाखा है।

नामकरण

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है क्योंकि सौत्रान्तिकों के प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में विशेषतः उपलब्ध होते हैं। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के स्वरचित भाष्य में वैभाषिकों के अनेक मुख्य सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका खण्डन किया है। ये खण्डन संभवतः सौत्रान्तिक दृष्टि-बिन्दु से किये गये हैं। अतः वैभाषिक संघभद्र ने वसुबन्धु-प्रदर्शित दोषों के निराकरण के लिए 'समय-प्रदीपिका' तथा 'न्यायानुसार' की रचना की, परन्तु सौत्रान्तिक यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्था' वृत्ति अभिधर्मकोश पर लिखी है। यही कारण है कि दोनों सम्प्रदायों के मत वहाँ साथ-साथ उल्लिखित मिलते हैं।

---

१. कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिकाः न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः। (यशोमित्र—स्फुटार्था, पृ० १२)।

आचार्य

सौत्रान्तिक के चार विशिष्ट आचार्यों का उल्लेख मिलता है—(१) कुमारलात[1]—हुएनच्वांग (६५० ई०) के कथनानुसार सौत्रान्तिक मत के स्थापक कुमारलात ही थे। इनका समय द्वितीय शतक का उत्तरार्ध तथा तृतीय शतक का प्रथमार्ध माना जाता है। इस प्रकार ये नागार्जुन के समसामयिक थे। 'कल्पना मण्डितिका' इनकी एकमात्र रचना है जिसमें धार्मिक कथाओं का गद्य पद्य में वर्णन है। (२) श्रीलात—कुमारलात के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु दुर्भाग्यवश यह अभी तक अप्राप्त है। 'निर्वाण' के विषय में श्रीलात या श्रीलब्ध का अपना विशिष्ट मत था। (३) धर्मत्रात तथा (४) बुद्धदेव के विशिष्ट सिद्धान्तों के निर्देश अनेक वैभाषिक ग्रन्थों में किये गये हैं। अभिधर्मकोश (५।२६) की टीका में इन आचार्यों के काल-विषयक मतों का उल्लेख आदर के साथ किया गया है। धर्मत्रात की सम्मति में भाववैसादृश्य (भावान्यथात्व) के कारण और बुद्धदेव के विचारानुसार अन्यथान्यथात्व के कारण भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में भेद का समर्थन किया जा सकता है; वास्तविक रूप से वर्तमान-काल की ही सत्यता है। (५) वसुमित्र ने अष्टादशनिकायों के विस्तृत वर्णन के लिए 'समभेदउपरचनचक्र' नामक पुस्तक लिखी है। (६) यशोमित्र अभि-धर्मकोश की स्फुटार्था वृत्ति (पृ० १२) के प्रमाण पर सौत्रान्तिक मत के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं।

---

१. कुमारलात के एक दूसरे शिष्य हरिवर्मा ने 'सत्यसिद्धि सम्प्रदाय' की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' की कुमारजीव (४०३ ई०) कृत चीनी भाषानुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इसका समय तृतीय शतक का मध्यकाल माना जा सकता है। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त 'सर्वधर्मशून्यता' है। सर्वास्ति-वादी लोगों के विपरीत ये लोग पञ्चस्कन्धात्मक वस्तु के अभाव के साथ-साथ रूपादि स्कन्धों की भी अनित्यता मानते थे, परन्तु अन्य सिद्धान्त हीनयान के ही थे। अतः सत्यसिद्धि सम्प्रदाय हीनयान-सम्मत शून्यवाद का प्रचारक था। इसका विवरण श्री यामाकामी सोगन ने 'सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट' (कलकत्ता) पृ० १७२-१७५ में किया है।

सौत्रान्तिकों के मुख्य सिद्धान्त संक्षेप रूप से अब दिए जाते हैं[1]—(१) काल के विषय में ये लोग वर्तमान काल की सत्यता तो मानते थे परन्तु भूत एवं भविष्य काल की सत्ता काल्पनिक तथा निराधार स्वीकार करते थे। इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद था। वैभाषिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्हें 'सर्वास्तिवादी' कहते हैं (अभि० को० २।२५)। धर्मत्रात तथा बुद्धदेव के कालभेद विषयक मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

सिद्धान्त

(२) ज्ञान के विषय में ये स्वतः प्रामाण्यवादी थे। जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं-प्रकाश्य है। स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों को भी अभिमत है। (३) वैभाषिकों के विरुद्ध ये लोग बाह्य जगत् की सत्ता को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय बतलाते हैं; जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष असम्भव है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ में चली गई रहती है, केवल उससे उत्पन्न विज्ञान ही शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीलपीतादि बुद्धिवाले चित्र मन पर खिंच जाते हैं, इन्हीं चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः बाह्यार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष गोचर न होकर अनुमान-सिद्ध है। (४) बाह्य वस्तु सत् है, परन्तु इसके आकार के विषय में सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कतिपय सौत्रान्तिकों की सम्मति में पदार्थ स्वयं 'आकार' रखता है, परन्तु सामान्यतः सौत्रान्तिकों के कथनानुसार पदार्थ आकारनिवेश चित्त से विनिर्मित है। अर्थात् वस्तु में अपना खास कोई आकार नहीं होता, बल्कि चित्त ही यह आकार उन पर रखता है। एक तीसरे मत में वस्तु का आकार उभयात्मक होता है। (५) परमाणुवाद के विषय में सौत्रान्तिकों का विशिष्ट मत था। परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव होता है। परमाणु स्वयं निरवयव होते हैं, अतः स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा में एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर एक हो जायेंगे (तादात्म्य)। अतः परमाणुओं का संघात परमाणु से परिमाण में अधिक न हो सकेगा। परमाणु

---

१. द्रष्टव्य डा० पुसें का सौत्रान्तिक शीर्षक लेख—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, भा० ११, पृ० २१२-२१४।

निरन्तर होते हैं, दोनों के बीच अन्तर या अवकाश नहीं होता। (६) विनाश का कोई हेतु नहीं है, समस्त पदार्थ स्वभाव से ही विनाश-धर्मशील हैं; वे अनित्य नहीं हैं, बल्कि क्षणिक हैं। उत्पाद का अर्थ है—अभूत्वा भावः (सत्ता धारण न करने के अनन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं, वस्तुतः सत्य नहीं है। क्रिया, वस्तु तथा क्रियाकाल—तीनों में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत् से उत्पन्न होती है, एक क्षण तक रहती है और फिर लीन हो जाती है, तब भूत तथा भविष्य की सत्ता क्यों मानी जाय ? (७) निर्वाण के विषय में श्रीलात का विशिष्ट मत था कि प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्या-निरोध में कोई अन्तर नहीं है। प्रतिसंख्यानिरोध से अभिप्राय है प्रज्ञानिबन्धन भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना। अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ क्लेश-निवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति है। क्लेशों की निवृत्ति के ऊपर ही दुःख या संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित रहती है; अतः क्लेशानुदय दुःखाभाव का कारण है। श्रीलब्ध की यही निर्वाण-कल्पना है।

मत का निष्कर्ष

विज्ञानवाद ज्ञान की सत्ता अंगीकार करता है, परन्तु ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की सत्ता क्यों कर प्रमाणित हो सकती है ? विज्ञानवादियों का यह कथन है कि विज्ञान ही बाह्य वस्तु के समान प्रतीत होता है और बाह्य वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। दो वस्तुओं की समानता तभी मानी जा सकती है जब वे दोनों अलग-अलग हों तथा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हो, परन्तु एक ही वस्तु होने पर सादृश्य का ज्ञान नहीं माना जा सकता। संक्षेप में सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्य जगत् दोनों की सत्ता मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न माना जाय, तो बाह्य वस्तु की प्रतीति किस प्रकार होती है; इसे हम ठीक-ठीक समझा नहीं सकते। विज्ञानवादी कहता है—मेरा 'ज्ञान' ही सच्चा है, परन्तु गाय के ज्ञान के समय मैं अपनी मानस अवस्था को ही 'गाय के समान' देखता हूँ। इस पर सौत्रान्तिक का कहना है कि जिस व्यक्ति ने गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान ही कभी नहीं किया हो, वह अपने ज्ञान को 'गाय के समान' कैसे बतला सकता है ? 'गाय के समान' कहना वैसा ही अर्थहीन और निरर्थक है, जिस प्रकार 'वन्ध्यापुत्र'। जब वह बाह्य वस्तु को मानता ही नहीं; तब बाह्य वस्तु का ज्ञान क्यों कर हो सकता है, तथा उस ज्ञान से किसी की तुलना भी कैसे की जा सकती है ?

विज्ञानवादी वस्तु तथा वस्तुज्ञान को समकालीन मानता है। घट तथा घटज्ञान दोनों एक ही अभिन्न वस्तु हैं, क्योंकि वे समकालीन होते हैं। सौत्रान्तिक मत में यह युक्ति ठीक नहीं है। जब हमें घट का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, तब हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि घड़ा हमारे बाहर है और ज्ञान हमारे भीतर है। स्थिति दोनों की भिन्न-भिन्न होती है। अतएव बाह्य वस्तु और उसके ज्ञान को अभिन्न मानना तर्कहीन बात है। इसे हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—वस्तु (घट, पट आदि) बाहर में एक सत्ताधारी पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयी (अनुभवकर्ता) में उत्पन्न होता है। वस्तु होता है विषय, परन्तु वस्तु-ज्ञान होता है विषयीगत। घड़ा एक बाहरी वस्तु है (विषय) और घड़ा का ज्ञान होता है अनुभव करने वाले मुझमें (विषयी में), इससे दोनों की भिन्नता सिद्ध है। यदि दोनों को एक ही अभिन्न माना जाय, तो "मैं ही घड़ा हूँ" ऐसा अनुभव होना चाहिए, परन्तु लोक में ऐसा अनुभव कभी नहीं होता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा, तो 'घट-ज्ञान' और 'पट ज्ञान' में भी कोई अन्तर नहीं होगा, क्योंकि ज्ञानरूप होने के कारण घट का ज्ञान और पट का ज्ञान एक ही होगा। लेकिन 'घट ज्ञान' को तथा 'पट ज्ञान' को क्या कभी हम एक मानते हैं ? इससे है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद है।

इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं में भिन्न-भिन्न आकार हैं; फलतः उनका ज्ञान भी भिन्न-भिन्न आकार का होता है। इन विभिन्न आकारों के ज्ञान से ही हम उनके कारणरूप बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं। इसीलिए सौत्रान्तिक लोग बाह्य वस्तु को मानते हैं और उसकी सत्ता को अनुमान से सिद्ध मानते हैं।

इसी सिद्धान्त को 'बाह्यानुमेयवाद' कहते हैं। विज्ञानवाद के खण्डन में सौत्रान्तिकों की युक्तियाँ बड़ी महत्त्व रखती हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सौत्रान्तिकों के समान अनेक दार्शनिक हुए हैं। बर्कले के 'विज्ञानवाद[1]' के खण्डन में आधुनिक काल में मूर जैसे वस्तुवादी की युक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। सौत्रान्तिकों की प्रमाणमीमांसा लाक के 'साकार ज्ञानवाद[2]' के साथ बहुत मिलती हैं। इस प्रकार इस मत का दार्शनिक महत्त्व कम नहीं है।

---

1 Subjective Idealism

2 Representationism.

(ग) योगाचार सम्प्रदाय

मैत्रेय (तृतीय शतक)—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय में पर्याप्त मतभेद था, परन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने मैत्रेय या मैत्रेयनाथ को एक ऐतिहासिक व्यक्ति तथा विज्ञानवाद का प्रवर्तक होना बलवत्तर प्रमाणों से सिद्ध किया है। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) 'मध्यान्त-विभाग' या 'मध्यान्तविभंगसूत्र' जिसमें कारिका भाग मैत्रेय का तथा गद्यांश असंग का है। इसके ऊपर वसुबन्धु ने भाष्य तथा स्थिरमति ने भाष्य पर टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ प्रकरण थे। तिब्बती अनुवाद पूरे ग्रन्थ का है, मूल संस्कृत प्रथम प्रकरण का ही अधूरा उपलब्ध हुआ।[1] (२) 'अभिसमयालङ्कार' (प्रज्ञापारमिता के विषय में अद्वितीय ग्रन्थ) इसका पूरा नाम 'अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेश शास्त्र' है, जिसमें आठ अधिकार हैं। आर्य विमुक्तिसेन, भदन्त विमुक्तिसेन (दोनों षष्ठ शतक) तथा हरिभद्र (नवम शतक) ने टीकायें लिखी हैं[2]। (३) सूत्रालङ्कार, (४) महायान उत्तरतन्त्र, (५) धर्मधर्मताविभंग। भोट देशीय इतिहास के लेखक 'बुस्तोन' के अनुसार मैत्रेय की ये ही पाँच कृतियाँ हैं।

आचार्य

असङ्ग (चतुर्थ शतक)–पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र असंग का नाम इनके गुरु (मैत्रेय) से भी बढ़कर है। ये समुद्रगुप्त के समय में अयोध्या में आकर रहते थे। ग्रन्थ के निर्माण के अतिरिक्त इन्होंने अपने अनुज वसु-बन्धु को योगाचार मत में दीक्षित किया तथा विज्ञानवाद के प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखवाया। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'महायान-संपरिग्रह' (टीका वसुबन्धु की), 'महायानाभिधर्मसंगीति शास्त्र', 'योगाचारभूमि शास्त्र' (या सप्तदशभूमि शास्त्र), 'अभिसमयालङ्कारटीका'। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'महायानसूत्रालङ्कार' को डा० लेवी ने फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। वसुबन्धु ने योगाचार मत में दीक्षित होने पर बीस और तीस कारिकाओं में 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' लिखी, जिसका संस्कृत मूल 'विंशिका' तथा 'त्रिंशिका' नाम से डा० लेवी ने पेरिस

---

१ पं० विधुशेखर शास्त्री और डा० तुशी के सम्पादकत्व में प्रथम परिच्छेद ही कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० २४) में प्रकाशित हुआ है।

२ तिब्बती अनुवाद के साथ मूल ग्रन्थ डा० चेरबास्को के सम्पादकत्व में बिब्लोओथिका बुद्धिका सीरीज (नं० २३) में प्रकाशित हुआ है।

से प्रकाशित किया है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' विज्ञानवाद का सर्वमान्य और नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

स्थिरमति—वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे। वसुबन्धु के वृत्तिकाररूप से इनकी विपुल ख्याति है। समय चतुर्थ शतक का अन्तिम भाग मानना चाहिए। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) त्रिंशिका भाष्य (मूल संस्कृत प्रकाशित है), (२) मध्यान्त विभंगसूत्रभाष्य टीका, (३) अभिधर्मकोश-भाष्यवृत्ति, (४) सूत्रालङ्कार-वृत्ति-भाष्य, (५) मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति।

दिङ्नाग—बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग अपनी प्रगल्भ वावदूकता तथा शास्त्रार्थ-पटुता के कारण 'वादिवृषभ' की उपाधि से सम्मानित किये गये थे। कांची के पास 'हिंसवक्र' में ब्राह्मणकुलोद्भूत दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। अतः इनका समय ३४५-४२५ ई० के आसपास है। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) प्रमाणसमुच्चय, (२) प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति, (३) न्यायप्रवेश[1], (४) हेतुचक्रहमरु, (५) प्रमाणशास्त्र न्यायद्वार या न्यायमुख, (६) आलम्बनपरीक्षा तथा इसकी वृत्ति।

धर्मकीर्ति—(षष्ठ शतक ६३५-६५० ई०) दिङ्नाग के भाष्यकाररूप से ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में भी ये उल्लिखित हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' तथा न्यायबिन्दु' हैं, जिनमें बौद्ध न्याय के ऊपर ब्राह्मण नैयायिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर अपने सिद्धान्त का मण्डन है। टीका-सम्मति की दृष्टि से भी यह आदरणीय है। इन्होंने केवल प्रमाण शास्त्र (न्याय) पर ही अपने सातों ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) प्रमाणवार्तिक (१०५४½ कारिका), (२) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक), (३) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक), (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वादविषयक ग्रन्थ), (६) सम्बन्ध-परीक्षा (२८ कारिका; जिनमें क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण संबंध का निरूपण है), (७) सन्तानान्तरसिद्धि (७२ सूत्र)—जिनमें मनःसन्तान (मन एक वस्तु न होकर क्षण-क्षण में नष्ट और नया उत्पन्न होनेवाला सन्तान—घटना है, से भी परे दूसरी मनःसन्तानें हैं, इसे सिद्ध किया है। इसलिए इसका सार्थक नामकरण है)। इन ग्रन्थों में तीन (१, २, ५) मूल संस्कृत में छपे हैं, शेष के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं।

---

१. मूल संस्कृत प्रिन्सिपल ध्रुव के सम्पादकत्व में तथा तिब्बती अनुवाद, दोनों गायकवाड़ ओ० सीरीज (बड़ोदा) में प्रकाशित हुआ है।

धर्मपाल—(षष्ठ शतक का आरम्भ) नालन्दा बौद्ध विहार के अध्यक्ष थे। योगाचार तथा शून्यवाद दोनों मतों के पर टीकायें लिखी। 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धिव्याख्या' वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ की तथा 'शतशास्त्र-वैपुल्यभाष्य' शून्यवादी आर्यदेव के विख्यात ग्रन्थ की टीका इन्हीं की रचनायें हैं।

विज्ञानवाद का सिद्धान्त

माध्यमिकों के अनुसार न बाह्य वस्तु की सत्ता है और न चित्त की। विज्ञानवादी इनमें प्रथम अंश को तो मानते हैं, परन्तु द्वितीय अंश को नहीं मानते। उनका कहना है कि चित्त के द्वारा ही किसी मत का विचार किया जा सकता है। जो दार्शनिक मत चित्त को ही नहीं मानता, वह किस प्रकार अपने तथ्यों के विचार करने का अधिकारी हो सकता है? इस असम्भावना से बचने के लिए चित्त को सत्य मानना नितान्त उचित है।

बाह्य पदार्थ की समीक्षा—बाह्य पदार्थ चित्त की अभिव्यक्तियाँ हैं। चित्त ही एकमात्र सत्ता है और यह चित्त विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा नाम है। विज्ञानवादी का कथन है कि स्वप्नदशा में हमें मालूम पड़ता है कि देखी गई वस्तुयें बाहर विद्यमान हैं, परन्तु ऐसी बात तो नहीं होती, सब चित्त के भीतर ही वर्तमान रहती हैं। जागरित दशा की भी यही अवस्था है। घट तथा-घट-ज्ञान में कोई भी अन्तर नहीं है। दृष्टि-विकार से यदि कोई व्यक्ति आकाश में दो चन्द्रमा को देखता है, तो क्या हमें दो चन्द्रमा मानना चाहिए? बाह्य वस्तु को पृथक मानना मतिभ्रम है। धर्मकीर्ति ने बड़े आग्रह के साथ कहा है कि नील रंग और नील रंग का ज्ञान एक ही वस्तु है। उनमें तनिक भी अन्तर नहीं है।

विज्ञानवादी की दृष्टि में बाह्य वस्तु को मानने में अनेक दोष दीखते हैं। उनका पूछना है कि बाहरी वस्तु एक अणु की बनी है या अनेक की? यदि एक अणु की बनी होती, तो अणु के सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; अनेक अणुओं के संघात से वस्तुओं के बनने पर भी यह बड़ा दोष होता है कि हम समस्त वस्तु को पूरी तरह नहीं देखते हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि वस्तु तो क्षणिक होती है, एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। तब उसका ज्ञान क्यों कर हो सकता है? सत्तात्मक वस्तु का ही तो प्रत्यक्ष होता है, नष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? फलतः बाह्य वस्तु को मानना सर्वथा असम्भव है। अतः विज्ञान ही एकमात्र तथ्य है।

विज्ञानवाद—इस मत को 'विज्ञानवाद' कहते हैं। इसके अनुसार विज्ञान (कानशसनेस) ही एक मात्र सत्य है। जगत् में प्रतीत होने वाली बाह्य वस्तुयें वस्तुतः चित्त का ही प्रत्यय हैं। पाश्चात्य दर्शन में यह मत 'सब्जेक्टिव आइडीए-लिज़्म के नाम से विख्यात है और बर्कले इसके प्रमुख प्रतिष्ठाता थे।

निर्वाण—विज्ञानवादी के अनुसार योगी दो आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष लाभ कर सकता है—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। इन आवरणों की सत्ता रहने पर मुक्ति तथा सर्वज्ञता की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती। मुक्ति का बाधक क्लेश है। अतः क्लेशावरण की निवृत्ति हो जाने पर मोक्षलाभ हो जाता है, पर सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होती। इसकी प्राप्ति ज्ञेयावरण की निवृत्ति होने पर ही हो सकती है। आत्मदृष्टि से रागद्वेषादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है। जब साधक की पुद्गलनैरात्म्य में प्रतिष्ठा हो जाती है तब क्लेशों का नाश होने से मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। पर जब धर्मनैरात्म्यज्ञान में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है, तो किंचित् ज्ञेय के अभाव में चित्त सर्वज्ञतावस्था को प्राप्त कर लेता है। यही विज्ञानवादी दार्शनिकों के मत से परमपद की प्राप्ति है।

विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। नाना उपचारों से युक्त यह संसार मन का विलास है। उपचार दो प्रकार के अनुभव में आते हैं—आत्मोपचार तथा धर्मोपचार। जीव, जन्तु, आत्मा, मनुष्य—ये आत्मोपचार हैं, स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये धर्मोपचार हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है, अर्थात् आत्मा तथा धर्म विज्ञान के ही विभिन्न परिणामरूप हैं। विज्ञानवादी चित्त को आठ प्रकार का बतलाते हैं। चक्षुविज्ञान आदि षड्भेद वैभाषिकों को भी सम्मत हैं, पर योगाचार के मत से मनोविज्ञान तथा आलय-विज्ञान विज्ञान के दो भेद अधिक माने जाते हैं। इस विभागपद्धति में आलयविज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों के सूक्ष्म मानसतत्त्व-विवेचन की सूचना देती है। चक्षुविज्ञान आदि छह विज्ञान बाह्य वस्तु तथा इन्द्रिय के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ये विषयज्ञान के लिए द्वारमात्र हैं। ये अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाते हैं, जो स्वयं आलय-विज्ञान के पास उन्हें प्रस्तुत करता है। तभी विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। समस्त जगत् चित्त का परिणाममात्र होने से इन्हीं अष्टभेदों के अन्तर्भूत बतलाया जा सकता है।

विषय—योगाचार के मत से विज्ञान तथा विज्ञेय का अन्तर स्पष्ट है। विज्ञेय कल्पित होने से वस्तुतः नहीं है, पर विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से नितान्त सत्य है। जहाँ जो वस्तु नहीं रहती है, वहाँ उसका उपचार होता है। इस जगत् में न आत्मा है न धर्म, परन्तु इसके उपचार अनादिकाल से वर्तमान हैं। उपचार होने से ये परिकल्पितमात्र हैं, पारमार्थिक या सत्यस्वरूप नहीं। त्रिंशिका (का० १–२) के अनुसार विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—(१) विपाक, (२) मनन तथा (३) विषयविज्ञप्ति। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक होने से फल की अभिनिर्वृत्ति का नाम 'विपाक-परिणाम' है। इसका दूसरा नाम 'आलय-विज्ञान' है। क्लेश को उत्पन्न करने वाले धर्म—बीजों के आलय (स्थान) होने से इसकी 'आलयविज्ञान' संज्ञा है। यह आलय-विज्ञान सदा स्पर्श, मनस्कार, चित्त, संज्ञा तथा चेतना नामक पाँच धर्मों से युक्त रहता है। विज्ञानपरिणाम का द्वितीय प्रकार 'मनन' या 'क्लिष्ट-मन' कहलाता है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है। अतः उसे मनन कहते हैं। क्लिष्ट मन आलयविज्ञान के आश्रय को लेकर प्रवृत्त होता है, या अपने मनन कार्य में लगता है। विज्ञानपरिणाम का तृतीय भेद विषय-विज्ञप्ति' है। चक्षुविज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक के छह प्रकार के विज्ञानों के षड्विध विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, तथा धर्म—की उपलब्धि ही विषय-विज्ञप्ति है। यह उपलब्धि तीन प्रकार की हो सकती है—कुशल, अकुशल, तथा दोनों से भिन्न। अलोभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है; लोभ, द्वेष तथा मोह से समन्वित होने पर अकुशल है।

ये त्रिविध विज्ञानपरिणाम योगाचार के मत से विकल्पमात्र हैं[८]। यह जगत् विज्ञान के विविध परिणामों का रूप धारण करने वाला विकल्परूप है। विकल्प तीन प्रकार के हैं—आलय-विज्ञान में समस्त धर्मों की उत्पादनशक्ति छिपी रहती है, क्योंकि वह 'सर्वबीज' कहा गया है। इस आलयविज्ञान से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः इस जगत् में विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि होती है (त्रिंशिका, का० १८)।

आलयविज्ञान[१]

समुद्र के दृष्टान्त से हृदयंगम किया जा सकता है। हवा के झकोरों से समुद्र में तरंगें नाचने लगती हैं, वे सदा अपनी लीला दिखलाया करती हैं, कभी विराम नहीं लेती। इसी प्रकार 'आलय-विज्ञान' में भी विषयरूपी वायु के झकोरों

ते चित्र विचित्र की विज्ञानरूपी तरंगें उठती हैं, सदा नृत्यमान होकर अपना खेल किया करती हैं और कभी नष्ट नहीं होती हैं। आलय-विज्ञान' समुद्र-स्थानीय है, विषय पवन का प्रतिनिधि है तथा विज्ञान (सप्तविध विज्ञान) तरंगों का प्रतीक है। जिस प्रकार समुद्र और तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान तथा अन्य सप्तविध विज्ञान विज्ञानाकार से भिन्न नहीं हैं।[९] आचार्य वसुबन्धु ने भी आलयविज्ञान की वृत्ति जल के ओघ (बाढ़) के समान बतलाई है। जि। प्रकार जल का प्रवाह तृण, काष्ठ, गोमय आदि नाना पदार्थों को खींचता हुआ सदा आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार यह विज्ञान भी पुण्य, अपुण्य, अनेक कर्मों की वासना से अनुगत स्पर्श, संज्ञा वेदना आदि चैत धर्मों को खींचता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। जब तक यह संसार है तब तक आलय-विज्ञान का विराम नहीं। यह उस जल-प्रवाह के समान है जो अनवरत वेग से आगे बढ़ता जाता है, खड़ा होना जानता ही नहीं[१०]।

आलय-विज्ञान और आत्मा—यह आलय-विज्ञान आत्मा का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आत्मा अपरिवर्तनशील रहता है, सदा एकाकार एकरस; परन्तु आलय-विज्ञान परिवर्तनशील होता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील हों या अपना व्यापार बन्द कर दें, परन्तु यह 'आलयविज्ञान' विज्ञान का सतत प्रवाह बनाये रखता है, इसकी चैतन्यधारा कभी शान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है, परन्तु यह समष्टि-चैतन्य का प्रतीक है।

आलय-विज्ञान के चैत्तधर्म—इसके साथ सम्बद्ध सहायक चैत्तधर्म पाँच माने गये हैं—(१) मनस्कार (चित्त की विषय की ओर एकाग्रता), (२) स्पर्श (इन्द्रिय तथा विषय के साथ विज्ञान का सम्पर्क), (३) वेदना (सुख-दुःख की भावना), (४) संज्ञा (किसी वस्तु का नाम), (५) चेतना (मन की वह चेष्टा जिसके रहने पर चित्त आलम्बन की ओर स्वतः झुकता है)[११]। जो वेदना आलय-विज्ञान के साथ सहायक धर्म है, वह उपेक्षाभाव है, जो अनिवृत तथा अव्याकृत माना जाता है। यह उपेक्षा (तटस्थता की भावना—न सुख, न दुःख की दशा) मनोभूमि में विद्यमान रहनेवाले आगन्तुक उपक्लेशों से ढकी नहीं रहती। अतः वह प्राणियों को निर्वाण तक पहुँचाने में समर्थ होती है। जिस विज्ञान का यह विश्व विलासमात्र माना गया है वह यही 'आलयविज्ञान' है।

योगाचार—विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से भी विख्यात हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि 'आलय विज्ञान' के अस्तित्व को जानने के लिए योग के

आचरण को ये नितान्त आवश्यक मानते थे। एक और कारण बतलाया जाता है, इसकी दो विशेषतायें थीं—योग से तात्पर्य जिज्ञासा से और आचार का सदाचार से है। इन दोनों पर जोर देने के कारण यह मत इस नाम से विख्यात था।

(घ) माध्यमिक मत

(प्रधान व्याख्याता आचार्य)

नागार्जुन—शून्यवाद या माध्यमिक सिद्धान्त के प्रचारक थे। ये दक्षिण भारत के निवासी ब्राह्मण थे। अनन्तर बौद्धधर्म में दीक्षा लेकर श्रीपर्वत पर रहते थे। अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता, प्रगाढ़ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारत के दार्शनिक जगत् में सदैव अक्षुण्ण रहेगी। प्रधान रचना 'माध्यमिक-शास्त्र' या 'माध्यमिककारिका' है, जो २७ प्रकरणों में विभक्त है। शून्यवाद की प्रतिष्ठा इसी ग्रन्थ पर है। इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में आचार्य भव्य-कृत 'प्रज्ञाप्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' मुख्य हैं। 'प्रज्ञा-पारमिता-शास्त्र ('पञ्चविंशतिसाहस्रिका' प्रज्ञापारमिता की टीका जो कुमारजीव के द्वारा ५०२–४०५ में अनूदित हुई थी) तथा 'दशभूमिविभाषाशास्त्र' (दशभूमिसूत्र की वृत्ति) विषयपर्यालोचन के महत्त्व से महायान के विश्वकोश कहे जा सकते हैं। ये दोनों भी इन्हीं की विख्यात रचनायें हैं।

आर्यदेव—(२००–२२५ ई०) चन्द्रकीर्ति के वर्णनानुसार ये सिंघलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और उस देश के राजा के पुत्र थे। अतुल सम्पत्ति को लात मारकर ये दक्षिण में आए और नागार्जुन के शिष्य बन गये। ये शून्यवाद के प्रकाण्ड आचार्य थे। इनकी अनुपम दार्शनिक कृति 'चतुःशतक' है जिसमें नामानुसार चार सौ कारिकायें, १६ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकायें हैं, जिसपर धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति ने टीकायें लिखी थीं, जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध को हुएनच्वांग (६५० ई०) ने चीनी भाषा में अनुवादित किया। चीनी में इसका अभिधान 'शतशास्त्रवैपुल्य' है। चन्द्रकीर्ति की वृत्ति के साथ समग्र ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती भाषा में तथा वृत्ति का कतिपय अंश मूल संस्कृत में उपलब्ध होता है। शून्यवाद के रहस्योद्घाटन के लिए यह नितान्त प्रामाणिक, प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। इसके आदिम दो शतकों को 'धर्मशासन शतक' (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रति-पादन) तथा अन्तिम दो शतकों को 'विग्रह शतक' (परमतखण्डन) कहते हैं।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध को पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ विश्वभारती सीरीज (नं० २) में प्रकाशित किया है ।

स्थविर बुद्धपालित—(पचम शतक)-माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमाणभूत आचार्यों में से अन्यतम हैं । इन्होंने नागार्जुन के 'माध्यमिककारिका' के ऊपर एक वृत्ति लिखी है जिसका अभी तक केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध हुआ है । वे प्रासंगिक मत के उद्‌भावक माने जाते हैं ।

भावविवेक—('भव्य' या चीनी ग्रन्थों के अनुसार 'भावविवेक') बौद्ध न्याय के 'स्वातन्त्र मत' के उद्‌भावक थे । नवीन मत के प्रवर्तक होने से अवान्तर शताब्दियों में इनकी विशेष ख्याति थी । इनके प्रधान ग्रन्थ हैं—(१) प्रज्ञा-प्रदीप ('माध्यमिककारिका' की वृत्ति, जिसका तिब्बती अनुवाद ही प्राप्त है), (२) मध्यम-हृदय-कारिका, (३) मध्यमार्थसंग्रह, (४) हस्तरत्न ।

चन्द्रकीर्ति—(६००–६५० ई०) दक्षिण भारत के निवासी थे । बुद्धि-पालित तथा भव्य के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि से इन्होंने शून्यवाद के ग्रन्थों को पढ़ा । इस प्रकार ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के प्रशिष्य थे । नालन्दा में अध्यापक थे । इनके विख्यात ग्रन्थ हैं–(१) माध्यमिकावतार, (२) प्रसन्नपदा–माध्यमिक-कारिकाओं की सर्वश्रेष्ठ सुबोध प्रामाणिक टीका । इसे डाक्टर पुर्से ने बिब्लीओथिका बुद्धिका सीरीज़ (नं० ४) में मूल संस्कृत में सम्पादित किया है, (३) चतुःशतकवृत्ति—आर्यदेव के ग्रन्थ पर टीका, जो तिब्बती अनुवाद में पूरी तथा संस्कृत में अधूरी ही मिलती है । प्रासंगिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सब से श्रेष्ठ माध्यमिक विद्वान् थे ।

शान्तरक्षित—(८ म शतक)—स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे, तथा नालन्दा विहार में अध्यापक थे । तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये, एक बड़े विहार की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बने । इन्होंने धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' पर विस्तृत टीका लिखी है, परन्तु इनका मौलिक विपुलकाय ग्रन्थ 'तत्त्वसग्रह' है । इस ग्रन्थ में ब्राह्मण दार्शनिकों के मत की विस्तृत समीक्षा कर बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है । यह वास्तव में नितान्त प्रौढ तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है । इसकी टीका कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' नाम से लिखी है । कमलशील स्वयं नालन्दा में तन्त्रों के अध्यापक थे तथा गुरु के साथ तिब्बत गये थे । यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ (नं० ३०, ३१) में प्रकाशित हुआ है ।

शून्यवाद

माध्यमिक आचार्य अपने मत को 'शून्यवाद' के नाम से पुकारते हैं, परन्तु 'शून्यवाद' का तथ्य क्या है ? इसके विषय में ब्राह्मण और माध्यमिक से भिन्न दार्शनिकों के विचार एक समान हैं। ये विद्वान् 'शून्य' का अर्थ बिल्कुल सत्ता का निरास मानते हैं। विज्ञानवादियों ने शून्य' का यही अर्थ समझकर उसका खण्डन किया है। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में एक विलक्षण युक्ति देकर संसार को सर्वशून्य सिद्ध किया है। माध्यमिक शून्यवाद को 'सर्ववैनाशिक-वाद' के नाम से भी अभिहित किया है, क्योंकि माना जाता है कि इसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; परन्तु शून्यवाद के मूल ग्रन्थों के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि 'शून्य' शब्द का प्रयोग सत्तानिरास के अर्थ में नहीं किया गया है।

शून्य का अर्थ—इस प्रत्यक्ष जगत् से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि वह तत्त्व मानसिक या बाह्य है। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण वह तत्त्व 'शून्य' कहा गया है, परन्तु शून्य वस्तुत: अभावरूप नहीं है। अभाव स्वयं एक सापेक्ष शब्द है, क्योंकि 'भाव' की कल्पना के ऊपर ही 'अभाव' आश्रित है। परन्तु वह परम तत्त्व स्वतः एक निरपेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने में चार ही कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, तदुभयं (अस्ति और नास्ति) तथा नोभयं (न अस्ति, न च नास्ति);[१२] पर परम तत्त्व का निर्णय इन कोटियों की सहायता से नहीं किया जा सकता। वह मनोवाणी से अगोचर होने से नितरां अनिर्वचनीय है। इसी कारण उस परम तत्त्व की अनिर्वचनीयता की सूचना देने के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध दर्शन में 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग चतुष्कोटिविमुक्त तत्त्व के लिए है, परन्तु वेदान्त में इसका प्रयोग 'सदसद्-विलक्षण' के लिए ही किया जाता है। 'शून्य' का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीनयान के आचारविषयक मध्यम प्रतिपद् के अनुरूप ही माध्यमिक लोग तत्त्वमीमांसा के विषय में मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्; प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् तथा असत् के मध्यबिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है, जो स्वयं शून्यरूप ही होगा[३]। यह शून्य अभाव से नितान्त भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य

निरपेक्ष परम तत्त्व का सूचक है। इस आध्यात्मिक मध्यम मार्ग के उद्भावक होने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'माध्यमिक' दिया गया है।

चन्द्रकीर्ति ने इस लिए लिखा है कि शून्यता मध्यम मार्ग का ही नाम है। वस्तुओं के दो ही रूप (अन्त) हो सकते हैं—भाव तथा अभाव। जो वस्तु सदा वर्तमान रहती है वह तो भावरूप है, जो वस्तु विद्यमान नहीं रहती वह अभाव-रूप है। वस्तु का न तो भाव है और न अभाव। इसीलिए वह 'शून्य' कहलाती है अर्थात् भाव और अभाव दोनों के बीच में रहनेवाली मानी जाती है। अतः मध्यमा प्रतिपत् या मध्यम मार्ग का ही नाम 'शून्य' है[१४]।

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ एक अपरोक्ष तत्त्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य शून्याद्वैत के समर्थक हैं। यह समस्त नानात्मक प्रपञ्च इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। परम तत्त्व की ही सत्यता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप अकथनीय एवं अज्ञेय है। हम न तो यही कह सकते हैं कि वह सत् है, या असत् है, या इन दोनों को संवलित करने वाला सत्-असत् दोनों हैं, या इन दोनों में से कोई भी नहीं है। इनकी सूचना देने के लिए 'शून्य' का व्यवहार इस दर्शन में किया गया है।

सत्य की मीमांसा

माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने दो प्रकार की सत्यता मानी है[१५]—बुद्धों का उपदेश दो सत्यों को ध्यान में रखकर किया गया है। एक तो लोकव्यवहार में आनेवाला सत्य और दूसरा वास्तविक सत्य है। पहला व्यावहारिक है, तो दूसरा पारमार्थिक; (१) पारमार्थिक तथा (२) सांवृतिक। अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित शून्य ही पारमार्थिक सत्य है, तथा बुद्धि के अगोचर है। बुद्धिमात्र विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अतः बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं है कि वह परम सत्य का यथार्थ ग्रहण कर सके। संवृति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सब पदार्थों को ढकने वाला पदार्थ अर्थात् अज्ञान या माया[१६]। इस जगत् की सत्ता अज्ञान के द्वारा ही है। इसलिये समस्त जगत् की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है। माध्यमिक लोग अविद्या के दो कार्य मानते हैं—(१) स्वभाव—दर्शन का आवरण तथा (२) असत् पदार्थ स्वरूप का आरोपण। संवृति दो प्रकार की होती है—(१) तथ्यसंवृति—जब हम प्रत्यक्ष दृश्य घट-पटादि विषयों का अदुष्ट इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं, तब उसे तथ्यसंवृति कहते हैं जो लौकिक रीति से सत्य माना जाता है। (२) मिथ्यासंवृति—जब पदार्थ दुष्ट इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं तब इन्हें

व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्या कहते हैं। यही है मिथ्यासंवृति। अतः सांवृतिक सत्य का अर्थ होता है व्यावहारिक सत्यता।

संवृतिसत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधनमात्र है। निर्वाण की दशा भी साधारण व्यावहारिक दशा से भिन्न होती है, क्योंकि निर्वाण पाने वाला प्राणी व्यावहारिक दशा से सर्वथा मुक्त हो जाता है, हमारी कल्पना से वह अतीत होती है। उसका भी वर्णन नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। निर्वाण का रूप निर्धारण करते हुए आचार्य नागार्जुन के इन नकारात्मक विवरणों पर ध्यान देना आवश्यक है। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों के द्वारा अविदित होता है), जिसकी प्राप्ति नई नहीं होती (अर्थात् जो सर्वदा प्राप्त होता है), जिसका विनाश नहीं होता, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसी का नाम निर्वाण है (माध्यमिक कारिका २५।३)। निर्वाण को यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति ही 'तथागत' (बुद्ध) है और इसीलिए उनका भी स्वरूप निर्वाण के समान ही वर्णनातीत है।

परमार्थ संवृति से विलक्षण होता है। त्रिकाल में अबाधित होने से शून्य तथा निर्वाण तत्त्व परमार्थरूप माना जाता है। इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण योगिजनों के द्वारा ही किया जा सकता है। आर्य-सत्यचतुष्टय के तीन सत्य दुःख, समुदय तथा मार्ग सांवृतिक सत्य के अन्तर्भूत हैं, केवल निरोध परमार्थ सत्य है। इन्हीं दोनों सत्यों के आधार पर बुद्ध लोग जीवों को धर्मोपदेश किया करते थे।

शून्यता की प्राप्ति—यह अद्वैत परमार्थतत्त्व शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में 'तथागत' नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके आलम्बन बिना न तो आत्म-कल्याण सम्पन्न हो सकता है और न परकल्याण। अविद्या के द्वारा अस्पृष्ट होने से इसमें समस्त मलों का अभाव रहता है। उभयविध क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण से यह उन्मुक्त रहता है। सम्यक् सम्बोधि के सिवा इस अद्वैततत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये षट् पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, समाधि तथा प्रज्ञा की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकाल तक अभ्यास करने से पुण्यसंभार की प्राप्ति होती है, तथा वीर्य और समाधि के सतत अभ्यास से ज्ञानसंभार का उदय होता है। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार के उदय से प्रज्ञा का जन्म होता है। प्रज्ञा की निर्मलता का सम्पादन धीरे-धीरे किया जाता है। साधन तथा फलरूपा होने से इसके द्विविध भेद माने जाते हैं। साधन-प्रज्ञा के प्राप्त होने पर साधक 'अभिमुक्तचरित' कहलाता है, पर अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव होने पर फलरूपा प्रज्ञा का उदय

होता है जिसमें बोधिसत्व भूमियों की प्रतिष्ठा होती है। बुद्धत्व ही प्रज्ञा का अन्तिम उत्कर्ष है। उस समय द्वैत ज्ञान का सर्वथा लोप हो जाता है। योगी लोग इस प्रज्ञा को निर्विकल्प तथा सर्वधर्मशून्यता की प्राप्ति बतलाते हैं। इस दशा में स्वदुःख और पर-दुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। समस्तधर्म स्वभावहीन हैं, इसी का नाम 'शून्यता' है।

नागार्जुन की तर्कपद्धति नितान्त सूक्ष्म, परन्तु अभावात्मक है। उस शैली से परीक्षा करने पर जगत् के समस्त पदार्थ तथा बौद्धिक धारणायें निःस्वभाव प्रतीत होती हैं। नागार्जुन 'माध्यमिककारिका' में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, कर्म, बंधमोक्ष, काल, आत्मा—आदि समग्र व्यावहारिक धारणाओं की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा कर इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब एकदम असत्य हैं। 'शून्यता' ही एक सत्य परमार्थ है :—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

अर्थात् भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः (दूसरे कारण से), न दोनों से, न अहेतु से। यदि पदार्थ स्वतः उत्पन्न हों, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा ? अपने से भिन्न वस्तुओं से भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि तब तो किसी पदार्थ से कोई पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा। दोनों पक्षों में दोष होने से इनका समुच्चय ठीक नहीं। बिना हेतु के ही कार्य उत्पन्न होते हैं, यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त माननीय है और ऐसी दशा में सब पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगेंगे। अतः त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातुमय) जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं होती।

बुद्धपालित तथा उनके अनुयायियों ने निर्वाण तथा शून्यता की सिद्धि में तर्क का सर्वतोभावेन तिरस्कार किया है; अतः उन्हें 'माध्यमिक प्रासंगिक' की संज्ञा प्राप्त है; पर भव्य (या भाव विवेक) ने माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए न्यायानुमोदित स्वतन्त्र तर्कों की कल्पना की है, जिससे उन्हें 'माध्यमिक स्वातंत्रिक' की संज्ञा मिली है। भव्य अपने कुशाग्र तर्क के लिए महामान्य दार्शनिकों में नितान्त विख्यात हैं, पर 'सप्तम शतक' में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में बुद्धपालित की शैली का अनुसरण कर आचार्य भव्य की पद्धति को गहरा धक्का पहुँचाया। चन्द्रकीर्ति की व्याख्या परम्परागत सिद्धान्तों के लिए

चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों में भी प्रमाणभूत थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली (पृ० १४) में माध्यमिकों के दो मतभेदों का उल्लेख किया है— (१) मायोपमाद्वयवाद तथा (२) सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद। पहला मत अद्वयवाद को माया के समान मानता है, तथा दूसरा मत सब धर्मों के अप्रतिष्ठान में ही परमार्थ सत्य के स्वरूप को देखता है। महायान के 'अधिमात्र' अनुयायी शून्यवाद के मानने वाले दार्शनिक थे।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से पाठकों को यह बात ध्यान में आ गई होगी कि माध्यमिकों के शून्य अद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्तों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य मानते हैं— व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य। वे वस्तु जगत् को काल्पनिक और असत्य मानते हैं, पारमार्थिक सत्ता का नकारात्मक वर्णन करते हैं, तथा निर्वाण को उस सत्य की अनुभूति मानते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी ये विचार पाये जाते हैं। इसी कारण बहुत से आलोचक शंकराचार्य के ही नहीं, प्रत्युत उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद के सिद्धान्तों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण के स्वरूप के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएँ नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निर्वाण के विषय में बौद्ध धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का विशिष्ट मत है। निर्वाण भाव रूप है अथवा अभाव रूप ? इस विषय को लेकर बौद्ध दर्शन में प्रर्याप्त मीमांसा की गई है।

हीनयान मतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दुःखों से पीडित मानता है— (१) दुःख-दुःखता अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, (२) संस्कार-दुःखता अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशाली जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, (३) विपरिणाम-दुःखता अर्थात् सुख को दुःख रूप में परिणत होने के कारण उत्पन्न क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूपधातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया है आर्य सत्य का अनुशीलन। अष्टांगिक मार्ग का पालन तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा को न मानना क्लेशों से मुक्ति का मार्ग है। आर्य सत्य के ज्ञान से और सदाचार के अनुष्ठान से हीनयान के अनुसार साधक क्लेशों से मुक्ति पा सकता है। यही है उनकी निर्वाण कल्पना।

हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदाय अपनी अपनी कल्पना को प्रमुखता देते हैं। हीनयान के अनुसार निर्वाण सत्य, नित्य, पवित्र तथा दुःखाभावरूप है, महायानी को अन्तिम विशेषण पर आपत्ति है। वह निर्वाण को दुःखका अभाव नहीं मानता, प्रत्युत वह उसे सुखरूप मानता है। हीनयान में भिक्षु जब 'अर्हत्' की दशा प्राप्त कर लेता है, तब वह निर्वाण पा लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जब भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है और सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जागरित हो उठती है। वह अष्टांगिक मार्ग के सेवन से अपने दुःखों से मुक्ति पा लेता है। उसे पञ्च स्कन्ध-जन्य दुःख किसी प्रकार सताते नहीं है, उसके लिए जगत् के दुःखों का पर्यवसान हो जाता है। यही है हीनयानी जीवन्मुक्त की दशा। महायान का आदर्श इससे विभिन्न है। उसका आदर्श मानव है बोधिसत्त्व, जगत् के उपकार में लगा हुआ व्यक्ति। उसके लिए निर्वाण पूर्ण आनन्द की अवस्था है। हीनयान में जहाँ निर्वाण निषेध रूप था, वहाँ महायान में निर्वाण सत्तारूप होता है। ब्राह्मण दर्शन में न्यायसम्मत मुक्ति तथा वेदान्त सम्मत-मुक्ति से इसकी क्रमशः तुलना हम कर सकते हैं। न्याय तथा सांख्य अपवर्ग को दुःखाभाव मानता है और वेदान्त आनन्दरूप। सांख्यमत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है, परन्तु वेदान्त में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण न्याय-सांख्य सम्मत-मोक्ष के समान है, जब कि महायानी निर्वाण वेदान्त-मुक्ति का समकक्ष है[1]।

समीक्षा

बुद्ध दर्शन की मूल भित्ति उपनिषद् ही है। कर्मकाण्ड की अकिञ्चित्करता, भवप्रपञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के नाश से रागद्वेषादि बन्धनों से मुक्त होना, कर्म-सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में उपलब्ध होते हैं। 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति का तत्त्व छान्दोग्य में उल्लिखित है (छा० उप० ६।२।१)। अन्य कतिपय सिद्धान्तों में समानता भले हो, परन्तु क्षणिकवाद, अनात्मता, विज्ञान तथा शून्य की वास्तविकता के सिद्धान्त इतने घोर विद्रोही थे कि ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने नितान्त प्रौढ युक्तियों के सहारे इनका खण्डन किया।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य इस विषय की पूरी मीमांसा परिशिष्ट खण्ड में (टि० २१)।

क्षणभङ्गनिरास

जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने से व्यवहार तथा परमार्थ की उपपत्ति कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती[1]। वस्तुओं के क्षणिक होने पर किसी क्षण की क्रिया फल उत्पन्न किये बिना हीं अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है; इस दोष का नाम 'कृतप्रणाश' है। और किसी भी क्रिया के बिना किए प्राणी को स्वयं अकृत कर्मों के फल को भोगना पड़ता है (अकृत कर्मभोग)। भवभंग का दोष उसी प्रकार जागरूक है। कर्मफल को भोगने के लिए ही प्राणियों का जन्म होता है, परन्तु क्षणिकवाद के मानने पर जब प्राणियों में उत्तरदायित्व का ही अभाव है, तब ससार की उत्पत्ति ही क्योंकर सिद्ध मानी जाय ? मोक्ष सिद्धान्त को भी इससे हानि पहुँचेगी। बुद्धधर्म मोक्षप्राप्ति के लिए अष्टाङ्गिक मार्ग का विधान करता है, परन्तु कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सुतरां असम्भव है, तब निरोधगामिनी प्रतिपद् की व्यवस्था का फल क्या होगा ? स्मृतिभंग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिए एक प्रबल व्यावहारिक प्रमाण है। स्मरणकर्ता तथा अनुभवकर्ता की एकता लोक-व्यवहार अंगीकार करता है। पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो, परन्तु क्षणिकवाद के अनुसार अनुभव का कर्ता कल रहनेवाला देवदत्त है और स्मरण करता है आज का देवदत्त व्यक्ति। स्मरण के समान प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की व्यवस्था कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से क्षणिकवाद विचार की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। इसीलिए इतने दोषों के रहने पर हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद को माननेवाले बौद्ध को ठीक ही 'महासाहसिक' कहा है।

क्षणिकवाद के अंगीकार से विषम अवस्था की झलक जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है। बौद्ध लोगों का चरित दम्भों की खान है। उनकी कथनी तथा करनी में कितना अन्तर दीखता है। कहते हैं कि आत्मा नहीं है, पर स्वर्ग पाने के लिए चैत्य की पूजा करते हैं। संस्कार क्षणिक होते हैं, तब युग-युग में रहने वाले विहार क्यों बनाये जाते

---

१. द्रष्टव्य कुमारिल—श्लोकवार्तिक (पृ० २१७-२२३), शङ्कराचार्य—२।२।१८ शांकरभाष्य, जयन्तभट्ट—न्यायमञ्जरी भाग २ (पृ० १६—३६), मल्लिषेण—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १२२-१२६।

हैं ? जब सब शून्य ही है तब गुरु को धन देने का आदेश क्यों दिया जाता है ? इस प्रकार उनके उपदेश में और व्यवहार में महान् अन्तर उनकी दाम्भिकता को दिखला रहा है।

आत्मा को पञ्चस्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को हानि पहुंचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक ने पुण्य किया, वह तो अतीत की वस्तु बन गया है। ऐसी दशा में पूर्वप्रदर्शित दोषों का तद्भाव तो बना ही रहेगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए बौद्धों ने 'वासना' का अस्तित्व माना है। पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान में उत्पन्न शक्ति को बौद्ध लोग वासना कहते हैं (वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः—स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १६)। प्रथमतः वासना का क्षण-सन्तति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं उत्पन्न होता। और वासना भी स्वयं निर्विषय ही ठहरती है। मृगमद की वासना के समान पूर्वक्षण से उत्तर क्षण का 'वासित' वासना का स्वरूप है, परन्तु स्थायी आधार के न होने से संक्रमणशीलता कैसे सिद्ध मानी जाय ? स्थायी वस्त्र की सत्ता रहने पर ही मृगमद की वासना ठीक है, परन्तु पञ्चस्कन्धों के क्षणिक होने से वासना का आधार कौन पदार्थ होगा ? ऐसी दशा में 'वासना' की कल्पना अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से बचा नहीं सकती।[1]

विज्ञानवाद का खण्डन आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र (२।२।२८-३२) के भाष्य में बड़े विस्तार के साथ किया है। विज्ञानवादियों का बाह्यार्थ के अभाव का सिद्धान्त कथमपि माननीय नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थ की उपलब्धि का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। घटपटादि की अनुभूति सर्वजन-प्रसिद्ध है। 'ग्राह्य पदार्थ विज्ञानात्मक होने पर भी बाह्य की भाँति (बहिर्वत्) प्रतीत होता है।' इस कथन से भी बाह्यार्थ की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। सादृश्य की प्रतीति उभय पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता पर ही अवलम्बित रहती है। 'देवदत्त वन्ध्या-पुत्र के समान प्रकाशित हो रहा है' इस वाक्य का प्रयोग भला कोई कर सकता है, जब वन्ध्यापुत्र एक झूठी कल्पना है। जाग्रत जगत् को भी स्वप्नवत् मायिक बतलाना तथ्य से बहुत दूर है, क्योंकि स्वप्नानुभूत पदार्थ का जागरण होने पर बाध हो जाता है, परन्तु जागरित दशा में उपलब्ध वस्तु का बाध किसी अवस्था में नहीं होता। और भी एक महान् भेद है—स्वप्नदर्शन स्मृति रूप है, परन्तु जागरित दर्शन उपलब्धि रूप है। जागने पर ही स्वप्न की प्रतीति होती है। भूतकालीन होने से उसका स्मरण ही होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में जो अनुभव किया जाता है वह एक नई वस्तु होती है। स्मृति और

उपलब्धि में स्पष्ट भेद है—पूर्व अनुभव के स्मरण को स्मृति कहते हैं और उपलब्धि होती है नया अनुभव। ऐसी दशा में जगत् को स्वप्न जगत् के समान मानना कपोल-कल्पना है।

शून्यवाद की कल्पना भी इसी प्रकार घोर विप्लव मचाने वाली है। शून्यवादी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति इस तत्त्व-चतुष्टय को परिकल्पित, अवस्तु मानते हैं। सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इसी निषेधात्मक सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि जितना वस्तुतत्त्व का विचार किया जाता है, उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा); परन्तु आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० २६८-३४५) में इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी (श्लोक १७) में इसके दोषों का संक्षेप में वर्णन किया है। शङ्कराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है।[२०]

भारतीय दर्शन

तृतीय खण्ड

(१) न्याय
(२) वैशेषिक
(३) सांख्य
(४) योग
(५) कर्ममीमांसा
(६) वेदान्त

सप्तम परिच्छेद

न्याय दर्शन

षड्दर्शनों का संक्षिप्त विवरण इस खण्ड का मुख्य विषय है। आस्तिक दर्शनों में ये ही प्रधान माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति तथा विकास का सामान्य वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। यहाँ विकास की रूप-रेखा विशेष रूप से दिखाई जायेगी। आरम्भ न्यायदर्शन से किया जा रहा है। वैदिक धर्म के स्वरूपानुसन्धान के लिए न्याय की परम उपादेयता है। इसीलिए मनु ने श्रुत्यनुगामी तर्क के सहारे ही धर्म के रहस्य को जानने की बात लिखी है[1]। न्याय समस्त विद्याओं का प्रकाशक है। वात्स्यायन के शब्दों में न्याय विद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है; सब कर्मों का उपाय, प्रवर्तक है तथा समग्र धर्मों का आश्रय है[2]। यही सार्वजनीन उपयोगिता न्याय की लोकप्रियता का मुख्य हेतु है।

(१) नामकरण और आरम्भ

न्यायदर्शन का विषय 'न्याय' का प्रतिपादन है। 'न्याय' का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व की परीक्षा (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः—वात्स्यायन-न्यायभाष्य १।१।१)। इन प्रमाणों

नामकरण

के स्वरूप का वर्णन करने से तथा इस परीक्षाप्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के कारण यह दर्शन न्याय-दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। 'न्याय' शब्द का एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ है—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पञ्च अवयव। इस संकीर्ण अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्रमाणों में अन्यतम पदार्थ अनुमान के लिये किया जाता है। इसका दूसरा नाम है—आन्वीक्षिकी, अर्थात् अन्वीक्षा के द्वारा प्रवर्तित होने वाली विद्या। अन्वीक्षा का अर्थ है[3]—(१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा (२) प्रत्यक्ष तथा शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत विषय का अनु (पश्चात्) ईक्षण = पर्यालोचन = ज्ञान, अर्थात् अनुमिति। अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम आन्वीक्षिकी है। अनुमान प्रक्रिया में हेतु का महत्व सबसे अधिक होता है; अतः इसका नाम

हेतुविद्या या हेतुशास्त्र भी है। विद्वानों की परिषद् में किसी गूढ विषय के विचार या शास्त्रार्थ को 'वाद' के नाम से पुकारते हैं। ऐसे शास्त्रार्थों में नितान्त उपादेय होने के कारण यह वादविद्या या तर्कविद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रमाण की मीमांसा करने से न्यायदर्शन प्रमाणशास्त्र भी कहलाता है। इन विभिन्न अभिधानों पर दृष्टिपात करने से न्याय का मूल प्रयोजन छिपा नहीं रह जाता कि प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना और प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश्य माना है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति का समय इतना सुदूर, अतीत तथा धुंधला है कि उसका यथार्थ ज्ञान इस समय एक प्रकार से असम्भव सा है। तर्क के उपयोग से तथ्य का पता लगाना प्राचीन काल में भी अज्ञात न था। श्रुति ने आत्मदर्शन के जिन उपायों का वर्णन किया गया है उनमें युक्तियों के सहारे तर्कानुकूल मनन भी एक उपाय है। इसके अतिरिक्त उपनिषत्काल में ही अजातशत्रु तथा जनक की सभा में तत्कालीन अनेक तार्किकों का जमाव होता था, जिसमें अनेक रहस्यमय समस्याओं की आलोचना की जाती थी। अतः उपनिषदों के समय में भी 'वाद' की सफलता के लिए अनेक तर्कप्रधान नियमों की छानबीन को जा चुकी थी, तथा तर्कविद्या आरम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी।

न्यायविद्या की उत्पत्ति

संहिता काल में दो प्रकार की दृष्टियों की पर्याप्त सूचना उपलब्ध होती है, जिनमें पहली दृष्टि को 'प्रातिभ' तथा दूसरी दृष्टि को 'तार्किक' कह सकते हैं। तर्क-प्रधान दृष्टि श्रौत आचार के विभिन्न नियमों में प्रतीत होने वाले विरोध के परिहार के लिए की जाती थी। श्रौतानुष्ठान के विरोध को सुलझाने के लिए मीमांसा ने तर्क का उपयोग सर्वप्रथम किया। मीमांसकगण भारतीय दर्शन के इतिहास में पहले नैयायिक थे। इसी कारण मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था, बहुत दिनों तक 'न्याय' धर्ममीमांसा के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। पर पीछे वह श्रौत विषय की परिधि को छोड़कर बाहर आया और धर्मेतर विषयों की विवेचना में भी प्रयुक्त होने लगा।

इस प्रकार वैदिक काल में तर्क की पर्याप्त उन्नति के लक्षण उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों के सिद्धान्त मूलतः अद्वय-प्रतिपादक हैं, तथा न्याय वैशेषिक के मौलिक सिद्धान्तों से प्रतिकूल हैं तथापि कतिपय तथ्य उपनिषदों में भी यत्र

तत्र मिलते हैं। बृहदारण्यक (२।१।१६) का कथन है कि जब (अन्तःकरण) नाड़ियों के द्वारा पुरीतत नामक नाड़ी में स्थित हो जाता है, तब निद्रा आती है। न्याय ने इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, पर आत्मा के स्थान पर मन को ला जमाया। वैशेषिक द्रव्य की कल्पना तथा संख्या का निर्धारण करने में उपनिषदों का विशेष ऋणी है, क्योंकि उपनिषदों में द्रव्यों की संख्या का निरूपण अनेक स्थानों पर पाया जाता है। छान्दोग्य (७।१२।१) ने आकाश को शब्दों का वाहक बतलाया है; उसका कहना है कि 'आकाश के द्वारा मनुष्य किसी को बुलाता है, आकाश के द्वारा मनुष्य सुनता है, और आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि सुनता है।' न्याय ने इस सिद्धान्त को अपने दर्शन में खूब महत्व दिया है। अतः अन्य दर्शनों के समान न्यायदर्शन भी श्रुति-मूलक है।

(२) न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

भारतीय दर्शनों के इतिहास में ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय-दर्शन का स्थान वेदान्त दर्शन को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ है। विक्रम की ५ वीं शताब्दी पूर्व से लेकर आजतक न्याय-दर्शन की विमल धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चली आ रही है। आरम्भ में न्याय और वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शनों के रूप में प्रादुर्भूत हुए। अपने उत्पत्तिकाल में न्याय पूर्वमीमांसा का पुत्र था, परन्तु कालान्तर में वह वैशेषिक का सहायक बन गया। इसलिये वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्याय का 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहा है। बौद्धकाल में इन दोनों दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि न्याय के सूत्र वैशेषिक दर्शन के सूत्रों के नाम से उल्लिखित किये जाने लगे। वसुबन्धु ने इसी विस्तृत अर्थ में वैशेषिक शब्द का प्रयोग किया है, तथा 'शतशास्त्र' में आर्यदेव के द्वारा उद्धृत न्याय-सूत्रों को भी उनके टीकाकार ने वैशेषिकसूत्र ही बतलाया है। ११ वीं शताब्दी में शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी' में दोनों दर्शनों का एक साथ समन्वय किया गया मिलता है। समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से निष्पन्न की गई मिलती है। यदि न्यायसम्मत षोडश पदार्थों का वर्णन अभीष्ट होता, तो 'प्रमेय' के अन्तर्गत वैशेषिक के षट्-पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे तर्कभाषा में)। यदि वैशेषिक की रूपरेखा स्वीकृत की गई होती, तो 'बुद्धि' गुण के अन्तर्गत न्याय-सम्मत प्रमाणों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे कारिकावली तथा तर्कसंग्रह में)। कणादसूत्र गौतमसूत्रों से प्राचीनतर है।

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धारायें दृष्टिगत होती हैं। पहली धारा सूत्रकार गौतम

से प्रारम्भ होती है, जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण होने से 'पदार्थ मीमांसात्मक' प्रणाली (कैटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलॉजिकल) कहते हैं, जिसे गंगेश उपाध्याय ने 'तत्व-चिंतामणि' में प्रवर्तित किया। प्रथम धारा को 'प्राचीन न्याय' तथा दूसरी को 'नव्य न्याय' कहते हैं। अर्थात् प्राचीन-न्याय में पदार्थों की मीमांसा ही मुख्य विषय है, तथा नव्य-न्याय में प्रमाणों का वर्णन और विस्तृत विषय प्रधान है।

प्राचीन न्याय और नव्य-न्याय का भेद मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। यह भेद इतना विस्पष्ट तथा विशद है कि साधारण पाठक को भी इसकी अवगति हो जाती है। नव्य-न्याय का प्रधान वैशिष्ट्य सम्बन्ध की सूक्ष्म विवेचना है और इस कार्य के लिए वह प्रकारता, विशेष्यता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता आदि अनेक शब्दों का खुलकर प्रयोग करता है जिसका दर्शन भी प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में दुर्लभ है। इन पारिभाषिक शब्दों को 'विचार-मापक उपकरण' अथवा अंग्रेजी में 'थौट-मेज़रिंग डिवाइस' कह सकते हैं। ये शब्द दो वस्तुओं के बीच विद्यमान सम्बन्ध के विचार को काँटे तौल नाप देने की क्षमता रखते हैं। आज के समीक्षक को यह शब्दावली घटाटोप-सी प्रतीत होती है, परन्तु तत्वदर्शी आलोचक की दृष्टि में नितान्त उपयोगी तथा आकर्षक है।

विषय-प्रतिपादन में भी दोनों धाराओं में अन्तर है। प्राचीन न्याय का विषय-प्रतिपादन स्थूल है—वह वस्तु के बाह्य रूप को स्पर्श कर रुक जाता है, भीतर प्रवेश नहीं करता। उधर नव्य-न्याय विषय के अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाता है। वह सूक्ष्म विचारों तक की अभिव्यक्ति करता है। इसे ही सामान्य पाठक 'बाल की खाल निकालने' की लोकोक्ति को चरितार्थ मान उपहास करता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से नव्य-न्याय की विचारशैली तथा अभिव्यञ्जना शैली दोनों ही गम्भीर, अन्तरंग तथा तलस्पर्शी हैं—इस विषय में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है।

गौतम—न्यायसूत्र के रचयिता का गोत्र-नाम गौतम या गोतम है, व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति इन्हें मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में है। न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थों के उद्देश्य (नामकथन), लक्षण (परिभाषा)

तथा परीक्षण किये गये हैं। इन षोडश पदार्थों के नाम हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान। इन पदार्थों का उपयोग वादी-प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त-निर्णय के लिए किया जाता है। न्यायसूत्र के निर्माण-काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन पाकर डा० याकोबी सूत्रों को रचना तृतीय शताब्दी में मानते हैं, पण्डित हरप्रसाद शास्त्री द्वितीय शतक में तथा डा० विद्याभूषण षष्ठ शतक विक्रम-पूर्व मानते हैं।[1] सूत्र नितान्त प्राचीन हैं। न्यायसूत्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्रों में शून्यवाद, बाह्यार्थभंगवाद आदि बौद्धमतों से मिलनेवाले वादों का खण्डन उपलब्ध होता है। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में ये मत बौद्धमत की ओर ही संकेत करते हैं, परन्तु प्राचीन विद्वानों की दृष्टि में ये 'वाद' बुद्ध से पहिले आदि सर्ग से ही प्रवृत्त हैं। जयन्त भट्ट का यह कथन परम्परागत सम्मति का प्रतिपादक है।[2] फलतः न्यायसूत्र को इन वादों के व्याख्याता बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से अर्वाचीन मानना उपयुक्त नहीं है, अतः गौतम के समय को विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती। सूत्रों में क्षेपक की कल्पना भी निःसार तथा निर्मूल है।

वात्स्यायन (वि० पू० प्रथम शतक)—ने न्यायसूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना की। सूत्रों के गूढ अर्थों के रहस्य को जानने के लिए भाष्य से बढ़कर अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इससे भी पूर्व कोई व्याख्या-ग्रन्थ था। अनेक वार्तिकों के उद्धरण तथा व्याख्यान भाष्य के प्रथम अध्याय से पाये जाते हैं। 'त्रिविधमनुमानम्' (न्या० सू० १।१।५) के व्याख्याप्रसंग में भाष्यकार ने दो प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है। अतः सूत्रकार तथा भाष्यकार के बीच यदि चार सौ वर्ष का अन्तर माना जाय, तो भाष्य का रचनाकाल विक्रमपूर्व प्रथम शतक सिद्ध होगा।

१, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज—न्यायभाष्य अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० १–१८ (कलकत्ता)।

२. आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः। संक्षेप-विस्तार-विवक्षया तु तान्-तान् तत्र कर्तृनाचक्षते।

—न्यायमञ्जरी

उद्योतकर (षष्ठ शतक)—इन्होंने दिङ्नाग के कुतर्कों का खण्डन करने के लिए तथा ब्राह्मण-न्याय की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से न्याय-वार्तिक लिखा। सुबन्धु ने अपनी 'वासवदत्ता' में 'न्यायसंगतिमिवोद्योतकर-स्वरूपाम्' लिखकर न्यायजगत् में उद्योतकर की विमल कीर्ति की सूचना दी है। यह सुप्रसिद्ध है कि दिङ्नाग के विख्यात टीकाकार धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्षं कल्पना-पोढम्' इस दिङ्नागीय प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' पद जोड़कर उद्योतकर के प्रबल खण्डन से इसे बचाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। अतः धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी का द्वितीय भाग) तथा सुबन्धु (षष्ठ शतक का मध्य भाग) से उद्योतकर प्राचीन है। दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणश्रम न्यायविद्या के विमल प्रकाश का सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। यह ग्रन्थ प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण है। उद्योतकर की बौद्धन्याय की विद्वत्ता नितान्त श्लाघनीय है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शतक)—के समय में पण्डितमण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गूढार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए वाचस्पति ने तात्पर्यटीका' का प्रणयन किया। इनके 'न्यायसूची-निबन्ध' की रचना ८९८ विक्रमी में हुई। अतः इनका समय नवमी शताब्दी का मध्य भाग है। ये मिथिला के निवासी थे। अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण 'स्वतंत्रस्वतन्त्र' कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़ कर षड्दर्शनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रामाणिक, प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। 'तात्पर्यटीका' ने न्याय के प्रमेयों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई कि ये 'तात्पर्याचार्य' के नाम से न्याय-जगत् में विख्यात हैं।

जयन्त भट्ट (नवम शतक)—'न्यायमञ्जरी' में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख करने से इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध है[1]। इनकी 'न्यायमञ्जरी' गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला

---

१. ११वीं शती में विद्यमान जैन दार्शनिक 'देवसूरि' ने 'स्याद्वादरत्नाकर' में जयन्त की अवहेलनापूर्ण तिरस्कृति व्यक्त की है—

यदत्र युक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके ॥

इससे उक्त समय (८७५ ई०–९१५ ई०) की पुष्टि होती है।

वृत्ति है। विरोधी मतावलम्बियों (विशेषतः चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) का प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा खण्डन अत्यन्त रोचक और साहित्यिक भाषा में किया गया है।

भासर्वज्ञ (नवम शतक)—रत्नकीर्ति (१००० ई०) ने 'अपोहसिद्धि' में इनके 'न्यायभूषण' को उद्धृत किया है, तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरुद्धव्यभिचारी' दोष को अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है। अतः इनका समय नवम शताब्दी का अन्त है। इनकी एक ही रचना 'न्यायसार' न्यायजगत् में इन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ तथा परमार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धिरूप मुक्ति की कल्पना—इनके ये कतिपय सिद्धान्त नैयायिक जगत् में सर्वथा अपूर्व हैं।

उदयनाचार्य (दशम शतक)—उदयन का समय १०म शतक का उत्तरार्ध है। लक्षणावली के निर्माण का काल ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) है। 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्यटीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है, परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता मौलिक चिन्ता थी। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं—आत्मतत्त्व-विवेक (प्रसिद्ध नाम बौद्धधिक्कार) तथा न्यायकुसुमाञ्जलि। प्रथम ग्रन्थ में क्षणभङ्ग तथा शून्यवाद का खण्डन कर न्याय-सम्मत आत्मतत्त्व का विस्तृत निरूपण है। 'न्यायकुसुमाञ्जलि' तो उदयन के ग्रन्थों में मुकुटमणि है। इसमें सांख्यादि वैदिक तथा बौद्धादि वेदबाह्य दर्शनों के ईश्वर-निषेधक प्रमाणों का न्यायपक्ष से बड़ा ही मार्मिक तथा विद्वत्तामण्डित खण्डन है। ईश्वर-सिद्धि के विषय में यह तर्कप्रधान ग्रंथ न्यायजगत् में अद्वितीय है।

गंगेश (१३ शतक)—उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने एक ऐसे नैयायिक-रत्न को जन्म दिया जिसने प्राचीन-न्याय की धारा पलट कर 'नव्यन्याय' को जन्म दिया। इनका नाम गंगेश उपाध्याय था, जिनकी रचना 'तत्त्व-चिन्तामणि' न्याय के इतिहास में वास्तव में एक नवीन युग का प्रवर्तक है। गंगेश के हाथों में पुराना पदार्थ-शास्त्र अब सर्वाङ्गपूर्ण प्रमाण-शास्त्र में परिवर्तित हो गया। 'तत्त्व-चिन्तामणि' की भाषा भी इसी प्रकार अपनी विशिष्टता के लिये विख्यात है। गंगेश ने अवच्छेदक, अवच्छेद्य; निरूपक, निरूप्य तथा अनुयोगी, प्रतियोगी आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना कर भाषा का जो शास्त्रीय विशुद्ध रूप निर्धारित किया, वह वास्तव में एक श्लाघनीय व्यापार है। गंगेश ने खण्डनखण्ड-खाद्यकार श्रीहर्ष (१२वें शतक का अन्तिम भाग) का उल्लेख कर उनके सिद्धान्तों

का खण्डन किया। जयदेव (पक्षधरमिश्र, १३वें शतक का अन्तिम भाग) ने इनके 'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी है। इस प्रकार इनका समय श्रीहर्ष तथा जयदेव के मध्य, अर्थात् १३वीं शताब्दी के आ म्भ में समझना चाहिये।

अब पाण्डित्य की कसौटी क्या थी ? उदयन तथा गंगेश के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर व्याख्या की रचना। गंगेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय अपने पिता के समान ही उद्भट नैयायिक थे। सर्व-प्रथम इन्होंने उदयन के ग्रन्थों, गंगेश के 'चिन्तामणि' तथा वल्लभाचार्य के 'न्यायलीलावती' पर 'प्रकाश' नामक सुन्दर टीकाओं का निर्माण किया है। जयदेव के विषय में कहा जाता है कि तत्कालीन विद्वन्मण्डली में उनका प्रतिस्पर्धी कोई नहीं था[६]। किसी सिद्धान्त को लेकर पक्षभर तक समर्थन करने के कारण जयदेव ही सर्वसाधारण में 'पक्षधर मिश्र' के नाम से प्रख्यात थे। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' को 'आलोक' व्याख्यान से उद्भासित किया। इन्हीं के शिष्य रुचिदत्त मिश्र भी अपने समय के परम प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिन्होंने वर्धमान के 'कुसुमाञ्जलि-प्रकाश' पर 'मकरन्द' तथा 'तत्त्वचिन्तामणि पर 'प्रकाश' नामक टीकायें लिखी हैं।

नवद्वीप के नैयायिक—इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक मिथिला न्याय-विद्या की केन्द्रस्थली बनी रही। १५ वीं शताब्दी में बङ्गाल के नवद्वीप में विद्यापीठ की स्थापना हुई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के काल को 'नव्यन्याय के इतिहास में सुवर्ण युग' समझना चाहिये। इसमें बङ्गाल के नैयायिकों ने अनेक प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थों की रचना कर नवद्वीप को वह प्रतिष्ठा प्रदान की जो आज भी अविच्छिन्न रूप से उसे प्राप्त है। इन नैयायिकों में वासुदेव सार्वभौम सर्वप्रथम थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्त तथा १६ वीं शताब्दी का प्रारम्भकाल है। इन्हें बङ्गाल के अनेक महापुरुषों के गुरु होने का गौरव प्राप्त है। धार्मिक निबन्धों के निर्माता रघुनन्दन, शक्ति तन्त्रों के प्रामाणिक व्याख्याता तान्त्रिक कृष्णानन्द तथा नैयायिक-शिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य जैसे सुप्रसिद्ध पुरुष सार्वभौम के ही शिष्य थे।

रघुनाथ शिरोमणि (१६ वीं शताब्दी)—बङ्गीय नैयायिकों में रघुनाथ जैसा धुरन्धर तार्किक कोई नहीं हुआ। तर्क-विषयक अद्वितीयता के कारण नदिया की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक 'दीधिति' है, जो गंगेश के 'तत्त्वचिन्तामणि' की विवरणात्मक टीका

है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में 'दीधिति' ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों, रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्डार है।

मथुरानाथ (१६वीं शतक)—शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इन्होंने 'आलोक', 'चिंतामणि' तथा 'दीधिति' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर गूढार्थप्रकाशिनी 'रहस्य' नाम्नी टीकायें लिखीं।

जगदीश भट्टाचार्य (१७वीं शताब्दी)—मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के सबसे बड़े नैयायिक जगदीश ने 'दीधिति' के ऊपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी, जो सर्वसाधारण में 'जागदीशी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' शब्दशक्ति के ऊपर नितान्त प्रामाणिक और विस्तृत निबन्ध है जिसे पण्डितमण्डली जगदीश का सर्वस्व मानती है।

गदाधर भट्टाचार्य (१७वीं शती)—इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है 'दीधिति' की बृहत्काय व्याख्या जो सर्वसाधारण में 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्वविवेक' के ऊपर तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' के कतिपय भागों पर 'मूलगादाधरी' नामक व्याख्या लिखी है। टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्त्वपूर्ण विषयों के ऊपर लगभग ५२ मौलिक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'शक्तिवाद' विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय एवं समादर के पात्र हैं।

यदि नव्यन्याय को एक विशालकाय वटवृक्ष की उपमा दी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस वटवृक्ष की जड़ें मिथिला की भूमि में बद्धमूल हुईं; इसका दृढतर स्तम्भ तत्त्वचिन्तामणि' के रूप में सुदृढ हुआ; इसकी विशालकाय शाखायें नवद्वीप की पवित्र-भूमि में 'दीधिति' के रूप में प्रकटित हुईं और इसके सुन्दर फल 'जागदीशी' और 'गादाधरी' के रूप में आविर्भूत होकर आज भी विद्वन्मण्डली को अपने मधुर आस्वाद से आनन्दित कर रहे हैं। यदि रघुनाथ शिरोमणि तार्किकों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर नैयायिकों के सम्राट् हैं, जिनके मस्तक को मणि से जटित वह मुकुट सुशोभित कर रहा है।

(३) न्याय प्रमाणमीमांसा

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने सामने उपस्थित होने वाली समस्त वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है। ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा होता है। इसीलिए वह प्रकाश आत्माश्रय कहा गया है[७]।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) स्मृति और (२) अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न भावनारूप संस्कार अनुभवकर्ता के हृदय में विद्यमान रहता है। समान वस्तु के दर्शन होने पर सुप्त संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ को पुनः लाकर उपस्थित कर देता है; इसे ही 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ तथा (२) अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं, तथा अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा।

न्याय बाह्यार्थ की सत्यता स्वीकार करता है। बौद्धों के सिद्धान्तों की निःसारता दिखलाते समय भाष्यकार ने स्पष्ट करके दिखलाया है (न्या० भा० ४।२।२७) कि "यदि बुद्धि से पदार्थों का विवेचन किया जाता है, तो पदार्थों की यथार्थ अनुपलब्धि नहीं हो सकती। यदि वस्तु की अनुपलब्धि है, तो बुद्धि-द्वारा उसका विवेचन सम्भव नहीं है। समग्र पदार्थों का बुद्धि के द्वारा विवेचन सिद्ध है, अतः हम नहीं कह सकते कि उनकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती।" किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है और ऐसे प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं (यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्—उदयन)। वस्तु के यथार्थ-रूप के विषय में भाष्यकार का कथन है—"सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति" (न्या० भा० १।१।१)। 'यदि कोई वस्तु सद्रूप से ग्रहण की जाती हो, तो जिस रूप में वह हो उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है, विपरीत रूप में नहीं।' असद्रूप वस्तु के विषय में भी यही नियम है। अतः जिस वस्तु की जिस रूप से सत्ता है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना प्रमा है; अन्यथारूप से ग्रहण करना अप्रमा है।

प्रमा

प्रामाण्य के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं। न्याय कर्म-मीमांसा के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' का खण्डन करता है और 'परतः प्रामाण्यवाद' को अंगीकार करता है। 'स्वतः' का अर्थ है अपने-आप। 'परतः' का अर्थ है बाहर से, दूसरों के द्वारा। 'स्वतः प्रामाण्य' का अर्थ यह है कि ज्ञान होने के साथ ही साथ उसकी सचाई तथा प्रामाणिकता भी आप ही आप प्रकट होती है। हम घड़े को अपने सामने पड़ा हुआ पाते हैं। इस ज्ञान के साथ ही साथ हमें यह भी ज्ञान

होता है कि यह घटज्ञान सच्चा है, प्रामाणिक है। यह सिद्धान्त मीमांसकों का है। न्याय इसका खण्डन करता है, तथा परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त को मानता है। न्याय का कहना है कि घट का ज्ञान होने पर उसे प्रमाणों से सिद्ध भी करना पड़ता है कि यह घड़ा ही है, कपड़ा नहीं। जब किसी ज्ञान को युक्तियों के द्वारा उसे सच्चा सिद्ध करना पड़ता है, तब उसे 'परतः प्रमाण' कहते हैं ('परतः' अर्थात् युक्तियों के सहारे प्रमाणता की सिद्धि मानना)। नैयायिकों का यही सिद्धान्त है। घड़े के द्वारा हम जल भरते हैं, तथा अपनी प्यास बुझाते हैं। किसी वस्तु को देखकर हम कहते हैं कि यह घड़ा है; परन्तु यह ज्ञान तब तक यथार्थ तथा प्रामाणिक नहीं हो सकता, जब तक हम उस वस्तु से जल ग्रहण नहीं करते। पानी लाने की क्षमता होने से ही हम उस पदार्थ को 'घड़ा' कहते हैं। इस प्रकार घड़े का ज्ञान युक्तियों के सहारे सिद्ध होने पर ही सच्चा कहा जा सकता है। इसे ही कहते हैं—परतः प्रामाण्य। न्याय का यही मत है। किसी वस्तु के ज्ञान के अनन्तर उसके लिए इच्छा तथा यत्न करना आवश्यक होता है। यदि यह प्रवृत्ति सफल होती है तभी वह ज्ञान प्रमा कहलाता है। अत एव ज्ञान को प्रमा होने के लिए 'समर्थ प्रवृत्ति' का उत्पादक होना चाहिए। न्याय की भाषा में इसे कहते हैं—'समर्थ-प्रवृत्ति-जनकता' और यही ज्ञान के प्रमा होने में कारण होता है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं और नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी।

नैयायिकों का कहना है कि अगर ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' (अपने आप) गृहीत हो अर्थात् ज्ञान की सामग्री के अतिरिक्त उसके प्रामाण्य को समझाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न हो, तो 'इदं ज्ञानं प्रमाणं न वा' = यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? इस प्रकार का संशय ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान उत्पन्न करने के लिये जो सामग्री एकत्र की जायगी उसी से उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जायगा। प्रामाण्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के लिए कोई स्थान ही नहीं होगा, परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि यहाँ संशय उत्पन्न होता है। अतः नैयायिक लोग प्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता अनुमान प्रवृत्ति की चरितार्थता से उपलब्ध होती है। 'जानाति इच्छति यतते' ज्ञान के अनन्तर इच्छा का उदय होता है और इच्छा के बाद यत्न का। यदि यत्न को सफलता हुई, तब तो ज्ञान यथार्थ है, अन्यथा नहीं। 'तत्त्वचिन्तामणि' के मत से अनुमान के द्वारा ही ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। अतः न्याय की दृष्टि से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों 'परतः' सिद्ध हैं।

भ्रान्ति के विषय में नैयायिकों ने बड़ी विवेचना की है। न्याय के अनुसार भ्रम विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं। तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। उद्योतकर ने अन्यथाख्याति (न्या० सू० १।१।४ वार्तिक में) मृगमरीचिका की शास्त्रीय व्याख्या कर दिखलाया है कि सूर्य की किरणों का सद्भाव ठीक है, स्पन्दन व्यापार भी यथार्थ है; अतः अर्थ का व्यभिचार नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान का ही व्यभिचार होता है[१]। सूर्य-रश्मियों में उदक की कल्पना को समझाने के लिए बौद्धों की असत्-ख्याति या आत्मख्याति उपयुक्त नहीं है। इन्द्रिय-दोष के कारण मरीचि में जल के धर्मों का स्मरण होता है। जल के धर्म के मानसिक उदय होते ही जहाँ-जहाँ जल की पूर्वानुभूति हुई है, वहाँ-वहाँ के जल का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से देखे हुए उदक के गुणों का आरोप समीपवर्ती मरीचि में कर दिया जाता है। यही है नैयायिकों का सिद्धान्त 'अन्यथा-ख्याति' अर्थात् दूसरे गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना[२]।

प्रमा चार प्रकार की होती है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, (४) शब्द। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग से उत्पन्न अनुभव 'प्रत्यक्ष', अनुभव से साध्य का अनुभव 'अनुमिति', सादृश्य-ज्ञान के द्वारा उत्पन्न अनुभव 'उपमिति', तथा शब्द की सहायता से उत्पन्न अनुभव 'शब्द' कहलाता है। अप्रमा तीन प्रकार की होती है—(१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्म से विशिष्ट ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। स्थाणुत्व-विशिष्ट स्थाणु को देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष', ऐसा संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होना संशय कहलाता है। 'विपर्यय' मिथ्या ज्ञान को कहते हैं, जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान। अविज्ञात स्वरूप वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए उपपादक प्रमाण का सहकारी जो ऊह (सम्भावना) है उसी को तर्क' कहते हैं। इन चार प्रकार की प्रमाओं से सिद्ध करने के लिए चार प्रकार के प्रमाण होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(क) प्रत्यक्ष

यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं—'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव की उत्पत्ति होती है उसे 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमा चार प्रकार की है और तदनुसार प्रमाणों की भी

संख्या चार ही है। प्रमाण साधन है और प्रमा उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के कारण को अनुमान; उपमिति प्रमा के साधक को उपमान तथा शब्द प्रमा के कारण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। 'सन्निकर्ष' का अर्थ है—सम्बन्ध। नेत्र का घट के साथ सम्बन्ध होने पर घड़े का ज्ञान होता है, यही प्रत्यक्ष कहलाता है। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिये तीन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है। आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होना आवश्यक होता है। आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्र के लिए आवश्यक होता है। घट के प्रत्यक्ष पर ध्यान दीजिए। प्रथम तो घड़े के साथ चक्षु का संयोग होता है। यहाँ घड़ा है विषय तथा चक्षु है इन्द्रिय। तदनन्तर इन्द्रिय का मन के साथ योग होता है, अर्थात् चक्षु इन्द्रिय यहाँ घट का सम्बन्ध मन के साथ करा देती है। इतने पर भी घड़े का ज्ञान नहीं होता जब तक मन आत्मा के साथ संयुक्त न हो। आत्मा का ध्यान दूसरी ओर होता है तो मन के साथ योग न होने से घट का प्रत्यक्ष होता ही नहीं। अतः अन्तिम दशा में मन तथा आत्मा का संयोग नितान्त अनिवार्य होता है। इस प्रकार तीन सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह तो हुई प्रत्यक्ष की बात। अन्य ज्ञानों के लिए केवल आत्मा तथा मन के संयोग की ही आवश्यकता रहती है।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष साधारणतया दो प्रकार का होता है—(१) निर्विकल्पक, (२) सविकल्पक। दूर पर विद्यमान होने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहले पहल होता है, तब उसके विषय में हमारा ज्ञान सामान्य कोटि का ही होता है। हमें यही पता चलता है कि कुछ है, पर क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? किन-किन गुणों की सत्ता उसमें पाई जाती है? इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता है। उस समय न तो हम उसका नाम जानते हैं, न जाति; न गुण को जानते हैं और न किसी क्रिया को। हमारा ज्ञान इतना ही होता है कि कुछ है। इसी नामजात्यादि की कल्पना से विहीन प्रत्यक्ष ज्ञान को 'निर्विकल्प' कहते हैं। अनन्तर जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो नाम जात्यादि योजना से विशिष्ट यह ज्ञान 'सविकल्प' के नाम से पुकारा जाता है, जैसे 'श्यामा नामक यह

काली गाय घास चर रही है' यह ज्ञान, जिसमें 'श्यामा' नाम है, 'काली' गुण है, 'चरती है' क्रिया है और 'गाय' जाति का बोधक है।

प्रत्यक्ष की यह द्विविध कल्पना वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्यटीका' (पृ० १३३) में उपलब्ध होती है। उन्होंने न्यायसूत्रस्थ (१।१।४) प्रत्यक्ष लक्षण में आने वाले 'अव्यपदेश्य' तथा 'व्यवसायात्मक' पदों को क्रमशः इस द्विविध कल्पना का मूल बतलाया है, पर इस विषय में भाष्य और वार्तिक में कोई विवरण नहीं मिलता। कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' में प्रत्यक्ष के ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष के खण्डन के अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। अतः वाचस्पति मिश्र इस विषय में कुमारिल के ऋणी जान पड़ते हैं। मनोविज्ञान वस्तु-ग्रहण के अवसर पर सेन्सेशन (संवेदन) तथा परसेप्सन (प्रत्यक्ष) में जो अन्तर बतलाता है वही अन्तर 'निर्विकल्प' तथा 'सविकल्प' प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है। दोनों प्रकार नैयायिकों के समान कुमारिल को भी सम्मत हैं, परन्तु शाब्दिक तथा बौद्ध मत भिन्न है।[1] वैयाकरण लोग निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते, उधर बौद्ध लोग निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानकर सविकल्पक को न प्रमाण मानते हैं और न प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो अन्य भेद भी होते हैं—(१) लौकिक, (२) अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—(क) बाह्य (बहिरिन्द्रियों के द्वारा साध्य) और (ख) आन्तर (केवल मन के द्वारा साध्य)। बाह्य प्रत्यक्ष भी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साध्य होने से पाँच प्रकार का है—(१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) स्पार्शन, (४) रासन तथा (५) घ्राणज। मानस प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सब मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष छह प्रकार का होता है।

सन्निकर्ष—लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है—(१) संयोग, (२) संयुक्त-समवाय, (३) संयुक्त-समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत-समवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव। चक्षु से घट के प्रत्यक्ष होने पर संयोग, घट के रूप (कृष्ण, पीत, रक्त आदि वर्ण) के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवाय, घटरूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेत-समवाय सन्निकर्ष होते हैं। श्रोत्र आकाशरूप ही है; अतः शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सन्निकर्ष होगा, क्योंकि गुणगुणी का वास्तव में सम्बन्ध समवाय होता है। शब्दत्व का

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य मानमेयोदय, पृ० १७-१८।

प्रत्यक्ष समवेत-समवाय से तथा अभाव का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है।

उदाहरण के लिए घट के प्रत्यक्ष पर दृष्टिपात कीजिए। हमारे सामने नीला घड़ा पड़ा हुआ है। हमारी आँखें ज्यों ही उसके ऊपर गिरती हैं, घड़े का ज्ञान हमें तुरन्त हो जाता है। यह ज्ञान संयोग सन्निकर्ष के द्वारा होता है, क्योंकि घट तथा नेत्र का सम्बन्ध संयोग के द्वारा होता है। तदनन्तर घड़े के नीलरङ्ग का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष होता है संयुक्त-समवाय के द्वारा; क्योंकि नेत्र से संयोग होता है घड़े से, जिसमें रूप समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान होता है। तदनन्तर नीलरूपत्व का प्रत्यक्ष होता है 'संयुक्त समवेत समवाय' सन्निकर्ष से; क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप रहता है समवाय सम्बन्ध से और रूप में रूपत्व रहता है दूसरे समवाय सम्बन्ध से। शब्द जब कान से प्रत्यक्ष होता है, तब केवल समवाय सम्बन्ध रहता है, क्योंकि श्रवण आकाश ही माना जाता है, जिसमें शब्द को स्थिति समवाय के द्वारा ही होगी। शब्द गुण तथा श्रवण गुणी होता है और गुणगुणी का सम्बन्ध समवाय ही होता है। शब्द के अन्दर शब्द में रहनेवाली जाति (शब्दत्व) का प्रत्यक्ष होगा 'समवेतसमवाय' से, क्योंकि श्रवण से सम्बद्ध शब्द में शब्दत्व जाति होने के कारण समवाय-सम्बन्ध से ही रहता है। जब कहीं अभाव का प्रत्यक्ष होता है, तब 'विशेषण विशेष्यभाव' सन्निकर्ष रहता है, जैसे घट से रहित भूतल का प्रत्यक्ष। यहाँ नेत्र से भूतल का प्रत्यक्ष होता है, जिसमें घटाभाव विशेषण रहता है। अतः यहाँ घटाभाव विशेषण तथा भूतल विशेष्य है। इसलिए अभाव के समस्त स्थानों पर यही सन्निकर्ष होता है। संक्षेप में यहीं सन्निकर्ष के ये ही प्रमुख दृष्टान्त हैं।

अलौकिक सन्निकर्ष

जब पाकशाला में अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध निश्चित होता है, तब विशेष धूम का ही सम्बन्ध ज्ञान होता है। धूम वह्नि-व्यभिचारी है या नहीं? इस सन्देह का निराकरण क्यों कर हो सकता है? सकल धूमों का चाक्षुष ज्ञान तो हो नहीं सकता; अतः 'धूमत्व' सकल धूमों में तथा दृश्यमान धूम में भी विद्यमान रहता है, जिसके द्वारा इसका प्रत्यक्ष माना जाता है। (१) इस सन्निकर्ष का नाम है—सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति। पाश्चात्य नैयायिक 'इन्डक्टिव लीप' के नाम से जिसे पुकारते हैं उसका काम भारतीय नैयायिक सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा निष्पन्न करते हैं। (२) दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्ति कहलाता है। सामने रखे गये पुष्प के रमणीय रूप के ज्ञान

के साथ साथ उसके सुगन्ध का भी ज्ञान मुझे होता है। चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ गुलाब की मानो गन्ध का भी अनुभव होता है। जो लोग गन्ध का अनुभव अनुमानजन्य मानते हैं, उनके लिए तो यह प्रश्न नहीं उठता, परन्तु प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए यह समस्या अवश्य है कि दूर पर रहने वाले फूल से घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध तो होता नहीं, परन्तु गन्ध का ज्ञान होता है। अतः यहाँ अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है। पुष्प के ज्ञान के साथ ही उसके गन्ध का ज्ञान भी सम्बद्ध है। अतः इस ज्ञान को ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से उत्पन्न मानते हैं। (३) तृतीय अलौकिक ज्ञान 'योगज' कहलाता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (दीवाल आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट काल तथा देश (उभय रूप) से दूरस्थ वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु ऐसी वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है। अतः इनके लिए ध्यान की सहायता अपेक्षित है। इसे योगजसन्निकर्ष-जन्य कहते हैं। योगियों का प्रत्यक्ष इसी कोटि का है[१०]।

(ख) अनुमान

किसी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है। पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूमरेखा को देखकर पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कि यह पर्वत वह्निमान् है, अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से अनुमान के भेद-साधकों का उद्योतकर ने वर्णन किया है—(१) प्रत्यक्ष मुख्यतया एक ही प्रकार का होता है, पर अनुमान विविध प्रकार का होता है। (२) प्रत्यक्ष वर्तमान काल में द्रष्टा के सामने विद्यमान पदार्थ के विषय में हो सकता है, परन्तु अनुमान भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल से सम्बद्ध वस्तु के विषय में होता है। (३) व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिए आवश्यक साधन है, पर प्रत्यक्ष को ऐसे किसी साधन पर अवलम्बित होने की आवश्यकता नहीं होती (न्यायवार्तिक १।१।४)।

पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् (यह पर्वत धूम से युक्त होने के कारण वह्निमान् है)—इस अनुमान-वाक्य में पर्वत के विषय में अग्नि का रहना धूम हेतु से अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। अतः पर्वत 'पक्ष', वह्निमान् 'साध्य' तथा धूम 'हेतु' कहलाता है। पक्ष, साध्य तथा हेतु पाश्चात्य न्याय-वाक्य के माइनर टर्म, मेजर टर्म तथा मिडिल टर्म के पर्यायवाची हैं। अन्नंभट्ट ने उसे पक्ष बतलाया है, जिसमें साध्य की स्थिति सन्दिग्ध है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)।

यदि साध्य की सत्ता का ज्ञान पूर्व से ही हमें प्राप्त हो, तो उसका अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती; पर नव्य नैयायिकों की दृष्टि में यह लक्षण ठीक नहीं है। उनकी राय में वस्तु का पूर्वज्ञान अनुमान का बाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तु को सिद्ध करने की अभिलाषा (सिसाधयिषा) अनुमान करनेवाले में विद्यमान हो। अतः सिसाधयिषा की सत्ता पक्षता का प्रधान लक्षण है[1]। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसे 'साध्य' तथा जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे 'हेतु' कहते हैं। साध्य का दूसरा नाम है लिंगी और व्यापक, तथा हेतु का साधन, लिंग तथा व्याप्य है।

गीली लकड़ी से जहाँ आग उत्पन्न होती है, वहाँ तो धुआँ दिखाई पड़ता है, परन्तु गीली लकड़ी के न होने पर धुआँ दिखलाई नहीं पड़ता। जैसे दहकते हुए अंगारे में आग तो है, परन्तु धूम नहीं है। इस प्रकार धूम के रहने का स्थान कम है और अग्नि का उससे कहीं अधिक। इसलिए धूम है 'व्याप्य' और अग्नि है 'व्यापक'। अनुमान के लिए 'व्याप्य' (धूम) की सत्ता आवश्यक होती है, अर्थात् व्याप्य (धूम) की स्थिति को देखकर व्यापक (अग्नि) का अनुमान तो ठीक होता है परन्तु इसका उलटा कभी ठीक नहीं होता। अर्थात् 'व्यापक' (अग्नि) को देखकर 'व्याप्य' (धूम) का अनुमान कभी ठीक नहीं होता। दहकते हुए लोहे (अयोगोलक) को देखिए। वहाँ आग तो है, परन्तु धूआँ नहीं है। अतः आग के सहारे धूम का ज्ञान कहीं भी अनुमान से सिद्ध नहीं होता है। धूम की सत्ता के सहारे अग्नि का ही ज्ञान ठीक माना जाता है। 'हेतु' को कम स्थानों में रहना अनिवार्य होता है और 'साध्य' को अधिक स्थानों में रहना उचित होता है। अनुमान की प्रक्रिया के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है, भारतीय न्यायदर्शन में तथा पश्चिमी लौजिक में भी।

अनुमान के भेद

न्याय सूत्रों (१।१।५) में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट। इन अनुमान-प्रकारों के लक्षण के विषय में न्यायसूत्र के टीकाकारों में गहरा मतभेद है। 'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं। अतः यह अनुमान-भेद मीमांसकों की कल्पना प्रतीत होता है, नैयायिकों ने इसे ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थ में परिवर्तन भी किया है। मीमांसा में 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का अङ्ग के लिए किया जाता है, पर नैयायिकों ने प्रधान तथा अंग के सम्बन्ध को कारण-कार्य भाव के ऊपर अवलम्बित ठहराया है।

भाष्यकार के मतानुसार जब कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है तब 'पूर्ववत्' और कार्य से कारण के अनुमान करने पर 'शेषवत्' होता है। आकाश में काले-काले मेघ-मण्डल को देखकर वृष्टि होने का अनुमान करना पूर्ववत् का उदाहरण है। नदी में होने वाली बाढ़ को देख कर वर्षा का अनुमान करना कि कहीं ऊपर वृष्टि हुई है, शेषवत् कहलाता है। इनकी एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है—(१) अन्वय मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान पूर्ववत् तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान शेषवत् कहलाता है। धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान पहले अनुमान का उदाहरण है। (२) शेष का अर्थ होता है अवशिष्ट होने वाला; अतः पारिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है। शब्द के स्वरूप का निर्धारण इसी अनुमान के द्वारा किया जाता है। न्याय के छह भाव पदार्थों में शब्द गुण ही होता है। यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध होता है। शब्द अनित्य है और इसलिए वह सामान्य, विशेष तथा समवाय जैसे नित्य पदार्थों से अवश्यमेव भिन्न तथा पृथक् होता है। वह द्रव्य, गुण तथा कर्म के भीतर ही माना जा सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त तीन पदार्थों के हटाने पर ये ही तीन बचते हैं। इन तीनों में भी विचार कीजिये। शब्द द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्रव्य (आकाश) में रहता है। वह कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह दूसरे शब्द के उत्पन्न होने में कारण होता है। इस प्रकार सबके अन्त में बाकी बच जाता है गुण, और इस रीति से शब्द 'गुण' ही सिद्ध होता है।

(३) सामान्यतो दृष्ट (सामान्यतः = सामान्यस्य, दृष्टम् = दर्शनम्; सामान्य मात्र का दर्शन) वहाँ होता है जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न होकर उसके सामान्य रूप का ही हमें परिचय प्राप्त है; यथा इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान। कार्य को देख कर कारण का अनुमान तर्कानुकूल है। लेखन कार्य को देख कर लेखनी का अनुमान करना उचित ही है। इसी दृष्टान्त के आधार पर वस्तु के ग्रहणरूप फल के लिए तत्साधन इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में रूप का ग्रहण कथमपि नहीं हो सकता। यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ इन्द्रियविशेष की सत्ता न देख कर तत्सामान्य करणत्व का ही अवलोकन हमारे लिए शक्य है। न्याय-सूत्र में गौतमाभिमत ये ही तीन अनुमान हैं।

(ख) अनुमान के अन्य दो भेद होते हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है, तब वह

स्वार्थानुमान होता है; पर यदि उसका प्रयोजन दूसरा कोई व्यक्ति हो, तो वह होगा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान के लिए वाक्य-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, पर जब दूसरे व्यक्ति को किसी अनुमिति का ज्ञान कराना प्रधान उद्देश्य रहता है, तब परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें पांच वाक्यों का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है।

'न्याय' अथवा पञ्चावयव वाक्य

परार्थानुमान पांच वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिनके नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन हैं। इन पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है।

(१) देवदत्त मरणशील है (प्रतिज्ञा)।
(२) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)।
(३) जितने मनुष्य हैं वे सब मरणशील हैं, जैसे राम, श्याम, मोहन, सोहन आदि (उदाहरण)।
(४) देवदत्त भी ऐसा ही एक मनुष्य है (उपनय)।
(५) अत एव देवदत्त मरणशील है (निगमन)।

'प्रतिज्ञा' पहला वाक्य है, जो सिद्ध की जाने वाली वस्तु का निर्देश करता है। 'हेतु' दूसरा वाक्य है, जो अनुमान को सिद्ध करने वाले कारण का निर्देश करता है। तीसरा वाक्य 'उदाहरण' कहलाता है, जिसमें उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य नियम का उल्लेख किया जाता है। चौथा वाक्य 'उपनय' कहलाता है, जिसमें व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है और वह 'निगमन' कहलाता है।

अनुमान प्रयोग में वाक्यों की संख्या के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। वेदान्ती और मीमांसक लोग तीन ही वाक्यों को अनुमान के लिए पर्याप्त मानते हैं = आद्विम तीन वाक्य अथवा अन्तिम तीन वाक्य (वे० प०, पृ० ६२)। प्राचीन काल में वाक्यों की संख्या दस मानी जाती थी। वात्स्यायन ने पूर्वोक्त पांच वाक्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित पांच वाक्यों को भी मानने वाले नैयायिकों का उल्लेख किया है (न्या० भा० १।१।३२)। वे वाक्य ये हैं—(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन (५) संशयव्युदास। भाष्यकार के मन्तव्यानुसार इनकी नितान्त आवश्यकता
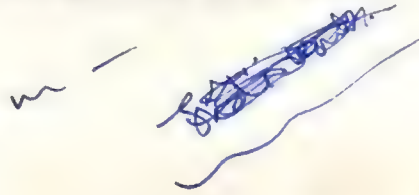
अनुमान के लिए न होने से इनका उल्लेख नहीं किया जाता। ये सिद्धि के लिए सहायक मात्र हैं, अतः इनका वर्णन 'न्याय' में नहीं किया जाता।

अब इसकी विशेषता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यह पञ्चावयव वाक्य मनोवैज्ञानिक आधार पर अवलम्बित है। पाश्चात्य न्याय में डिडक्शन और इन्डक्शन भेद कर तर्क दो प्रकार का माना जाता है, पर भारतीय न्याय में इन दोनों का श्लाघनीय सम्मेलन किया गया मिलता है। व्याप्य (हेतु) और व्यापक (साध्य) के नियत सम्बन्ध पर ही अनुमान की पूरी इमारत खड़ी रहती है। इसी व्याप्ति की सूचना उदाहरण-वाक्य की विशेषता है। चतुर्थ वाक्य उपनय या परामर्श वाक्य की अपनी मुख्य विशिष्टता है। बिना परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उस व्याप्ति के पक्ष (पर्वत) में रहने का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। अतः व्याप्त हेतु का पक्ष धर्म होने (व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान) को 'परामर्श' माना जाता है। केवल धूमवान् होने से पर्वत की अग्निमत्ता अनुमित नहीं हो सकती, जब तक धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो और इस प्रकार वह्नि-व्याप्य धूम का ज्ञान पर्वत में न हो। निगमन हेतु द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई थी, वह हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है, वही निगमन वाक्य प्रदर्शित करता है।

(ग) अनुमान का एक तीसरे प्रकार से भी विभाजन होता है। अनुमान तीन प्रकार का होता है—(क) केवलान्वयी; (ख) केवलव्यतिरेकी तथा (ग) अन्वयव्यतिरेकी। यह विभाजन अधिक तर्कानुकूल माना जाता है, क्योंकि यह अनुमान की आधाररूप व्याप्ति को प्राप्त करने के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है।

(i) केवलान्वयी अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु साध्य के साथ सर्वदा सत्तात्मक रूप से सम्बद्ध रहता है। यहाँ हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति का ज्ञान अन्वयमुखेन ही होता है। यहाँ कोई भी प्रतिषेध का दृष्टान्त होता ही नहीं। इसीलिए इस अनुमान के नाम में 'केवल' शब्द रखा गया है।

उदाहरण—

समस्त ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं (प्रतिज्ञा)
घट एक ज्ञेय पदार्थ है (हेतु)।
अत एव घट अभिधेय है (निगमन)।

'ज्ञेय' का अर्थ है ज्ञान का विषय होना, अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम जान सकते हैं। 'अभिधेय' का अर्थ है अभिधा संज्ञा का विषय होना, अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम नाम दे सकते हैं। यहाँ प्रथम वाक्य व्यापक सत्तात्मक सिद्धान्त है, जिसमें 'अभिधेय' नामक विधेय समस्त 'ज्ञेय' पदार्थों के विषय में कथित किया गया है। सच तो यह है कि उद्देश्य के विषय में हम विधेय का कथमपि निषेध कर ही नहीं सकते और यह नहीं कह सकते कि यह ज्ञेय पदार्थ अभिधेय नहीं है, क्योंकि निषेध करने के समय हमें कहना ही पड़ेगा कि यह 'अनभिधेय' है और ऐसा करने में हमने उसे नाम दे ही दिया। फलतः ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ 'ज्ञेय' वस्तु 'अभिधेय' न हो। अतः यहाँ केवल अन्वयमुखेन व्याप्ति है। यहाँ साध्यवाक्य के समान पक्षवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा सिद्धान्त वाक्य भी दोनों समभावेन व्यापक सत्तात्मक वाक्य हैं, जिनका निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिए यह अनुमान पश्चिमी तर्कशास्त्र के 'बराबरा' नामक न्याय-वाक्य के भीतर गतार्थ होगा।

(ii) केवल व्यतिरेकी अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु साध्य के साथ केवल निषेधात्मक रूप से ही सम्बद्ध रहता है। यह उस व्याप्ति के ऊपर आधारित रहता है, जो साध्य के अभाव तथा हेतु के अभाव के बीच होती है। यहाँ व्याप्ति केवल व्यतिरेकमुखेन होती है, क्योंकि यहाँ पक्ष को छोड़कर ऐसा कोई सत्तात्मक उदाहरण ही नहीं रहता जहाँ व्याप्ति को स्थिति बतलाई जा सके। उदाहरण से उसकी परीक्षा कीजिए—

इतर पदार्थों से भिन्न न होने वाला गन्ध नहीं रखता (प्रतिज्ञा)।

पृथ्वी गन्ध रखती है (हेतु)।

अत एव पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है (निगमन)।

यहाँ साध्यवाक्य व्यापक प्रतिषेध-वाक्य है, जहाँ हेतु या विधेय 'गन्ध' का सम्बन्ध 'इतर पदार्थ से न भिन्न पदार्थ' के साथ निषिद्ध किया जाता है। बात यह है कि गन्ध का निवास केवल पृथ्वी में ही रहता है, जो यहाँ पक्ष है। अतएव पृथ्वी को छोड़कर हम गन्ध की स्थिति का उदाहरण कोई दे ही नहीं सकते। हेतु तथा साध्य का सम्बन्ध हम प्रतिषेध द्वारा व्यतिरेकमुखेन ही कर सकते हैं। दृष्टान्त के अभाव में अन्वयमुखेन सम्बन्ध किसी प्रकार भी दोनों में स्थापित नहीं किया जा सकता। इस अनुमान का यही वैशिष्ट्य है। यह वस्तुस्थिति पर आश्रित रहने वाला अनुमान है। अतः पश्चिम के प्रचलित न्याय-दर्शन में इसका

निर्देश नहीं मिलता, परन्तु आधुनिक विद्वान् वहाँ भी ऐसे निषेधात्मक तर्क पर आश्रित अनुमान की सत्यता को अब मानने लगे हैं।

(iii) अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान में हेतु साध्य के साथ दोनों प्रकारों से सम्बद्ध रहता है—अन्वय के द्वारा तथा व्यतिरेक के द्वारा। यहाँ व्याप्ति का ज्ञान हमें इन दोनों विशिष्ट प्रकारों से होता है। व्याप्ति हेतु तथा साध्य के बीच में होती है और साथ ही साथ वह साध्य के अभाव और हेतु के अभाव के बीच भी होती है। व्यापक वाक्य तब सत्तात्मक होता है, जब व्याप्ति अन्वय के द्वारा सिद्ध होती है और वह निषेधात्मक तब होता है जब व्याप्ति व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होती है। अन्वय तथा व्यतिरेक में अन्तर यह होता है कि अन्वय-व्याप्ति में होने वाला उद्देश्य तथा विधेय व्यतिरेक व्याप्ति में बदल जाता है, अर्थात् अन्वय वाक्य का उद्देश्य दूसरे वाक्य मे विधेय बन जाता है और पूर्ण विधेय यहाँ उद्देश्य बन जाता है। उदाहरणों से परीक्षा कीजिए—

अन्वयवाक्य—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि रहती है = धूम वह्नि से व्याप्य है।

व्यतिरेकवाक्य—वह्न्यभाव धूमाभाव से व्याप्य है।

इसलिए अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान इन दोनों वाक्यों के ऊपर रहता है। उदाहरणों से देखिए—

(क) धूमवान् पदार्थ वह्निमान् होते हैं (प्रतिज्ञा)।
यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)।
अत एव यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

(ख) कोई भी वह्न्यभाववान् पदार्थ धूमवान् नहीं होता (प्रतिज्ञा)।
यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)।
फलतः यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

यहाँ एक ही तथ्य दो प्रकार की व्याप्तियों के आधार पर अनुमित होता है। प्रथम दशा में यह व्याप्ति अन्वयमुखेन है और दूसरी दशा में वह व्यतिरेकमुखेन है। दोनों व्याप्तियों का आधार इस अनुमान की विशिष्टता है।

व्याप्ति

अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने विशेषतया नैयायिकों ने व्याप्ति की आलोचना करने में इतनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय दिया है कि वह दार्शनिक जगत् में एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्यन्याय के ग्रन्थों में की गई है।

अनुमान की मूल भित्ति व्याप्ति

हेतु (धूम) तथा साध्य (वह्नि) के नियत साहचर्य-सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हमें उनके सदा नियम से एकत्र रहने की सूचना न मिले। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस साहचर्य को हम नियत रूप से पाते हैं, अत धूम तथा वह्नि की व्याप्ति न्यायसंगत प्रतीत होती है। इसीलिए व्याप्ति को प्राचीन ग्रन्थों में 'अविनाभाव' के नाम से पुकारते थे। अविनाभाव जो वस्तु जिसके विना विद्यमान न रह सके उनका सम्बन्ध है। व्याप्ति धूम तथा वह्नि के साथ सम्पन्न होती है, परन्तु वह्नि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती; क्योंकि वह्नि के सब स्थलों में धूम सदा विद्यमान नहीं रहता है। वहाँ आग तो रहती है, परन्तु धूम नहीं होता। उदाहरणार्थ लोहे के जलते हुए गोले में अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं दीख पड़ता। अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध तभी सिद्ध हो सकता है। जब गीली लकड़ी का उपयोग जलाने के लिए किया जाय। यदि गीली लकड़ी को हम जलाने के लिए काम में लाते हैं, तो वहाँ धुआँ जरूर उठता है। यदि लकड़ी सूखी है तो आग रहने पर भी धुआँ नहीं रहेगा। यही तो वस्तु-स्थिति है। इसलिए अग्नि के साथ धूम का साहचर्य रहने के लिए गीली लकड़ी (आर्द्र इन्धन) का प्रयोग एक बहुत ही जरूरी शर्त है। इस आर्द्र इन्धन के संयोग को न्याय में 'उपाधि' कहते हैं। व्याप्ति के लिए उपाधि का न होना (अभाव) बहुत ही आवश्यक है। अतः व्याप्ति हेतु (धूम) तथा साध्य (अग्नि) के बीच सदा एक रूप से रहने वाला (नियत) सम्बन्ध ही नहीं होता; प्रत्युत उसे उपाधि से हीन होना भी चाहिए। इसलिए व्याप्ति का उचित लक्षण है—हेतु और साध्य के बीच नियत तथा उपाधिरहित सम्बन्ध। उपाधि के सहित व्याप्ति से यथार्थ अनुमान कभी नहीं हो सकता; प्रत्युत भ्रान्त ही अनुमान होता है, जो असिद्ध हेत्वाभास का एक विशेष प्रकार होता है (व्याप्यत्वासिद्ध)।

Moist
Wet

अब हमारे सामने एक बड़ा ही विचारणीय प्रश्न है व्याप्ति के यथार्थ होने के विषय में। व्याप्ति को हम ठीक क्यों कर मान सकते हैं? देखते तो हम हैं केवल कतिपय सीमित स्थानों को, जहाँ धूम तथा अग्नि एक साथ रहते हैं, परन्तु हम व्याप्ति करते हैं सब स्थानों के लिए। देखते हैं कि राम, श्याम, मोहन आदि कतिपय मनुष्य मरते हैं। इतना ही हमारे अनुभव में आता है, परन्तु हम व्याप्ति बनाते हैं कि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं'। ऐसी व्याप्ति के यथार्थ होने के लिए हमारे पास साधन ही क्या है? इसे हम क्योंकर ठीक, शुद्ध तथा सच्चा मानें? यदि व्याप्ति यथार्थ नहीं होती, तो उसके आधार पर टिकने वाला अनुमान बालू की भीत के समान एकदम गिर कर नष्ट हो जाता। अतः व्याप्ति की प्रामाणिकता को खोज निकालना एक आवश्यक समस्या है।

व्याप्ति-परीक्षा

इस विषय में बौद्ध मत[१२] तथा वेदान्त मत[१३] अलग अलग हैं। न्याय इस विषय में वेदान्त मत के अनुकूल है। वेदान्त के समान न्याय भी मानता है कि जहाँ दो वस्तुएँ सदा एक साथ रहती हैं (सहचार) और इस नियम का उल्लंघन कहीं भी नहीं दीखता, वहीं यथार्थ व्याप्ति होती है। इस प्रकार अनुभव की एकरूपता—अर्थात् सदा एक ही प्रकार का होना—व्याप्ति को सत्य सिद्ध करती है, परन्तु न्यायशास्त्र में कतिपय अन्य साधन भी माने गये हैं इस परीक्षण के लिए। वे हैं—(१) अन्वय, (२) व्यतिरेक, (३) व्यभिचाराग्रह, (४) उपाधिनिरास, (५) तर्क तथा (६) सामान्य लक्षण। व्याप्ति की सिद्धि के लिए पहिली आवश्यक वस्तु है—अन्वय, अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु का नियमतः रहना। धूम के रहने पर अग्नि का रहना 'अन्वय' का उदाहरण है। दूसरा साधन है व्यतिरेक—एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना 'व्यतिरेक' कहलाता है। अग्नि का जहाँ अभाव है वहाँ धूम का भी अभाव है। जलाशय में, कूप में तथा नदी में अग्नि कभी नहीं दीखता, फलतः वहाँ धूम का भी दर्शन नहीं होता—यह होगा 'व्यतिरेक' का दृष्टान्त, और पाकशाला में अग्नि जलती है वहाँ धूम भी विद्यमान रहता है—यह होगा 'अन्वय' का उदाहरण। अन्वय तथा व्यतिरेक का रहना तो व्याप्ति के लिए मुख्य साधन है, परन्तु इतने से ही यथार्थ व्याप्ति का पता नहीं चलता। उसके लिए इतर साधनों का रहना भी नितान्त आवश्यक है।

जहाँ आग नहीं रहती वहाँ धुआँ भी कभी दिखलाई नहीं पड़ता। इसके विपरीत कोई दृष्टान्त नहीं होना चाहिए कि आग तो दीखती है, परन्तु धुआँ

नहीं होता। ऐसे व्यभिचार का न होना भी जरूरी होता है। ऐसे नियम को 'व्यभिचाराग्रह' कहेंगे। इतना होने पर 'उपाधि' को दूर करना भी बहुत ही जरूरी रहता है। कहा गया है कि 'उपाधि' के रहने पर कोई भी व्याप्ति ठीक हो सकती है। अत एव उपाधि का हटाना आवश्यक होता है (उपाधिनिरास)। 'तर्क' की भी अनुकूलता होनी चाहिए। धूम तथा वह्नि के साहचर्य के लिए 'तर्क' की अनुकूलता है, अर्थात् पर्वत में यदि अग्नि न होता, तो वहाँ धूम भी नहीं होता, परन्तु धूम को तो हम अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः तर्क दोनों के साहचर्य को बतलाता है। अन्तिम साधन है सामान्य-लक्षण। हमें विश्व के समस्त मानवों के स्वभाव को देखने का अवसर अवश्य नहीं मिलता, तथापि हम 'मानवता' तथा 'मरणशीलता' के परस्पर सम्बन्ध को सामान्य-लक्षण से जानते हैं कि जहाँ भी मानवता रहेगी वहाँ मरणशीलता का रहना भी नितान्त आवश्यक होता है, अर्थात् ये दोनों सदा एकत्र एक साथ रहने वाले धर्म हैं। अतएव कतिपय मनुष्यों को देख कर भी हम समस्त मानवों के विषय में नियम बनाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार इन छहों साधनों के रहने के कारण ही हम किसी भी व्याप्ति को यथार्थ तथा सच्चा मानने के लिए उद्यत हो सकते हैं। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के ऊपर न्याय का यही उत्तर है[1]।

पाश्चात्य अनुमानवाक्य से 'न्याय' की तुलना

पाश्चात्य जगत् में न्याय की रूपरेखा ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (अरिस्टोटल) ने निश्चित की थी। कतिपय परिवर्तनों के साथ उनकी उद्भावित शैली तथा सिद्धान्तों का अनुगमन आज भी पश्चिमी तर्क करता है। उनके अनुमान वाक्य (सिलोजिजम) के साथ 'न्याय' की तुलना अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पाश्चात्य अनुमान में आकारगत (फोर्मल) सत्यता की ही उपलब्धि होती है, तात्त्विक सत्यता की आवश्यकता नहीं मानी जाती, परन्तु भारतीय अनुमान में दोनों प्रकार की सत्यताओं का होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमी तर्कवाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) निरपेक्ष वाक्य (केटेगौरिकल), (२) काल्पनिक (हाइपोथेटिकल), (३) वैकल्पिक (डिसजन्क्टिव); परन्तु भारतीय तार्किक वाक्य केवल प्रथम प्रकार का ही होता है। पश्चिमी न्याय में केवल तीन वाक्यों से अनुमान की पूरी प्रक्रिया निष्पन्न होती है—(१) साध्यवाक्य (मेजर

---

१. द्रष्टव्य : 'चिन्तामणि' का व्याप्ति-ग्रहोपाय - प्रकरण तथा मुक्तावली कारिका १३७।

प्रेमिस), (२) पक्षवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा (३) फलवाक्य (कनक्ल्यूज़न), परन्तु भारतीय न्यायशास्त्र में पांच वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्ण-व्यापी (युनिवर्सल) और कभी अंशव्यापी (पर्टिकुलर) होकर विविध रूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय वाक्य पूर्ण-व्यापी भावात्मक एक ही प्रकार का होता है। परन्तु सबसे महान् अन्तर भारतीय न्याय में 'परामर्श' (उपनय) की स्थिति से है। पश्चिमी न्याय में प्रथम दोनों वाक्यों का समन्वय करने वाल कोई वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्याय में हेतुवाक्य और उदाहरण का एकीकरण उपनय में किया गया है, जो अनुमान का फल उत्पन्न करने में नितान्त आवश्यक है। वास्तव में परामर्शज्ञान से ही अनुमिति का उदय होता है। यहाँ हेतु के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से समस्त दोष (हेत्वाभास) हेतु के आभास पर अवलम्बित रहते हैं, परन्तु पश्चिमी न्याय में पक्षाभास (एलिसिट माइनर) तथा साध्याभास (एलिसिट मेजर) नामक दोषों की भी सत्ता स्वीकृत की गई है। परार्थानुमान और स्वार्थानुमान प्रकार भी पश्चिमी जगत् में उपलब्ध नहीं होते। मोटे तौर से दोनों में ये स्फुट प्रतीयमान भेद हैं।

हेत्वाभास

हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। अतः हेतु की निर्दोषता के विषय में नैयायिकों का विशेष आग्रह रहता है। हेतु में पाँच गुणों के होने पर वह सत्-हेतु कहा जाता है—(१) पक्षे सत्ता (हेतु का पक्ष में रहना), (२) सपक्षे सत्ता (सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना) (३) विपक्षाद् व्यावृत्तिः (पक्ष से विपरीत दृष्टान्तों में यथा कूप, जलाशय आदि में हेतु का अभाव), (४) असत्प्रतिपक्षत्वम् (साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव), (५) अबाधितविषयत्व (प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना)। हेतु के इन गुणों पर अनुमान की सत्यता अवलम्बित रहती है। यदि इन गुणों में से किसी में त्रुटि लक्षित होती है, तब सत् हेतु का आभासमात्र रहता है। (हेतु + आभास) अर्थात् आपाततः हेतु में निर्दुष्टता लक्षित होती है, पर वास्तव में वह दोष से संवलित रहता है। इसे ही हेत्वाभास कहते है। बौद्ध न्याय में इनके अतिरिक्त पक्ष और दृष्टान्त के दोषों का भी विस्तृत विवेचन किया गया मिलता है।

नैयायिकों के अनुसार हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं और इन पाँचों प्रकारों में अनुमान में दिया गया हेतु केवल देखने में ही (आपाततः) हेतु के समान प्रतीत होता है, परन्तु उसमें सच्चे हेतु के लक्षण अथवा चिह्न विद्यमान नहीं रहते। वह सच्चे हेतु के रूप में केवल आभासित होता है, परन्तु वस्तुतः वह सच्चा नहीं होता। अनुमान की जितनी भ्रान्तियाँ हैं वे सब अन्तिम दशा में हेतु की बुराई के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए नैयायिकों ने समस्त अनुमान-भ्रान्तियों को हेतु का आभास मानकर ही सिद्ध किया है। हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है—(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत् प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध, (५) बाधित।

(१) **सव्यभिचार** हेत्वाभास का एक उदाहरण देखिए—

समस्त द्विपद जीव तर्कबुद्धि से युक्त होते हैं (प्रतिज्ञा)।
हंस द्विपदधारी जीव है (हेतु)।
अत एव हंस तर्कबुद्धि से युक्त है (निगमन)।

इस अनुमान का फल निश्चित रूप से गलत है, परन्तु इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि यहाँ हेतु तथा साध्य का सम्बन्ध एकान्ततः ठीक नहीं है। द्विपदधारी दोनों प्रकार के होते हैं। कुछ द्विपदधारी जीव तर्कबुद्धि से युक्त होते हैं, जैसे मनुष्य; परन्तु कुछ द्विपदधारी ठीक इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् वे तर्कबुद्धि युक्त नहीं होते, जैसे कौवा। ऐसी दशा में यहाँ हेतु (द्विपदधारी), साध्य (तर्कबुद्धि युक्त) को सिद्ध करने में प्रमाण नहीं माना जा सकता। 'सव्यभिचार' का अर्थ है 'व्यभिचार' से युक्त। व्यभिचार का अर्थ है कि हेतु, साध्य से भिन्न पदार्थों में भी रहने वाला है। सव्यभिचार हेतु से हम कोई एक परिणाम नहीं निकाल सकते प्रत्युत वह अनेक विरोधी परिणामों को उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि वह हेतु के लक्षण से च्युत रहता है। शुद्ध हेतु के लिए आवश्यक होता है कि साध्य उन सब स्थलों पर विद्यमान रहे है जहाँ हेतु वर्तमान रहता है, जैसे धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध। इसके प्रतिकूल सव्यभिचार हेतु साध्य की स्थिति वाले स्थानों पर वर्तमान रहता है और साथ ही साथ साध्य के अभाव वाले स्थानों पर भी रहता है इसीलिए वह अनेकान्तिक भी कहलाता है अर्थात् वह एक अन्त—परिणाम—को सिद्ध न करके दूसरे अन्त को भी सिद्ध करने में समर्थ होता है। ऐसे हेतु से हम साध्य को सिद्ध करते हैं और साथ ही साथ उसके विपरीत साध्य को भी सिद्ध कर सकते हैं। यदि हम कहें कि 'यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह ज्ञेय (ज्ञान का विषय) है' तो यह

अनुमान ठीक नहीं होगा; क्योंकि 'ज्ञेय' हेतु वह्नि से युक्त स्थानों में—रसोईघर में—रहता है और साथ ही साथ वह वह्नि से रहित स्थानों में—तालाब तथा झील में—भी रहता है। उसी हेतु से हम पर्वत का वह्नि-विरहित होना भी सिद्ध कर सकते हैं। अत एव साध्य के अभाव को सिद्ध करने के कारण यह 'सव्यभिचार हेत्वाभास' कहलाता है।

(२) द्वितीय अनुमान-भ्रान्ति का नाम है—विरुद्ध, क्योंकि यह साध्य को नहीं प्रत्युत साध्य से विरुद्ध वस्तु को ही सिद्ध करने में समर्थ होता है। एक उदाहरण के द्वारा इसके रूप को समझ लेना चाहिए। यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि यह उत्पन्न किया जाता है (कृतक) है' तो यहाँ हेतु विरुद्ध हुआ। यह हेतु (कृतक), साध्य (नित्य) को न सिद्ध कर ठीक इसके विपरीत (अनित्य) को सिद्ध करता है, क्योंकि नियम तो यह है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह निश्चित रूप से अनित्य होती है, जैसे घड़ा। घड़े को कुम्भकार बनाता है, फलतः वह सदा नहीं टिकता; वह अनित्य होता है। सव्यभिचार तथा विरुद्ध में परस्पर अन्तर यही है कि (क) सव्यभिचार हेतु निश्चित किये गये सिद्धान्त को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता तो (ख) विरुद्ध हेतु साध्य को असिद्ध करता है और उसके ठीक उलटे को ही सिद्ध कर देता है। यही दोनों के भीतर विद्यमान अन्तर है।

(३) तीसरे प्रकार का हेत्वाभास 'सत् प्रतिपक्ष' कहलाता है। 'प्रतिपक्ष' का अर्थ होता है शत्रु या विरोधी। 'सत्' का अर्थ है विद्यमान। जहाँ साध्य से विपरीत तथ्य को सिद्ध करने वाला हेतु विद्यमान रहता है वहीं 'सत्-प्रतिपक्ष' होता है। किसी हेतु के द्वारा किसी साध्य का निश्चय किया जाता है। यदि वहाँ अन्य हेतु के द्वारा साध्य से ठीक विपरीत तथ्य का भी अनुमान किया जा सके, तो वह पहला हेतु 'सत्-प्रतिपक्ष' कहलाता है, क्योंकि उसका विरोधी अन्य हेतु विद्यमान रहता है। यदि हम अनुमान करें कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रव्य है' (सुनने योग्य है) तो हम अन्य हेतु से ठीक विपरीत साध्य का भी तो अनुमान कर सकते हैं कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न किया जाता है, जैसे पट'। प्रथम अनुमान में साध्य है 'नित्यता' तथा हेतु है 'श्रव्यता' और दूसरे अनुमान में साध्य है 'अनित्यता' और हेतु है 'कृतकता' (उत्पन्न होना)। फलतः हमने अन्य हेतु के द्वारा साध्य (नित्यता) से ठीक विपरीत वस्तु 'अनित्यता' का भी अनुमान किया। इसलिए प्रथम हेतु अपना विरोधी रखने के कारण 'सत्-प्रतिपक्ष' कहलायेगा। 'सत्प्रतिपक्ष' तथा विरुद्ध' हेतु में

स्पष्ट अन्तर विद्यमान है कि पहले में साध्य से विरोधी वस्तु की सिद्धि दूसरे ही हेतु के द्वारा की जाती है, जो दिये गये हेतु से भिन्न होता है, परन्तु विरुद्ध हेतु वाले स्थलों में स्वयं हेतु ही साध्य के अभाव को सिद्ध करता है। अत एव जहाँ 'विरुद्ध' में हेतु आप ही आप विरोधी साध्य को सिद्ध करता है, वहाँ 'सत्-प्रतिपक्ष' में उस कार्य के लिए दूसरे हेतु की आवश्यकता होती है।

(४) चौथे प्रकार के हेत्वाभास को 'असिद्ध' या 'साध्यसम' कहते हैं। यह हेतु हेतुविषयक एक मूलतथ्य का विरोधी है। हेतु को वस्तुविशेष में, जहाँ अनुमान किया जाता है, विद्यमान रहना आवश्यक होता है। यदि पर्वत में धूम (हेतु) विद्यमान ही न रहे, तो अग्नि का अनुमान ही क्यों कर किया जा सकता है; परन्तु यह हेतु इस तथ्य से हीन होता है। जिस प्रकार पक्ष में साध्य को सिद्ध करना पड़ता है, उसी प्रकार हेतु को भी सिद्ध करना पड़ता है, अर्थात् वह निश्चित रूप से वहाँ विद्यमान रहता ही नहीं। इसी लिए वह साध्यसम (अर्थात् साध्य के समान सिद्ध किया जाने वाला) कहलाता है। पक्ष में न होने से वह 'असिद्ध' भी कहलाता है। पक्ष में हेतु की स्थिति कल्पना से ही सिद्ध कर ली गई है। वह वस्तुतः वहाँ विद्यमान ही नहीं होता। यदि हम अनुमान करें कि 'यह आकाश-कमल सुगन्धित है, कमल होने के कारण, साधारण कमल के समान' तो यह गलत ही है, क्योंकि इस फूल में कमलत्व का अभाव ही है। जगत् में आकाश-कमल तो होता ही नहीं। ऐसी दशा में पुष्प में आकाश-कमलत्व का हेतु स्वयं असिद्ध है। यदि हेतु स्वयं असिद्ध है, तो वह क्या किसी साध्य को सिद्ध कर सकता है? इसी लिए ऐसे स्थलों में 'असिद्ध' हेत्वाभास विद्यमान रहता है और अनुमान को सदा अयथार्थ बनाये रहता है।

(५) अन्तिम प्रकार बाधित कहलाता है। यह उन स्थानों पर होता है जहाँ साध्य का अभाव अनुमान से भिन्न प्रमाणों के द्वारा सिद्ध रहता है। 'अग्नि शीतल है, क्योंकि वह घट के समान द्रव्य है'—यह अनुमान इसी कारण से गलत है कि अग्नि की उष्णता का ज्ञान हमें यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। आग में हाथ रखते ही वह उसे जलाने लगता है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अग्नि की शीतलता के अभाव का, नहीं नहीं उष्णता का ज्ञान हम में पहले से विद्यमान है। फलतः अग्नि में शीतलता की सिद्धि करने वाला 'द्रव्य' हेतु यहाँ बाधित है। बाधित भी पूर्व वर्णित 'सत्प्रतिपक्ष' के समान प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। 'सत्प्रतिपक्ष' में एक अनुमान का खण्डन दूसरे अनुमान के द्वारा किया जाता है, परन्तु बाधित में एक अनुमान का

खण्डन प्रत्यक्ष के द्वारा अथवा अनुमान-भिन्न प्रमाण के द्वारा किया जाता है। अनुमान का विरोध या खण्डन दोनों में किया जाता है, परन्तु अपने अनुमान के द्वारा ही और दूसरे में अनुमान से भिन्न प्रमाण के द्वारा यह कार्य किया जाता है। यही दोनों का अन्तर है।

इन हेत्वाभासों में दो के तीन-तीन अवान्तर भेद होते हैं। प्रथम हेत्वाभास सव्यभिचार तीन प्रकार का होता है—(क) साधारण, जिसमें हेतु साध्य में तथा साध्य के अभाव में विद्यमान रहता है। (ख) असाधारण, जिसमें केवल पक्ष में ही हेतु रहता है। वह विपक्ष से तो व्यावृत्त (पृथक्) रहता ही है, पर साथ ही साथ सपक्ष से भी पृथक् रहता है। वह केवल पक्ष में ही निवास करता है। (ग) अनुपसंहारी, जिसके लिए न तो अन्वय दृष्टान्त होता है और न व्यतिरेक दृष्टान्त होता है। फलतः उसके लिए कोई सपक्ष नहीं होता। चौथा हेत्वाभाव असिद्ध भी तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रया-सिद्ध = हेतु के रहने का स्थान (पक्ष) ही एकदम असिद्ध होता है। (ख) स्वरूपासिद्ध = हेतु का रूप ही सिद्ध नहीं होता, अर्थात् वह हेतु होता ही नहीं। (ग) व्याप्यत्वासिद्ध, जहाँ व्याप्ति किसी उपाधि से युक्त होती है, अर्थात् हेतु और साध्य की व्याप्ति की सिद्धि में कोई न कोई शर्त लगी रहती है, जिसके पूरे होने पर ही वह व्याप्ति वहाँ जमती है, दूसरे ढंग से नहीं। परन्तु व्याप्ति का सम्बन्ध बिना किसी शर्त के सिद्ध होना चाहिए। वह यहाँ नहीं होता और इसलिए यहाँ हेत्वाभास होता है।

विशेष ध्यान की बात यह है कि इन दोषों में पूर्ववर्णित सत् हेतु के चिह्नों की सर्वथा कमी रहती है। चिह्नों के होने पर तो अनुमान ठीक ही जमता। सत् हेतु के पाँच गुण होते हैं, जिनमें से किसी में तो एक का अभाव होता है और किसीमें अनेक गुणों का। साधारण (अनैकान्तिक) में तृतीय गुण (विपक्ष से व्यावृत्ति) का अभाव रहता है, असाधारण तथा अनुपसंहारी में द्वितीय गुण (सपक्ष में स्थिति) का उल्लंघन रहता है। विरुद्ध हेत्वाभास में प्रथम तीनों गुणों का अभाव रहता है। 'सत्प्रतिपक्ष' में चतुर्थ गुण का तथा बाधित में पाँचवें गुण (अबाधित विषयत्व) का अभाव नितान्त स्पष्ट है। 'असिद्ध' के तीनों प्रकारों में भी यही दशा होती है। आश्रयासिद्ध (आकाश-कमल में सुगन्ध का अनुमान) में तो पक्ष ही नहीं होता है, तब हेतु के पक्ष में रहने की बात ही कहाँ उठती है। स्वरूपासिद्ध (शब्द गुण है चाक्षुष होने से – अनुमान) में पक्ष (शब्द) तो अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु हेतु (चाक्षुष) की स्थिति वहाँ नहीं होती।

अतः यहाँ पहले ही गुण (पक्षे सत्ता) का अभाव विद्यमान है। 'व्याप्यत्वासिद्ध' में जब व्याप्ति ही ठीक नहीं जमती तब भला अनुमान क्योंकर सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार स्पष्ट है कि सद् हेतु के गुणों के न रहने पर ही हेत्वाभास या अनुमान-भ्रान्ति का उदय होता है। 'सत्-प्रतिपक्ष' का 'प्रकरणसम', असिद्ध का 'साध्यसम' तथा बाधित का 'कालातीत' नाम से भी अनेक न्याय-ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है।

(ग) उपमान

उपमान नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। 'गो के सदृश गवय (नील गाय) होता है' इस वाक्य के सुनने के बाद जङ्गल में जाने वाला पुरुष जब गो की समानता वाले पशु को देखकर उसे 'गवय' पद का वाच्य समझता है, तब इस ज्ञान का अनुभव उसे 'उपमान' के द्वारा होता है। अतः उपमान में दो वस्तुओं का सादृश्य-ज्ञान कारण है, तथा 'गवय गो के समान होता है' इस वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। सादृश्य कई प्रकार का हो सकता है—'एकान्त सादृश्य' एक गाय का दूसरी गाय के साथ, 'कतिपयांश में सादृश्य' गाय का सादृश्य भैंस के साथ, 'आंशिक सादृश्य' मेरु पर्वत का तिल के साथ तथा सत्तांश सादृश्य में दोनों की सत्ता होने से है। इसको लेकर उनमें अंशतः समानता है, परन्तु भाष्यकार ने इन सादृश्यों का उपमान के लिए खण्डन किया है और प्रसिद्ध सादृश्य को ही ठीक ठहराया है। समानता के अंगों की संख्या उपमान में महत्त्व-शालिनी नहीं है; प्रत्युत समानता की ख्याति तथा महत्ता ही है। अतः प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञी का, नाम और नामी का सम्बन्ध-स्थापन किया जाता है उसे उपमान कहते हैं।

उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने में दार्शनिकों ने बड़ी विप्रतिपत्ति खड़ी की है। चार्वाक उपमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते। दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं[1]। वैशेषिक लोग इसे अनुमान के भीतर बतलाते हैं, 'गो सदृश होने से यह पशु गवय है' यह ज्ञान हेतु के ऊपर अवलम्बित होने से अनुमान का एक प्रकार मात्र है[2]। सांख्यवादी[3] उपमान में शब्द तथा प्रत्यक्ष की

---

१. न्यायवार्तिक १–१–६। २. द्रष्टव्य उपस्कार वै० सू० ९।२।५ सूत्र पर। ३. द्रष्टव्य तत्त्वकौमुदी, कारिका ५।

आंशिक स्थिति मानता है। गवय में गो-सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, तथा गो-सादृश्यवान् पशु के गवय होने में उपदेश का वाक्य प्रमाणभूत है। भासर्वज्ञ ने नैयायिक होने पर भी उपमान को शब्द के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। जैन दर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञा मात्र मानता है[1]। मीमांसा[2] तथा वेदान्त[3] उपमान को स्वतन्त्र मानते हैं अवश्य, पर उनकी कल्पना नैयायिक कल्पना से नितान्त भिन्न पड़ती है। इन विप्रतिपत्तियों का मार्मिक खण्डन न्याय ग्रन्थों में किया गया है। वास्तव में उपमान अंशतः अन्य प्रमाणों के ऊपर अवलम्बित होने पर भी अन्ततः एक स्वतन्त्र प्रमाण है। उपमान सीधा साधा न होकर एक मिश्रित व्यापार है। 'गवय गोसमान पशु होता है' इस अंश में शब्द की, गवय में गो-सादृश्य के अनुभव में प्रत्यक्ष की, 'यही गवय है' इस अंश में पूर्व वाक्य की स्मृति तथा अनुमान की सत्ता भले ही सिद्ध मानी जाय, परन्तु 'गवयपद का वाच्य यही गवय पशु है' इस अंश में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है ही, क्योंकि यह अंश किसी अन्य प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

(घ) शब्द

शब्द अन्तिम प्रमाण है। आप्तोपदेशः शब्दः (न्या० सू० १।१।६)। किसी आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। 'आप्त' वह कहलाता है जो वस्तु को यथार्थ रूप से जानता है, तथा हितोपदेष्टा होने के कारण जिसके वाक्यों को हम प्रमाण मान सकते हैं। लौकिक तथा वैदिक रूप से शब्द दो प्रकार के हैं। लौकिक पुरुषों के वाक्य को लौकिक शब्द कहते हैं। श्रुति के वाक्य को वैदिक शब्द कहते हैं। पद के समूह को वाक्य कहते हैं। पद शक्ति से सम्पन्न रहता है। नैयायिक लोग दो प्रकार की शक्ति मानते हैं—अभिधा तथा लक्षणा। पद-शक्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक गण ईश्वर की इच्छा को संकेत मानते हैं। 'यह शब्द इस अर्थ को बोध करे' इसी ईश्वरेच्छा पर शब्द-संकेत निर्भर रहता है पर नव्य नैयायिक लोग पुरुष की इच्छा को भी संकेत का कारण मानते हैं। संकेतग्रह के विषय में भी दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। न्याय तो जाति, व्यक्ति तथा आकृति—इन तीनों के ऊपर संकेत स्वीकार करता है। वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक है[1]।

---

१. प्रमेयकमल-मार्तण्ड, पृ० ९७-१००। २. शास्त्रदीपिका, पृ० ७४-७६। ३. वेदान्त-परिभाषा, परिच्छेद ३।

वेद के विषय में नैयायिकों तथा मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है, पर दोनों के विचार एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न पड़ते हैं। ईश्वर की सत्ता न मानने वाली मीमांसा वेद के विषय में ईश्वर को कर्ता नहीं मानती। अतः पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उद्भूत न होने से वेद 'अपौरुषेय' है, परन्तु न्याय जगत्कर्तृरूप से ईश्वर को मानता है। अतः वह वेद को ईश्वर के द्वारा विरचित होने से 'पौरुषेय' मानता है। मीमांसक वेद को नित्य मानते हैं, परन्तु नैयायिक अनित्य। जब वेद कार्य हुआ, तब वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु उसकी अनित्यता जगत् के पदार्थों की अनित्यता के समान नहीं है। वह व्यवहार-दृष्टि की नित्यता के समान ही है।

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थकारों ने वेद में अनेक दोषों की उद्भावना की है, पर इनका खण्डन न्याय तथा मीमांसा ने बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है। वेद-प्रामाण्य न मानने पर भी जैन तथा बौद्ध दर्शन शब्दप्रमाण को मानते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण दार्शनिकों को वेदवचन प्रमाणभूत हैं, उसी प्रकार बौद्धों को बुद्धवचन (पालि त्रिपिटक) तथा जैनों को जैनागम (अर्धमागधी में लिखित 'अंग') माननीय हैं। अतः शब्द इन दोनों के लिए भी ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है।

कार्य-कारण का सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय हमने ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं—वह विशिष्ट वस्तु, जो किसी कार्य के उत्पादन में विशेष रूप से कारण हो 'करण' कहलाती है। यहाँ 'कारण' का विचार अप्रासंगिक न होगा। कार्य के नियत रूप से पूर्व में होने वाली वस्तु 'कारण' कहलाती है। नियत पूर्ववर्ती कहने से तात्पर्य यह है कि उस कार्य के वास्ते बिना किसी व्यवच्छेद के उस वस्तु का पूर्ववर्ती होना ही चाहिए। यदि यह पूर्ववर्तिता कभी है और कभी नहीं है, तो उसे कारण नहीं माना जा सकता। कारण का नितान्त उपयोगी होना भी उतना ही आवश्यक है।

'कारण' के लिए यह जरूरी है कि वह कार्य से पहिले विद्यमान हो—पूर्ववर्ती हो, परन्तु यह पूर्ववर्ती होना नियत होना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि कहीं तो वह पूर्ववर्ती हो, और कहीं वह पूर्ववर्ती न हो। नियत पूर्ववर्ती होने के अतिरिक्त कारण में एक अन्य गुण भी होना चाहिए—नितान्त उपयोगिता, अर्थात् वह कार्य के सम्पादन में नितान्त उपयोगी हो। उसके अभाव में वह कार्य कभी तैयार ही नहीं हो सकता, जैसे कपड़े के लिए तन्तु (डोरा)। डोरे से ही

मिलकर तो कपड़ा बनता है। डोरा न हो तो कपड़ा बन ही कैसे सकता है ? पट बनने के सब स्थलों में तन्तु विद्यमान रहता ही है। अत एव नियत पूर्ववर्ती तथा नितान्त उपयोगी होने के कारण ही 'तन्तु' पट का कारण है।

कार्य के प्रति कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो नियत पूर्ववर्ती तो अवश्य होती हैं, परन्तु वे नितान्त उपयोगी नहीं होतीं। ऐसी अनावश्यक वस्तुओं को न्यायशास्त्र में 'अन्यथासिद्ध' (एकदम व्यर्थ) कहते हैं। 'अन्यथासिद्ध' संख्या में पाँच होते हैं, जो कार्य से नियत पूर्ववर्ती तो होते हैं, परन्तु आवश्यक नहीं होते। घड़े को कुम्भकार दण्डकी सहायता से बनाता है। अत एव घड़े के लिए दण्ड तथा कुम्भकार दोनों कारण होते हैं, परन्तु यहाँ कुछ वस्तुएँ पहले से ही सम्बद्ध रहती हैं जो घट-निर्माण के लिए आवश्यक नहीं होतीं। दण्ड के साथ रहता है दण्डत्व तथा दण्ड का रूप। आकाश सबका पूर्ववर्ती है। कुम्भकार का पिता कुम्भकार से भी पूर्ववर्ती होता है। अपनी पीठपर मिट्टी को लाने वाला गदहा भी तो घट के होने से पहिले है, परन्तु ये पाँचों वस्तु—दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुम्भकार-पिता तथा गर्दभ—नियत रूप से पूर्ववर्ती होने पर भी घट के लिए नितान्त आवश्यक नहीं हैं। अत एव ये 'अन्यथासिद्ध' कहलाते हैं और घट के लिए कारण नहीं माने जा सकते। अधिकतर कोहार गदहे की पीठपर मिट्टी लाते हैं, परन्तु अपने माथे पर भी ढोकर ला सकते हैं। फलतः गर्दभ घट की उत्पत्ति के लिए कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए कारण का लक्षण होगी वह वस्तु जो कार्य के नियत रूप से पूर्ववर्ती होने के साथ ही नितान्त आवश्यक होती है (अनन्यथासिद्ध)[१५]। न्याय के मत में कार्य तो कारणों से एकदम भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ होता है। मिट्टी से घड़े का जो निर्माण होता है वह एक नवीन वस्तु की सृष्टि होती है। इसलिए न्यायवादी कार्य की 'उत्पत्ति' (नवीन सृष्टि) मानता है, सांख्यों के समान 'परिणाम' नहीं।

कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण तथा निमित्त कारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायी कारण (उपादान कारण) कहते हैं, जैसे घड़े के लिए मिट्टी। समवायिकारणता द्रव्य की होती है। असमवायि कारण दो प्रकार का होता है—(१) कार्यैकार्थ प्रत्यासन्न तथा (२) कारणैकार्थ प्रत्यासन्न। 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ है एक अधिकरण में दो वस्तुओं का रहना। फलतः जिस अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से कार्य विद्यमान रहता है, उसी अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहनेवाला असमवायि कारण 'कार्यैकार्थप्रत्यासन्न'

कहलाता है। इसका दृष्टान्त है—पट में तन्तु-संयोग। यहाँ तन्तुओं के द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्यरूप पट तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है; उन्हीं तन्तुओं में गुण होने के कारण 'संयोग' भी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। 'पट में तन्तु-संयोग' प्रथम प्रकार का 'असमवायि कारण' है। तन्तु संयोग होने पर ही पट का निर्माण होता है, नहीं तो तन्तुओं का एक गट्ठर भी पट कहा जा सकता।

(२) 'कारणैकार्थ प्रत्यासन्न'—एक अधिकरण में समवायि कारण के साथ रहनेवाला कारण 'कारणैकार्थ प्रत्यासन्न' कहलाता है, जैसे पट-रूप (कार्य) के प्रति 'तन्तुरूप' (कारण)। यहाँ पटगत रूप समवाय सम्बन्ध से पट में विद्यमान रहता है और यह कारण पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में विद्यमान रहता है और इन्हीं तन्तुओं में तन्तुरूप भी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इस प्रकार पटरूप के प्रति तन्तु रूप की असमवायि कारणता इस द्वितीय प्रकार की सिद्ध होती है। इस प्रकार कारण के साथ अथवा कार्य के साथ एक अर्थ (विषय) में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान कारण को 'असमवायि कारण' कहते हैं। नैयायिक लोग कारण तथा कार्य के बीच सम्बन्ध के रूप में असमवायि कारण को स्वीकार करते हैं जो प्रायः संयोग रहता है। इस कारण की सत्ता मानना नैयायिक मत की विशिष्टता है। इसके विपरीत सांख्यवादी, मीमांसक तथा वेदान्ती यह असमवायि कारण न मानकर दोनों के बीच में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकारते हैं। अतः उनके मत में दो ही कारण होते हैं। वे 'समवायि कारण' को 'उपादान कारण' के नाम से पुकारते हैं। गुण तथा क्रिया ही असमवायी कारण हो सकते हैं। इन दोनों से भिन्न कारण को 'निमित्त कारण' कहते हैं, जैसे घड़े का बनाने वाला कुलाल तथा उसके औजार। इन विविध कारणों की परस्पर सहकारिता से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इन तीनों में से कार्योत्पत्ति के लिए जो असाधारण, विशिष्ट या नितान्त साधक है उसे 'करण' कहते हैं।

न्याय और अरस्तू

पश्चिमी दर्शन के जन्मदाता के रूप में यवन तत्त्ववेत्ता अरस्तू (एरिस्टौटल Aristotle) की ख्याति सर्वत्र मान्य है। इन्होंने कारण के चार प्रकार माने हैं—(क) कोजा फोर्मालिस (Causa Formalis = Formal Cause) (ख) कोजा मेतीरिआलिस (Causa Materialis = Material Cause); (ग) कोजा एफ़िसिएन्स (Causa

Efficiens = Instrumental Cause); (घ) कोज़ा फिनालिस (Causa Finalis = Final Cause)। इन चारों कारणों में द्वितीय उपादान कारण तथा तृतीय निमित्त कारण ही है। प्रथम कारण से अरस्तू का अभिप्राय वस्तु की आकृति से है। घड़ा बनाने से पहिले कुम्हार घड़े की मानसिक कल्पना करता है तथा मकान बनाने वाला मिस्त्री मकान बनाने से पहले मकान का चित्र अपने मानस-पटल पर अथवा कागज पर नक्शे के रूपमें बना लेता है। यह नैयायिकों के असमवायि कारण के समान बताया जा सकता है, क्योंकि उपादान तन्तुओं के संयोग से कार्य-रूपी पट की आकृति का निर्माण होता है। चतुर्थ कारण का तात्पर्य है वस्तु का प्रयोजन या लक्ष्य। जल का आनयन घट-निर्माण का लक्ष्य है न्याय मत में ऐसा कोई कारण नहीं है। 'अदृष्ट' के भीतर इस कल्पना का समावेश किया जा सकता है। यूरोप के भी दार्शनिकों (जैसे बेकन) ने अरस्तू के इस कारण-प्रकार की उपेक्षा की है। भारतीय तत्त्वज्ञ भी 'अदृष्ट' की कल्पना को मान्यता नहीं देते।

(४) न्याय-तत्त्व-समीक्षा

न्यायसूत्र (१।१।९) में प्रमेय के द्वादश भेद स्वीकृत किये गये हैं—
(१) आत्मा—सब वस्तुओं को देखने वाला, भोग करने वाला, जाननेवाला; (२) शरीर—भोगों का आयतन या आधार;

प्रमेय

(३) इन्द्रिय—जिनके द्वारा आत्मा बाह्य वस्तुओं का भोग करता है—भोगों के साधन; (४) अर्थ —भोग की जाने वाली वस्तुओंका समूह; (५) बुद्धि—भोग-ज्ञान; (६) मन—सुख-दु.ख आदि आन्तर भोगों की साधनभूत इन्द्रिय; (७) प्रवृत्ति—मन, वचन तथा शरीर का व्यापार; (८) दोष —जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है; (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म; (१०) फल—सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव; (११) दुःख—इच्छाविघातजन्य क्लेश या पीड़ा; (१२) अपवर्ग—दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति। इन्हीं पदार्थों का ज्ञान मुक्ति के लिए सहायक है। अतः इन वस्तुओं को 'प्रमेय' कहते हैं। आत्मा का नैयायिक रूप वैशेषिकों को भी मान्य है। अतः इसका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

न्याय में ईश्वर-मीमांसा

न्यायदर्शन में ईश्वर का सिद्धान्त बड़ा ही महत्त्व रखता है। 'ईश्वर' न्याय-दर्शन का एक मौलिक तत्त्व है, जिसके आधार पर उसके आचार तथा धर्म का

विशाल दुर्ग खड़ा है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीव न तो प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान पा सकता है और न इस जगत् के दुःखों से ही छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अत एव यह जानना बहुत ही जरूरी है कि ईश्वर कैसा है, तथा उसकी सत्ता के लिए कौन से प्रमाण हैं?

ईश्वर का रूप

ईश्वर का स्वरूप-विवेचन न्यायदर्शन में बड़ी सुन्दरता से किया गया है। ईश्वर इस जगत् की रचना, पालन तथा संहार करने वाला है। वह असत् पदार्थों से विश्व की रचना नहीं करता, प्रत्युत अणुओं से करता है जो सूक्ष्मतम रूप में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। जगत् में व्यवस्था का आधायक वह स्वयं है। इस प्रकार ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं। वेदान्त से यह मत भिन्न पड़ता है। वेदान्तवादी ईश्वर को एक साथ दोनों ही कारण मानता है—निमित्तकारण भी और उपादानकारण भी। ईश्वर की इच्छा बड़ी प्रबल होती है। वह इच्छा के बल पर इस विश्व की रक्षा करता है, परन्तु जब वह देखता है कि इसमें पाप का आधिक्य तथा पुण्य का अभाव हो गया है, तब वह इसका संहार भी कर डालता है। विश्व के बनाने में उसका एक नैतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के अभाव में वह इसे प्रलय में डाल देता है। ईश्वर जीवों के कर्मफलों का दाता भी है और इसलिए वह नैतिक अध्यक्ष तथा शासक है। कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि मनुष्य भी, अपने काम करने में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता। मनुष्य अपेक्षाकृत ही स्वतन्त्र है, अर्थात् वह परमात्मा के आदेश तथा संरक्षण में अपने कार्यों का सम्पादन करता है। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पिता अपने अनेक पुत्रों को उनकी योग्यता, प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुसार उनके योग्य भिन्न भिन्न कार्यों में लगाता है, ईश्वर ठीक उसी प्रकार जीवों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार नाना कार्यों में लगाता है। मनुष्य कर्म के सम्पादन में निमित्तकारण होता है और ईश्वर उनका प्रयोजन-कर्ता होता है, जो उसे कार्यों में लगाता है तथा करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार ईश्वर प्राणिमात्र का नैतिक शासक है; हमारे कर्मों के फलों का न्यायतः प्रदाता है, तथा हमारे सुखों और दुःखों का नियामक है। उसके आदेश तथा नियन्त्रण में रहकर ही जीव अपने कार्यों का सम्पादन करता है, तथा अपने जीवन के उच्च उद्देश्यों का लाभ करता है।

ईश्वर-सिद्धि के प्रमाण

ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिकों ने बड़े ही प्रबल तथा गम्भीर प्रमाणों को खोज निकाला है। पश्चिमी तत्त्वज्ञों ने इस विषय में जिन प्रमाणों को रखा है, वे सब न्याय-ग्रन्थों में बहुलता से मिलते हैं। पहला प्रमाण है कार्य-कारण के सम्बन्ध को लेकर। विश्व के जितने पदार्थ हैं वे सब कार्य हैं, अर्थात् उत्पन्न हुए हैं। इसमें हेतु दो हैं—एक तो वे जो अवयवों या अंशों से युक्त हैं (सावयव)। समग्र पदार्थ—मनुष्य तथा पशु, घट तथा पट, पशु तथा पक्षी—अवयवों से सम्पन्न हैं, तथा साथ ही साथ अवान्तर परिमाण से युक्त हैं, उनका परिमाण सीमित है। सूर्य तथा चन्द्रमा, नदी तथा समुद्र, पर्वत तथा वृक्ष—जगत् के ये समग्र द्रव्य कार्य हैं, क्योंकि उनके अवयव होते हैं, तथा ये सीमित परिमाण से युक्त हैं। इस कार्य का कोई कर्ता भी होना ही चाहिए। यही तो हमारा दैनन्दिन अनुभव है। घड़े का कर्ता कुम्हार है और पहिये का बनाने वाला बढ़ई। इसी प्रकार इस विश्व के कार्यरूप पदार्थों का कर्ता कोई न कोई अवश्य होगा और वह चेतन सर्वशक्तिशाली ईश्वर ही है। विश्व का अन्तिम उपादान तो परमाणु होता है, जो स्वयं जड़ होता है। यह जड़ उपादान यदि किसी चेतन अध्यक्ष की संरक्षकता में न रहता तो इतने सुव्यवस्थित तथा नियम से परिचालित विश्व की उत्पत्ति में कभी समर्थ न हो पाता। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा व्यापक है। वह चेतन पदार्थ अणुओं की पूर्ण जानकारी रखेगा, क्योंकि उन्हीं के द्वारा उसे जगत् की रचना करनी है (ज्ञान)। वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा रखता है (चिकीर्षा), तथा साथ ही साथ उसी उद्देश्य की पूर्ति करने की इच्छा से वह सम्पन्न है (कृति)। वह सर्वज्ञ अवश्य होगा, क्योंकि सर्वज्ञ व्यक्ति ही परमाणु-जैसे अनन्त तथा सूक्ष्मतम पदार्थों के जानने योग्य होता है। इस प्रकार विश्वरूपी कार्य से हम कर्ता ईश्वर की सत्ता का अनुमान करते हैं।

कार्यतः

संसार के प्राणियों के भाग्य में कितना अन्तर दीखता है। कोई तो राजसी ठाट-बाट से पूरे वैभव में अपना दिन बिताता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति रोटी-रोटी के लिए तरसता रहता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है हमारा कर्म ही। अपने भाग्य के हम ही उत्तरदायी हैं। जैसा कर्म वैसा फल। बबूल के बोने से क्या कभी मीठे आम चखने को मिल सकते हैं? मीठे आम को खाने के अभिलाषी व्यक्ति

अदृष्टतः

को मीठा आम ही बोना पड़ता है। अतः निश्चित है कि कर्मों का फल फलता है और उसी के कारण प्राणियों की स्थिति में इतना अन्तर विद्यमान है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि कर्म करते तो हैं आज और उसका फल होता है बहुत दिनों के अनन्तर—वर्षों के बाद और कभी तो यह विलम्ब और भी अधिक होता है। ऐसी स्थिति में कर्म तथा कर्मफल का सम्बन्ध कैसे स्थिर किया जाय? इसके लिए नैयायिक लोग पुण्य तथा पाप की कल्पना मानते हैं। अच्छे कामों के करने से एक प्रकार की शोभन योग्यता उत्पन्न होती है, जिसे 'पुण्य' कहते हैं; बुरे कामों के करने से अशोभन योग्यता होती है, जिसे 'पाप' कहते हैं। पुण्य तथा पाप को ही 'अदृष्ट' कहते हैं और इसी अदृष्ट के द्वारा कर्म के फल का उदय होता है। परन्तु अदृष्ट स्वयं जड़ पदार्थ है, उसमें फल देने की योग्यता कहाँ है? इसलिए उसे प्रेरित तथा नियमित करने के लिए एक परम-ज्ञान-सम्पन्न शक्ति की आवश्यकता होती है। जिस चेतन की अध्यक्षता में जड़ अदृष्ट अपना काम करे वह परम ज्ञानी चेतन शक्ति ईश्वर ही है। ईश्वर अदृष्ट का नियन्ता है, तथा उसके अनुसार वह हमारे सुख-दुःख का, उन्नति-ह्रास का, हर्ष-विषाद का सम्पादक है। इस प्रकार कर्मफल का दाता तथा अदृष्ट का नियन्ता होने से ईश्वर की सिद्धि होती है। यह उसकी सत्ता का दूसरा प्रमाण है।

हमारे धर्म में वेद की प्रामाणिकता सर्वतोमुखी है। धर्म वही है जो वेद कहता है और अधर्म वही है जिसका वेद निषेध करता है। वेद को मानने वाला आस्तिक है और नास्तिक वही हैं जो वेद का निन्दक होता है—नास्तिको वेदनिन्दकः। प्रश्न है कि वेद की इतनी मान्यता क्यों? उसके तथ्यों में इतना आदर क्यों? उसके वचनों में इतना विश्वास क्यों? सबसे बड़ा भारतीय तार्किक भी उसी समय अपना मुँह बन्द कर लेता है, जब उसे सुझाया जाता है कि उसका तर्क वेद से विरुद्ध है और उसके कथन का विरोध वेद में है। ऐसा क्यों होता है? वेद की प्रामाणिकता का आधार क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—ईश्वर। सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा विरचित होने से ही वेद की प्रामाणिकता है। वेद किसी मानव की कृति नहीं है। मानव की रचना दोषपूर्ण होती है और हो सकती है, परन्तु ईश्वर की कृति में यह दोष कहाँ? ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा व्यापक ठहरा। उसकी रचना होने के कारण ही वेद की प्रामाणिकता में हमारी इतनी श्रद्धा और विश्वास है। वेद का रचयिता वही व्यक्ति हो सकता है जिसे भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म तथा स्थूल,

वेद की प्रामाणिकता से

इन्द्रियगोचर तथा अतीन्द्रिय समस्त पदार्थों का ज्ञान हो, वह शक्ति ईश्वर है (द्रष्टव्य न्यायभाष्य २।१।६८)।

ईश्वर की सिद्धि का एक चौथा भी प्रमाण है श्रुति का। श्रुति या वेद कहता है कि ईश्वर है और इसलिये उसे मानना पड़ेगा। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।११) कहता है कि एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सबका अन्तरात्मा है, तथा नियामक और रक्षक है। गीता (९।१७) में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही विश्व की गति हूँ, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, माता-पिता सब मैं ही हूँ। ऐसे स्पष्ट उल्लेखों से हमें ईश्वर को मानना पड़ता है। ईश्वर की सिद्धि तथा प्रमाण का एक ही आधार है और वह है अपना अनुभव (स्वानुभूति)। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि स्वानुभूति, अपने आत्मा का अनुभव ही ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण है (स्वानुभूत्येकमान)। जब तक हम अपने आप के द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं करते, नहीं जानते, तब तक ईश्वर को जान ही नहीं सकते। उसकी सिद्धि के लिए तर्क व्यर्थ है, क्योंकि उसके खण्डन के लिये उससे भी बढ़कर तर्क रखे जा सकते हैं। न बुद्धि की अवधि है और न तर्कों की सीमा। आज जिसे ईश्वर-सिद्धि के लिए अकाट्य प्रमाण मानते हैं, कल उसे ही कोई विचक्षण तार्किक अपनी बुद्धि से काट कर टुकड़े टुकड़े कर सकता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं—अन्तिम स्थिति नहीं। ऐसी दशा में हमें प्रत्यक्ष के द्वारा ही ईश्वर को जानना चाहिये, अनुमव के द्वारा नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष के लिए चाहिये योग के द्वारा निदिध्यासन, चित्त की विशिष्ट शुद्धि तथा निश्चल ध्यान। साधारण व्यक्तियों के सामर्थ्य से यह बाहर की बात है। ऐसी स्थिति में हमें चाहिये कि वेद का अनुशीलन करें, क्योंकि वेद तो ज्ञानी ऋषि-मुनियों के द्वारा अनुभूत तथ्यों की राशि है। उन्होंने योग-बल से उन तथ्यों का दर्शन किया था जो वेद के भीतर निहित हैं। श्रुति ही ऋषियों के प्रत्यक्ष अनुभव को धारण करती है। इसलिए हमें उचित है कि इन प्रत्यक्ष अनुभूति के प्रदर्शक मन्त्रों तथा वचनों में अपनी श्रद्धा रखें और उसी पर चलकर ईश्वर का प्रत्यक्ष करें, तथा उसे अपनी अनुभूति का विषय बनावें। इस प्रकार वेद के वचनों से ईश्वर की सिद्धि मानना नितान्त उचित है।[1]

श्रुति से

यहाँ तृतीय तथा चतुर्थ प्रमाणों में कोई परस्पर विरोध नहीं है। ईश्वर होने में वेद की प्रामाणिकता तथा वेदों के वचनों से ईश्वर-सिद्धि—ये दोनों अभिन्न तथ्य हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। दो बातें हैं—स्थिति का क्रम तथा ज्ञान

का क्रम। स्थिति के क्रम में ईश्वर प्रथम है और वही वेद की रचना करता है, तथा उसे प्रामाणिक बनाता है। ज्ञान के क्रम में वेद प्रथम है और उसी के ज्ञान से हम ईश्वर को जानते हैं। वेद के ज्ञान के लिये हम ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, क्योंकि वह तो ज्ञानी गुरुओं की कृपा से भी जाना जा सकता है। फलतः इन द्विविध प्रमाणों में कोई भी विरोध नहीं है।

(५) न्याय आचार-मीमांसा

न्याय दर्शन में आचार की भी मीमांसा अपनी दृष्टि से की गई है। न्याय का लक्ष्य यही है कि प्राणी इस दुःखबहुल संसार से सदा के लिये मुक्ति पा ले। यह सम्भव है ज्ञान के ही द्वारा, परन्तु ज्ञान की सहायता करने के लिए मनुष्य को उन उपायों का भी आश्रय लेना चाहिए जिनका वर्णन योग सूत्रों में किया गया है। यम, नियम, ध्यान आदि का आश्रय लेना कल्याणप्रद होता है, तथा इनसे ज्ञान का उदय तुरन्त हो जाता है। जगत् के व्यवहार का भी विवेचन हम न्याय में अच्छे ढंग से किया गया पाते हैं।

वचन मन तथा शरीर के आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं (न्या०सू० १।१।१७)। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है[१]—पापिका तथा पुण्या। कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से ये दोनों तीन प्रकार के होते हैं। पूर्वोक्त दोषों के वश में होकर प्राणी शरीर से अहिंसास्तेयादि कर्मों को करता है, वचन से मिथ्या और कठोर वाक्यों का उच्चारण करता है, मन से परद्रोह, नास्तिक्य आदि करता है। यह पापात्मिका प्रवृत्ति अधर्म उत्पन्न करती है। शरीर से दान, परित्राणादि का; वचन से सत्य, हितादि का; मन से दया, श्रद्धादि का आचारण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म की उत्पत्ति करती है।[१७]

मुक्ति

सूत्रकार के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को 'अपवर्ग' कहते हैं (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः—१।१।२२)। 'अत्यन्त' का अभिप्राय है सदा के लिए अर्थात् जो जन्म ग्रहण किया गया है उसका नाश तो होना ही चाहिए; आगे जन्म भी नहीं होना चाहिए। तभी दुःखनाश अत्यन्त कहलाता है। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतना ही आवश्यक है। इन दोनों की सिद्धि होने पर दुःख से आत्मा की आत्यन्तिकी

---

१. द्रष्टव्य न्यायभाष्य १।१।२ ; न्यायमञ्जरी न्या० सू० १।१।१७।

निवृत्ति सम्पन्न होती है। जब तक वासनादि आत्मगुणों का नाश नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का नाश हो जाता है। धर्म तथा अधर्म के कारण ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः ये दोनों संसाररूपी प्रासाद के स्तम्भरूप हैं। इन गुणों के उच्छेद होने से शरीर भोग का आयतन है। उस शरीर के अभाव में आत्मा का इच्छा, द्वेष आदि गुणों के साथ कथमपि सम्बन्ध नहीं रहता। अतः न्यायवादी मुक्तावस्था में आत्मा के विशेष गुणों का अत्यन्ताभाव अंगीकार करता है। मुक्त आत्मा के स्वरूप का सुन्दर परिचय न्यायमञ्जरी में दिया गया है—मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहती है। 'ऊर्मि' का अर्थ क्लेश विशेष है। भूख-प्यास प्राण को, लोभ-मोह चित्त को, जाड़ा गर्मी शरीर को क्लेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छह ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और दुःख-क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से वह विमुक्त हो जाती है।[१०]

मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आनन्द की प्राप्ति नहीं होती।

मुक्ति के दो रूप

उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है—(१) अपरनिःश्रेयस तथा (२) परनिःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपरनिःश्रेयस कह सकते हैं परनिःश्रेयस विदेहमुक्ति है। वाचस्पति ने तात्पर्य-टीका (पृ० ०-८१) में इन दोनों के अन्तर का विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ हैं—श्रवण मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वीक्षिकी का उपयोग संशयादितत्त्व तथा प्रमाणतत्त्व के शोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान आत्म-साक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। योगज-ध्यान के बिना आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी जब उपभोग से क्षीण कर देते हैं, तभी परनिःश्रेयस का उदय होता है।[११]

मुक्त आत्मा का रूप

सुख के साथ राग का सम्पर्क लगा ही रहता है। राग से सुख उत्पन्न होता है। जबतक सुख है तबतक राग भी रहता है और यह राग ही बन्धन का कारण होता है। ऐसी दशा में सुख मानने से बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता। न्याय का कहना है कि ब्रह्म को आनन्दस्वरूप बतलाने से यह नहीं समझना चाहिए कि उपनिषद् ब्रह्म में आनन्द की सत्ता बतलाती है। उसका अर्थ यही है कि उसमें दुःख का केवल नाश रहता है। लोकव्यवहार में भी तो यही अनुभव होता है। ज्वरी होने पर हम दुःख का अनुभव करते हैं और ज्वर के नाश हो जाने पर हम अपने को सुखी मानते हैं। यहाँ सुख की भावना केवल ज्वर के नाश में ही होती है। अर्थात् यहाँ किसी सत्तात्मक वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती; प्रत्युत केवल निषेध की ही भावना सत्ता के रूप में गृहीत की जाती है। फलतः मोक्षदशा में 'सुख' नहीं रहता। न सुख रहता है, न दुःख। उस समय आत्मा अपने विशुद्ध रूप में ही स्थिर हो जाती है। चैतन्य का भी वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। ज्ञान, इच्छा तथा यत्न का उदय भी आत्मा में तभी उत्पन्न होता है जब वह शरीर को धारण करता है। मुक्त दशा में शरीर नहीं रहता। फलतः उस समय में 'चैतन्य' भी नहीं रहता। चैतन्य आत्मा का आकस्मिक गुण है, जो उसमें शरीर होने पर उत्पन्न होता है। जबतक शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है तब तक उसमें चैतन्य बना रहता है। ज्ञान, इच्छा तथा कृति की क्रियायें देहधारी आत्मा ही किया करती है। देहविहीन होते ही इनका सर्वथा लोप हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा का यह रूप न्याय की भावना को प्रकट करता है।

मुक्ति-मार्ग

अब मुक्ति के साधनों पर विचार करना आवश्यक है। गौतम ने (१।१।२) सूत्र में मोक्ष मार्ग के स्वरूप का परिचय दिया है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोषों का उदय होता है, उनसे शुभा या अशुभा प्रवृत्ति का उदय होता है, जिससे शरीर धारण करना पड़ता है। जन्म होने से दुःखों की उत्पत्ति होती है, मिथ्याज्ञान आदि के सदा प्रवर्तमान होने यह से संसार चलता है। मिथ्याज्ञान का नाश होता है तत्त्वज्ञान से। अतः आत्मस्वरूप विषयक तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। जयन्त भट्ट ने ज्ञान की उपयोगिता पर जोर दिया है, परन्तु तत्त्वज्ञान से आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए ध्यान-धारणादि योगप्रसिद्ध

उपायों का अवलम्बन भी श्रेयस्कर है। गौतम ने (न्या० सू० ४।२।४६) सूत्र में प्राणायाम आदि उपायों के आश्रय लेने की बात कही है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति तो तत्त्वों के ज्ञान से ही होती है, योग का अभ्यास उसका सहायक मात्र होता है।

(६) समीक्षा

भारतीय दर्शन-साहित्य को न्यायदर्शन की सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या तथा विवेचना कर न्याय ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, उनका उपयोग अन्य दर्शन भी कुछ परिवर्तनों के साथ अपने विवरणों में निश्चय रूप से करते हैं। हेत्वाभासों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत कर न्याय ने अनुमान को दोषनिर्मुक्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस पर कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का यह आक्षेप है कि गौतम मुनि को अपने दर्शन में अपवर्ग के साधक तत्त्वज्ञान का वर्णन करना उचित था, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने छल, वितण्डा, जाति आदि का वर्णन करके पर-मर्म के भेदन में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ बिताया।[1] परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इनका उपयोग केवल पर-मर्म के भेदन में ही नहीं किया जाता है। सूत्रकार ने स्वयं तत्त्वाध्यवसाय के रक्षणार्थ जल्प-वितण्डा को उसी प्रकार उपयोगी माना है, जिस प्रकार कण्टक-शाखा का आवरण बीज के अंकुरों की रक्षा करता है (न्या० सू० ४.२।५०)। अतः छल आदि का उपयोग विनाशात्मक न होकर रचनात्मक है। इनके अभाव में सूक्ष्ममति नास्तिकों की आपात-रमणीय युक्तियों से प्रतारित होकर साधारण मनुष्य न जाने कब का उन्मार्ग का पथिक बन गया होता। अतः इनके वर्णन करने में गौतम की निसर्ग निर्मल करुणावृत्ति झलकती हुई दीख पड़ती है[१०]।

परन्तु न्यायदर्शन की तर्कपद्धति जितनी सन्तोषजनक है, उतना उसका तत्त्वज्ञान सन्तोषजनक नहीं है। न्याय ने इस जगत् को ज्ञान से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु बतलाया है, तथा उसमें अनेक नित्य पदार्थों की कल्पना की है। उसमें आत्माके अतिरिक्त परमाणु, मन, आकाश, काल तथा दिक् सब नित्य माने जाते हैं। इस दृष्टि से जगत् की व्याख्या करने में अनेक त्रुटियाँ परिलक्षित होती हैं। न्याय व्याख्या में इतने नित्य पदार्थों का अस्तित्व मानने के लिए कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक

---

१. द्रष्टव्य अन्ययोग-व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक १०।

नित्य पदार्थ की सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी से प्रदर्शित किया जाय, तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय। इस सिद्धान्त के अनङ्गीकार करने से न्याय में अनेक दोष दृष्टिगत होते हैं।

ईश्वर को निमित्त कारण रूप से जगत् का स्रष्टा बतलाकर न्यायदर्शन ने उसमें मानवीय भावों की कमजोरियों को उपस्थित कर दिया है। नैयायिकोंने ईश्वर को लौकिक कर्ता के अनुरूप कल्पित किया है। जिस प्रकार बढ़ई अपने हथियारों से काठ को काट-पीट कर कुरसी, टेबुल आदि बनाया करता है और जिस प्रकार दूकान में बैठा हुआ लोहार लोहे से तरह-तरह के सामान बनाया करता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् की सृष्टि किया करता है। वह इस सृष्टिकार्य के लिए उपादानकारणों के ऊपर अवलम्बित रहता है। उपादानों की सत्ता पर अवलम्बित रहनेवाला ईश्वर किस प्रकार सर्वशक्तिमान् तथा परम स्वतन्त्र माना जा सकता है? वेदान्त ने ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों एक साथ मानकर इस अनुपपत्ति को दूर कर दिया है, परन्तु न्याय में इस दोष का निरास कथमपि नहीं किया जा सकता।

न्याय ने आत्मा के स्वरूप की स्वतन्त्रता दिखलाकर तथा उसे शरीर और इन्द्रियों से पृथक् स्थायी नित्य पदार्थ प्रमाणित कर चार्वाक तथा बौद्ध के सिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन किया है, तथा आत्मा की स्वतन्त्रता भली प्रकार प्रदर्शित की है, परन्तु मुक्त आत्मा की जो कल्पना की है, वह दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द को मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति की जो दिल्लगी उड़ाई है वह पण्डितसमाज में अपनी रोचकता के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने सचेत पुरुषों के लिए अज्ञानसुखादि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है, उसका गोतम अभिधान शब्दतः ही यथार्थ नहीं है; अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गो (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः—गोतम) पक्का बैल है[1]। वैष्णव दार्शनिकों ने भी इसीलिए नैयायिकों के

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
(नैषधचरित—१७।७५)

ऊपर फबतियाँ सुनाई हैं। मुक्तावस्था में आनन्दधाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावन में सरस विहार करने की व्यवस्था बतलाने वाले वैष्णव लोग इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबरा उठते हैं और भक्तों के भावुक हृदय पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुञ्जों में शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें मंजूर है, परन्तु हम लोग वैशेषिक मुक्ति को पाने के लिए कथमपि इच्छुक नहीं है। यह आक्षेप केवल नैयायिकों के ही ऊपर नहीं है। अन्य दार्शनिकों के मत से भी मुक्ति में दुःखाभाव ही रहता है, सुख नहीं। सांख्य आदि समस्त दार्शनिकों के प्रति भी यही आक्षेप है। नैयायिक विशेष विद्वान् होने से इस मण्डली का प्रतिनिधित्व करता है[1]।

---

१. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥
(सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ० २८)

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक दर्शन

पण्डित-मण्डली में एक कहावत प्रसिद्ध है कि "काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्"—अर्थात् कणाद दर्शन तथा पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक होते हैं। जैसे शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण है वैसे ही समान पदार्थों के स्वरूप-निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय है। इस दर्शन का

नामकरण

नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य दर्शन है। अन्तिम दोनों नाम इसके आद्य प्रवर्तक उलूक ऋषि तथा महर्षि कणाद के नाम पर दिये गये हैं, पर 'वैशेषिक' नाम का रहस्य क्या है? इसके रहस्य को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से बतलाया है। चीनदेशीय दार्शनिक चिस्तान (५४१–६२२ ई०) तथा क्वहेइची (६२३-६८२ ई०) के द्वारा संगृहीत एक प्राचीन परम्परा के अनुसार कणाद सूत्रों का 'वैशेषिक' नामकरण अन्य दर्शनों से—विशेषतः सांख्य दर्शन से विशिष्ट अर्थात् अधिक युक्तियुक्त होने के कारण किया गया था,[1] पर भारतीय विद्वन्मण्डली के अनुसार 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन को वैशेषिक' संज्ञा प्राप्त हुई है।

वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति कब हुई? बौद्ध ग्रन्थों में (मिलिन्दप्रश्न, लंकावतारसूत्र, ललितविस्तर आदि में) वैशेषिक दर्शन का नामोल्लेख पाया जाता है; इन ग्रन्थों में न्याय सिद्धान्तों को भी वैशेषिक नाम से ही स्मरण किया गया है। सांख्य तथा वैशेषिक मतों को बुद्ध से पूर्वकालीन मानने में बौद्ध सम्प्रदाय की एकवाक्यता दीख पड़ती है। जैनों की तत्त्व-समीक्षा सम्भवतः वैशेषिक पदार्थों की कल्पना पर आश्रित है। अतः वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दोनों से प्राचीनतर प्रतीत होता है।

बौद्ध दार्शनिकों में वैशेषिक के सिद्धान्त विशेष मान्य थे। अतः उन्होंने इस दर्शन के सूत्रों का विशेषरूपेण उल्लेख किया है। वैशेषिकों ने बौद्धों के ऊपर इतनी गहरी छाप डाली थी कि वे न्याय के सूत्रों को वैशेषिक नाम से उल्लिखित करने में प्रायः नहीं चूकते। कुछ वैशेषिक, वेद को प्रमाण कोटि में

नहीं मानते। इसलिए वे 'अर्ध वैनाशिक' (आधे बौद्ध) के नाम से भी दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध है। इस कारण से भी बौद्ध जगत् में वैशेषिकों की विशेष मान्यता दृष्टिगोचर होती है।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य

कणाद

त्रिकाण्डकोष में इनका दूसरा नाम 'काश्यप' मिलता है, तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है। अतः इनका गोत्र नाम 'काश्यप' होने में सन्देह नहीं है। श्रीहर्ष ने नैषध (२२।३६) में कणाद दर्शन को औलूक की संज्ञा दी है। वायुपुराण में कणाद को प्रभास-निवासी सोमशर्मा का शिष्य और शिव का अवतार बतलाया गया है[1]। अतः कणाद मुनि काश्यपगोत्री, सोमशर्मा के शिष्य तथा उलूक नामधारी थे।

'कणाद' का अर्थ कण भक्षण करने वाला है। ये कपोत की वृत्ति का आश्रयण कर सड़क पर गिरे हुये कणों को (अन्न के कणों को) खाया करते थे। अतएव 'कणाद' संज्ञा स्वीकृत आहार-निमित्तक है—यह कथन प्राचीन आचार्यों—व्योमशिव तथा श्रीधर—का है। परमाणुवाद के पुरस्कर्ता होने के कारण भी किन्हीं के मत में 'कणाद' संज्ञा की सार्थकता है। उलूक संज्ञा के कारण के विषय में भी ऐकमत्य नहीं है। बौद्धाचार्य आर्यदेव के 'शतशास्त्र' के चीनी व्याख्याता 'चिस्सान' के अनुसार ये दिन में ग्रन्थ-प्रणयन में व्यस्त रहते थे। अतएव रात के समय ही अपनी जीविका का उपार्जन उलूकवत् किया करते थे। जैनाचार्य राजशेखर का कथन है कि भगवान शंकर ने 'उलूक' का रूप धारण कर कणाद को वैशेषिक-शास्त्र का उपदेश दिया था। इसलिए कणाद उलूक नाम्ना और उनका दर्शन 'औलूक' नाम्ना व्यवहृत हुआ। कुछ लोग 'उलूक' इनके पिता की संज्ञा मानते हैं जिससे कणाद का नाक 'औलूक' स्वीकारते हैं। तथ्य तो यह है कि इन प्राचीन अज्ञातहेतुक नामों के कारण की खोज के लिए विद्वानों की ये कल्पनायें आपात मधुर हैं—इदमित्थं भूता नहीं हैं।

---

१. द्रष्टव्य वैशेषिक दर्शन—(प्रकाशक दरभंगा मिथिला विद्यापीठ) भूमिका पृ. २०–२१।

शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० मानी हैं। वे १० अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण और विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथमाह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीयाह्निक में अनित्यद्रव्य-विभाग का, पञ्चम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेद प्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, ७ वें तथा ८ वें अध्याय में कतिपय गुणों का, ९ वें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का, १० वें में सुख-दुःख-विभेद तथा त्रिविध कारणों का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्रों से तुलना करने पर वैशेषिक सूत्र प्राचीन ठहरते हैं। इनका रचनाकाल तृतीय शतक विक्रम-पूर्व है[1]।

वैशेषिक दर्शन के एक मौलिक सूत्र (१।१।२) के अनुसार धर्मविशेष से प्रसूत द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक षटपदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस का अधिगम होता है और यही दर्शन का मुख्य तात्पर्य है। फलतः पूर्वोक्त षट् पदार्थों का विवेचन कणाद को अभीष्ट है। प्रश्न यह है कि 'अभाव' नामक सप्तम पदार्थ जो आज वैशेषिकों के पदार्थों में अविभाज्य पदार्थ स्वीकृत किया जाता है, कणाद को अभीप्सित था या नहीं? कतिपय विद्वान् 'सप्तपदार्थी' के प्रणेता शिवादित्य को अभाव पदार्थ के आविष्कार तथा विवेचन का श्रेय प्रदान करते हैं, परन्तु प्राचीन मान्य व्याख्याकारों की सम्मति इसके प्रतिकूल कणाद को ही यह गौरव देती है। तथ्य यह है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'निःश्रेयस' दुःखाभाव रूप होने से स्वयं अभावरूप है। अभाव के स्वीकार न करने पर निःश्रेयस (या अपवर्ग) की सिद्धि ही नहीं हो सकती। अतः निःश्रेयसोपयोगितया अथवा निःश्रेयस-स्वरूपतया अभाव तो अवश्य ही कणाद-सम्मत पदार्थ है। अतएव अभाव की कल्पना कणाद को भी अभीष्ट थी, यद्यपि उन्होंने इसका स्पष्ट निर्देश उस सूत्र में नहीं किया है।

इसी प्रकार 'ईश्वर' के विषय में भी मतभेद है। कणाद ने अपने दर्शन में कहीं भी ईश्वर का निर्देश नहीं किया है, परन्तु अनेक सूत्रों की (जैसे १।१।३, २।१।१८—१९, ७।२।२०) व्याख्या में शंकर मिश्र ने ईश्वर का निर्देश माना

---

१. द्रष्टव्य प्रशस्तपादभाष्य का हिन्दी अनुवाद (प्रकाशक चौखम्भा वाराणसी, १९६६) की भूमिका।

है। यह कणाद-सम्मत तथ्य है या नहीं? यह आज भी विचारणीय विषय है। पाशुपत दर्शन का प्रभाव इस दर्शन पर अवश्य पड़ा था। ऐसा उल्लेख जैन विद्वान् गुणरत्न करते हैं। बहुत सम्भव है कि इसी प्रभाव के कारण वैशेषिकों में ईश्वर की कल्पना प्रादुर्भूत होकर कालान्तर में स्वीकृत हो गई। सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक टीका में बताया गया है कि काणाद मत में ईश्वर की सत्ता पाशुपतों की देन है—काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्।

वैशेषिक की प्राचीन व्याख्यायें

वैशेषिक सूत्र की प्राचीन व्याख्यायें कभी नितान्त प्रख्यात थीं यद्यपि आजकल वे विस्मृति के गर्त में पड़ी हुई हैं। प्राचीन वृत्तियों में भरद्वाजवृत्ति का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, परन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। गङ्गाधर कविरत्न-रचित 'भारद्वाजवृत्ति भाष्य' का नाम अवश्य ही संशय उत्पन्न करता है कि यह किसी भरद्वाज वृत्ति का भाष्य है, परन्तु यह एक स्वतन्त्र निबन्ध बतलाया जाता है। बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्द वृत्ति अवश्यमेव वृत्तिग्रन्थ ही है जो उसके सम्पादक के अनुसार ७०० ई० के आस-पास की रचना है। दरभंगा से प्रकाशित अज्ञातकर्तृक वृत्ति इस वृत्ति की अपेक्षा अवान्तरकालीन है, क्योंकि इसमें उदयन तथा वादी-वादीन्द्र के मत का उल्लेख मिलता है। इन दोनों में मिथिलावासी उदयनाचार्य का समय दशम शती है और दक्षिण भारतीय नैयायिक वादीन्द्र का समय ९०० ई०–११०० ई० के मध्य में है। इन दोनों के निर्देश के कारण इस वृत्ति का काल द्वादश या त्रयोदश शती मानना उचित प्रतीत होता है। कथमपि ये दोनों वृत्तियाँ शंकरमिश्र के प्रसिद्ध उपस्कार से निःसन्देह प्राचीनतर हैं। उपस्कार में बहुशः निर्दिष्ट 'वृत्ति' का स्वरूप आज भी अज्ञात ही है। यह इन दोनों से भिन्न है? या अभिन्न? यह कहना कठिन है।

आत्रेय

आत्रेय को वैशेषिक सूत्रों का भाष्यकार बताया गया है। जैन दार्शनिकों ने इनका निर्देश अनेकत्र किया है, परन्तु साम्प्रदायिक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृक वृत्ति में आत्रेय की व्याख्या का अनेक स्थलों पर उल्लेख उपलब्ध है[1]। ये उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं और आत्रेय की सम्मति को प्रभावशाली तथा सम्मान्य

---

१. न्यायकन्दली—म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी की प्रस्तावना, पृ० ७–१०।

होने के प्रबल समर्थक हैं। फलतः आत्रेय ने वैशेषिक सूत्रों पर अवश्य ही प्रमेयबहुल व्याख्या लिखी थी जो सम्प्रदाय में 'भाष्य' के नाम से विख्यात थी।

रावणभाष्य की भी सत्ता के प्रमाण उपलब्ध होते ही हैं। परन्तु आत्रेय तथा रावण—इन दोनों भाष्यकारों के पौर्वापर्य का यथार्थ निर्णय अभी अपना समाधान खोज रहा है। रावणभाष्य के बहुचर्चित उल्लेखों से इसका माहात्म्य निःसंदिग्ध है[1]।

रावण भाष्य

वैशेषिक सूत्रों पर यही सबसे पुराना भाष्य था, जिसका पता ग्रन्थों के निर्देशों से ही चलता है। ग्रन्थ स्वयं अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किरणावली में उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह को लघु बतलाया है, तथा भाष्य को विस्तृत। पद्मनाभ मिश्र के 'किरणावली-भास्कर' के अनुसार यह भाष्य रावणभाष्य ही है। २-२-११ ब्र० सू० शांकरभाष्य में दो द्वयणुक के मिलकर चतुरणुक बनने की बात लिखी है (द्वे द्वयणुके चतुरणुकमारभेते)। 'प्रकटार्थ- विवरण' (जिसका निर्देश रत्नप्रभा में है) के अनुसार यह प्राचीन मत रावणभाष्य में प्रतिपादित है (रावण-प्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तन-वैशेषिकदृष्ट्येदं भाष्यमित्याहुः—रत्नप्रभा)। रावणभाष्य में प्रतिपादित यह मत प्राचीन है, तथा प्रशस्तपाद के सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न। अनर्घराघव (पञ्चम अंक, विष्कम्भक) में रावण अपने को 'वैशेषिककटन्दी पण्डितः' कहता है। रुचिपति उपाध्याय ने 'कटन्दी' को रावणभाष्य का नाम बतलाया है। इसके स्थान पर 'कन्दली' पाठ भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि अष्टम शतक में रावण के वैशेषिक पण्डित होने तथा भाष्य लिखने की बात इतनी प्रसिद्ध थी कि उसका श्रेय रामायण के प्रतिनायक को दिया गया। बहुत सम्भव है कि नास्तिक मत की बातें होने के कारण 'रावणभाष्य' लुप्त हो गया हो। वैशेषिकों का 'अर्धवैनाशिक' (आधा बौद्ध) नाम इसी भाष्य के सिद्धान्तों के कारण पड़ा था[2]; ऐसी कल्पना की जा सकती

---

१. द्रष्टव्य बोडस—तर्कसंग्रह की प्रस्तावना, पृ० ४०। कुप्पुस्वामी प्राइमर आफ इण्डियन लाजिक—प्रस्तावना, पृ० १०।

२. Journal of Oriental Research Vol. III pp. 1–5.

प्रशस्तपाद

प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारण रीति से इसे भाष्य कहते हैं, पर यह सूत्रस्थ पदों के उल्लेखपूर्वक उक्तानुक्तचिन्तासमन्वित प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो ग्रन्थकार ने केवल वैशेषिक सिद्धान्तों के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचार को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित किया है। सूत्र के बाद इस दर्शन के इतिहास में सर्वमान्य ग्रन्थ यही 'प्रशस्तपादभाष्य' है। इसमें विशेषतः परमाणुवाद, जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण तथा गुणों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। वसुबन्धु के द्वारा इनके सिद्धान्तों के खण्डन किए जाने और न्यायभाष्य में इनके सिद्धान्तों के उपयोग किये जाने से इनका वात्स्यायन और वसुबन्धु से पूर्व द्वितीय शतक में होना न्यायसंगत प्रतीत होता है[1]। प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर 'चन्द्र' नामक किसी आचार्य ने 'दशपदार्थी शास्त्र' की रचना की, जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय तथा विशेष इन षट्पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष तथा अभाव नाम से चार नवीन पदार्थ स्वीकृत किये गये है। चन्द्र सप्तम शताब्दी से पहले के ही होंगे, क्योंकि इनके ग्रन्थ का अनुवाद ६४८ ई० में चीनी भाषा में किया गया उपलब्ध होता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् डा० उई ने किया है।[2]

प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ का नाम 'पदार्थधर्म-संग्रह' स्वयं दिया है। फलतः उनकी ही दृष्टि में यह 'संग्रह' ग्रन्थ है। 'सूत्र तथा भाष्य में विस्तार-निर्दिष्ट पदार्थों का संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलाता है'—संग्रह का यह पारिभाषिक वैशिष्ट्य[3] इस ग्रन्थ में सर्वथा चरितार्थ होता है, तात्पर्य यह है कि सूत्र तथा अपने से पूर्व निर्मित भाष्य को आधार मानकर प्रशस्तपाद ने इस प्रमेयबहुल ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है। ये सिद्धान्त कणाद सूत्रों में स्पष्टतः निर्दिष्ट न होने पर भी सर्वथा मान्य हैं तथा प्रमाणभूत हैं। इसके ऊपर विद्यमान व्याख्या सम्पत्ति

---

१. आचार्य ध्रुव—न्यायप्रवेश की प्रस्तावना, पृ० १८।

२. डा० उइ–'वैशेषिक फिलासफी' के नाम से (आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित)।

३. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ॥
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥

इसके प्रामाण्य की निर्दर्शिका है। कतिपय तथ्यों का आकलन प्रशस्तपाद की मौलिक सूझ का निदर्शन है।

कणाद ने गुणों की संख्या केवल १७ मानी थी, परन्तु प्रशस्तपाद ने इसमें ७ गुणों को जोड़कर यह संख्या २४ कर दी है। परमाणुओं से सृष्टि-प्रक्रिया का विशद वर्णन संग्रह में पाया जाता है। द्वयणुक, त्र्यणुक आदि की व्याख्या वैशेषिक सूत्रों में न होकर भाष्य में ही है। ईश्वर की स्थापना का श्रेय प्रशस्तपाद को ही दिया जाता है। फलतः वैशेषिक दर्शन के अनेक सम्मान्य सिद्धान्तों की उद्भावना का गौरव भाष्यकार को दिया जाना उचित ही है।

'प्रशस्तपादभाष्य' पर अनेक आचार्यों की टीकाए उपलब्ध होती हैं—

(१) व्योमशिवाचार्य—इनके नाम से पता चलता है कि ये सम्भवतः दक्षिण के शैवाचार्य थे। इनकी विरचित 'व्योमवती' प्रशस्तपादभाष्य की सबसे प्राचीन टीका है। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कह कर तथा राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में भाष्य के टीकाकारों में इन्हीं का नाम सबसे पहले उल्लिखित किया है। ये श्रीहर्षवर्धन के समकालिक सिद्ध होते हैं। श्रीधर शिवादित्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणद्वय मानने के पक्ष में हैं, परन्तु व्योमशिवाचार्य शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।[1]

(२) उदयनाचार्य—उदयनाचार्य ने भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिए एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या 'किरणावली' लिखी। माधव के कथनानुसार तम के आरोपित नील रूप मानने का सिद्धान्त श्रीधर के नाम से सम्बद्ध है, पर नामोल्लेख बिना किये ही उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है (किरण० पृ० ११२)। उधर श्रीधर ने भी 'न्यायकन्दली' में उदयन के किरणावली के वाक्यों को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है, तथा उनके सिद्धान्तों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीधर ने न्यायकन्दली सर्वप्रथम लिखी। अनन्तर 'किरणावली' की रचना उदयन ने की, परन्तु श्रीधर ने

---

१. मणिभद्र ने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में इनके मत का उल्लेख किया है—यद्यपि औलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षया अत्र उभे एव निगदिते।

(पृ० ६१, चौखंभा संस्करण)।

ग्रन्थ के पुनः संशोधन के अवसर पर उदयन के मत की समीक्षा भी की। किरणावली की टीकाओं में वरदराज (११ शतक), वादीन्द्र (१३ वीं शती का पूर्व भाग; रससार), वर्धमानोपाध्याय (१३ शतक—किरणावली-प्रकाश), पद्मनाभ मिश्र (१६ शतक, किरणावली-भास्कर) की टीकायें सुप्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

(३) श्रीधराचार्य—इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का अम्बोका देवी था। गौड़ देश के भूरिसृष्टि नामक गाँव के निवासी होने से ये बङ्ग-देशीय प्रतीत होते हैं। इन्होंने भाष्य के ऊपर 'न्यायकन्दली' नामक महत्त्वपूर्ण टीका ९१३ शक (९९१ ई०) में लिखी[१]। शास्त्रीय ज्ञान इनका जितना ही विस्तृत था, इनकी प्रज्ञा उतनी ही तलस्पर्शिनी थी। न्यायकन्दली वैशेषिक सिद्धान्तों के लिए एक प्रमाणभूत ग्रन्थ मानी जाती है। इनके 'अन्धकार' विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक मान्य दार्शनिकों ने की है। कन्दली की टीकाओं में पद्मनाभ मिश्र का 'न्यायकन्दलीसार' तथा जैन विद्वान् राजशेखर की 'न्याय-कन्दलीपञ्जिका' प्रसिद्ध है।

(४) श्रीवत्स—कृत 'न्यायलीलावती' चौथी टीका है। वल्लभ की न्यायलीलावती टीकात्मक न होने पर भी यदि कथमपि टीका मान भी ली जाय, तथापि यह श्रीवत्सकृत नहीं है। उपलब्ध न होने से इसके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

(५) वल्लभाचार्य—इनकी 'न्यायलीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आगार है और इसकी प्रसिद्धि 'किरणावली' के समान ही है। किरणावली के समान ही अनेक टीका ग्रन्थों से मण्डित होने का गौरव भी इस ग्रन्थ को प्राप्त है। आचार्य वल्लभ के जन्म प्रदेश का पता नहीं चलता, पर वादीन्द्रके द्वारा 'रससार' (१२५ ई०) में उल्लिखित होने से इनका समय १२ वीं शताब्दी का अन्तर्भाग माना जा सकता है। इस ग्रन्थ की सात टीकाओं का पता चलता है जिनमें वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावती-प्रकाश' तथा पक्षधर मिश्र का 'न्याय लीलावती-विवेक' दूसरों से प्राचीन है।

(६) पद्मनाभ मिश्र—इनका दूसरा नाम प्रद्योतन मिश्र था। इनके टीकाग्रन्थ का नाम 'सेतु' है, जो द्रव्यग्रन्थ तक ही उपलब्ध होता है। पद्मनाभ

---

१. त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।
श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्रीश्रीधरेणेयम्।

मिश्र वैशेषिक दर्शन के विद्वान् थे, मिथिला निवासी थे तथा १६ वें शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

(७) शङ्कर मिश्र—इनके ग्रन्थ का नाम 'कणादरहस्य' है जो टीका न होकर वास्तव में वैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

(८) जगदीश भट्टाचार्य—प्रशस्तपाद की एक टीका जगदीश भट्टाचार्य निर्मित 'सूक्ति' भी है। द्रव्यग्रन्थ तक यह टीका उपलब्ध हुई है। मल्लिनाथ-सूरि—इनका 'भाष्यनिकष' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

शिवादित्य मिश्र (१० म शतक)—इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तपदार्थी है, जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का नैयायिक सिद्धान्तों के साथ मनोरम समन्वय किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना १२ वीं शताब्दी से पहले हुई, क्योंकि श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इनके प्रमालक्षण का खण्डन किया है[1]। इन्होंने उदयन की किरणावली का पर्याप्त उपयोग सप्तपदार्थी में किया है, उदाहरणार्थ जाति तथा तम का लक्षण। इन्होंने सप्तम पदार्थ के रूप में अभाव का वर्णन किया है। 'सप्तपदार्थी' के अतिरिक्त 'लक्षणमाला' इनका एक अन्य वैशेषिक विषयक ग्रन्थ है।

शङ्कर मिश्र (१५ शतक)—ये दरभंगा के पास 'सरिसव' गाँव के रहने वाले थे, जहाँ इनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वरी का मन्दिर आज भी विद्यमान है। इनके पिता मीमांसा, व्याकरणादि अनेक शास्त्रों में निष्णात, 'अयाची' मिश्र के नाम से लब्धप्रतिष्ठ भवनाथ मिश्र थे, तथा माता का नाम भवानी था। इनके पितृव्य जीवनाथ मिश्र भी बड़े भारी पण्डित थे। अपने समय के एक असाधारण प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक माने जाते थे। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) उपस्कार—(कणादसूत्रों की टीका), (२) कणादरहस्य—(प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या कहे जाने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ), (३) आमोद—(न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या) (४) कल्पलता—(आत्मतत्त्वविवेक की टीका), (५) आनन्दवर्धन—(श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की टीका), (६) कण्ठाभरण—(न्यायलीलावती की व्याख्या), (७) मयूख—(चिन्तामणि की टीका; उपस्कार तथा वादिविनोद में उल्लिखित), (८) वादिविनोद—(वादविषयक मौलिक ग्रन्थ), (९) भेदरत्नप्रकाश—(न्याय वैशेषिक के द्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादक तथा श्रीहर्ष के खण्डन ग्रन्थ का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ)।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ शतक)—ये बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक तथा रघुनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वासुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पति के पौत्र थे। इनके पिता काशीनाथ विद्यानिवास एक लब्धकीर्ति दार्शनिक थे, जो अकबर के अर्थसचिव टोडरमल के यहाँ श्राद्ध के उपलक्ष्य में संघटित सभा में नवद्वीप की पण्डितमण्डली के प्रतिनिधि थे। इनके न्याय-वैशेषिक-विषयक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(क) भाषापरिच्छेद—१६८ कारिकाओं में वैशेषिक सिद्धान्तों का सुचारु वर्णन किया गया है। अपने प्रिय शिष्य राजीव के उपकारार्थ ग्रन्थकार ने ही इस पर न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली टीका बनाई। विषय-प्रतिपादन की शैली इतनी मनोरम है कि यह तर्कसंग्रह के अनन्तर सबसे अधिक लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ है। इसके ऊपर बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र महादेव भट्ट भारद्वाज ने 'मुक्तावलीप्रकाश' नामक टीका लिखना आरम्भ किया, जिसे उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने पूरा किया। 'दिनकरी' के नाम से विख्यात इस व्याख्या पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरंगिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ग्रन्थ की रचना की है।

(ख) न्यायसूत्रवृत्ति—इसमें न्याय-सूत्रों की सरल व्याख्या शिरोमणि के व्याख्यान के अनुसार की गई है। वृद्धावस्था में वृन्दावन में निवास करते समय विश्वनाथ ने इस वृत्ति का निर्माण १५५३ शक (१६३१ ई.) में किया।

अन्नंभट्ट (१७ शताब्दी का उत्तरार्द्ध)—इनका सुप्रसिद्ध 'तर्कसंग्रह' लोकप्रियता में अद्वितीय है। यह तार्किक तत्त्वों की जानकारी के लिए सबसे पहला, सरल तथा बोधगम्य ग्रन्थ है। अन्नंभट्ट तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। काशी आकर इन्होंने विद्यासम्पादन किया था। इस घटना की सूचना 'काशीगमनमात्रेण नान्नंभट्टायते द्विजः' जैसी प्रसिद्ध लोकोक्ति हमें मिलती है। इनकी ख्याति तर्कसंग्रह तथा उसकी टीका दीपिका के कारण है, परन्तु इन्होंने अन्य शास्त्रों पर भी प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं—(१) राणकोजीवनी (न्यायसुधा की बृहत्कायटीका—मीमांसा), (२) ब्रह्मसूत्रव्याख्या (वेदान्त), (३) अष्टाध्यायी टीका, (४) उद्योतन (कैयटप्रदीप का व्याख्यान; व्याकरण), (५) सिद्धाञ्जन (जयदेव के 'मण्यालोक' की टीका; न्याय)। तर्कसंग्रह के ऊपर २५ व्याख्या ग्रन्थों की तथा दीपिका के ऊपर १० व्याख्यानों—प्रकाशित तथा अप्रकाशित—की उपलब्धि से ग्रन्थ के महत्त्व का पता चलता है। इन टीकाओं में गोवर्धन मिश्र की

न्यायबोधिनी, श्रीकृष्णधूर्जटि दीक्षित का सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रजसिंह का पदकृत्य, नीलकण्ठभट्ट की नीलकण्ठी तथा तदात्मज लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विद्वन्मण्डित हैं।

(२) वैशेषिक तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् की वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं। 'पदार्थ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पदस्य अर्थः = पदार्थः। 'अर्थ' से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं (ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः)। अतः पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु, नाम धारण करनेवाली चीज। प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ का लक्षण है। अतः ज्ञेयत्व (ज्ञानविषय होने की योग्यता रखना) तथा अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है।[२]

पदार्थ विभाग

सूत्रों में ६ पदार्थों के ही नाम उपलब्ध होते हैं। कणाद ने अभाव का भी वर्णन किया है अवश्य, पर सत्तात्मक पदार्थों का वर्गीकरण अभीष्ट होने से उन्होंने अभाव को पदार्थ नहीं स्वीकार किया। अभाव को पदार्थों की गणना में पीछे रखा गया है। चन्द्र नामक किसी प्राचीन वैशेषिक आचार्य ने षड्भाव पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष तथा अभाव पदार्थों की नवीन कल्पना कर पदार्थों की संख्या दस बतलाई है। इनमें अभाव की गणना पदार्थों में पीछे स्वीकृत की गई है। सामान्य-विशेष में नवीनत्व की सम्भावना नहीं थी। शक्ति के पदार्थत्व की कल्पना मीमांसकों ने मानी है। रोकने वाली (प्रतिबन्धक) वस्तु की उपस्थिति में किसी वस्तु की शक्ति का सर्वथा तिरोभाव दृष्टिगोचर होता है, पर उसके अभाव में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। मणिविशेष को पास में रखने पर अग्नि की दाहिका शक्ति का तिरोभाव प्रत्यक्षसिद्ध है, तथा उसकी अनुपस्थिति में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। इस लोकव्यवहार के दृष्टान्त पर 'शक्ति' को मीमांसक गण एक नवीन पदार्थ मानते हैं, पर वैशेषिकों को यह अभीष्ट नहीं है। वे लोग कारण-सामग्री की समग्रता में प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण ठहराते हैं, अतः शक्ति को पृथक् पदार्थ मानना उचित नहीं है[१]। इसी प्रकार 'सादृश्य' का भी खण्डन किया गया है। फलतः १० पदार्थों के स्थान पर ७ पदार्थ ही माने जाते हैं,

---

१. मानमेयोदय पृ० २५८-२६२। शक्तिर्द्रव्यादिस्वरूपमेव—सप्तपदार्थी, पृ० १७ तथा मुक्तावली कारिका २।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) भाव पदार्थ, (२) अभाव पदार्थ। भाव पदार्थों के छह भेद माने जाते है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य-विशेष तथा समवाय। अभाव चार प्रकार का माना जाता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इन पदार्थों का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(१) द्रव्य

कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं। द्रव्य ही किसी भी कार्य का उपादानकारण होता है। उसी से नई वस्तुएँ बनाई तथा गढ़ी जाती हैं तथा साथ ही उसमें गुण तथा क्रिया भी रहती है।

वैशेषिकों के मतानुसार द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। लोक-प्रत्यक्ष के आधार पर तम में नीलरूप तथा अपसरणरूपी कर्म की सत्ता मान कर तम को भाट्ट मीमांसक द्रव्य अथवा गुण मानते हैं। पर वैशेषिक आचार्यों ने इसका खण्डन किया है। आलोक (प्रकाश) की सहायता से चक्षु रूपसम्पन्न द्रव्यों का ग्राहक माना जाता है, पर अन्धकार के ज्ञान में प्रकाश की सहायता तनिक भी अपेक्षित नहीं होती। जब हम दीपक को अन्धकारमय प्रदेश में लाते हैं, तब अन्धकार भाग खड़ा होता है। यह भागने की क्रिया प्रकाश के आगमन पर अवलम्बित है। अतः नीलरूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होने से तम को द्रव्य नहीं सिद्ध करते। अतः तम तेजः सामान्य का अभावमात्र है[१]।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश इन पाँचों को 'महाभूत' कहते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण गंध है। अन्य द्रव्यों में होने वाले कतिपय इतर गुण भी पृथ्वी में पाये जाते हैं, जैसे—रूप, रस, स्पर्श, संख्या आदि। पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य तथा अनित्य। समस्त पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति अत्यन्त सूक्ष्म, आविभाज्यरूप परमाणुओं से होती है। अतः कारणभूत परमाणु में रहने वाली पृथ्वी नित्य है, पर कार्यरूप से विद्यमान पृथ्वी अनित्य है। अनित्य पृथ्वी तीन रूपों को धारण करती है—शरीर, इन्द्रिय और विषय। शीत स्पर्श से विशिष्ट द्रव्य को 'जल' तथा उष्णस्पर्श से विशिष्ट द्रव्य को 'तेज' कहते हैं। नित्यानित्य भेद से पृथ्वी के समान ये भी दो प्रकार के होते हैं। शरीर, इन्द्रिय और विषयजन्य भेद इनमें भी उसी प्रकार रहता है।

वायु—रूप से रहित तथा स्पर्श से युक्त द्रव्य को 'वायु' कहते हैं। रूप-रहित होने से वह प्रथम तीन द्रव्यों से भिन्न हो जाता है, तथा स्पर्शविशिष्ट होने से वह आकाशादि अन्तिम पाँच द्रव्यों से पृथक् ठहरता है। वायु प्रत्यक्ष होता है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में गहरा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक वायु को चाक्षुष प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान से सिद्ध मानते हैं[४]। पर नव्य नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन नैयायिकगण उद्भूत रूप को प्रत्यक्ष के लिए प्रधान साधन बतलाते हैं।[५] इसका कारण यह है कि उनकी सम्मति में 'प्रत्यक्ष' शब्द चाक्षुष प्रत्यक्ष के सीमित अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। इस कल्पना के कारण रूपरहित वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना सुतरां असिद्ध है, पर नव्य नैयायिक इस बहिर्द्रव्य-प्रत्यक्ष को चाक्षुष-प्रत्यक्ष के ऊपर ही अवलम्बित होने की कल्पना को कथमपि स्वीकार नहीं करते। उनकी सम्मति में बाह्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप के समान ही उद्भूत स्पर्श भी कारण है[६]। वायु में अनुष्णाशीत उद्भूत स्पर्श रहता है। अत एव वायु का भी प्रत्यक्ष होता है।

आकाश

आकाश शब्दगुण का आश्रय है। शब्द का साक्षात्कार होता है, परन्तु आकाश का नहीं। किसी द्रव्य के बाहरी प्रत्यक्ष के लिए दो गुणों का होना नितान्त आवश्यक होता है। उसमें महत्व परिमाण रहना चाहिए, साथ ही उद्भूत रूप भी होना चाहिए। आकाश न सीमित पदार्थ है और न वह किसी रूप को रखता है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत शब्दगुण को धारण करने से उसका अनुमान ही होता है। शब्द एक ही माना गया है और यही शब्द आकाश का चिह्न होता है। इससे आकाश भी एक है। इसका परिणाम 'परम महत्' है, अर्थात् सबसे बड़ा परिमाण। आकाश की उत्पत्ति या नाश कभी नहीं देखा जाता, इसी से वह नित्य है। शब्द की ग्राहक इन्द्रिय (कान) भी आकाश होती है, अर्थात् कान के भीतर जो आकाश रहता है उसी के द्वारा शब्द का ज्ञान हमें होता है। वैशेषिकों के मत में आकाश अनुमान से ही जाना जाता है, परन्तु भाट्ट मीमांसकों के मत में आकाश का प्रत्यक्ष भी होता है। (द्रष्टव्य मानमेयोदय, अड्यार संस्करण, पृष्ठ १८८)।

काल तथा दिक्

भूत, वर्तमान, भविष्य का असाधारण कारण 'काल' ही है। द्रव्यों के विषय में ये ज्ञान हमें होते हैं—'यह घटना उस घटना से पहिले हुई या साथ ही साथ हुई या देर से हुई या जल्दी ही हुई' इस ज्ञान का असाधारण कारण काल माना जाता है। उसी तरह आगे पीछे, यहाँ-वहाँ, पास दूर, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि लोकव्यवहार की कल्पना 'दिक्' के आधार पर आश्रित रहती है। काल तथा दिक् दोनों ही आकाश के समान विभु (व्यापक) होते हैं। दोनों अमूर्त हैं और इसलिए इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल लोक-व्यवहार की सिद्धि से उनकी सत्ता का अनुमान किया जाता है। दोनों वस्तुतः एक हैं, परन्तु उपाधि के कारण वे अनेक माने जाते हैं। उपाधि के कारण ही एक ही अखण्ड काल के लव, निमेष, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि रूप में खण्डित भेद मिलते हैं। दिक् की भी यही दशा है। सूर्य की गति के कारण दिक् के दश भेद होते हैं—पूरब-पश्चिम आदि। आकाश तथा दिक् दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। इसका कारण है—दोनों के रूपों में भेद। आकाश केवल शब्द का समवायी कारण होता है, परन्तु दिक् किसी भी वस्तु का समवायी कारण न होकर सब कार्यों का निमित्त कारण होता है। आकाश का, उसके शब्दगुण के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी माना जा सकता है, परन्तु दिक् का उसके कार्यों के द्वारा केवल अनुमान ही होता है। यही दोनों में अन्तर है।

आत्मा की सिद्धि

प्रत्येक शरीर में आत्मा निवास करता है और वह स्वयं नित्य है। आत्मा की सिद्धि में अनेक प्रमाण दिये जाते हैं—

(क) हित पदार्थ के पाने का और अहित पदार्थ के छोड़ने का व्यापार मनुष्य के शरीर में हमेशा पाया जाता है। इससे शरीर के भीतर किसी चेतन पदार्थ की सत्ता का संकेत मिलता है। जैसे रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथिरूप चेतन पदार्थ का अनुमान होता है, वैसे ही शरीर के व्यापार से जिस चेतन पदार्थ का अनुमान किया जाता है, वही आत्मा है (व्यापार)।

(ख) श्वास-प्रश्वास से शरीर फूलता है, तथा संकुचित होता है। यह किसी चेतन पदार्थ के द्वारा ही किया जाता है। जैसे लोहार की भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूंकने वाले प्राणी के व्यापार से होता है (प्राणापान)।

(ग) कूए में मोट का गिरना तथा उठना मोट खींचने वाले के व्यापार से होता है। ठीक इसी प्रकार आँख की पलक का गिरना तथा उठना चेतन व्यक्ति का ही व्यापार है (निमेषोन्मेष)।

(घ) शरीर में घाव लगता है और दवा करने पर फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्मा के द्वारा हो सकता है, जैसे घर में रहने वाला घर की मरम्मत करता है (जीवन)।

(ङ) मन को प्रेरित करने वाला भी आत्मा ही है। जैसे बालक अपनी इच्छा से गोली या गेंद इधर-उधर फेंकता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन को अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर दौड़ाया करता है (मनोगति)।

(च) मीठे आम को देखकर मुँह में पानी भर आता है। इसका कारण क्या है ? किसी रूपविशेष के साथ रसविशेष का अनुभव पहिले हो चुका है और उसी की स्मृति वर्तमान दशा में हो रही है। अनुभव तथा स्मृतिका आश्रय एक ही होना चाहिए। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है।

(छ) सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं, अतः इनका कोई आश्रय द्रव्य होना ही चाहिए। जड़ होने से शरीर वह आश्रय नहीं हो सकता, चेतन आत्मा ही इसका आश्रय होता है[1]। इन गुणों के आश्रय होने से भी आत्मा की सिद्धि होती है।

आत्मा एक है या अनेक ? इस प्रश्न के उत्तर में कणाद आत्मा को अनेक बतलाते हैं। इसका प्रधान कारण है—व्यवस्था। यह देखने आता है कि कोई सुखी है, तो कोई दुखी; कोई धनाढ्य है, तो कोई निर्धन। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा रहता है। आत्मा एक नहीं है, अनेक है। एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है। बालकपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाओं के होने से शरीर भिन्न-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह रहता

---

१. आत्मा के इन नाना चिह्नों का निर्देश महर्षि कणाद ने इस सूत्र में एकत्र किया है—'प्राणपान[1]निमेषोन्मेष[2]जीवन[3]मनोगति[4]इन्द्रियान्तर[5]-विकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना[6]श्चात्मनो लिङ्गानि' (वैशेषिकसूत्र ३।२।४)। विशेष के लिए देखिए इसका प्रशस्तपादभाष्य।

तो है एक ही । इस अवस्था-भेद के कारण एक ही शरीर में अनेक आत्मा हम नहीं मान सकते; क्यों ? कारण क्या है ? इसका समाधान यह है कि शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थायें एक काल में न होकर भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं, परन्तु सुखी और दुखी जीव एक ही काल में पाये जाते हैं। देवदत्त सुखी है, तो यज्ञदत्त दुखी है। विरुद्ध धर्मों की सत्ता एक ही काल में बनी रहती है, जिससे आत्मा का अनेकत्व सूचित होता है।

आत्मा के इन्द्रिय होने का खण्डन

आत्मा नित्य द्रव्य है, जिसमें बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार आदि गुण निवास करते हैं वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर स्वतन्त्र सत्ता धारण करनेवाला द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। कभी हम किसी वस्तु को अपनी आँखों से देखते हैं, तथा रुचिकर होने पर उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखों से देखते हैं उसे ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रियरूप ही होता, तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती (न्या० सू० ३।१। १८३)। दाहिने हाथ से छूए गये पदार्थ को बाए हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता (न्या० सू० ३।१।७)। एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियों पर पड़ा करता है। वृक्ष में लटकते हुए पके आमों को देखती हैं आँख, पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर; क्योंकि जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकने का कारण यही हो सकता है कि पके आम को देखने वाले व्यक्ति को पूर्व काल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण हो आता है (न्या सू० ३।१।१७)। अतः फलों के द्रष्टा तथा स्वाद के स्मरणकर्ता का एक होना न्यायसंगत है। पर इन्द्रिय में चैतन्य मानने से इस घटना की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य दृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं करता। इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने पर उनके उपघात होने पर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरण रूप से हो एक में विद्यमान रहते हैं। जो अनुभव का कर्ता है, स्मरण का भी कर्ता वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति में चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण नहीं होना चाहिए, पर लोकानुभव इससे नितान्त विपरीत है। अतः इन्द्रियों को

आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है[1]। कर्ता तथा कारण की भिन्नता अनुभवसिद्ध है। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्ता (लेखक) दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इसी प्रकार अनुभव के कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियाँ) की भिन्नता ही सिद्ध है, अभिन्नता नहीं।

मन आत्मा नहीं

नित्य मन को भी आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति ही है। अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्त्व कारण माना जाता है। ऐसी दशा में मन को ही यदि आत्मा मान लिया जायगा, तो उसमें विद्यमान सुख दुःख, इच्छा आदि भी अप्रत्यक्ष होने लगेंगे। अनुभव से विरुद्ध होने के कारण इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा मन—इन तीनों से पृथक् चैतन्याधिष्ठित द्रव्य की ही आत्मा संज्ञा है।

आत्मा के शरीर होने का खण्डन

आत्मा को शरीररूप मानने वाले चार्वाक लोकानुभव को निश्चित रूप से समझा नहीं सकते। सद्योजात शिशु के कार्यकलाप पर दृष्टि डालिए। उत्पन्न होने के कतिपय दिनों के अनन्तर शिशु बिछौने पर लेटा हुआ हँसने लगता है। हँसना प्रसन्नता के कारण होता है, पर उसके कतिपय दिनों के जीवन में हर्षोत्पादक घटना का अभाव होता है। अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओं को संस्कार के वश से स्मरण किया करता है और स्मरण के बल पर वह हँसता है। यही व्याख्या तर्कसंगत प्रतीत होती है, पर यह व्याख्या आत्मा के शरीर रूप होने पर निष्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव के कर्ता शरीर के नाश होने पर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है। बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति भी आत्मा को शरीर-रूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। प्रवृत्ति में इष्टसाधनता-ज्ञान कारण होता है। वह अनुभव के अभाव में इस जन्म का न होकर जन्मान्तरीय ही होता है—मनुष्यों की अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। क्यों? पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के कारण। ऐसी अवस्था में पूर्व जन्म में कर्म करने वाले तथा इस जन्म में तदनुरूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, तथा नित्य है।

---

१. तथात्वे चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः—(मुक्तावली, का० ४८)।

वेदान्त आत्मा को एक मानता है, पर न्याय लोकव्यवहार के अनुरोध पर आत्मा को अनेक मानता है। इच्छा, सुख, प्रवृत्ति तथा ज्ञान आदि की विभिन्नता के कारण आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है।[१]

मन

मन अन्तिम द्रव्य है जिसकी सहायता से आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। मन का अस्तित्व मानने के लिए मुख्यतया दो प्रमाण हैं—(क) हमारा यह अनुभव है कि आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय इन तीनों के रहने पर भी कभी तो ज्ञान होता है और कभी ज्ञान नहीं होता। जब हम अन्यमनस्क होते हैं, तब वस्तु हमारे नेत्र के सामने से होकर निकल जाती है, परन्तु उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता है। इसका कारण क्या है ? प्रत्यक्ष के लिए आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय ही पर्याप्त साधन नहीं हैं, बल्कि मन की भी सहायता सदा अपेक्षित रहती हैं। प्रत्यक्ष के अवसर पर विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से। जब तक ये तीनों सम्बन्ध प्रस्तुत नहीं होते, किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जब आत्मा के साथ मन सम्बद्ध है, तब तो वस्तु का (जैसे पुष्पवाटिका में गुलाब का) ज्ञान हमें होता है, परन्तु यदि हमारा मन दूसरी ओर लगा है तो सुन्दर गुलाब हमारे सामने पड़ा ही रह जाता है; उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान के साधन होने से मन की सत्ता सिद्ध होती है।

(ख) प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण के लिए किसी न किसी इन्द्रिय की सहायता अपेक्षित रहती है। रूप की उपलब्धि नेत्र से तथा रस का ज्ञान हमें रसना से होता है। बाहरी विषयों के ज्ञान के लिए तो बाहरी इन्द्रियाँ (नेत्र आदि) होती हैं। उसी प्रकार सुख-दुःख जैसे भीतरी पदार्थ के ज्ञान के लिए भी किसी इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। वह भीतरी इन्द्रिय होनी चाहिए। उसकी उपलब्धि का साधन मन है। मन ही एकमात्र अन्तरिन्द्रिय है। इस प्रकार मन की सत्ता सिद्ध होती है।

मन प्रति शरीर में भिन्न होने तथा अनेक क्रियाकारिता रखने से मूर्त तथा अणु परिणाम माना जाता है। लोकानुभव मन के अणुत्व सिद्ध करने में प्रधान साधन है। पुष्पवाटिका में बैठने वाला पुरुष नेत्रों से फूलों की शोभा देखता है, कान से ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनता है, तथा अपने हाथों से सामने पड़े टेबुल

की चिकनाहट को स्पर्श द्वारा जानता है। इस प्रकार तीन इन्द्रियों के द्वारा तीन विषयों का ज्ञान उसे एक साथ हो रहा है, पर वे एक काल में न होकर क्रमानुसार एक के बाद एक होते हैं। ज्ञान युगपत् (एक साथ) नहीं होता, वह क्रमश होता है। ज्ञान की यह क्रमपूर्वक उत्पत्ति मन के अणुत्व की सिद्धि करने में पर्याप्त साधन मानी जाती है। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक काल में इन तीनों इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता, तथा इन तीनों विभिन्न विषयों का तीनों इन्द्रियों के द्वारा एक ही काल में हमें अनुभव प्राप्त होता, पर लोक में ऐसे अनुभव का अभाव है। अतः मन में विभुत्व नहीं। जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा, उस क्षण में उसके द्वारा उसके विषय का ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा। इसलिए मन अणु है, विभु नहीं।

(२) गुण

गुण वह पदार्थ है जो किसी द्रव्य में रहता है, परन्तु स्वयं उसमें कोई गुण नहीं रहता। द्रव्य का ही गुण हो सकता है, गुण का गुण नहीं हो सकता; क्योंकि वह 'अगुणवान्' होता है। द्रव्य स्वतः विद्यमान रहता है और वस्तुओं का समवायी कारण होता है, गुण अपनी सत्ता के लिए किसी द्रव्य पर आश्रित रहता है तथा किसी भी पदार्थ का वह समवायी कारण नहीं होता। सब गुण द्रव्य में ही रहते हैं, जिससे स्पष्ट है कि गुण की स्थिति नहीं होती, जैसे लाल रंग किसी द्रव्य से सम्बन्ध रखता है किसी दूसरे रंग से कभी नहीं। गुण कर्म से भी भिन्न होता है। कर्म होता है संयोग और वियोग के कारण, परन्तु गुण में यह बात नहीं होती। न उसे संयोग से, न वियोग से किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार गुण के तीन लक्षण हैं—द्रव्य में आश्रित होना, गुणरहित होना (निर्गुणत्व) तथा क्रिया से हीन होना (निष्क्रियत्व)।[1]

महर्षि कणाद के अनुसार गुणों की संख्या १७ है (वैशे० सूत्र १।१।६), परन्तु भाष्यकार ने ७ गुणों को और जोड़ कर गुणों की संख्या २४ निर्धारित की है। गुणों के नाम हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, शब्द, धर्म तथा अधर्म। इनमें कई गुणों के अनेक अवान्तर

---

१. गुण के लक्षण के लिए देखिए—वैशे० सूत्र १।१।१६; प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३८ तथा मुक्तावली कारिका ८६।

भेद भी होते हैं। गुणों में दो प्रकार होते हैं—वैशेषिक गुण तथा सामान्य गुण। संख्या, परिमाण आदि तो सामान्य गुण कहलाते हैं; बुद्धि, सुख, दुःख आदि विशेष स्थलों में रहने के कारण वैशेषिक नाम से विख्यात हैं।

मान के व्यवहार के कारण को 'परिमाण' कहते है। यह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, ह्रस्व, तथा दीर्घ। परमाणुओं में रहने वाला परिमाण 'पारिमाण्डल्य' कहलाता है और नित्य होता है—आकाश का परिमाण (परम महत्त्व) भी नित्य होता है। ये दोनों परमाणु तो नित्य होते हैं। इनके बीच में रहने वाले अन्य परिमाण अनित्य होते हैं। किसी वस्तु के परिमाण की उत्पत्ति तीन प्रकारों से होती है—(१) संख्या के द्वारा, जैसे द्व्यणुक तथा त्र्यणुक में; (२) परिमाण के द्वारा—अवयवों के परिमाण से अवयवी का परिमाण बनता है; (३) प्रचय के द्वारा—अवयवों के शैथिल्य अथवा फैलाव से परिमाण बढ़ता है, जैसे रूई के गोले में।

पहिले से अलग-अलग रहने वाले पदार्थों की जो प्राप्ति होती है उसे ही संयोग कहते हैं। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—(१) जब एक पदार्थ की गति से संयोग होता है (जैसे पक्षी का उड़ कर पर्वत की चोटी पर बैठना); (२) दोनों पदार्थों की गति से संयोग होता है (जैसे दो गेंद दो भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर एक साथ मिलते हैं और टक्कर खाते हैं), (३) संयोगज संयोग—एक संयोग से दूसरा संयोग उत्पन्न होता है। मैं अपने कलम से टेबुल के ऊपर कागज पर लिख रहा हूँ। यहाँ कागज तथा हाथ का संयोग है। वह कागज टेबुल पर रखा है, इस प्रकार मेरे हाथ का टेबुल के साथ भी संयोग हो जाता है।

संयोग

विभाग भी ठीक इसी प्रकार तीन तरह का होता है—(१) एक पक्ष की क्रिया से, (२) दोनों पक्षों की क्रिया से, तथा (३) विभाग से अन्य विभाग उत्पन्न होता है।

संस्कार के तीन प्रभेद होते हैं—(क) भावना—पहिले अनुभूत विषय की स्मृति या पहचान संस्कार के द्वारा होती है। इसे ही भावना कहते हैं। आत्मा में रहने से यह आत्मा का गुण है। (ख) वेग—मूर्तिमान् पदार्थों में विशेष कारण से वेग उत्पन्न होता है। (ग) स्थिति-स्थापक—लचीलापन। रबर के एक सीधे टुकड़े को हम अपने हाथ से नवा डालते हैं, परन्तु हाथों के

हटाते ही वह ज्यों का त्यों पुरानी दशा में आ जाता है। इसी गुण को स्थिति-स्थापक (स्थिति में रखने वाला गुण) कहते हैं :

धर्म आत्मा का गुण है, जिसके द्वारा कर्ता को सुख, प्रिय वस्तु तथा मोक्ष को प्राप्ति होती है, वही गुण 'धर्म' है। यह अतीन्द्रिय है, अर्थात् इसका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। अन्तःकरण को शुद्धता तथा पवित्र संस्कारों के द्वारा यह उत्पन्न होता है, तथा अन्तिम सुख भोग लेने पर यह समाप्त हो जाता है। धर्म का विरोधी गुण अधर्म है, जो कर्ता का अहित करने वाला तथा उसे दुःख की प्राप्ति कराने वाला होता है।

(३) कर्म

गुण के समान ही कर्म भी द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है।[1] द्रव्य कर्म का आश्रय हो सकता है पर कर्म द्रव्य का आश्रित धर्म-विशेष है। कर्म गुण से भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, पर कर्म अभी साध्यावस्था में है। उसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय नहीं हो सका है। यह वस्तुओं के संयोग तथा विभाग का स्वतन्त्र कारण है। कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है। अल्प परिमाण वाले द्रव्य ही 'मूर्त' माने जाते हैं। उन्हीं को मूर्ति की सम्भावना है, पर व्यापी विभु द्रव्य मूर्त नहीं हो सकते। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन इन्हीं मूर्त द्रव्यपञ्चक में कर्म की वृत्ति रहती है। विभु द्रव्य—जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में कर्म की कथमपि सम्भावना नहीं है।

कर्म पाँच प्रकार का माना जाता है—(१) उत्क्षेपण, (ऊपर फेंकना) (२) अपक्षेपण (नीचे फेंकना), (३) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना)—अवयवों में सान्निध्य नष्ट होकर विप्रकृष्टता आना, (५) गमन।

स्वयं एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ सामान्य या जाति कहलाता है। जैसे गोत्व तथा मनुष्यत्व। यहाँ गो तथा मनुष्य अनेक हैं, परन्तु उनमें रहने वाली जाति एक है, तथा नित्य है।

---

१. द्रष्टव्य वै० सू० १।१।१७; प्र० पा० भा०, पृ० १४७ भाषापरिच्छेद का० ५, ६; तर्कसंग्रह, पृ० ५।

सामान्य अपने विषय की सब वस्तुओं में रहता है। समस्त गो व्यक्तियों में गोत्व रहता है। व्यक्ति भिन्न होते हैं, परन्तु उनमें रहने वाला सामान्य अभिन्न अर्थात् एक रूप होता है। वह अनेक-वृत्ति होता है, तथा एक ही वर्ग में अनेक व्यक्तियों के अन्तर्गत होने का कारण सामान्य ही होता है। नाना आकार-प्रकार वाले मनुष्यों को एक मनुष्य वर्ग में समावेश करने का यही कारण है कि उन सब में मनुष्यत्व जाति निवास करती है। प्रशस्तपाद के शब्दों में सामान्य इसीलिए 'अनुवृत्ति प्रत्यय कारण' कहलाता है।

(४) सामान्य

सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत—समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है। मनुष्य उत्पन्न हों या मर जायँ, आवें या चले जायँ, पर मनुष्यत्वरूप सामान्य सदा विद्यमान रहता है। अतः इनकी नित्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। सामान्य की दूसरी संज्ञा 'जाति' भी है। व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार का माना जाता है[1]—'पर सामान्य' —सबसे अधिक व्यक्तियो में रहने वाली जाति; 'अपर सामान्य'—सब से कम व्यक्तियों में रहने वाली जाति तथा 'परापर सामान्य'—जो दोनों के बीच में रहने वाला होता है। पर सामान्य का दूसरा नाम 'सत्ता' है, क्योंकि इसके भीतर समस्त सामान्यों का अन्तर्भाव हो जाता है; घटत्व घटमात्र में रहने के कारण अपर सामान्य का उदाहरण है; द्रव्यत्व परापर सामान्य है, क्योंकि द्रव्यत्व, कर्मत्व तथा गुणत्व में विद्यमान सत्ता की अपेक्षा द्रव्य मात्र में सीमित होने से यह छोटा (अपर) है। परन्तु घटत्व की अपेक्षा वह कहीं बड़ा है। अतः इन दोनों के बीच में रहने से यह मध्यवर्ती सामान्य का दृष्टान्त माना जाता है।[10]

(५) विशेष

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत पड़ती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के एक श्रेणिबद्ध होने का कारण यदि सामान्य है, तो ठीक इसके उलटे एक श्रेणी के समान गुण वाले व्यक्तियों के पारस्परिक भेद को सिद्ध करने

---

१. वै० सू० १।२।४—११; प्र० पा० भा०, पृष्ठ ४; मुक्ता० का० ८—९।

वाला पदार्थ 'विशेष' ही है[1]। पृथ्वी का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्योंकर है? एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न या एक मन दूसरे मन से भिन्न किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? इस पार्थक्य की कल्पना के लिए इन द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष नित्य द्रव्यों—जैसे पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा तथा मन में निवास करता है। विशेष की सत्ता न मानने पर सब आत्मा के एक ही समान होने से उनमें विशिष्टता न होगी।

दो वस्तुओं की पृथक्ता कैसे सिद्ध की जा सकती है? एक ही समान एक ही रूपरंग वाले दो घड़े हमारे सामने पड़े हैं। इन दोनों में भिन्नता इसलिए है कि एक घड़े का आधा भाग दूसरे घड़े के आधे भाग से भिन्न है। इस प्रकार दोनों के टुकड़े करते जाइए। ये टुकड़े आपस में भिन्न होते जायँगे। विश्लेषण करते-करते हम 'परमाणु' पर जा पहुँचते हैं। परमाणु तो घड़ों का एक ही प्रकार का होता है। ऐसी दशा में क तथा ख घड़ों के परमाणुओं को एक समान होने के कारण दोनों में भेद क्योंकर होता है? इस प्रश्न का उत्तर है—'विशेष' के कारण। परमाणुओं में विशेष नामक पदार्थ रहता है जो उनके व्यक्तित्व का सूचक होता है, अर्थात् एक परमाणु में विशेष रहता है, जो उसे समान परमाणु से अलग बनाता है। इस प्रकार 'विशेष' का निवास सावयव पदार्थ पर न होकर निरवयव (अर्थात् अवयव से हीन) पदार्थ पर होता है। वह नित्य पदार्थों के ऊपर रहता है।

नित्य द्रव्यों में रहने के कारण वह स्वयं नित्य है, तथा द्रव्यों की अनन्तता के कारण वह स्वयं अनन्त होता है। नित्य द्रव्यों में विशेष हमेशा विद्यमान रहता है। न उसका उत्पादन होता है, न उसका विनाश। घट आदि कार्य भले ही उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहें, उनका मूल भूत कारण 'परमाणु' कभी नष्ट नहीं होता। इन्हीं परमाणुओं में विशेष सदा रहता है। परमाणु में व्यक्तित्व सदा रहता है। यदि यह व्यक्तित्व उसमें न रहता, तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से कोई भेद न होता, दोनों एक ही प्रकार के होते। 'विशेष' वह है जो अपने आश्रय को, व्यक्ति को विशिष्ट रूप देता है (स्वाश्रय-विशेषक) एक

---

१. द्रष्टव्य वै० सू० १।२।६; प्र० पा० भा०, पृ० १६८–१७०; न्या० कं०, पृ० ३२३–३२४; मुक्ता० का० १०।

विशेष का दूसरे विशेष से भेद स्वयं विशेष के द्वारा ही होता है। इसी लिये विशेष को 'स्वतो व्यावर्तक' (= आप ही आप विभेद करने वाला) कहते हैं।

मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में 'विशेष' नामक पदार्थ नहीं माना जाता। कणाद ने ही सर्वप्रथम 'विशेष' को स्वीकार किया और इसी लिए यह दर्शन 'वैशेषिक' के नाम से अभिहित किया जाता है। वैशेषिकसूत्र (१२ सू०) में इसका सामान्य निर्देश है। प्रशस्तपाद ने इसका विशेष विवरण अपने भाष्य में दिया है।

सृष्टि काल में कार्य-वस्तुओं में भेद की उत्पत्ति के लिए अणुओं में 'पाकज विशेष' माना जाता है, जो अदृष्ट के समान प्रलय में भी नष्ट नहीं होता[1]। नैयायिक आचार्य यह 'पाकज' विशेष नहीं मानते (न्यायभाष्य, पृ० ३५२)।

(६) समवाय

समवाय[2] भाव पदार्थों में अन्तिम पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तु के साथ विना किसी सम्बन्ध के नहीं रह सकती। मुख्यतया सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संयोग तथा समवाय। संयोग सम्बन्ध उन वस्तुओं में होता है जो संयोग के बिना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती हैं। यह सम्बन्ध अनित्य होता है; पर समवाय सम्बन्ध इससे नितान्त भिन्न है। वह वस्तुद्वय में रहने वाला नित्य सम्बन्ध है। अंग-अंगी में, गुण-गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्तियों में तथा विशेष-नित्य द्रव्यों में यह निवास करता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयवभूत तन्तुओं में रहता है, लालिमा गुलाब के फूल में, लेखन-क्रिया लेखन में, मनुष्यत्व मनुष्य नामधारी व्यक्तियों में तथा 'विशेष' आत्मा तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में निवास करता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध समवाय के द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय की विशेषता है इसकी नित्यता। संयोग तो अनित्य सम्बन्ध है, पर समवाय की दशा ऐसी नहीं है। ऊपर जिन वस्तु युगलों का वर्णन किया गया है उनकी पारस्परिक स्थिति के निर्वाह करने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी, पृ० ३२।

२. द्रष्टव्य वै० सू० १।१।३; प्र० पा० भा०, पृ० १७१–१७५; न्यायकालका, पृ० ३२५–३२८; मुक्तावली का० ११।

पड़ता है। अतः इन परस्पर नित्य सम्बद्ध (अयुतसिद्ध) वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है। जबतक उक्त पदार्थों की सत्ता बनी हुई है, तबतक इस सम्बन्ध की सत्ता मानी ही जायेगी।

जो पदार्थ अलग रह सकते हैं, अर्थात् जिनकी सत्ता सदा पृथक् रूप से सिद्ध रहती है, उसे 'युतसिद्ध' कहते हैं और ऐसी वस्तुओं में रहने वाले सम्बन्ध को 'संयोग' कहते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो कभी जोड़े नहीं गये, अर्थात् जो सर्वदा संलग्न रहते हैं। ऐसे पदार्थों को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं। ऐसे द्रव्यों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है। इस सम्बन्ध का निवास इन वस्तुओं में होता है—

(क) अवयव तथा अवयवी में—जैसे वस्त्र तथा तन्तु का सम्बन्ध। वस्त्र है अवयवी तथा तन्तु है अवयव। इन दोनों के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते में। वस्त्र तन्तुओं को छोड़कर कभी रह नहीं सकता। न अतीत में पृथक् था, न आज है और न भविष्य में रहेगा। वस्त्र तन्तुओं में समवेत सदा रहता है।

(ख) गुण और गुणी में—जैसे जल तथा शैत्य में। शैत्य-ठंढापन गुण है और जल उसका आश्रय द्रव्य है, जिसमें वह रहता है (गुणी)। यह गुण जल में हमेशा वर्तमान रहता है। कभी भी शैत्य गुण जल को छोड़ कर नहीं रह सकता। अतः इन दोनों में समवाय सम्बन्ध विद्यमान है।

(ग) क्रिया तथा क्रियावान् में—जैसे गति तथा वायु में। गति क्रिया है तथा उसका आश्रय है वायु, जो इस क्रिया से युक्त है (क्रियावान्)। क्रिया अपने आधारभूत द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकती; प्रत्युत वह द्रव्य में सदा आधेय रूप से विद्यमान रहती है। जिस गुण द्रव्य में समवेत (समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) रहता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने आधार वाले द्रव्य में समवेत रहता है।

(घ) जाति तथा व्यक्ति में—गो व्यक्ति तथा 'गोत्व' में। जाति सदा व्यक्ति में रहती है और इस रहने का सम्बन्ध भी कोई चाहिए। यही सम्बन्ध समवाय है।

(ङ) विशेष तथा नित्य द्रव्य में—ऊपर कहा गया है कि विशेष नित्य द्रव्यों में, जैसे परमाणु, आत्मा आदि में रहता है, वह जिस सम्बन्ध से रहता है वही समवाय है। अतः वायु के परमाणु में वायुत्व विशेष समवेत रहता है।

संयोग से समवाय सदा भिन्न होता है। दोनों में महान् अन्तर है—(१) संयोग से युक्त पदार्थ पहले पृथक्-पृथक् रहते हैं, परन्तु समवेत पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते। (२) विभाग के द्वारा संयोग नाश को प्राप्त होता है, किन्तु समवाय कभी नष्ट होने वाला नहीं होता। (३) संयोग दो स्वतन्त्र वस्तुओं में होता है, परन्तु समवाय आधार तथा आधेय वस्तुओं (परतन्त्र) में ही होता है। (४) मिलने वाले पदार्थों में से कभी एक की क्रिया से और कभी दोनों की क्रिया से संयोग उत्पन्न होता है, परन्तु समवाय के लिए क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। (५) संयुक्त वस्तुयें अलग-अलग करने पर भी अपनी सत्ता बनाये रखती हैं, परन्तु समवेत पदार्थ को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। गो गोत्व से कभी अलग नहीं किया जा सकता। जब तक गो पदार्थ रहता है, सदा गोत्व के साथ मिला ही रहता है।

सारांश यह है कि संयोग बाहरी तथा आकस्मिक सम्बन्ध होता है, परन्तु समवाय भीतरी तथा स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नाना दृष्टियों में संयोग से भिन्न होने वाला 'समवाय' एक विशेष सम्बन्ध है; इस बात की अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकती। 'समवाय' की कल्पना न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के लिए नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसी के आधार पर इसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध अवलम्बित रहता है। इसी से इसकी विशिष्ट उपयोगिता है।[१]

(७) अभाव

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध है, अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। अन्योन्यभाव का अर्थ होता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है, अर्थात् दोनों में पारस्परिक भेद है। संसर्गाभाव तीन प्रकार का माना जाता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है। अतः इन दोनों भेदों को मिलाने से अभाव चार प्रकार का होता है। संसर्गाभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—'क ख में नहीं है', अन्योन्याभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—'क ख नहीं है'।

उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव—पहले होने वाला अभाव कहते हैं। उत्पत्ति के पीछे कारण में कार्य के होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। अतः प्रध्वंसाभाव आदि होते हुए अनन्त माना जाता है। दो वस्तुओं का संसर्ग वर्तमान भूत तथा भविष्य तीनों काल में विद्यमान

न रहने पर अत्यन्ताभाव होता है। कोई भी वस्तु किसी अधिकरण में संसर्ग-विशेष से ही विद्यमान रह सकती है, जैसे भूतल पर घट की स्थिति संयोग सम्बन्ध से ही मानी जा सकती है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। अतः भूतल पर घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी 'भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव है' यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है। उसी प्रकार सुरभित सुमन में गन्ध की सत्ता समवाय सम्बन्ध से है, संयोग सम्बन्ध से नहीं। अतः 'इस फूल में संयोग सम्बन्ध से गन्ध का अत्यन्ताभाव है' इस कथन में पुष्प में सुगन्ध के अनुभव होने पर भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। इसे ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। जिसका अभाव रहता है, उसे न्याय की दार्शनिक भाषा में 'प्रतियोगी' कहते हैं। इस अत्युन्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है, अर्थात् किसी संसर्ग विशेष का अवलम्बन करके ही किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है। प्रागभाव की तरह यह न तो उत्पत्ति से सम्बद्ध है और न प्रध्वंसाभाव की तरह उत्पत्ति के नाश से। अतः अनादि भी है तथा अनन्त भी है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद होने पर अन्योन्याभाव होता है, जिस प्रकार 'घट पट नहीं है'। इस कथन से घट से पट की भिन्नता के समान पट से घट की भी भिन्नता स्वीकृत की जाती है। घट पट नहीं है और न पट ही घट है—इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है।[१२]

विश्व की सृष्टि

अन्य दार्शनिकों की तरह वैशेषिकों ने भी जगत् के उपादान के विषय में विशेष विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धान्त के अनुयायी दर्शनों ने परमाणु को जगत् का उपादान बतलाया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी मूलभूत पदार्थ से इस नानात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। पर परमाणु के साथ जगत् का सम्बन्ध एक प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता, प्रत्युत वास्तववाद के समर्थक दर्शनों में इस विषय में गहरा मतभेद है।

जगत् का कारण

कार्य को नवीन उत्पन्न द्रव्य अथवा कारण का परिणाम न मान कर कारणों का केवल संघातमात्र मानने वाले बौद्धों के मत में यह जड़ प्रपञ्च कर्म नियमित क्षणिक तथा परमाणु-पुञ्जरूप—परमाणु से सर्वथा अभिन्न है (अर्थात् कार्य-कारण का परिणाम न होकर तदभिन्न है।) जैनियों के मत में यह जगत्-कर्म नियमित, स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम (किसी अंश में भिन्न और किसी अंश में अभिन्न = भिन्नाभिन्न) है। प्रभाकर के मत में जगत्-कर्म नियमित तथा परमाणु का कार्य (भिन्न) है, पर

न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार यह जगत् परमाणु का कार्य (भिन्न) होते हुए कर्म-नियमित न होकर कर्म की सहकारिता से ईश्वर-नियमित है।

अनुभव साक्षी है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष वाले समस्त पदार्थ अवयवविशिष्ट होते हैं। प्रत्यक्षानुभूत घट के अवयव कपाल, तथा पट के अवयव तन्तु हैं। इन अवयवों के भी अवयवों की तथा उनके भी अवयवों की कल्पना की जा सकती है, पर एक स्थल पर इन अवयव-धाराओं को विराम देना ही होगा। यदि अवयवधारा का अवसान न मान कर अनन्त अवयवपरम्परा स्वीकार की जायगी, तो पर्वत तथा राई दोनों के परमाणुओं में तुल्यता होने लगेगी; क्योंकि जिस प्रकार अवयवपरम्परा का अन्त न मानने से पर्वत के अनन्त अवयव होंगे, उसी प्रकार राई के भी अनन्त अवयव होंगे, जिनमें नियामक न होने से दोनों बराबर होने लगेंगे। इस दोष से बचने के लिए अवयवधारा का कहीं न कहीं विराम मानना ही पड़ेगा। जिन अवयवों पर उसका विराम स्वीकार किया जायगा, वे स्वयं अवयवरहित होंगे, तथा स्वयं उपादान होने से नित्य द्रव्य माने जायेंगे। इस प्रकार के सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। ये परमाणु चार प्रकार के हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय।

इन परमाणुओं से जगदुत्पत्ति के प्रकार का वर्णन प्रशस्तपाद नें अपने (पृ० १९–२२) भाष्य में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अणुपरिमाण-विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है, जो अणुपरमाणु-विशिष्ट होने से स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है। वस्तुस्थिति यह है कि परमाणु नित्य है। दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। द्व्यणुक भी अणुपरिमाण वाला है, किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्व्यणुकों से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वह महत्परिमाण वाला होता है। अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। फलतः परमाणु और द्व्यणुक अतीन्द्रिय हैं और त्रसरेणु से लेकर आगे के सभी कार्य-द्रव्य इन्द्रिय-गोचर होते हैं। घर में छत के छेद से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्रगोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। इनका छठा भाग 'परमाणु' कहलाता है[1]। त्र्यणुक का महत्त्व

उत्पत्ति-क्रम

---

१. जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

द्वयणुकों की संख्या के कारण उत्पन्न माना जाता है, न कि उनके अणु-परमाणु से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर जगत् की सृष्टि होती है। प्रत्येक द्रव्य की सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण माना जाता है।

वैशेषिक मत में परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निःस्पन्दरूप से निवास करते हैं; उनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है ? प्राचीन वैशेषिक लोग प्राणियों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट को इसका कारण बतलाते हैं। अदृष्ट की दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है। अयस्कान्तमणि की ओर सूई की स्वाभाविक गति[1], वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना[2], अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की पहिली गति (स्पन्दनात्मक क्रिया)—अदृष्ट के द्वारा जन्य बतलाई जाती है, पर पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि-क्रिया मानी है[3]। अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता कारण मानी गई है। महेश्वर को जगत् के संहार करने की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्टों का शक्ति-प्रतिबन्ध उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् अदृष्टों की शक्ति रुद्ध हो जाती है। अतः उसका सद्यः फल प्रलय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जब प्राणियों के कर्म फलोन्मुख होते हैं और अदृष्ट कार्य करता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा तथा परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है; उसके कारण परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।[13]

वैशेषिकों की यह परमाणु-कल्पना स्वप्रतिभोत्पादित सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक देमोक्रितस के परमाणुवाद से यह सिद्धान्त नितान्त भिन्न है। ग्रीसदेशीय विवेचना के अनुसार परमाणु स्वयं गुणरहित होते हैं, पर उनमें तौल, स्थान, तथा क्रम का अन्तर होता है, किन्तु कणाद के अनुसार परमाणु में विशेष गुण होता है। देमोक्रितस तथा एपिकरस ने परमाणुओं को स्वतः गमनशील तथा आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला बतलाया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए पारस्परिक संघर्ष से स्वतः जगत् की सृष्टि करते हैं, क्योंकि

---

१. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्—(वै० सू० ५।१।१५)।
२. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्—(वै० सू० ।५।२।७)।
३. प्र० पा० भा०, पृ० २०; न्या० कं०, पृ० ५२–६३।

ईश्वर का बहिष्कार कर देने से उनका कोई भी सचेतन नियामक विद्यमान नहीं रहता, परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त इससे नितान्त भिन्न ठहरता है। यहाँ परमाणु स्वभावतः निःस्पन्दावस्था में रहते हैं; उनमें स्पन्द का आविर्भाव अदृष्ट के सहकार और ईश्वर की इच्छा से होता है। वे पृथिव्यादि भूतचतुष्टय की ही उत्पत्ति कर सकते हैं; आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य है, तथा उनके समान ही साथ-साथ स्थिति धारण करता है। दोनों में तात्त्विक विभेद यह है कि ग्रीक सिद्धान्त भौतिकवाद का समर्थक है, पर भारतीय सिद्धान्त आध्यात्मिकवाद का पोषक है। ऐसी दशा में डाक्टर कीथ[1] की भारतीय परमाणुवाद के सिद्धान्त पर ग्रीक प्रभाव की कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

भारत तथा यूनान में परमाणुवाद

भारतवर्ष के नैयायिक तथा वैशेषिक लोग जगत् में 'अनेकवाद' के समर्थक थे और वे 'परमाणु' के द्वारा सृष्टि मानते थे। इस विषय में यूनानी दार्शनिकों के साथ उनके विचार की तुलना की जा सकती है। यूनानी दार्शनिकों का एक दूसरा सम्प्रदाय अनेकवाद (Pluralism) का समर्थक था। इनके अनुसार जगत् में विद्यमान परिवर्तन वास्तव है। इस पक्ष के आद्य विद्वान् थे हिरेक्लितस (Heraclitus ५४०–४७५ ई० पू०)। ये 'अग्नि' को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और उसे परिणाम का प्रतीक समझते थे[४]। यद्यपि ये मूल वस्तु की नित्यता में विश्वास करते थे, तथापि जगत् के पदार्थों की बहुलता तथा उसके सतत परिवर्तन को ये मान्य समझते थे। तथागत बुद्ध ने जिस परिवर्तन तत्त्व—परिणामवाद—की भारत में व्याख्या की, उसी का प्रतिपादन हिरेक्लितस ने यूरोप में सर्वप्रथम किया। इनके उपदेशों में सर्वतोभावेन मान्य सिद्धान्त है प्राकृतिक घटनाओं में व्यवस्था पर आग्रह। विश्व में विद्यमान क्रमबद्धता सूचित करती है कि इसके मूल पदार्थ में अथवा उसके साथ ही साथ 'सार्वभौम बुद्धि' अवश्य विद्यमान है। अनेकवाद के सिद्धान्त को अनाक्सागोरस (Anaxagoras ५००–४२८ ई० पू०) तथा इम्पेदोक्लेस (Empedocles ४८३–४४० ई० पू०) ने अग्रसर किया और इसका चरम उत्कर्ष देमोक्रितस (Democritus ४६०–२७० ई०पू०) ने अपने परमाणुवाद के द्वारा प्रदर्शित किया। अनाक्सागोरस की दृष्टि में जगत्

---

१. द्रष्टव्य कीथ :—इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटमिजम, पृ० १७–१८।

का मौलिक तत्त्व एक प्रकार का नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं के अनेक प्रकार के 'बीजों' से जगत् की सृष्टि होती है। इम्पेदोक्लेस ने अनाक्सागोरस के अनेक 'बीजों' के स्थान पर चार प्रकार के मूल तत्त्व (अर्थात् अग्नि, वायु, जल, तथा पृथ्वी—इन चार भूतों) को स्वीकार किया। उन्होंने उत्पत्ति तथा प्रलय के संकर्षण और विकर्षण के तत्त्व माने। ये दोनों तथ्य रागद्वेष-जैसे मनोभाव की सत्ता पर आश्रित हैं। संकर्षण से होती है सृष्टि और विकर्षण से होता है प्रलय। देमोक्रितस को दार्शनिक जगत् की अपेक्षा वैज्ञानिक जगत् अधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करता है। वे भौतिकशास्त्र के जनक माने जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा उद्भावित परमाणुवाद की स्वीकृति से भौतिकशास्त्र की विशेष उन्नति हुई है। विश्व की सृष्टि के मूल साधन 'परमाणु' हैं। ये आकार तथा स्थान में परस्पर भिन्न हैं। परमाणु को विश्व की 'वर्णमाला' स्वीकार किया जाता है। अंग्रेजी वर्णमाला में A और M में आकार तथा रूप में पार्थक्य है, M और W में स्थान में पार्थक्य है, on और no में क्रम-विन्यास में अन्तर है। उसी प्रकार परमाणुओं में आकार, रूप, तथा स्थान में भिन्नता विद्यमान रहती है। परमाणु जड नहीं, प्रत्युत चेतन होते हैं। वे स्वतः क्रियाशील होते हैं और समग्र दिशाओं में स्वयं प्रचलित हो दूसरे परमाणुपुञ्ज से संश्लिष्ट होकर जगत् की सृष्टि करते हैं। अवस्था-विशेष में पदार्थ अन्य पदार्थ के साथ संघर्ष में आता है, जिससे उसके परमाणु चूर्णित होकर फिर पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यही है परमाणु सिद्धान्त, जो जगत् को यन्त्रात्मक (Mechanical) व्याख्या करता है, अर्थात् वह जगत् की गति तथा जड प्रकृति के रूप में ही लक्षित किया जाता है। देमोक्रितस के मत में पदार्थों के अवान्तर गुण—रूप, शब्द, गंध और रस व्यवहारतः सत्य हैं। यदि परमार्थतः कोई वस्तु सत्य है, तो वह परमाणु ही है। 'परमाणु' के सिद्धान्त में वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्रयोग करने से अनेक परिवर्तन कालान्तर में होते रहे हैं[५], परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि देमोक्रितस के सिद्धान्त ने प्राचीन युग में वैज्ञानिकों के लिए एक दृढ आधार प्रस्तुत किया और भौतिक विज्ञान के अभ्युदय का सूत्रपात किया।

(४) वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा प्रशस्तपादभाष्य में विशेषरूपेण की गई है। ज्ञान सामान्यतः दो प्रकार का होता है—(१) विद्या तथा (२) अविद्या। ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। अविद्या के चार प्रकार हैं—संशय,

विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। अनेक प्रसिद्ध विशेषवाले दो पदार्थों में साहश्य मात्र के दर्शन से और दोनों के विशेषों के स्मरण न करने से उभयावलम्बी विमर्श को 'संशय' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—अन्तः (भीतरी) और बाह्य (बाहरी)। विपर्यय का अर्थ है—अवस्तु में वस्तु का ज्ञान (अतस्मिन् तदिति प्रत्ययः) अर्थात् भ्रम। अनध्यवसाय से तात्पर्य 'अनिश्चय' से है। 'यह क्या है'? यह आलोचनमात्र ज्ञान। 'कटहल' को देख कर किसी मनुष्य का निश्चय पर न पहुँचना अनध्यवसाय है। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। प्रशस्तपाद के मत से स्वप्न के तीन कारण होते हैं—संस्कारपाटव, धातुदोष तथा अदृष्ट। कामी या क्रुद्ध पुरुष जिस विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है उसकी चिन्ता-सन्तति स्वप्न में प्रत्यक्ष रूप से दीख पड़ती है। वात-प्रकृति या वातदूषित व्यक्ति आकाश में गमन, पित्त-प्रकृति व्यक्ति अग्निप्रवेश और स्वर्णपर्वत, कफप्रकृति सरित्, समुद्र का स्वप्न देखता है। अदृष्ट से विचित्र स्वप्नों का उदय प्रसिद्ध ही है। विद्या चार प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्ष। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना नैयायिकों के समान है। वैशेषिक लोग उपमान और शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मान कर द्विविध प्रमाण के पक्षपाती हैं। स्मृति प्रसिद्ध है। ऋषियों का अतीन्द्रिय विषयों का प्रतिभाजन्य यथार्थ निरूपणात्मक ज्ञान 'आर्ष' कहलाता है। प्रचीन काल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्ध दर्शन के साथ विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है। शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने से ही ये 'अर्ध वैनाशिक' (आधे बौद्ध) के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

(५) वैशेषिक कर्तव्यमीमांसा

वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र से ही पता चलता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है। धर्म का लक्षण है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः (वै० सू० १।१।२)। किरणावली और उपस्कार के व्याख्यानुसार अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का मोक्ष है। धर्म वही है जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो या तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। प्रशस्तपाद के अनुसार कर्ता का मोक्ष साधक, अतीन्द्रिय, शुद्ध संकल्प से उत्पन्न, स्वकीय वर्ण तथा आश्रय में नियत कर्मों के साधन से उत्पन्न होने वाला पुरुष का गुण 'धर्म' कहलाता है। धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्मों में धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणि-हितसाधन, सत्य

वचन, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अनुपधा (भाव शुद्धि), अक्रोध, स्नान, पवित्र द्रव्य सेवन, विशिष्ट देवता की भक्ति, उपवास और अप्रमाद की गणना है। विशेष धर्म चारों वर्ण तथा चारों आश्रम के कर्तव्य रूप हैं, जिनका निरूपण स्मृति ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है (मनु० २-६)। इन कर्मों का आचरण कामना के साथ किये जाने पर तत्तत्फलों की उत्पत्ति होती है, परन्तु प्रयोजन के बिना अर्थात् निष्काम बुद्धि से इनका विधान भाव-प्रसाद (चित्त-शुद्धि) के द्वारा धर्म की उत्पत्ति करता है। अतः निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि परम्परया कराता है। धर्म की इस उपादेयता को न जान कर महर्षि कणाद पर यह लाछन लगाना एकदम झूठ है कि उन्होंने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की, परन्तु किया छह पदार्थों का वर्णन। सागर जाने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह हिमालय जाने के समान हुआ।

मोक्ष की अभिव्यक्ति का प्रकार यह है कि निष्काम कर्म के सम्पादन से सत्त्वशुद्धि होती है; सत्त्वशुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है। वह मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस तरह मोक्ष के उदय के प्रति तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण (सन्निपत्योपकारक) है, परन्तु निष्काम कर्म परम्परया (आरादुपकारक) कारण है[1]।

वैशेषिक की आचारमीमांसा न्याय की उक्त मीमांसा के समान ही है। मोक्ष की कल्पना तथा उसकी प्राप्ति का उपाय भी वैसा ही है। कणाद के अनुसार मोक्ष की परिभाषा भी नैयायिक कल्पना के अनुरूप ही होती है। जब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्म-चक्र की गति का अपने ही आप अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है और जन्म-मरण की परम्परा भी उसी के साथ बन्द हो जाती है, साथ ही सब दुःखों का नाश हो जाता है—

मोक्ष

यही मुक्ति है[2]। जब तक कर्म का कोई हिस्सा बाकी रहता है, तब तक उसके फल भोगने के लिए जन्म धारण करना ही पड़ता है। जब संचित कर्म तथा प्रारब्ध कर्म का फल समाप्त हो जाता है और नये कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, तब पुनर्जन्म नहीं होता; आत्मा दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

---

१. द्रष्टव्य प्रशस्तपाद भा०, पृ० १३६; किरणावलीभास्कर, पृ० २१।

२. द्रष्टव्य वैशेषिकसूत्र ५।२।१८।

इस मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के द्वारा ही होती है। तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह के न होने पर वस्तु में राग या आसक्ति नहीं रहती, जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके। इस विषय में वैराग्य होने से कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं होती। आसक्ति ही तो प्रवृत्ति का कारण होती है। जब आसक्ति ही नहीं रहती, तब प्रवृत्ति स्वतः बन्द हो जाती है। शरीर, वचन तथा मन के द्वारा मनुष्य तब कोई कर्म ही नहीं करता, जिसका फल भोगने के लिए जन्म लेने की जरूरत पड़े। विपाक होने से पूर्व कर्म का नाश हो जाता है और नये कर्म का उदय प्रवृत्ति के अभाव में होता ही नहीं। अत एव शरीरपात होने पर जीव को पुनः नये जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं रहती। फलतः उस समय सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मोक्ष का साधन

प्रथमतः मनुष्य में तत्त्वों के जानने के लिए श्रद्धा होनी चाहिए। बिना श्रद्धा के जिज्ञासा नहीं होती और जिज्ञासा के बिना तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इस प्रकार कुलीनता, श्रद्धा तथा जिज्ञासुता—ये सब ज्ञान के आवश्यक साधन हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार—इन चारों प्रकारों से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञान क्या है? वस्तु का जो यथार्थ रूप हो उसे उसी प्रकार से अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है। वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान होना आत्मा का साक्षात्कार करना है। उस साक्षात्कार के हो जाने पर जीव भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। शरीर के रहने पर आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक गुण (औपाधिक गुण) रहते हैं, जो शरीर के नाश होते ही शान्त हो जाते हैं, तब आत्मा अपने वास्तव विशुद्ध रूप में स्थित हो जाता है। अत एव तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का परम साधन है।

वैशेषिक मत ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का पक्षपाती नहीं; अपितु ज्ञानवाद का ही है। निष्काम कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक मात्र है। निवृत्तिरूप धर्म से प्रसूत, द्रव्यादि षट् पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से उत्पन्न तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है (वै० सू० १।१।४)। अतः निवृत्तिरूप धर्म या निष्काम कर्म का आचरण करना इस संसार से निवृत्ति पाने वाले प्राणी का कर्तव्य होना चाहिये। योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं[1]।

---

१. उपस्कारसूत्र ६।२।१६।

प्रवृत्ति की न्यायसम्मत व्याख्या वैशेषिकों को भी सम्मत है। आज मोक्ष की कल्पना में प्रचलित नैयायिकों तथा वैशेषिकों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता, परन्तु कभी दोनों मतों में अन्तर अवश्य था। भासर्वज्ञ[1] तथा सर्वसिद्धान्त-संग्रह[2] के मतानुसार आनन्दरूपा मुक्ति के मानने वाले एकदेशी नैयायिक अवश्य थे, परन्तु वैशेषिकों ने सर्वदा दुःखात्यन्तनिवृत्ति और आत्मविशेष-गुणोच्छेदरूपा मुक्ति ही अंगीकृत की है[3]। अर्थात् मुक्ति में दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है, आनन्द का उदय नहीं होता; और आत्मा अपने विशेष गुणों से विहीन हो जाता है।

(५) समीक्षा

तत्त्वज्ञान से आत्मा के यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के लिए आत्मेतर द्रव्यों की जानकारी आवश्यक है। द्रव्यों के आश्रित धर्म गुण और कर्म हैं। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा और आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से ही हो सकती है। द्रव्य, गुण, कर्म के समान धर्मों के योग का नाम 'सामान्य' है (सामान्यं साधर्म्ययोगः)। समान धर्म कहीं व्यवस्थित रहता है (यथा गोत्वादि) और कहीं अव्यवस्थित रहता है (यथा आरोह, परिणाह, विस्तार आदि)। यदि केवल सामान्य धर्म का आश्रय लिया जाता है, तो तत्त्वार्थ बुद्धि का उदय न होकर मिथ्या बुद्धि होती है। स्थाणु में पुरुषत्व की बुद्धि सामान्य धर्म के ही ऊपर निर्भर है। अतः वैधर्म्य का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। वैधर्म्य-ज्ञान का पता विशेष से चलता है। सामान्य और विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए नित्य सम्बन्ध की कल्पना भी न्याय्य है। यह नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। भाव पदार्थों के समान अभाव भी उतना ही वास्तव, यथार्थ और महत्त्वशाली है। अतः आत्मा के साधर्म्य के द्वारा यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के लिए सात पदार्थों की वैशेषिक कल्पना नितान्त संगत और औचित्यपूर्ण है (चन्द्रकान्त—वैशेषिक भाष्य १।१।४)।

---

१. न्यायसार, पृ० ४०–४१।

२. नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते ६।४१।

३. दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः (प्र० पा० भा०, पृ० १४४)।

पदार्थ-समीक्षा

वैशेषिक पदार्थमीमांसा की समीक्षा करने पर पहली बात जो आलोचकों के आक्षेप का विषय है वह पदार्थों की नियमित षट् संख्या है। पदार्थों को षट् संख्या का नियामक क्या है? क्या इतने से अधिक या कम पदार्थों की कल्पना मान्य नहीं हो सकती? स्वतन्त्र पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षी नहीं होता, परन्तु स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी गुण और कर्म की द्रव्याश्रितता अभीष्ट है। यदि गुण कर्म द्रव्याधीन रहते हैं, तो क्या उनकी स्वतन्त्र पदार्थ की कल्पना में इससे धक्का नहीं पहुँचता? अतः छह या सात पदार्थों की कल्पना में कोई भी नियामक हेतु प्रतीत नहीं होता। 'सामान्य' तथा 'विशेष' की कल्पना अनेक दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। जैन दार्शनिक मल्लिषेण का कहना है कि सब पदार्थों का यह स्वभाव है कि वे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति स्वतः उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न होने वाला घट उस आकार वाले समस्त द्रव्यों की घटप्रतीति उत्पन्न करता है और सजातीय विजातीय द्रव्यों से अपने स्वरूप को स्वयमेव अलग करता है। ऐसी वस्तुस्थिति में इन दो नवीन पदार्थों की अनावश्यक कल्पना क्योंकर सुसंगत मानी जाय? (स्याद्वादमञ्जरी श्लोक ४.)।

'सामान्य' दार्शनिकों के मतभेद का एक प्रधान विषय है। बौद्धों की सम्मति में जाति की कल्पना नाममात्र की है, वास्तव कल्पना नहीं; जगत् में व्यक्ति (स्वलक्षण) की ही सत्ता है, जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत होता है। कणाद (वै० सू० १।२।३) जाति की केवल मानस सत्ता मानते हैं, परन्तु उनके पीछे के वैशेषिक, नैयायिक, भाट्ट तथा प्राभाकार मीमांसक जाति की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् स्वतन्त्ररूपेण मानते हैं। इन वास्तववादी दार्शनिकों में भी जाति-व्यक्ति के सम्बन्ध को लेकर मतभेद दृष्टिगोचर होता है। नैयायिक और प्राभाकार जाति-व्यक्ति का सम्बन्ध 'समवाय' मानते हैं, परन्तु कुमारिल जाति का व्यक्ति से भिन्न अर्थात् अभिन्न मानते हैं। रामानुज व्यक्ति को सत् तथा तद्व्यतिरिक्त जाति को असत् मानते हैं, परन्तु वे संस्थानजन्य सुसादृश्य को वास्तव मानने के पक्ष में हैं। शांकरवेदान्त सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता (वे० प०, पृ० ११)। इस प्रकार दार्शनिकों की 'जाति' के विषय में स्वसिद्धान्तानुसारी भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं, परन्तु न्याय और बौद्ध दर्शन का जाति के विषय में विरुद्ध मत है; न्याय जाति को मानता है, बौद्ध दर्शन इसका प्रबल खण्डन कर अस्वीकार करता है[१४]।

जाति-समीक्षा

वैशेषिक सम्मत परमाणु-कारणवाद तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। सृष्टिकाल में पृथग्भूत परमाणुओं में संयोग उत्पन्न होने पर द्वयणुकादिक्रम से सृष्टि मानी गई है। संयोग कर्म से होता है। अब प्रश्न यह है कि कर्म किस कारण होता है ? दृष्ट कारणों में प्रयत्न या अभिघात माना जा सकता है, परन्तु उस समय शरीर उत्पन्न न होने से आत्ममन:-संयोग से उत्पन्न प्रयत्न का उदय स्वीकृत नहीं हो सकता। अभिघात की कल्पना भी इसी प्रकार असंगत है। अदृष्ट को कर्म का कारण मान सकते हैं, परन्तु अचेतन होने के कारण वह कर्मोत्पादन में किस प्रकार समर्थ हो सकता है ? अतः किसी नियत कर्म के अभाव में अणुओं में प्रथम कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, न कर्मजन्य संयोग, न संयोगजन्य द्वयणुकादि की सृष्टि। प्रलय काल में इसी प्रकार वियोगोत्पादक कर्म के अभाव में जगत् का प्रलय असम्भव है। परमाणुओं को प्रवृत्ति-स्वभाव मानने में नित्य प्रवृत्ति होगी, प्रलय का अभाव होने लगेगा; इसी प्रकार निवृत्तिस्वभाव मानने पर नित्य निवृत्ति के कारण में सृष्टि का अभाव होने लगेगा। उभय-स्वभाव मानने पर परस्पर विरोध होगा और अनुभव-स्वभाव मानने पर भी दोष वही रहेगा। अतः परमाणुओं में न तो स्वतःप्रवृत्ति की ओर झुकाव है, न स्वतःनिवृत्ति की ओर; प्रत्युत उनमें आद्य संयोग की उत्पत्ति के लिये किसी चेतन नियामक पदार्थ को मानना ही ठीक होगा। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त कि रूपादिमान् चतुर्विध परमाणु रूपादिमान् चतुर्विध कार्यों के उत्पादक तथा नित्य हैं, ठीक नहीं प्रतीत होता; रूपादिमान् होने से परमाणुओं को अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि लोक का यह नियम है कि रूपादिमान् वस्तु स्वकारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होती है। अतः परमाणुओं को भी स्वकारणापेक्षया स्थूल तथा अनित्य मानना ही न्यायसंगत है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त को हानि पहुँचती है। अतः परमाणुकारणवाद का कथमपि समर्थन नहीं किया जा सकता[१]। समवाय की कल्पना भी प्रमाणप्रतिपन्न नहीं प्रतीत होती। यदि अणुओं से अत्यन्त भिन्न द्वयणुकों के साथ सम्बन्ध मानने के लिए समवाय स्वीकृत किया जाता है, तो अत्यन्त भेद की समता के आधार पर समवायी पदार्थों से अत्यन्त भिन्न समवाय के साथ सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी,

परमाणुकारणवाद-समीक्षा

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र २।२।११-१७ पर शाङ्करभाष्य।

जिससे अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा[1]। इन्हीं कारणों से वैशेषिकों के सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सर्वमान्य नहीं हैं, परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान के समान वैशेषिक द्वारा भौतिक जगत् की समीक्षा लौकिक दृष्टि से नितान्त उपादेय और ग्राह्य है। तत्त्व-प्रासाद की आरम्भ की इन सीढ़ियों के द्वारा ही हम ऊपर चढ़ सकते और अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र २।२।१३—पर शाङ्करभाष्य; स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ४०—४१।

नवम परिच्छेद

सांख्य दर्शन

'सांख्य' भारतीय दर्शनों में अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके प्रवर्तक 'कपिल' माने जाते हैं। इस नाम की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इसी दर्शन ने सर्वप्रथम तत्त्वों का परिगणन या गिनती किया, जिनका ज्ञान हमें मोक्ष की ओर ले जाता है। गिनती को कहते हैं 'संख्या' तथा संख्या की प्रधानता रहने से इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा। परन्तु इससे भी सुन्दरतम व्याख्या दूसरी है। संख्या का अर्थ है—विवेक ज्ञान। प्रकृति तथा पुरुष के विषय में अज्ञान होने से यह संसार है और जब हम इन दोनों के 'विवेक को जान लेते हैं कि पुरुष (जीव) प्रकृति (भूत) से भिन्न है तथा स्वतन्त्र है, तब हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी विवेक-ज्ञान की प्रधानता होने से इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा[1]। न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा इसकी दृष्टि भिन्न है। न्यायवैशेषिक बहुत्ववादी दर्शन हैं, क्योंकि इनके अनुसार परमाणु, आत्मा, मन, काल, दिक् आदि अनेक नित्य मौलिक तथ्य हैं। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि यह दो ही तत्त्वों को मौलिक मानता है। एक है प्रकृति तथा दूसरा है पुरुष। सांख्य का प्रभाव प्राचीन काल की विचारधारा पर खूब ही पड़ा था और इसलिए इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल प्रथम दार्शनिक (आदि विद्वान्) की उपाधि से मण्डित किये जाते हैं[2]।

(१) प्रसिद्ध सांख्याचार्य

कपिल—सांख्य दर्शन के रचयिता का नाम 'कपिल मुनि' है। उपनिषदों में संकेतित सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले इन्होंने किया था। उपनिषत्कालीन सांख्य वेदान्त के साथ मिश्रित था। उसे पृथक् कर स्वतन्त्र दर्शन के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसी कारण कपिल 'आदि विद्वान्' की महत्त्वशालिनी उपाधि से विभूषित किये गए हैं। भागवत (१।८।११) के समय में ही सांख्य 'कालार्कभक्षित' हो चुका था। अतः इसके पुनरुद्धार के लिए कपिल ने तत्त्व-समूह का सम्यक निर्णय किया। आचार्य

पंचशिख ने अपने एक सूत्र[1] में कपिल को निर्माणकाय धारण कर आसुरि को सांख्य तन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है। इस प्रकार कपिल अपने समय के सुप्रसिद्ध अग्रगण्य दार्शनिक प्रतीत होते हैं[2]।

कपिल की दो रचनाओं का पता चलता है—तत्त्वसमास[3] तथा सांख्यसूत्र। तत्त्वसमास केवल २२ छोटे सूत्रों का समुच्चयमात्र है। सांख्यसूत्र में ६ अध्याय हैं और सूत्र संख्या ५२७ है। प्रथम अध्याय में विषय का प्रतिपादन, दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में सांख्यतत्त्वों के सुगम बोध के लिए अनेक रोचक आख्यायिका, पंचम में परपक्ष का निरास, षष्ठ में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है। तत्त्वसमास को अनेक विद्वान् सांख्य शास्त्र को प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाते हैं।

(क) तत्त्वसमास के समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० कीथ ने इसकी रचना १३८० ई० के अनन्तर मानी है, क्योंकि इसी समय लिखे गए सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है। दासगुप्त तथा गार्वे का भी यही मत है। मैक्समूलर अवश्य इसे अतिप्राचीन मौलिक ग्रन्थ मानते थे। बोधायन कवि कृत 'भगवदज्जुक' नाटक महेन्द्र विक्रम (७ शतक) के समय लिखा गया था। इसमें तत्त्वसमास के ८ सूत्र उद्धृत हैं (पृ० १—१५)। वहाँ इन सूत्रों को 'सांख्य-समय' कहा गया है। अतः इन सूत्रों की रचना सप्तम शताब्दी से अवश्य प्राचीन है।

---

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥ (१।२५) व्यासभाष्य में उद्धृत।

२. कतिपय विद्वान् 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' श्वेता० ५।२ में कपिल के अभिधान का संकेत बताते हैं, परन्तु सन्दर्भानुसार इस शब्द की वेदान्तिक व्याख्या ही सत्य प्रतीत होती है। यह कपिलवर्ण व्यक्ति हिरण्यगर्भ से अभिन्न ही है। द्रष्टव्य श्वेता० ३।४, ४।१२, ६।१८।

३. तत्त्वसमास पर अनेक टीकायें 'सांख्यसंग्रह' में प्रकाशित हुई हैं, जिनमें शिवानन्दकृत 'सांख्यतत्त्वविवेचन', भावागणेश (१६ वीं शताब्दी) कृत 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन', सर्वोपकारिणीटीका, सांख्यसूत्र-विवरण आदि मुख्य हैं। सांख्यसूत्र पर 'अनिरुद्धवृत्ति' प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है।

(ख) सांख्यसूत्र को अर्वाचीन मानना ठीक नहीं है। माधवाचार्य ने सर्व-दर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख अवश्य नहीं किया है; तथापि उन्हीं के समकालिक माधवमन्त्री ने सूतसंहिता की टीका में 'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थामूलप्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६१) उद्धृत किया है। अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ये सूत्र १४ शतक से प्राचीन हैं।

आसुरि—कपिल के साक्षात् शिष्य थे। इनके सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरी में (१५ वें श्लोक) आसुरि का एक श्लोक उद्धृत किया गया है।

पञ्चशिख—'षष्टितन्त्र' के निर्माता आसुरि के शिष्य पञ्चशिख सांख्य दर्शन को सुसम्बद्ध तथा प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम आचार्य हैं। इनके कतिपय सिद्धान्त विषय सूत्र प्रमाण के लिए व्यासभाष्य में उद्धृत किये गए हैं। वाचस्पति मिश्र ने 'राजवार्तिक' नामक ग्रन्थ से कतिपय श्लोक उद्धृत कर साठ प्रधान विषयों की व्याख्या होने के कारण ग्रन्थ के 'षष्टितन्त्र' नामकरण को सार्थक बतलाया है (तत्त्वकौमुदी का० ७०)। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।१८-२०) के अनुसार इसमें साठ परिच्छेद थे। चीनी ग्रन्थों के अनुसार इस षष्टिसहस्रश्लोकात्मक षष्टितन्त्र की रचना पञ्चशिख ने की थी। पञ्चशिख के सिद्धान्तों का परिचय महाभारत (शान्ति पर्व, अ० ३०२-३०८) से भी मिल सकता है।[१]

ईश्वरकृष्ण—इनकी सांख्यकारिका सांख्य का लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने शारीरकभाष्य में सांख्य मत के उपन्यास करने के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके इन्हीं की कारिकाओं से उद्धरण दिया है। इस घटना से भी इसकी प्रामाणिकता तथा प्राचीनता की पुष्टि हो सकती है। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ के द्वारा छठी शताब्दी में किया गया मिलता है। चीनी भाषा में इसे 'हिरण्यसप्तति' या सुवर्ण सप्तति कहते हैं। जापानी विद्वान् डा० तर्कासु ने ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी की एकता मानी है, परन्तु समय और सिद्धान्त में नितान्त पार्थक्य होने से उभय आचार्यों की अभिन्नता कथमपि मानी नहीं जा सकती। ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव काल चतुर्थ शतक में साधारणतया बतलाया जाता है, परन्तु वस्तुतः ये इससे कहीं अधिक प्राचीन हैं। जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१०० ई०) 'काविल', 'सट्ठितन्तं', 'माठरं' के साथ 'कणगसत्तरी' का भी उल्लेख करता है। सन्दर्भानुसार 'कणगसत्तरी' सांख्यग्रन्थ प्रतीत होता है। सांख्यकारिका के चीन-देशीय नाम 'सुवर्णसप्तति' से हम परिचित हैं। अतः यह 'कणगसत्तरी निश्चयरूप

से 'सांख्य कारिका' का ही नामान्तर है। इन उल्लेख से ईश्वरकृष्ण का समय ईसा की प्रथम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

कारिका की अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकायें उपलब्ध होती हैं, जिनमें 'माठरवृत्ति' सब से प्राचीन होती है। (१) आचार्य माठर कनिष्क के समसामयिक माने जाते हैं। अतः इनका समय अनुयोगद्वार के निर्देश के आधार पर भी प्रथम शतक माना जाता है। (२) गौडपादभाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। वृत्ति और भाष्य में अनेक स्थलों पर भाव और भाषागत विचित्र समानतायें हैं; अभीतक निश्चय नहीं हो सका है कि चीनी भाषा में अनूदित टीका का मूल वृत्ति है या भाष्य। गौड़पाद का समय सप्तम शतक के आसपास है। ये माण्डूक्यकारिका के रचयिता गौड़पाद से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। (३) 'युक्तिदीपिका' हाल में 'कलकत्ता संस्कृत सीरिज' (सं० २३) में प्रकाशित हुई है। यह अद्भुत पुस्तक है जो प्राचीन सांख्याचार्य के सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। सांख्य के इतिहास की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है। वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया गया है। शबर-स्वामी का उल्लेख अवश्य है, परन्तु कुमारिल और प्रभाकर का नहीं है। ग्रन्थकार के नाम का पता नहीं चलता, परन्तु वह वाचस्पति मिश्र से प्राचीन अथवा समसामयिक अवश्य है। (४) वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' सांख्यसिद्धान्तों के प्रकाशनार्थ वस्तुतः कौमुदी है। (५) शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध, परन्तु शंकराचार्य विरचित 'जयमङ्गल' सांख्यतत्त्व जिज्ञासुओं का मंगल साधन करनेवाली अल्पाक्षरा उपयोगिनी टीका है, जिसकी रचना १४ शतक के आसपास की गई है। (६) नारायण तीर्थ (१७ वीं शताब्दी) की 'चन्द्रिका' लघुकाय होने पर भी गम्भीरार्थ-प्रतिपादिनी है। (७) नरसिंह स्वामी का अभीतक अप्रकाशित 'सांख्यतरु-वसन्त' सांख्य और वेदान्त में मूलतः भेद नहीं मानता।

विन्ध्यवासी—सांख्याचार्य विन्ध्यवासी के विलक्षण सिद्धान्तों का पर्याप्त उल्लेख दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु इनकी रचना की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। आचार्य विन्ध्यवासी का व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था, परन्तु विन्ध्य के जंगलों में रहने से इनकी विन्ध्यवासी नाम से ख्याति हो गई थी। तत्त्वसंग्रह (पृ० २२) में उल्लिखित एक कटाक्षपूर्ण श्लोक वसुबन्धु की

परमार्थ-सन्तति का प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें परिणामवाद को अंगीकार करने वाले सांख्याचार्य विन्ध्यवासी की बड़ी मीठी चुटकी ली गई है। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम 'वार्षगण्य' बतलाया है। शान्तरक्षित ने ईश्वरकृष्ण का उल्लेख विन्ध्यवासी से अलग ही किया है। अतः सिद्धान्त तथा व्यक्तित्व की भिन्नता के हेतु दोनों की अभिन्नता मानी नहीं जा सकती*।

विज्ञानभिक्षु—विज्ञानभिक्षु एक प्रकार से सांख्य के अन्तिम आचार्य हैं। १६ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में ही विद्यमान थे। भिक्षु नाम धारण करने पर भी न तो ये बौद्ध थे और न दशनामी संन्यासियों में अन्तर्भुक्त थे। यदि ऐसा होता तो ये शंकराचार्य के मत की कड़ी आलोचना से अवश्य विरत होते। ये बड़े स्वतन्त्र विचार के सांख्याचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् तथा पुराणों के युग के अनन्तर वियुक्त होने वाले सांख्य और वेदान्त में हृदयंगम सामञ्जस्य दर्शाया है। इन्होंने तीन दर्शनों के ऊपर भाष्यग्रन्थ लिखे हैं—(१) सांख्यप्रवचनभाष्य—(सांख्यसूत्रों पर), (२) योगवार्तिक—(व्यासभाष्य पर), (३) विज्ञानामृतभाष्य—(ब्रह्मसूत्र पर)। इनके अतिरिक्त 'सांख्यसार' तथा 'योगसार' में इन दर्शनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त प्रतिपादन सरल ढंग से किया गया है। इनके तीन विशिष्ट शिष्यों के नामोल्लेख मिलते हैं जिनमें भावा गणेश सांख्य के विशेषज्ञ थे, जैसा कि उनके तत्त्वसंग्रह के विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन) से पता चलता है। सांख्य-तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन दुर्बल हो चला था। इसीलिए इन्होंने सांख्य को 'कालार्कभक्षित' कहा है, परन्तु इस तन्त्र की प्रणाली को पुनः जाग्रत करने तथा पुनरुज्जीवित करने में जितना श्लाघनीय उद्योग विज्ञानभिक्षु ने किया, वैसा किसी ने नहीं किया। सांख्य-योग को पुनः प्रतिष्ठित करने का सुयश विज्ञानभिक्षु को ही प्राप्त है।

(३) सांख्य तत्त्व-मीमांसा

सांख्य दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। उनके अनुसार २५ तत्त्व होते हैं जिसके जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो; दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इन पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जाता है— (१) कोई तत्त्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (प्रकृति)। (२) कुछ तत्त्व कार्य ही होते हैं— किसी से उत्पन्न होते हैं पर स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (विकृति)।

(३) कुछ तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं, तथा अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी होते हैं (प्रकृति-विकृति)। (४) कोई तत्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य रहता रहता है; न वह कार्य ही होता है, न कारण ही (न प्रकृति न विकृति)। सांख्य-सम्मत २५ तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति ।
विकृति	१६	ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र)। कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ)। मन, और महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश)।
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र (शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र)।
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

सत्कार्यवाद

कार्य कारण के विषय में सांख्यों का एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के नाम से विख्यात है। मार्मिक प्रश्न यह है कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है या नहीं ? अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से घड़ा बनाता है, तब क्या उत्पन्न होने से पहिले घड़ा मिट्टी में विद्यमान था या नहीं ? न्याय-वैशेषिक का उत्तर है—नहीं। घड़ा मिट्टी में विद्यमान् नहीं था (असत् कार्य), वलिक सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है अथवा घड़ा एकदम नवीन वस्तु होता है। यदि वह पूर्व से ही विद्यमान होता, तो घड़े की उत्पत्ति का अर्थ होता ? घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की मेहनत तथा चाक घुमाने की क्या जरूरत होती ? यदि कार्य कारण में पूर्व से वर्तमान है, तो कार्य तथा कारण में भेद भी क्यों कर किया जा सकता है ? मिट्टी तथा घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम प्रयोग क्यों नहीं किया जाता ? मिट्टी का लोंदा घड़े का काम क्यों नहीं करता ? घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही कार्य हम मिट्टी के लोंदे से भी कर सकते हैं ? व्यवहार इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ही देता है।

यदि कहा जाय कि कार्य तथा कारण में आकारगत भेद है, अर्थात् मिट्टी तथा घड़े के आकार में फर्क है, तब तो मानना ही पड़ेगा कि कार्य में ऐसी एक नई चीज पैदा हो गई जो मूल कारण में नहीं थी। इस प्रकार बाध्य होकर मानना पड़ता है कि कार्य उत्पत्ति से पहिले अपने कारण में वर्तमान नहीं था। नैयायिकों का यह सिद्धान्त असत्कार्यवाद के नाम से प्रख्यात है।

सांख्य का सिद्धान्त इस विषय में भिन्न है। उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा कार्य है, अर्थात् कार्य जब तक प्रकट नहीं होता तब तक वह वस्तु कारण है, किन्तु जब वह प्रकट हो जाता है तब कार्य अपनी कहलाता है। इस प्रकार कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद के नाम से पुकारते हैं। इसकी पुष्टि में सांख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं[1] :—

(१) अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। नील वस्तु सहस्रों शिल्पियों के उद्योग करने पर भी कथमपि पीत रंग की नहीं बनाई जा सकती। (२) किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है; दही चाहने वाला दूध को ही ग्रहण करता है; तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता। क्या कारण है कि तेली तेल के लिए सरसों या तिलों को ही कोल्हू में पेरता है, क्यों नहीं वह मिट्टी या कंकड़ को कोल्हू में डालकर तेल निकालता? उत्तर यह है कि तेल कार्य सरसों या तिल (कारण) में पहले से ही विद्यमान है। इसीलिए इस कार्य के वास्ते उसी विशेष उपादान (सामग्री) को हम ग्रहण करते हैं। इतना ही नहीं, अगर पूर्व स्थिति को नहीं मानते तो सबसे सब चीजें पैदा हो जाती। मिट्टी से कपड़ा भी बनता और कम्बल भी तैयार होता, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता। सब कारणों

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥
(सां० का० ९)

से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं दिखलाई पड़ती। (३) जुलाहा कपड़ा तैयार करने के लिए जो तन्तुओं को ही लेता है, इसका कारण उसे ज्ञात है। वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को पैदा करने की शक्ति है। कारण जिस शक्ति से युक्त है उस शक्य पदार्थ को वह पैदा करता है, अन्य को नहीं। इसीलिए तेलहन से तेल निकलता है, तथा मिट्टी से घड़ा बनता है, दूसरी कोई चीज नहीं। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। यह भी कार्य-कारण के पूर्वस्थित सम्बन्ध का नियामक है। (४) शक्त (शक्ति-सम्पन्न) कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान है। (५) कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम हैं—व्यक्त दशा का नाम कार्य है और अव्यक्त दशा का प्रचलित अभिधान कारण है। संसार का प्रतिदिन अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कारण व्यापार से पहले भी कारण में कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्ता के व्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है—अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं—(१) परिणामवाद और (२) विवर्तवाद। परिणाम वहाँ होता है जहाँ कारण से उत्पन्न कार्य वास्तव होता है, जैसे दूध से दही की उत्पत्ति। यहाँ दही वस्तुतः सची चीज है। वह आकार में, रूप में तथा फल में भिन्न होता है। दही जमा हुआ होता है तथा स्वाद में मीठापन लिए होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है। अतः कार्यों को वास्तव, सच्चे रूप से बतलाने वाला सिद्धान्त परिणाम कहलाता है और सांख्यों का यही मत है। विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का मत है। उसका कहना है कि जो कार्य दिखलायी पड़ता है वह वास्तव न होकर केवल आभासमात्र है; कार्य की केवल प्रतीति होती है, उसकी वस्तुस्थिति नहीं रहती। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हम डरकर भागते हैं कि यह साँप है। यहाँ रज्जु में सर्प उत्पन्न होता है, परन्तु यह कल्पना मात्र है, सच्ची घटना नहीं; क्योंकि दीपक लाने पर रज्जु के रूप को ही हम देखते हैं, साँप को नहीं। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म से ही यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् असत्य है; कोरी कल्पना है, स्वप्न के समान अलीक है; ब्रह्म ही एकमात्र

सत्कार्यवाद के दो रूप

सत्ता है। जगत् की केवल प्रतीति होती है, वह सच्चा नहीं होता। इस सिद्धान्त का नाम है—विवर्तवाद (अर्थात् कारण से कार्य का असत्य रूपान्तर)।

सांख्यदर्शन द्वैतमत का प्रतिपादक है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष विविध मूल-तत्त्व हैं, जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जडात्मिका तथा एक है, परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक हैं। ब्रह्म जगत् की सत्ता को मौलिक व्यापार से स्वतन्त्र होकर पृथक् रूप से सिद्ध मानने के कारण सांख्य भी न्याय-वैशेषिक के समान वास्तववादी है, परन्तु पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को क्षणभर दूर रखकर कहा जा सकता सांख्य का वास्तववाद है कि जहाँ इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अनेक स्वतन्त्र नित्य पदार्थों की कल्पना करने से न्यायवैशेषिक अनेकत्ववादी है, वहाँ प्रकृतिपुरुष द्विविधतत्त्व को ही इस जगत् व्याख्या के लिए पर्याप्त मानने से सांख्य द्वैतवाद का प्रतिपादक है। ये दोनों मौलिक तत्त्व प्रकृति और पुरुष हैं।

इस जगत् के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्यरूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्त्व से अवश्य ही हुई होगी। इसी मूल तत्त्व का अन्वेषण तथा तात्त्विक विवेचन प्रत्येक दर्शन का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है। बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा इस मूल तत्त्व को अत्यन्त सूक्ष्म 'परमाणु' बतलाते हैं। परन्तु सांख्य को इसमें बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है; भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जा सके, परन्तु उनसे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः स्थूल और सूक्ष्म सकल कार्य की—जगत् की—उत्पादिका 'प्रकृति' मानी गई है।

प्रकृति की सिद्धि

इस प्रकृति की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं—(१) जगत् के समस्त पदार्थ सीमित—परिमित, परतन्त्र हैं। अतः इनका मूल कारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। (२) संसार के पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाला है। अतः एक ऐसा मूल कारण अवश्य होना चाहिए जिसमें इन विशेषताओं का सद्भाव हो। (३) प्रत्येक कार्य, कारण में अव्यक्त रूप से निहित रहता है। यह विशाल जगत् कार्यों का एक समूह है, जो किसी न किसी कारण जगत् में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है। वह मूल अव्यक्त या प्रकृति है। (४) यह नियम सर्वत्र जागरूक है कि कार्य किसी कारण से उत्पन्न

होते हैं और फिर उसी कारण में लीन हो जाते हैं। सृष्टि-व्यापार देखने से प्रकृति को मानना पड़ता है। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। वह कारण भी अपने से सूक्ष्मतर कारण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार ऊपर की ओर जाते-जाते जहाँ यह कारण की शृंखला समाप्त होती है वही सूक्ष्मतम तत्त्व प्रकृति है, जो सबका मूल कारण है, तथा जहाँ से यह विश्व उदय होता है। प्रलय दशा में ठीक इसके विपरीत क्रिया होती है, अर्थात् स्थूल कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है और यह कारण भी अपने से सूक्ष्मतर कारण में लय पाता है। इस प्रकार यह परम्परा जाते-जाते जहाँ समाप्त होती है वही सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व है। इस तरह इस विश्व के आविर्भाव (उदय) का कारण तथा तिरोधान (प्रलय) का कारण विचारने से जो अन्तिम तत्त्व अनुमित होता है वही प्रकृति है।

प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है, अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए जगत् के पदार्थों में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द किसी के हृदय में दुःख और किसी तीसरे व्यक्ति के चित्त में मोह पैदा करती है। प्रकृति सांख्य में मूल तत्त्व है। वह नित्य है। संसार को वह उत्पन्न करती है, परन्तु वह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती (अहेतुमत्)। वह व्यापक, एक, किसी पर आश्रित न होने वाली होती है। उसमें अवयव नहीं होता। जगत् के पदार्थों में अवयवों की सत्ता होती है और इसी से वे आपस में मिश्रण तथा संयोग पाते हैं, पृथ्वी आदि पदार्थ आपस में मिलते हैं। प्रकृति का बुद्धि आदि के साथ जो सम्बन्ध है वह संयोग नहीं, तादात्म्य होता है। प्रकृति स्वतन्त्र होती है। वह अपने क्षेत्र में किसी के ऊपर अपने व्यापार के लिए आश्रित नहीं होती। प्रकृति अपने भीतर से समस्त संसार उत्पन्न करती है और प्रलय दशा में फिर उसे अपने भीतर निविष्ट कर लेती है। प्रकृति जडात्मिका होती है। सांख्यों के अनुसार इसमें जगत् के दो ही तत्त्व मौलिक होते हैं—एक जड रूप और दूसरा चेतन रूप। जड रूप तत्त्व ही प्रकृति है और चेतन तत्त्व पुरुष है। इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक मूल कारण को मानना पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर नितान्त युक्तियुक्त है[1]। इसे ही अव्यक्त रूप होने से 'अव्यक्त',

प्रकृति का रूप

---

१. द्रष्टव्य—सांख्यकारिका १५-१६; सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचनभाष्य १।११०, १।१२२-१३७।

प्रधान कारण होने से 'प्रधान', सबको जननी होने से 'प्रकृति' आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें दी गई हैं। यह स्वयं अजन्मा है—कारण होते हुए भी स्वयं किसी का कार्य नहीं है। यदि इस तत्त्व के कारण की कल्पना की जाय, तो अनवस्था दोष गले पतित हो जाता है। अतः इस दोष के निरास के लिए प्रकृति को ही जगत् का आदि कारण मानना नितान्त उचित है।[५]

गुण

प्रकृति जिन द्रव्यों का समूहरूप स्वयं होती है वे संख्या में तीन होते हैं—सत्त्व, रज तथा तम। इन तीनों का सामान्य नाम है—गुण। वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध आदि द्रव्य में रहने वाले पदार्थों को गुण शब्द से पुकारते हैं, परन्तु सांख्य के ये तीनों गुण इस रीति से गुण नहीं हैं, बल्कि वे द्रव्य हैं। गुण का अर्थ होता है—रस्सी या डोरी। अतः सत्त्व आदि गुण पुरुष को बाँधने वाले होते हैं। अतः रज्जु के समान इनकी क्रिया होने से ये 'गुण' कहलाते हैं (विज्ञानभिक्षु)।[६] ये प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं, तथा पुरुष को अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में सहायक या उपकारक होते हैं। इस विचार से भी इनकी संज्ञा 'गुण' है (वाचस्पति मिश्र)[१]। इनमें संयोग-वियोग होता रहता है और ये गुरुत्व, लघुत्व आदि धर्मों से युक्त भी रहते हैं। इसलिए क्रिया तथा धर्म से युक्त होने के कारण ये वस्तुतः 'द्रव्य' ही होते हैं।

गुणों को मानने के लिए प्रमाण भी यथेष्ट हैं। जगत् के पदार्थों पर दृष्टि डालिए। प्रत्येक में ये तीनों गुण विद्यमान पाए जाते हैं। पेड़ से एक मीठा

गुण-सिद्धि का प्रमाण

आम गिरता है जिसे पाने के लिए दो लड़के दौड़ पड़ते हैं। आम पानेवाले को तो आनन्द होता है, परन्तु न पाने वाले को दुःख होता है और इसे देखने वाले एक तीसरे लड़के को केवल उदासीनता होती है। एक ही आम ने तीन व्यक्तियों में तीन प्रकार की प्रतिक्रिया की। इसी प्रकार संगीत सबको आनन्दित नहीं करता। रसिक को आनन्द, बीमार को कष्ट तथा तीसरे को न आनन्द और न कष्ट देता है। एक ही संगीत से यह तीनों प्रकार का कार्य सम्पन्न हुआ। एक ही युवती अपने स्वामी को सुखी बनाती है, अपनी सपत्नियों को दुःखित करती है, तथा दूसरे पुरुष में वही मोह उत्पन्न करती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों गुण सदा सर्वदा विद्यमान रहते हैं। सांख्य के अनुसार जो

---

१. तत्त्वकौमुदी, कारिका १२।

धर्म कार्य में पाये जाते हैं वे ही कारण में भी विद्यमान रहते हैं। इसीलिए जगत् के मूल कारण प्रकृति में भी ये गुण विद्यमान हैं। गुणों की सत्ता मानने का यही कारण है। प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति में ये विद्यमान रहते हैं और इसीलिये प्रकृति से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ में उनका वर्तमान होना न्यायसंगत है।

सत्त्व का स्वरूप

सत्त्व गुण लघु (हलका), प्रकाशक तथा इष्ट (आनन्द रूप) होता है। यह गुण जहाँ भी रहता है वहाँ इसी प्रकार से रहता है। हल्की चीज ऊपर को उठती है। आग की ज्वाला तथा भाप की गति ऊपर को होती है। यह सत्त्व गुण के ही कारण होता है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है और इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों को ग्रहण करती हैं—सत्त्व के ही कारण। इसी प्रकार सब प्रकार के आनन्द, हर्ष, सुख, संतोष आदि मन में सत्त्व भावना होने से ही उत्पन्न होते हैं।

रजोगुण का स्वरूप

रजोगुण स्वयं चञ्चल होता है तथा दूसरों को भी चञ्चल बनाता है। वह क्रिया-प्रवर्तक होता है। वायु की चञ्चलता तथा गति-शीलता रज के ही कारण है। रज के ही होने से इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर दौड़ती हैं, तथा मन चञ्चल हो उठता है; सत्त्व तथा तम दोनों निष्क्रिय ही होते हैं। उनमें गति प्रदान करने का काम रजोगुण ही करता है। यही उन्हें निष्क्रिय दशा से हटा कर अपना कार्य करने के लिए उत्साहित करता है (उपष्टम्भक)। यह दुःखात्मक होता है, इसीलिए रजोगुण की प्रधानता होने पर वस्तु नितान्त दुःख ही पैदा करती है।

तमोगुण का रूप

तमोगुण गुरु (भारी) तथा रोकने वाला होता है। यह गुण सत्त्वगुण का विरोधी गुण होता है। यह रजोगुण की प्रवृत्ति को रोकता है। इसके अभाव में रजोगुण सदा चलायमान रहता है और आगे बढ़ता ही जाता है। यही उसे रोकता है। यह जडता तथा निष्क्रियता का प्रतीक है। यह मोह या अज्ञान पैदा करता है। इसी के कारण तेज की कमी होने से अन्धकार तथा बुद्धि की कमी होने पर मूर्खत्व उत्पन्न होता है। गति को रोककर यह प्रमाद निद्रा तथा तन्द्रा को पैदा करता है। इन तीनों गुणों का रंग तीन तरह का होता है। सत्त्व होता है उजला, रज होता है लाल और तम होता है काला।

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने पर भी मिलकर एक ही कार्य या फल का सम्पादन करते हैं। इनकी क्रिया के लिए दीपक का उदाहरण ठीक घटता है।

तीनों गुणों का सम्बन्ध

तेल, बत्ती तथा आग आपस में विरोधी होने पर भी एक साथ मिलकर सहयोग से दीपक के जलने में कारण होते हैं। बत्ती तथा तेल दोनों आग के विरोधी होते हैं अवश्य, परन्तु ये यहाँ आग से मिलकर रूप को प्रकाशित करते हैं। वात, पित्त तथा कफ आपस में एक दूसरे के विरोधी होते हैं परन्तु ये तीनों मिलकर शरीर को धारण किये रहते हैं। यही दशा इन गुणों की भी है। परस्पर विरुद्ध होनेपर भी सहयोग से पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। ये तीनों एक साथ रहते हैं और कभी ऐसा नहीं होता कि ये वियुक्त हो जायँ (मिथुन-वृत्ति), परन्तु एक दूसरे का अभिभव किया करते हैं, अर्थात् तीनों एक ही रूप में नहीं रहते। सत्त्व अपना कार्य रज तथा तम को दबाकर करता है; रज भी सत्त्व तथा तम को दबाता है, तमोगुण भी सत्त्व तथा रज को दबा कर अपना काम करता है (अभिभव)। जो प्रबल होता है वह अन्य दो गुणों को दबाकर अपनी क्रिया करता है। वे एक दूसरे का आश्रय भी ले लेते हैं। सत्त्व प्रवृत्ति नियम का आश्रय लेकर प्रकाश के द्वारा रज एवं तम का उपकार करता है। इसी प्रकार रज प्रकाश तथा नियम को आश्रित कर प्रवृत्ति से लाभ पहुँचाता है और तम प्रकाश तथा प्रवृत्ति को आश्रित कर अपने नियमन या रोकने का काम करता है (आश्रय वृत्ति)।

इन तीनों गुणों का स्वभाव ही होता है कि वे सदा परिवर्तन, परिणाम या विकार उत्पन्न करते रहते हैं। वे सतत परिणामशाली होते हैं। वे एक क्षण के लिए भी परिणाम से हीन अविकृत नहीं रह सकते। विकार उनमें सदा होता ही रहता है यह विकार दो प्रकार का होता है—प्रलयकाल का तथा सृष्टि-काल का। प्रलयकाल में एक गुण अन्य गुणों से अपने को अलग कर अपने ही रूप में परिणत होता है, अर्थात् सत्त्व सत्त्वरूप में, रज रज-रूप में रहते हैं। उस समय इनसे कोई कार्य नहीं होता। कार्य होने के लिए इनका परस्पर मिलन तथा विषमता होना आवश्यक होता है। जब तक एक गुण प्रबल नहीं होता और दूसरे गुणों को नहीं दबाता, तब तक सृष्टि का कार्य हो नहीं सकता। इसलिये प्रलय दशा में जो परिणाम गुणों में होता है वह 'स्वरूप-परिणाम' (समान रूपसे परिणत होना) होता है और उस समय तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है, यही 'प्रकृति' कहलाती है। दूसरा परिणाम तब होता है

जब एक गुण प्रबल होकर अन्य दो गुणों को अपने वश में कर लेता है; तभी सृष्टि आरम्भ होती है और कार्य उत्पन्न होने लगते हैं। इसका नाम है—विरूपपरिणाम। इस प्रकार दोनों दशाओं में गुणों से गुणान्तर हुआ करता है[७]।

पुरुष या आत्मा

सांख्य दो मूलतत्त्व मानता है—एक है प्रकृति और दूसरा है पुरुष या आत्मा। पुरुष की सत्ता स्वयंसिद्ध है। 'मैं हूँ', 'यह मेरी लेखनी है'—प्रतिदिन के इस अनुभव में 'मैं' और 'मेरी' आत्मा का ही परिचय देता है। कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता कि 'मैं नहीं हूँ' क्योंकि इस अस्वीकार या निषेध करने में भी तो चेतन आत्मा की आवश्यकता रहती है। फलतः आत्मा या पुरुष स्वयंसिद्ध है। वह स्वयं प्रकाश्य है और उसे प्रकाशित करने या बतलाने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती।

सांख्य के अनुसार पुरुष का रूप एक ओर तो प्रकृति से भिन्न पड़ता है और दूसरी ओर व्यक्त पदार्थों से भी। पुरुष शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न एवं स्वतन्त्र होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में होता है। वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। वह चैतन्य का आधाररूप द्रव्य नहीं है, बल्कि स्वयं चैतन्य रूप ही है। चैतन्य उसका गुण नहीं, प्रत्युत स्वभाव है। सांख्य मत इस विषय में वेदान्त से भिन्न पड़ता है। वेदान्त आत्मा को आनन्दमय मानता है, परन्तु सांख्य ऐसा नहीं मानता, बल्कि केवल चैतन्यमय ही स्वीकार करता है। सुख या आनन्द तो प्रकृति का गुण होता है, परन्तु यह पुरुष प्रकृति से भिन्न तत्त्व है। इसलिए यह आनन्दमय नहीं हो सकता। आत्मा प्रकृति के घेरे से बाहर होता है और शुद्ध चैतन्यमय होता है, वह निष्क्रिय तथा उदासीन होता है। जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति होती है, पुरुष तो उसकी यह लीला देखता हुआ सर्वथा साक्षी ही बना रहता है। वह उदासीन है—सुख तथा दुःख के द्वारा कथमपि स्पृष्ट नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, तथा वह अपनी दशा से कदापि विचलित नहीं होता। इसलिए वह अविकारी तथा कूटस्थ, नित्य तथा व्यापक होता है। शरीर, मन तथा इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेना सरासर भूल है और अज्ञान के कारण जब वह भूल कर बैठता है तब उसे मालूम पड़ता है कि मैं ही सुख तथा दुःख का भोगता हूँ। वह वस्तुतः असंग है। प्रकृति की परिधि के बाहर होने से वह

न सुख भोगता है न दुःख। वह तो एक निरीह तथा अविकारी सत्ता है। उसमें किसी भाँति का परिणाम उत्पन्न नहीं होता। सच तो यह है कि इस आत्मा (चितिशक्ति) को छोड़ कर संसार में सब भाव प्रतिक्षण में परिमाणशाली हैं। वही केवल ऐसा है जो इस परिणाम के चक्कर के बाहर है। अतः आत्मा की कूटस्थता स्वतः सिद्ध है[1]।

पुरुष की सिद्धि

सांख्य-पुरुष की कल्पना युक्तियों के दृढ आधार पर खड़ी की गई है। (१) जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय हैं। घर ईंटा, पत्थर, चूना आदि वस्तुओं का समुदाय है। वस्त्र अनेक तन्तुओं का समूह है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्य के उपयोग (परार्थ) के लिये हुआ करती हैं। अतः प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्य के लिये स्थित है। वह है कौन ? इस जगत् से नितान्त विलक्षण 'पुरुष'। (२) त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण भी किसी एक असंघात पदार्थ की कल्पना न्याययुक्त है। (३) जड पदार्थ में चेतन के रहे बिना प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकता है, जब उसका नियन्ता चेतन सारथि होता है। इसी प्रकार सुख-दु.ख मोहात्मक जगत् किसी चेतन पदार्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त है। (४) संसार के समस्त विषय भोग हैं। अतः इनका भोक्ता, भोग करने वाला भी कोई न कोई अवश्य ही होगा, जो गुणों में इनसे नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा। भोग्य विषयों का भोक्ता ही पुरुष है। (५) इस जगत् में कम से कम कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो दुःखों से व्यथित होकर मुक्ति पाने के लिए वास्तव में प्रयत्नशील हैं। भौतिक जगत् की किसी भी वस्तु के लिए इस प्रकार प्रयत्न करना सम्भव नहीं, क्योंकि स्वभावतः त्रिगुणमय होने के कारण वह दुःख का साधन होता है, दुःख की निवृत्ति का नहीं। मुक्ति के लिए प्रयत्न करना इसी बात की गवाही देता है कि कोई पदार्थ अवश्य ऐसा है जो क्लेशों से निवृत्ति पा सकता है। वही पदार्थ पुरुष है।

---

१. पुरुष के रूप तथा सिद्धि के लिये देखिए—कारिका तथा कौमुदीकारिका १७—२०; सांख्यप्रवचन-भाष्य तथा सांख्यवृत्ति १६६, १।१३८—१६४, ५।६१—६८।

वेदान्त का तो यही मत है कि इस जगत् में आत्मा एक ही होता है, परन्तु सांख्य इसे नहीं मानता है। उसका कहना है कि प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् आत्मा है। पुरुष की अनेकता सिद्ध करने वाली युक्तियाँ ये हैं—(क) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जन्म-मरण में, ज्ञान तथा क्रिया में बड़ा ही अन्तर होता है।

पुरुष की अनेकता

यदि एक ही आत्मा होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता, एक पुरुष के मरते ही सब पुरुष मर जाते, एक के अंधे और बहरे होते ही जगत् के सब पुरुष अंधे और बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता। इसलिए मानना ही पड़ता है कि पुरुष अनेक हैं। (२) जीवों में एक ही समय में एक प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। कोई पुरुष रोता है, तो दूसरा हँसता है; कोई छात्र दिन को मैदान में खेलता है, दूसरा छात्र उसी समय कमरे में बैठकर अपना पाठ याद करता है। एककालीन क्रिया में इस प्रकार अन्तर यही सूचित करता है कि आत्मायें अनेक हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार एक ही समय में भिन्न-भिन्न क्रियायें करते रहते हैं। जगत् में आत्मा में बड़ी भिन्नता दीखती है। मनुष्य पशुओं से तो बढ़कर है, परन्तु देवों से घटकर। मनुष्यों में एक ही स्वभाव लक्षित नहीं होता। किसी मनुष्य को हम मननशील पाते हैं; तो कोई सदा अपने आपको किसी न किसी क्रिया में लगाये रहता है। कोई छात्र ज्ञान पाने के लिए उत्सुक रहता है, कोई सदा इधर-उधर दौड़-धूप में भागा फिरता है, कोई आलस का रूप बन कर अपने कमरे के बाहर भी कदम नहीं रखता। यह भेद क्यों? स्वभाव में इतनी भिन्नता क्यों? यदि एक ही आत्मा होता तो संसार में एक ही प्रकार के प्राणी होते, परन्तु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत से हैं, एक नहीं। ये पुरुष ज्ञाता-रूप होते हैं। प्रकृति तथा पुरुष में सदा भेद रहता है। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन। प्रकृति सक्रिया है और विश्व की सृष्टि आदि क्रिया करती है, पुरुष निष्क्रिय और उदासीन रहता है और वह साक्षी मात्र होता है। प्रकृति भोग्य है, पुरुष भोक्ता है। प्रकृति प्रमेय हैं, पुरुष प्रमाता है। (कारिका तथा कौमुदी कारिका १८)

विश्व का विकास

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि उत्पन्न होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार केवल उससे

सृष्टिक्रम

उत्पन्न नहीं हो सकेगा, न स्वभावतः निष्क्रिय पुरुष से ही। इसलिए प्रकृति-पुरुष दोनों का संयोग इस सृष्टि-कार्य में जरूरी है। चेतना की अध्यक्षता में ही जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु सांख्य में सब से विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति-पुरुष का संयोग कैसे है? इस विषय में सांख्य अन्धे और लँगड़े की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करता है। अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लँगड़ा मार्गदर्शक होते हुए भी चलने में असमर्थ है। परन्तु पारस्परिक संयोग से जिस प्रकार ये दोनों अपनी स्वार्थसिद्धि में सफल होते हैं, उसी भाँति जडात्मिका परन्तु सक्रिय प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्यसाधक है। प्रकृति भोग्या है; अत भोक्ता के अभाव में प्रकृति की स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती; भोक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक-ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता है (कैवल्यार्थ)[१]।

प्रलय दशा में प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। उसके तीनों गुण समभाव से रहते हैं, पुरुष के साथ संयोग होते ही इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, एक हलचल सी मच जाती है और प्रत्येक गुण अपने से भिन्न गुणों को दबाने तथा अपने वश में करने के लिए उतावला हो जाता है। वह चाहता है कि हम ही प्रबल हो जायें और अन्य गुणों पर अपना सिक्का जमा दें। ऐसा होने पर गुणों का पृथक्करण होता है और ये भिन्न-भिन्न अनुपातों में आपस में मिल खड़े होते हैं और तभी सृष्टि का कार्य आरम्भ होता है।

गुणक्षोभ

इस प्रकार सृष्ट होने वाला प्रथम पदार्थ है 'महत्-तत्त्व', जो जगत् की उत्पत्ति में बीजरूप से रहता है। वह संसार के विकास में विशेष महत्त्वशाली कारण होने से 'महत्' विशेषण से युक्त होता है। आभ्यन्तरिक दृष्टि में इसे ही 'बुद्धि' कहते हैं, जो प्रत्येक जीव में रहती है। बुद्धि का विशेष कार्य है—निश्चय तथा अध्यवसाय। बुद्धि अपने को और विषयों को भी प्रकाशित करती है। यही उसका अपना धर्म होता है। सत्त्व गुण की अधिकता से बुद्धि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य

महत्-तत्त्व

इन चार गुणों का उदय होता है, परन्तु तमोगुण की वृद्धि होने पर उसमें इसके विपरीत गुण अधर्म, अज्ञान, आसक्ति (अवैराग्य) तथा अशक्ति (अनैश्वर्य) उत्पन्न हो जाते हैं। बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से स्वयं जड है, परन्तु वह पुरुष के अधिक सन्निकट में आने वाली वस्तु है। इसलिए पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है, जिससे वह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है। जगत् का नियम है कि प्रत्येक पुरुष अपने अधिकार को विचार कर 'यह कार्य मेरा कर्तव्य है, इसे मुझे करना है' यह निश्चय करता है। यह निश्चय (या अध्यवसाय) बुद्धि के ही द्वारा होता है। इन्द्रियों तथा मन का व्यापार बुद्धि के लिए होता है और बुद्धि का व्यापार पुरुष के लिए होता है। सुख तथा दुःख का अनुभव प्रथमतः बुद्धि में ही होता है और पीछे वह बुद्धि उसे पुरुष को अर्पित करती है और तभी पुरुष भोक्ता बनकर इन भोगों को भोगता है। इसके अतिरिक्त बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष के अन्तर को भी बतलाती है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न, पृथक् तथा स्वतन्त्र समझ लेता है, इस प्रकार बुद्धि की सहायता से अपने यथार्थ रूप का विवेचन करता है।

अहंकार

महत्तत्त्व के बाद दूसरा परिणाम है—अहंकार। 'मैं' और 'मेरा' ऐसा अभिमान करना ही अहंकार का रूप है। इसी अहंकार के सामने पुरुष नाना प्रकार के भ्रमों में पड़ता है और अपने विषय में भ्रान्त धारण बनाता है कि मैं ही भोक्ता, मैं ही कर्ता और मैं ही स्वामी हूँ। इन्द्रिय तथा मन का यह काम है कि वे अपने द्वारा अनुभूत तथा चिन्तित विषय 'अहंकार' के सामने प्रस्तुत करते हैं। तब अहंकार उन प्रस्तुत किये गये विषयों के विषय में सोचता है—'इनके करने में मेरा अधिकार है', 'वे सब विषय मेरे ही लिए हैं', 'इनका अधिकारी मेरे अतिरिक्त जगत् में कोई भी नहीं है', 'इन कार्यों के सम्पादन करने में मैं समर्थ हूँ' 'इस लिए मैं हूँ'। यह जो नाना प्रकार से अभिमान होता है यही तो अहंकार है। जब तक यह भावना नहीं जगती तब तक काम में प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है? किसी भी कार्य के करने से पहिले कर्ता के मन में यह संकल्प उठता है कि मैं इस कार्य को करूँ, और तब वह उस काम के करने में लग जाता है। यह 'अहं' की भावना जगत् के समग्र व्यवहारों के मूल में रहती है।

अहंकार के गुणों की विषमता के कारण तीन रूप होते हैं—(क) सात्त्विक (वैकृत) जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। (ख) तैजस रजोगुण की

प्रबलता रहती है। (ग) तामस या भूतादि जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। तैजस अहंकार अन्य अहंकारों का प्रवर्तक होता है और उसी की सहायता से अन्य दोनों परिणाम के लिये अग्रसर होते हैं। सात्त्विक अहंकार से ११ इंद्रियाँ (५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + १ मन) उत्पन्न होती हैं तथा तामस अहंकार से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। यह उत्पत्ति का क्रम कारिका तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार है;[1] परन्तु विज्ञानभिक्षु का मत इससे भिन्न है।[2] मन ही सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ होने से सत्त्व की अधिकता रखता है। अत एव विज्ञानभिक्षु के मत में सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है मन, राजस से दस इन्द्रियाँ तथा तामस से पञ्च तन्मात्र। वेदान्त का सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के मत से मेल खाता है।

इन्द्रियाँ—ज्ञान की साधक इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) नेत्रेन्द्रिय (आँख), (२) श्रवणेन्द्रिय (कान), (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक), (४) रसेन्द्रिय (जीभ) तथा (५) त्वगिन्द्रिय (खाल)। ये इन्द्रियाँ क्रम से इन पाँच विषयों को ग्रहण करती हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा स्पर्श। कर्मेन्द्रियाँ इन अंगों में स्थित रहती हैं—मुख, हाथ, पैर मलद्वार तथा जननेन्द्रिय; जो क्रम से इन पाँच कार्यों को करती हैं—वाक् (बोलना), ग्रहण (किसी वस्तु को पकड़ना), चलना, मल बाहर निकालना तथा सन्तान उत्पन्न करना। इन्द्रियाँ भीतरी शक्तियाँ हैं। इनका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल अनुमान के द्वारा ही इनका ज्ञान होता है। जिन अंगों में इनका निवास रहता है उनके द्वारा इनकी अभिव्यक्ति केवल होती है। अंग ही इन्द्रियाँ नहीं हैं, बल्कि उन अंगों में स्थिर होकर ये इन्द्रियाँ अपना अलग-अलग काम निष्पन्न करती हैं।

मन

सांख्य के अनुसार मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी, अर्थात् उभयात्मक है, क्योंकि वह दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। मन के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही नेत्रेन्द्रिय अपने रूप को देखती है, तथा पाद इन्द्रिय चलनरूपी व्यापार को करती है। मन का रूप संकल्पात्मक है, अर्थात् इन्द्रियाँ केवल निर्विकल्प ज्ञान को प्रकट करती हैं कि 'यह कुछ है'। इस ज्ञान को मन सविकल्पक बनाता है। मन ही

---

१. सांख्यकारिका, कारिका २५ तथा कौमुदी।

२. सांख्यप्रवचन-भाष्य २।१८।

बतलाता है कि सामने हिलने-डुलने वाली सफेद रंग की चीज गाय है, घोड़ा नहीं। 'संकल्प' का अर्थ है सम्यक् (ठीक-ठीक) कल्पना करना और यही मन का स्वरूप है। पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये दस इन्द्रियाँ बाह्य (बाहरी ज्ञान का साधन) कहलाती हैं। मन, अहंकार तथा बुद्धि ये तीन अन्तःकरण (भीतरी ज्ञान का साधन) कहलाते हैं। इन दोनों को मिलाकर 'त्रयोदश करण' होते हैं, इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती हैं। मन उस ज्ञान को संकल्पात्मक बनाता है, अर्थात् मन बतलाता है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। अहंकार उसके ऊपर अपना व्यापार करता है। वह बतलाता है कि वह वस्तु उसके ही लिए होती है और इसीलिए वह उसके करने में प्रवृत्त होता है। बुद्धि का काम निश्चय करना होता है। इस प्रकार निश्चित की गई वस्तु पुरुष के सामने प्रस्तुत की जाती है। तब उसे उस वस्तु का ज्ञान होता है। इन करणों में बाह्य करण का सम्बन्ध वर्तमान काल से होता है, परन्तु अन्तःकरण का सम्बन्ध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों से होता है[1]।

तन्मात्र—तामस अहंकार से पाँच तन्मात्रों का उदय होता है। 'तन्मात्र' का अर्थ है—सूक्ष्म तत्त्व। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के 'तन्मात्र' का उदय अहंकार के ही तामस रूप से होता है। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। इस लिए उनका अनुमान ही होता है, सामान्य प्रत्यक्ष नहीं। योगियों के द्वारा उनका प्रत्यक्ष हो सकता है, उसका निराकरण नहीं किया जाता। तन्मात्रों के योग से पाँचों स्थूल महाभूतों का विकास होता है। (१) शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाले आकाश का विकास होता है। (२) शब्द-तन्मात्र के साथ स्पर्श तन्मात्र के योग से वायु उत्पन्न होता है (जिसका गुण है शब्द तथा स्पर्श)। (३) रूप-तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-तन्मात्रों के सहयोग से तेज का उदय होता है (जिसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण विद्यमान रहते हैं)। (४) रस-तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप-तन्मात्रों के सहयोग से जल उत्पन्न होता है (जिसमें शब्द, स्पर्श रूप तथा रस गुण विद्यमान रहते हैं)। (५) गन्ध तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रों के सहयोग से मिल कर पृथिवी का जन्म होता है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुण होते हैं)। इन पाँच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच क्रमशः विशिष्ट विषय होते हैं, पर साथ ही साथ पूर्व भूतों के गुण भी इनमें समाविष्ट रहते हैं[2]।

---

१. सांख्यकारिका तथा कौमुदी कारिका ३२-३३।

२. देखिये कारिका तथा कौमुदी, का० २२।

सांख्यमत में ऊपर निर्दिष्ट विकास के दो क्रम होते हैं—(१) प्रत्ययसर्ग (बुद्धिसर्ग या भावसर्ग), (२) तन्मात्रसर्ग (भौतिक सर्ग या लिङ्गसर्ग)। प्रत्ययसर्ग से तात्पर्य है बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियों के विकास से तथा तन्मात्र-सर्ग से अभिप्राय है उस विकास से जो तन्मात्र से आरम्भ होकर आगे बढ़ता है। स्पष्टतः पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत तथा कार्य द्रव्यों का आविर्भाव दूसरे सर्ग में होता है। इस प्रकार प्रथम सर्ग केवल मानस वृत्तियों के उदय में सम्बद्ध होने के कारण भावसर्ग या बुद्धिसर्ग कहलाता है। 'तन्मात्र' से ही भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। पहले उत्पन्न होता है अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक तत्त्व, जो केवल विशुद्ध रूप में स्थित होने के कारण 'तन्मात्र' (उतना ही केवल, शुद्ध) कहलाता है और फिर उसके अनन्तर स्थूल महाभूतों का तथा उससे स्थूलतम द्रव्यों का आविर्भाव होने लगता है। इन दोनों में तन्मात्र 'अविशेष' कहलाता है, क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष होने के कारण विशेष प्रत्यक्ष धर्मों से हीन होता है। भौतिक पदार्थ शान्त (सुखद), घोर (दुःखद) तथा मूढ (मोह उत्पादक) होने के कारण 'विशेष' कहलाते हैं[१०]।

सांख्यों का विकासक्रम—
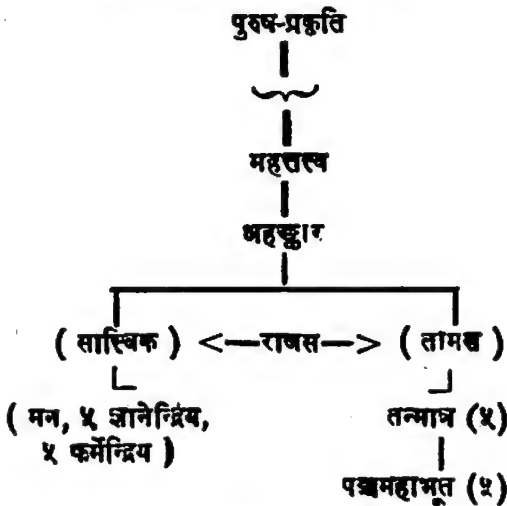
(४) सांख्य ज्ञानमीमांसा

संसार के पदार्थों का ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के सहारे होता है। तभी हम किसी पदार्थ के रूप, रंग तथा उसके आचरण को जानते हैं। प्रश्न यह

प्रमा

है कि यह ज्ञान रहता है किसमें ? अनुभव का कर्ता कौन होता है ? नेत्र के द्वारा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान कौन करता है ? पुरुष या बुद्धि ? हम कहते हैं कि पुरुष अनुभव करता है, परन्तु यह वस्तुतः ठीक नहीं; पुरुष प्रकृति से उत्पन्न समस्त भौतिक पदार्थों से बाहर रहता है। तब उसमें उन पदार्थों का अनुभव क्योंकर हो सकता है ? यदि बुद्धि में ज्ञान माना जाय, तो भी उचित नहीं प्रतीत होता; बुद्धि प्रकृति का ही परिणाम होती है और इस प्रकार जड होने के कारण उसमें ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इसलिए न तो अकेले पुरुष में ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न बुद्धि में, बल्कि दोनों के सम्मेलन से ही अनुभव व्यापार समझाया जा सकता है। जब आत्मा का चैतन्य बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। चैतन्य केवल पुरुष का ही धर्म है, बुद्धि तो सांख्य के अनुसार जड पदार्थ होती है। आत्मा को स्वतः विषयों का साक्षात्कार नहीं होता। आत्मा सर्वव्यापक है। वह किसी स्थान विशेष में सीमित नहीं हो सकता। ऐसी दशा में आत्मा को सब वस्तुओं का ज्ञान सदा होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि आत्मा को बुद्धि, मन तथा इन्द्रिय के सहारे ही पदार्थों का ज्ञान होता है। बुद्धि का यह स्वभाव होता है कि मन तथा इन्द्रियाँ जिन विषयों को उसके सामने प्रस्तुत करती हैं, बुद्धि उसी आकार में परिणत हो जाती है, उसी आकार को बुद्धि धारण कर लेती है। और जब बुद्धि के ऊपर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमें उन विषयों का ज्ञान होता है। इस प्रकार किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं।

जब ज्ञानेन्द्रिय बाह्य जगत् के पदार्थों को बुद्धि के सामने लाकर उपस्थित करती है, तब बुद्धि उन पदार्थों का आकार धारण कर लेती है। सांख्य का सिद्धान्त है कि बुद्धि में न तो बाहरी विषयों का आरोप होता है न वे उसमें पाये जाते हैं, प्रत्युत बुद्धि ही पदार्थों के संसर्ग में आने पर उनका आकार धारण कर लेती है (तदाकाराकारित)। इस आकार के ग्रहण करने से बुद्धि में जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसी को 'वृत्ति' कहते हैं। इतने पर भी ज्ञान का अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। पुरुष के चैतन्य का प्रकाश पड़ते ही बुद्धि-स्थित पदार्थ उद्भासित हो उठते हैं और तब हमें उनका ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ पुरुष जब संयुक्त हो जाता है, तब उसमें यह अनुभव होने लगता है कि 'मैं चेतन करता हूँ' या 'मैं चेतन देखता हूँ'। यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुष के संभोग का परिणाम है।

बिना दोनों के संयोग के यह कार्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि निष्क्रिय पुरुष कार्य का संपादन नहीं कर सकता और न कार्य करने वाली बुद्धि में विचार की शक्ति होती है।

यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति तीन वस्तुओं के ऊपर निर्भर रहती है—(१) प्रमाता—जानने वाला, (२) प्रमेय—जानी गई वस्तु तथा (३) प्रमाण—वह साधक जिसके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण

प्रमाता होता है शुद्ध चेतन पुरुष। बुद्धि में जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह 'प्रमाण' तथा उसके द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान पुरुष को होता है वह होता है–'प्रमेय'। हम दिखला चुके हैं कि विषय के आकार को धारण करने वाली बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ना ही 'प्रमा' या 'ज्ञान' कहलाता है। अन्यथा जड बुद्धि में विषय को जानने की योग्यता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है?

प्रथमतः पदार्थों का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों के साथ होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों में उन पदार्थों के विषय में परिचयमात्र (आलोचन) उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति को समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण करती हैं। मन उन पदार्थों के विषय में सम्यक् कल्पना करता है कि वे ये हैं, ये नहीं हैं। मन के द्वारा समर्पित पदार्थ पर अहंकार की वृत्ति आरम्भ होती है कि 'ये पदार्थ मेरे लिए हैं, अन्य किसी के लिए नहीं।' इसके अनन्तर निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति होती है। बुद्धि का काम इन पदार्थों के विषय में निश्चय करने का होता है। इसी बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य के आरोप होने पर ही उस दशा का उदय होता है जिसे हम 'ज्ञान की दशा' कहते हैं[1]। विषय के प्रति ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) का व्यापार कभी एक साथ (युगपत्) होता है, और कभी क्रमशः होता है। अँधेरी रात में बिजली की चमक से अपने सामने अकस्मात् व्याघ्र को देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है, उसके कार्य में सब कारणों का व्यापार नितान्त शीघ्रता से युगपत्-एक साथ ही—होता है। चक्षु से व्याघ्र का परिचय, मन के द्वारा संकल्प, अहंकार के द्वारा पृथक्करण तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक वस्तु से अपनी शरीर रक्षा के निमित्त भाग जाने की सलाह—ये समग्र व्यापार एक साथ ही होते हैं, परन्तु अन्यत्र घनघोर रात्रि में पेड़ों की झुरमुट में खड़े होने वाले व्यक्ति को

---

१. द्रष्टव्य सांख्यप्रवचनभाष्य १६७।

देखकर चोर समझ कर भाग जाने के निश्चय करने में पूर्वोक्त कारणों का व्यापार क्रमश:—एक के बाद एक—होता है।

प्रमाण

सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान तथा (३) शब्द। अन्य प्रमाणों को हम इन्हीं के भीतर गतार्थ कर सकते हैं।

प्रत्यक्ष

इन्द्रिय के साथ किसी विषय के संयोग होने पर जो उसका साक्षात् ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। सांख्य के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार होती है। समझ लीजिए कि हमारे सामने एक वृक्ष खड़ा है। हमने ज्योंही उसे देखने का उद्योग किया, त्योंही हमारी नेत्रेन्द्रिय का संयोग उस वृक्ष के साथ हो जाता है। नेत्र इन्द्रिय इस विषय को मन के सामने प्रस्तुत करती है, तब मन अपना व्यापार उसके ऊपर करता है। संकल्प करना ही मन का व्यापार होता है। मन प्रस्तुत किये गये पदार्थ की ठीक रूप से कल्पना करता है कि यह वृक्ष ही है और कोई दूसरी चीज नहीं। तदनन्तर मन उस संकल्पित पदार्थ को बुद्धि के सामने प्रस्तुत करता है जिससे बुद्धि स्वयं वृक्ष का रूप धारण कर लेती है। अब इसके ऊपर पुरुष के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है जिससे बुद्धि की वृत्ति (वृक्षाकारवृत्ति) तुरन्त उद्भासित हो उठती है। तभी उस वृक्षका ज्ञान होता है कि यह सामने दीखने वाला पदार्थ वृक्ष है। कहा गया है कि बुद्धि प्रकृति का परिणाम होने से स्वयं जड़ात्मिका होती है और इसलिए उसमें ज्ञान का उदय नहीं होता, परन्तु उसके ऊपर पड़ता है पुरुष का प्रतिबिम्ब। पुरुष चेतनरूप होता है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब पड़ने से ही जड़ बुद्धि चेतन के समान प्रतीत होने लगती है और तभी वह विषय का ग्रहण करती है। पुरुष है दीपक-स्थानीय और बुद्धि होती है दर्पण-स्थानीय। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में दीपक का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे अन्यान्य वस्तुएं आलोकित हो उठती हैं, उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब बुद्धि की वृत्ति प्रकाशित हो जाती है, जिससे विषयों का ज्ञान हमें होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए सांख्य इसी प्रक्रिया को मानता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—आलोचन तथा सविकल्पक। जिस समय विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग होता है, उस समय विषय का जो आलोचन होता है वही निर्विकल्पक कहलाता है। इस दशा में वह वस्तु केवल इन्द्रियों के

द्वारा ही गोचर होती है, वह मन द्वारा प्रस्तुत की गई नहीं होती। यह उस समय की दशा है जब मन की संकल्पात्मक क्रिया प्रस्तुत किये गये विषय पर नहीं होती। उस समय हमें वस्तु की केवल प्रतीति होती है कि यह कुछ है, परन्तु उसके प्रकार का ज्ञान नहीं होता कि वह गाय है या घोड़ा; नीला है या काला; चलता है या स्थिर है। वह ज्ञान शब्द के द्वारा भी इसीलिए प्रकट नहीं किया जा सकता, ठीक गूंगे के अनुभव की तरह। जिस प्रकार गूंगा अपने अनुभव को शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं करता, उसी प्रकार 'निर्विकल्पक' ज्ञान भी शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष मन की क्रिया होने के बाद की स्थिति में रहता है। इन्द्रियों के द्वारा लाये गये पदार्थ का मन विश्लेषण करता है कि 'यह पदार्थ अमुक है', 'इसमें यह विशेष गुण है' तथा 'इसमें यह विशिष्ट क्रिया रहती है'। इनका नाम होता है 'सविकल्पक प्रत्यक्ष'। यह प्रत्यक्ष उद्देश्य-विधेय युक्त वाक्य के द्वारा प्रकट किया जा सकता है कि 'यह वृक्ष है', 'यह पके हुए पीले फलों से लदा हुआ है' आदि।

सांख्य भी न्याय के निर्णीत अनुमान को सामान्यतः मानता है। न्यायदर्शन में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है। यह भेद सांख्य को भी स्वीकृत है। अनुमान को सांख्य दो प्रकारों में विभक्त करता है—

अनुमान

(१) वीत तथा (२) अवीत। जो अनुमान व्यापक विधि-वाक्य पर अवलम्बित होता है वह कहलाता है—वीत। वीत दो प्रकार का होता है—'पूर्ववत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट'। पूर्ववत् अनुमान वह होता है जो दो पदार्थों के बीच निश्चित किये गए व्याप्ति-सम्बन्ध पर आश्रित रहता है, जैसे धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान। यहाँ धूम तथा वह्नि के निश्चित सम्बन्ध का ज्ञान हमें पाकशाला आदि स्थानों के माध्यम से पहिले से ही है। इसीलिए इनका नाम है—पूर्ववत्, अर्थात् पहले अनुभूत सम्बन्ध पर आश्रित अनुमान। सामान्यतो दृष्ट अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का दर्शन हमें नहीं होता, बल्कि हेतु की समानता उन पदार्थों से है जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है, जैसे इन्द्रियों के अस्तित्व का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष के द्वारा कभी नहीं हो सकता। नेत्रेन्द्रिय का ज्ञान हमें कैसे हो? आँख तो स्वयं अपने को देख नहीं सकती। फलतः उसकी सत्ता का ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा ही होता है। किसी भी क्रिया के लिए करण की या साधन की आवश्यकता रहती है। साधन के बिना क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती।

वृक्ष काटने का काम कुल्हाड़ी से होता है और लिखने का काम लेखनी से। यहाँ कुल्हाड़ी तथा लेखनी साधन हैं जिनकी सहायता से काटने तथा लिखने की क्रिया क्रमशः सम्पन्न होती है। इसी प्रकार देखना भी एक क्रिया है और उसका साधन होने से नेत्र इन्द्रिय की सत्ता का हमें ज्ञान होता है। यह अनुमान से भिन्न ही है। पहले में धूम तथा अग्नि का निश्चित सम्बन्ध हमें ज्ञात है, परन्तु यहाँ इन्द्रिय तथा क्रिया का निश्चित सम्बन्ध कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता। गोचर होता है लेखनी तथा लेखन-क्रिया का नियत सम्बन्ध और इससे हमारा सिद्धान्त बनता है कि प्रत्येक क्रिया करण से युक्त होती है। इसी व्याप्ति पर इन्द्रिय के अस्तित्व का अनुमान टिका हुआ है। फलतः यहाँ सामान्य (करण) का ही दर्शन होता है। इसीलिए इसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहते हैं।

अवीत अनुमान को ही न्यायदर्शन में 'शेषवत्' कहा गया है। यह अनुमान वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं के छाँटने पर एक वस्तु शेष रह जाती है, जैसे शब्द के गुण होने का अनुमान। कतिपय हेतुओं के द्वारा 'शब्द' अन्य छहों पदार्थों से हटाया जाता है और शेष होने के कारण वह गुण माना जाता है।[1]

शब्द

तीसरा प्रमाण है शब्द। आप्त वचन को शब्द कहते हैं। आप्त का अर्थ है सच्चा विश्वस्त पुरुष, उसके द्वारा कहे गये वचन प्रामाणिक होते हैं, तथा वे ही शब्द प्रमाण में आते हैं। शब्द किसी न किसी अर्थ को प्रकाशित करता है। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और वैदिक। पुरुषों के द्वारा व्यवहृत शब्द लौकिक कहलाते हैं। वे प्रमाण कोटि में नहीं आते, क्योंकि वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आश्रित होते हैं। वैदिक वाक्य ही प्रामाणिक होता है और उसे ही शब्द प्रमाण माना जाता है। वेद अपौरुषेय वाक्य है। बुद्धिपूर्वक समझ-बूझकर किसी विशेष मनुष्य के द्वारा निर्मित वाक्य 'पौरुषेय' कहलाते हैं, परन्तु वेद के विषय में ऐसी बात नहीं है। कुछ दर्शन ईश्वर को वेद का रचयिता मानते हैं, परन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार ईश्वर तर्क से सिद्ध नहीं होता। जब ईश्वर का ही अस्तित्व संदिग्ध है, तब उसके द्वारा रचना ही क्योंकर हो सकती है? फलतः वेद ईश्वर की रचना न होने पर 'अपौरुषेय' है। वेद अपने अर्थ के प्रतिपादन में स्वतः प्रमाण है। लौकिक वाक्यों में जो दोष या भ्रान्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं वे श्रुति में नहीं रहतीं। वेद धर्म का साक्षात् अनुभव करने वाले ऋषियों के प्रातिभ चक्षु से

---

१. तुलना कीजिए इसी ग्रन्थ के न्याय-प्रकरण से।

अनुभूत सत्य है और इसलिए सत्य तथा प्रामाणिक है। जो अलौकिक बातें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होतीं, उनका ज्ञान हमें श्रुति ही कराती है। यही तो वेद का 'वेदत्व' है। वेद सब देश तथा सब काल में होने वाले सत्य हैं, तथा अपौरुषेय हैं। इसीलिए वेद के कथन के सामने प्रत्यक्ष तथा अनुमान को भी झुकना पड़ता है। वेद स्वतः प्रमाण हैं, तथापि ऐकान्तिक दृष्टि से नित्य नहीं हैं[1], क्योंकि वे ऋषियों के अनुभव से उत्पन्न होते हैं। इस विषय में न्याय-दर्शन का भी यही मत है।[12]

(५) सांख्य कर्तव्यशास्त्र

दुःख

हमारा जीवन ही सुख-दुःख से भरी हुई एक लम्बी परम्परा है। ऐसा कोई भी प्राणी न होगा जिसे दुःख न सताता हो और जिसे सुख क्षणिक आनन्द न देता हो। सुख से जो आनन्द हमें मिलता है वह स्थायी नहीं होता, केवल क्षणिक ही होता है। सुख भी दुःख से मिश्रित ही रहता है। ऐसी दशा में संसार में दुःखों की ही बहुलता है—क्लेशों की ही प्रचुरता है। किसी विशेष दशा में कोई जीव दुःखों से कुछ काल के लिए छुटकारा भले ही पा जाय परन्तु बुढ़ापा तथा मृत्यु ऐसे अवश्यम्भावी क्लेश हैं जिनसे कभी हमें छुटकारा मिल ही नहीं सकता। दुःख तीन प्रकार के होते हैं—(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक और (३) आधिदैविक। 'आध्यात्मिक' का अर्थ है—आत्मा-सम्बन्धी। 'आत्मा' का यहाँ अर्थ है—देह, शरीर। अत एव मन तथा शरीर से सम्बद्ध दुःख 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं। आधि (जैसे मानसिक चिन्ता, उद्वेग, क्रोध आदि) तथा व्याधि (जैसे शारीरिक रोग, चोट, आघात आदि) का सम्मिलित रूप आध्यात्मिक दुःख है। 'आधिभौतिक' दुःख बाहरी पदार्थों के कारण उत्पन्न होते है, जैसे साँप का काटना, बिच्छू का डंक मारना, लाठी की चोट आदि। 'आधिदैविक' दुःख भूत-प्रेत आदि के कारण उत्पन्न होने वाले क्लेशों का नाम है[12]।

इन दुःखों से बचने के लिए प्रत्येक प्राणी सचेष्ट होता है। मनुष्य के जितने उद्योग तथा जितने व्यापार होते हैं उन सबका यही उद्देश्य होता है कि वह आनन्द की प्राप्ति करे। जीवन का लक्ष्य ही आनन्द की उपलब्धि है और इसी सुख की खोज में हमारा जीवन व्यस्त रहता है, परन्तु जब तक यह नश्वर शरीर

---

१. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचन-भाष्य, सूत्र ५।५०—५१।

और दुर्बल इन्द्रियां हमारे पास हैं, तब तक हमारा सुख अमिश्रित नहीं रह सकता। वह दुःख के साथ मिला ही रहता है। अत एव जीवन का लक्ष्य ऐकांतिक सुख नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह कथमपि साध्य नहीं हो सकता। जहाँ तक हो सके, दुःखों से हमें निवृत्त होना चाहिए। निवृत्ति सदा के लिए होनी चाहिए, अर्थात् जो दुःख उत्पन्न हैं उनका निराकरण तो होना ही चाहिए; भविष्य में दुःख उत्पन्न न हों, इसका भी ध्यान हमें रखना होगा। इसीलिए दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति मानव जीवन का लक्ष्य है।

दुःख का कारण है अज्ञान। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जानने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है और ज्यों-ज्यों हम उनके रूप को जानने लगते हैं त्यों-त्यों हमारे दुःख की निवृत्ति होती जाती है। इसलिए भारतीय दर्शन में तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष का अर्थात् दुःखनिवृत्ति का उदय माना जाता है।

विवेक ज्ञान

सांख्य दर्शन के अनुसार दो ही मूल तत्त्व हैं—पुरुष तथा प्रकृति। पुरुष शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है, जो देश, काल और कारण के बन्धनों से रहित होता है। वह निर्गुण और निष्क्रिय होता है। वह द्रष्टामात्र है। गुण तथा क्रिया का सम्बन्ध प्रकृति से है। जितने सुख-दुःख होते हैं वे सब मन के ही होते हैं, आत्मा के नहीं। इसलिए सुख-दुःख उसे व्याप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म आदि अहंकार के गुण हैं, जो सभी कार्यों के प्रवर्तक होते हैं। यही शुभ कर्म या अशुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करता है, परन्तु आत्मा अहंकार से परे होता है। आत्मा नित्य तथा एकरस होता है। परिवर्तनशील मनोविकार मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का केवल साक्षी मात्र है। आत्मा अमर है, उसकी न तो उत्पत्ति होती है, और न उसका कभी विनाश होता है। यह तो उसकी वास्तव स्थिति है, परन्तु व्यावहारिक स्थिति इससे भिन्न होती है। सुख और दुःख वस्तुतः बुद्धि या मन के होते हैं। आत्मा इन सब से मुक्त होता है, परन्तु अज्ञान के कारण वह बुद्धि या मन से अपने को पृथक् नहीं समझता तथा उनके समस्त धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करता है। वह अपने को बुद्धि या मन से पृथक् नहीं समझता। सब दुःखों का मूल कारण यही अज्ञान या अविवेक है। व्यवहार जगत् में पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न नहीं मानता, परन्तु वह वस्तुतः प्रकृति से नितान्त भिन्न है। प्रकृति जड तत्त्व है, परन्तु पुरुष चेतन तत्त्व है। वह निःसंग है, परन्तु उसका स्वभाव होता है कि प्रकृति के समस्त धर्मों को वह अपना ही समझता है। बुद्धि जो सुख या

दुःख भोगती है, उसे ही पुरुष अपने ऊपर ले लेता है और अपने को सुखी या दुखी मानने लगता है। जिस प्रकार कोई स्वामी अपने सेवक के अपमान से अपने को अपमानित मानता है, तथा पिता अपने पुत्र के आदर पाने पर अपने को आदृत एवं सत्कारमण्डित मानता है, उसी प्रकार पुरुष प्रकृति के सुख से अपने को सुखी मानता है, तथा उसके दुःखों से अपने को दुखी मानता है। इस आरोप का जब अन्त होता है, तभी पुरुष दुःखों से मुक्ति पाता है। इसी का शास्त्रीय नाम है—विवेक-ख्याति, अर्थात् विवेक ज्ञान; प्रकृति से पुरुष को अलग समझने का ज्ञान। सांख्य के अनुसार दुःख से बन्धन तथा दुःख से मोक्ष पाने का यही मार्ग है।

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृतिजन्य दुःख का पुरुष में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही है पुरुष के लिए दुःख-भोग या संसार। अतः संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्यसूत्र (३।६५) के अनुसार अपवर्ग का स्वरूप है[१४]—प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना, अथवा पुरुष की ही प्रकृति से अलग स्थिति (कैवल्य)। बन्धमोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसलिए ईश्वरकृष्ण का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न संसार का। ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं। प्रकृति ही बन्धन, मोक्ष तथा संसार का अनुभव करती है। अतः पुरुष के जिस अपवर्ग की चर्चा की गई वह "प्रतिबिम्बरूप मिथ्या दुःख का वियोगमात्र" है। पुरुष के मुक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यही है कि वह अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन से ऊपर है; प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होने वाला, अमरणधर्मा, अपरिवर्तनशील, नित्य, सत्य पदार्थ है—यह जान लेना ही पुरुष का कैवल्य है। अतः व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्त्वज्ञान से विवेकसिद्धि होती है, जिसका फल निःशेष दुःख-निवृत्ति है। इसी दशा में पुरुष की कृतकृत्यता है। उस दशा में प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति स्वतः तैयार हो जाती है। प्रत्येक पुरुष की अपवर्ग-सिद्धि के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यवहार है[१]। जब अपवर्ग की ही सिद्धि हो गई, तब प्रयोजन के अभाव में उसका विराम

अपवर्ग

---

१. प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः—

(सांख्यकारिका ५६)।

होना नितान्त स्वाभाविक है। भोजन में पाचक की तभी तक प्रवृत्ति रहती है, जब तक भोजन निष्पन्न नहीं हो जाता। भोजन के तैयार हो जाने पर उसका व्यापार स्वतः बन्द जाता है।[१]

प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रङ्गस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलाबाजी दिखाकर कृतकार्य होकर नर्तन-व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति कोई दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित हो नहीं होती, अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता। उसका विराम आपसे आप सिद्ध हो जाता है। तत्त्वाभ्यास के परिणाम से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है, जो संशय तथा विपर्यय से हीन होने के कारण नितान्त विशुद्ध होता है। उस दशा में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि 'नास्मि' = मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का संबंध नहीं है, मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ। 'नाहम्'–क्रिया के निषेध होने से मुझमें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है तथा 'न मे'–मैं असङ्ग हूँ, संगहीन होने से किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता, तथा कर्तृत्वहीनता का अनुभव प्रकृति की निवृत्ति होने पर पुरुष में स्वतः होने लगता है। ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म में कर सकता है।

मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। जीवन्मुक्त व्यक्ति कर्मव्यापार से विरत नहीं होता, प्रत्युत उसी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु उस स्थिति में कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। वाचस्पति मिश्र का कथन बहुत ही सुन्दर है कि क्लेशरूपी सलिल से सिक्त बुद्धिभूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान-रूपी गरमी के कारण क्लेशरूपी जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्मबीज उत्पन्न हो सकते हैं[१५]? अतः कुलाल के व्यापार की निवृत्ति के अनन्तर जिस प्रकार चक्र कुछ काल तक पूर्वाभ्यास के अनुसार अवश्य चलता रहता है, ठीक उसी भाँति प्रकृति की निवृत्ति होने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन

जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति

---

१. विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके—
(सांख्यसूत्र ३।६३)।

करता ही रहता है। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। इसी की शास्त्रीय संज्ञा 'विदेहमुक्ति' है।[1] विज्ञान-भिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं, क्योंकि जब तक पुरुष भोगायतन शरीर में निवास करता है, तब तक शरीरधर्म से उसका प्रभावित न होना असम्भव सा है। मुक्ति के प्रकार में मतभेद भले ही हो, पर मुक्तिस्वरूप के विषय में सांख्याचार्यों में ऐकमत्य है कि दुःखत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है। वेदान्त के समान उस समय आनन्द का अनुभव नहीं होता। सांख्य का सिद्धान्त है कि सुख, दुःख आपेक्षिक शब्द हैं। दुःख के अभाव होने पर सुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर के विषय में सांख्य के आचार्यों में भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं।[१६]

(६) समीक्षा

सांख्य की पदार्थमीमांसा वैशेषिकों की तत्त्वमीमांसा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वस्तुतः जगत् में चैतन्य, मन तथा भूत मानने से काम चल सकता है। सांख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुषरूप में स्वीकृत की है और मन तथा भूत का अन्तर्भाव प्रकृति के भीतर किया है, जिससे मानसिक दशाओं और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्य ने पुरुष और प्रकृति को ही मौलिक तत्त्व माना है। वैशेषिक ने द्रव्यों का समावेश इन्हीं दोनों में किया है। विभु अनन्त 'आत्मा' विभु बहु पुरुष'रूप में अंगीकृत किया गया है, परन्तु दोनों की कल्पना में अन्तर यह है कि आत्मा चैतन्य का आश्रय है और पुरुष चैतन्यरूप है। इतर आठ द्रव्य प्रकृति के अन्तर्गत माने गये हैं। मन का स्थान अन्तःकरण ने और परमाणु-चतुष्टय तथा आकाश का पञ्चतन्मात्र ने ग्रहण किया है। काल और दिक् को सांख्याचार्य स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते, प्रत्युत सत्यभूत बाह्यार्थ का व्यावहारिक सम्बन्ध मानते हैं। ये सम्बन्ध सम्बद्ध वस्तुओं से भिन्न नहीं है। इस प्रकार सांख्य ने वैशेषिक के नव द्रव्यों की संख्या घटाकर दो मौलिक तत्त्वों में ही निविष्ट कर दिया है। सांख्ययोग बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सब प्रकार से मानता है। सूत्रकार ने बाह्यार्थ की सत्ता की यथार्थता प्रतिपादित की है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र की वृत्ति में विज्ञानवाद का सप्रमाण खण्डन कर कपिल के मत को प्रमाणों से पुष्ट किया है। विज्ञानभिक्षु ने प्रत्यक्ष होने से बाह्यार्थ की सत्ता मानी है। योगसूत्रों (४।१४–१५) में भी पतञ्जलि ने बाह्यार्थ को

---

१. सांख्यकारिका ६८ तथा सांख्यसूत्र वृत्ति ३।७८-८४।

चित्तमय न मानकर वास्तव में सिद्ध किया है। इस प्रकार सांख्य-योग दोनों बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले वास्तववादी दर्शन हैं।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों[1] पर सांख्यसम्मत तत्त्वों का प्रत्याख्यान किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरकभाष्य (२।४।२८) में सांख्य को 'प्रधान मल्ल' बतलाया है, जिसको बिना पछाड़े तत्त्वविचार के अखाड़े में वेदान्त की विजय हो नहीं सकती। सांख्य के सिद्धान्तों में सबसे आक्षेपयोग्य सिद्धान्त है—जड प्रकृति की कर्तृता तथा चेतन पुरुष की बहुलता। सांख्य जड प्रकृति को ही जगत् का कर्ता मानता है, परन्तु बादरायण की दृष्टि में प्रकृति की कल्पना ही श्रुतिसम्मत न होकर अनुमान की दुर्बल भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इसी विचार से सूत्रों में प्रकृति के लिए 'अनुमान' तथा 'आनुमानिक' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सांख्य वाले प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य मानते हैं। वेदान्त इस सिद्धान्त को मानने के लिए उद्यत नहीं है। जो वस्तु सगुण होती है, वह अवश्य नाशवान् होती है। अतः सत्त्व, रज तथा तम गुणत्रयविशिष्ट प्रधान को पुरुष से स्वतन्त्र तथा नित्य स्वीकार करना नितान्त युक्तिहीन है। परन्तु वैमत्य का विषय प्रकृति में बिना किसी चेतन की अध्यक्षता के स्वतः प्रवृत्ति का आविर्भाव है। गुणसाम्यरूप प्रकृति में विषमतासूचक क्षोभ का सर्वप्रथम उदय क्यों कर होता है? लौकिक दृष्टान्त के सहारे इस प्रश्न का उत्तर समीचीन नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार यह ऋतुपरिवर्तन (वसन्त के बाद ग्रीष्म, तदनन्तर वर्षा आदि) स्वतःप्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष की कैवल्यसिद्धि के लिए स्वतःप्रवृत्त होती है[2]। गाय के स्तन से बछड़े के लिए आप से आप बहने वाले दूध का भी दृष्टान्त इस स्वतःप्रवृत्ति का पोषक बतलाया गया है[3], परन्तु तर्कबुद्धि इन दृष्टान्तों की युक्तियुक्तता मानने के लिए उद्यत नहीं है। काल की क्रम-व्यवस्थता चेतन सूर्य के कारण सुसम्पन्न है और बछड़े के पोषण के लिए दूध का निकलना चेतन धेनु की

---

१. विशेष द्रष्टव्य ईक्षत्यधिकरण (१।१।५–११), अनुमानिकाधिकरण (१।४।१–७) तथा रचनानुपपत्त्यधिकरण (२।२।१–१०)।

२. कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः—सां० सू० ३।६०।

३. अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य—सां० सू० ३।५९।
वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य तथा प्रवृत्तिरज्ञस्य—सां० का० ५७।

स्नेहेच्छा का परिणाम है। लोकोपकार के लिए अचेतन जल का स्वयं बहना भी संगत दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि जल के बहने में भी चेतन ईश्वर की शक्ति अदृश्य रूप से काम करती है। अतः चेतन की अध्यक्षता से रहित होने पर अचेतन प्रकृति में स्वतःप्रवृत्ति होना शास्त्र तथा तर्क दोनों से नितान्त प्रतिकूल है [1]।

पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त भी इसी प्रकार दोषयुक्त प्रतीत होता है। जनन, मरण, अवस्था, मानसिक दशा आदि कारणों से सांख्य वाले पुरुषों को एक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। शारीरिक तथा मानसिक दशाओं में प्रतिपुरुष में इतने विभेद हैं कि पुरुष-बहुत्व को प्रमाण कोटि में मानना ही पड़ता है। परन्तु इन स्थलों पर सांख्य देहधर्म की भिन्नता के कारण चैतन्यस्वरूप की भिन्नता मानने के लिए तैयार है। अन्धत्व, काणत्व आदि तो देह के धर्म हैं। इनके कारण शुद्ध आत्मा में भिन्नता कैसे आ सकती है? चैतन्यरूप से सब पुरुष एक समान ही है। ऐसी दशा में पुरुष को चैतन्यरूप मानना तथा उसी क्षण में उसे विभिन्न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है? यह एक विचार का विषय है कि इस पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग कैसे होता है? इस प्रश्न का भी सांख्यसम्मत उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है। इन समस्त विप्रतिपत्तियों के रहने पर भी सांख्य दर्शन की सूक्ष्म तर्कमूलक विवेचनपद्धति दार्शनिकों का विशेष प्रशंसा-भाजन है। सांख्य का तत्त्व-विश्लेषण बहुत ही दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। इसने तत्त्वमीमांसा को उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से वेदान्त ने उसे ग्रहण किया, तथा सर्वतोभावेन पूर्ण कर दिया। इस सांख्य ज्ञान के आविर्भावक महर्षि कपिल की सूक्ष्म शास्त्रग्राहिणी विवेकबुद्धि की सब दर्शनों में इसीलिए प्रशंसा की जाती है और वे इसीलिए दर्शन जगत् में 'आदि विद्वान्' के नाम से प्रख्यात हैं।[10]

---

१. द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य २।३।१-१०।

दशम परिच्छेद

योग दर्शन

योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन और समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवाद को स्थान नहीं है। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों को सर्वसन्तापहर भगवान् से मिलाने में योग ही भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है। प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान की अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। धर्मप्रचारकों और दार्शनिकों ने योग की प्रकृष्ट उपयोगिता मानी है, तथा उसका विवेचन अपनी दृष्टियों से किया है। अतः योग के अनेक प्रकार हैं। बुद्ध धर्म के पालि-त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। 'अंगों' के अतिरिक्त उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में स्वतन्त्र रूप से योग पर विचार किया है। प्रस्थान भिन्न होने पर भी योग के ये विवेचन उपयोगी और उपादेय हैं। तन्त्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ के 'नाथ-सम्प्रदाय' में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को 'योगी' सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। नाथपंथी सिद्ध 'हठयोग' के परमाचार्य थे। मन्त्रयोग, लययोग आदि योग प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु इस परिच्छेद में योग का दार्शनिक विवेचन अभीष्ट होने से 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध पातञ्जल योग का ही वर्णन किया जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिए की योग महर्षि पतञ्जलि से आरम्भ नहीं होता; यह बहुत ही प्राचीन अध्यात्म प्रक्रिया है। संहिताओं में[1], ब्राह्मणों में[2] तथा उपनिषदों[3] में इसका कहीं तो संकेत है और कहीं इसका सुन्दर विवेचन है। यह सांख्य के द्वारा स्वीकृत तत्त्वमीमांसा को अपनाता है, परन्तु ईश्वर को सत्ता मानकर उसे छब्बीसवें तत्त्व के रूप में मानता है। इसीलिये इसको 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं।

(१) योग के आचार्य

उपलब्ध योगसूत्रों के रचयिता का नाम महर्षि पतञ्जलि है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के कथनानुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं, पतञ्जलि ने योग का केवल अनुशासन किया, अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र दिया। अतः वे योग

के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधकमात्र हैं। 'अनुशासन' का अर्थ है—उपदेश दिये गये सिद्धान्त का प्रतिपादन। पतञ्जलि ने यही किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार योगसूत्र के रचयिता तथा व्याकरण महाभाष्य के निर्माता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति हैं।[1] दोनों के द्वारा स्फोटवाद का अंगीकार किया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तत्त्वमीमांसा के अनेक सिद्धान्तों में साम्य होने पर भी सांख्य और योग में महान् अन्तर है। सांख्य स्फोटवाद का खण्डन करता है, परन्तु योग मण्डन करता है। अन्य प्रमाणों के आधार पर दोनों पतञ्जलियों की अभिन्नता मान्य है।[2] अतः योगसूत्र की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खण्डन सूत्रों (४।१७,१५) में मिलने पर भी इस सिद्धान्त को धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है। 'विज्ञानवाद' का खण्डन-नाम निर्देशपूर्वक नहीं है। अतः इसके खण्डन से योगसूत्र 'विज्ञानवाद' का पश्चाद्वर्ती नहीं माना जा सकता।

योगदर्शन में चार पद हैं, जिनकी सूत्र संख्या १९५ है। पहले (समाधि) पाद में वर्णन है समाधि के रूप तथा भेद, चित्त तथा उसकी वृत्ति आदि का; द्वितीय (साधन) पाद में क्रियायोग, क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करने के साधन, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय, योग के अष्टांग आदि विषयों का, तृतीय (विभूति) पाद में धारणा, ध्यान और समाधि के अनन्तर योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली विभूतियों का और चतुर्थ (कैवल्य) पाद में समाधिसिद्धि, निर्माणचित्त, विज्ञानवाद-निराकरण, कैवल्य का निर्णय किया गया है। तृतीय पाद के अन्त में 'इति' शब्द के आने से तथा चतुर्थ पाद में मतान्तर के खण्डन करने से अनेक विद्वानों का यह मत है कि पतञ्जलि ने प्रथम तीन पादों की ही रचना की थी। दार्शनिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए किसी पीछे के ग्रन्थकार ने (सम्भवतः भाष्यकार व्यास ने ही) चतुर्थ पाद की रचना की, पर अभी तक इस मत की युक्तियुक्तता सिद्ध नहीं हुई है।

पातञ्जल योगदर्शन के ऊपर 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। योगसूत्रों के निगूढ रहस्यों का उद्घाटन करने में यह भाष्य नितान्त

---

१. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
(भोजवृत्ति)।

२. डा० दासगुप्त—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफ़ी, भाग २, पृ० २२५–२३५।

कृतकार्य है। इसके रचयिता 'व्यास' कौन थे ? इसका यथार्थ रूप से प्रतिपादन नहीं हो सकता। इतना तो निश्चित है कि ये पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास से अवश्य भिन्न हैं, क्योंकि वेदव्यास का समय बहुत प्राचीन है, परन्तु व्यासभाष्य के रचयिता विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नहीं है[४]। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढार्थ है। अतः उसके अर्थ को समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्तिक' की रचना की। वाचस्पति की सर्वतोगामिनी विद्वत्ता के अनुरूप ही यह टीका नितान्त प्रमेयबहुला तथा गूढार्थप्रकाशिनी है। तत्त्ववैशारदी की भी टीका राघवानन्द सरस्वती का पातंजल रहस्य' है। ये राघवानन्द विश्वेश्वरभगवत्पाद के शिष्य अद्वयभगवत्पाद के शिष्य थे। विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक', भाष्य के विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपितु वह 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है। विज्ञानभिक्षु योग तथा सांख्य के सिद्धान्तों के मार्मिक व्याख्याता हैं। उनकी दृष्टि मौलिक है और इसीलिए उनके अनेक मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न पड़ते हैं। भिक्षु ने 'योगसारसंग्रह' में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है। आजकल के प्रसिद्ध सांख्य-योगाचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्य ने भाष्य पर 'भास्वती' नामक टीका लिखी है।

योगसूत्रों की भी अनेक टीकाएं लिखी गईं जिनमें—(१) भोजकृत 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), (२) भावागणेश की 'वृत्ति', (३) रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', (४) अनन्तपण्डित की 'योगचन्द्रिका', (५) सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर', (६) नागोजी भट्ट की 'लघ्वी' और 'बृहती' वृत्तियाँ नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में राजमार्तण्ड 'भोजवृत्ति' के नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। मणिप्रभा तथा योगसुधाकर योगनिष्ठ पुरुषों के द्वारा लिखी गई हैं। अतः सूत्र के अर्थ समझने में अत्यन्त उपादेय हैं। नागेश की बड़ी वृत्ति योगवार्तिक के आधार पर निर्मित हुई है। कहीं कहीं वार्तिक के अर्थ को इसने पल्लवित किया है और कहीं कहीं उसे संक्षिप्त कर प्रदर्शित किया है। इससे वार्तिक के अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है। पातंजल दर्शन के ऊपर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है।

सांख्य-योग के इतिहास में वाचस्पति का स्थान

सांख्य-योग के इतिहास में वाचस्पति मिश्र का नितान्त महनीय स्थान है। वाचस्पति मिश्र सचमुच बृहस्पति के अवतार थे। उन्होंने जिस विषय पर अपनी अलौकिक लेखनी चलाई, उसे अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा तथा आदरणीय वैदुषी से

आलोकित बना दिया। उनकी बुद्धि इतनी निर्मल थी, शास्त्र की गम्भीरता में इतना अधिक प्रवेश था, विषय की प्रतिपादन-शैली इतनी विशद थी कि उनके हाथ का लिखा हुआ कोई भी ग्रन्थ उस शास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला अद्भुत रत्न है। इस लेख में वाचस्पति के सांख्य तथा योग-विषयक पाण्डित्य का सामान्य परिचय दिया जा रहा है। जिज्ञासुओं के लिए यह सामान्य संकेत भी कम महत्त्व का नहीं सिद्ध होगा।

वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका पर अपनी 'तत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या लिखकर शास्त्र को एकदम चमका दिया। 'सांख्यकारिका' पर्याप्तरूपेण गम्भीरार्थ-प्रतिपादक ग्रन्थ है और माठर तथा गौडपाद ने अपनी व्याख्यायें लिखकर इस ग्रन्थ के गूढ अर्थ को प्रतिपादित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इन दोनों में से माठर की वृत्ति अपेक्षाकृत प्राचीन मानी जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनियों के अनुयोगद्वारसूत्र (१७० ई०) में 'काविलं सट्ठितंतं' तथा 'कणगसत्तरी' (सांख्य कारिका का प्राचीनतम अभिधान) के साथ ही साथ 'माठर' के नाम का भी निर्देश है। महाराज कनिष्क के समकालीन होने के कारण भी आचार्य माठर का काल विक्रम की प्रथम शती माना जाता है। मूल कारिकाओं का किसी वृत्ति विशेष के साथ चीनी भाषा में षष्ठ शतक में अनुवाद हुआ था। आज भी यह अनिर्णीत समस्या है कि यह कौन सी सांख्यवृत्ति थी? माठर की अथवा गौडपाद की? जो कुछ भी हो ऐसे महनीय व्याख्या-ग्रन्थों के रहने पर भी अपनी नवीन टीका का निर्माण तथा तद्द्वारा विषय को प्रस्फुटित करना साधारण वैदुषी का कार्य न था, परन्तु वाचस्पति ने वही अलोक-सामान्य कार्य किया। न्यायवार्तिक के ऊपर अपनी विशद व्याख्या 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका' की रचना के अनन्तर वाचस्पति ने तत्त्वकौमुदी की रचना की, क्योंकि सांख्यकारिका की पञ्चम कारिका की टीका में अनुमान के विशद वर्णन के अनन्तर उन्होंने स्वयं लिखा है—

"सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्"—(पृ० २३, चौखम्बा संस्करण काशी)

तत्त्वकौमुदी की शैली बड़ी उदात्त, विशद तथा सुबोध है। वाचस्पति प्रथमतः कारिका के शब्दों का अक्षरार्थ बड़ी सुन्दरता तथा व्युत्पत्ति आदि के साथ करते हैं; जिससे मूल कारिका के समझने में तनिक भी त्रुटि न हो। अनन्तर वे कारिका के भावार्थ का पल्लवन करते हैं, तथा सुन्दर और उपयुक्त उदाहरण की सहायता से विषय का प्रतिपादन साङ्गोपाङ्ग रूप में करते हैं। उदाहरणों

के उपन्यास से गम्भीर विषय का समझना भी सरल तथा सुबोध हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ गुणात्मक होता है, इसे समझाने के लिए मिश्र जी ने कामिनी का रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है (कारिका १३)। प्रत्येक कारण अन्य कारणों के आनुकूल्य से ही अपने कार्य में प्रवृत्त होता है—इस तत्त्व को समझाने के लिये आयुधधारी पुरुषों का उदाहरण बड़ा ही सयुक्तिक है (कारिका ३१)। तात्पर्य यह है कि विषय को सुबोध तथा सरल बनाने के अभिप्राय से मिश्रजी ने अक्षरार्थ, भावार्थ तथा उदाहरण इन तीनों को एक साथ प्रस्तुत कर विषय को चमका दिया है।

इतना ही नहीं; यह ग्रन्थ तुलनात्मक शैली पर लिखा गया है। सांख्य मत का अभीष्ट भी प्रतिपादन सद्यः न देकर अन्य दर्शनों के तत्तत् मतों के उपन्यास तथा खण्डन के अनन्तर ही किया गया है, जिससे सांख्य के दृष्टिकोण का परिचय पाठक को भली-भाँति लग जाता है। सांख्यकारिका की आठवीं कारिका में सांख्याभिमत सत्कार्यवाद का सयुक्तिक उपन्यास है, परन्तु इसकी व्याख्या करते समय कारणतावाद से सम्बद्ध न्याय, बौद्ध तथा वेदान्त मतों के तत्तत् वादों और सिद्धान्तों का परिचय तथा खण्डन प्रस्तुत कर वाचस्पति मिश्र जिज्ञासुओं के सामने तुलनात्मक व्याख्यापद्धति से विषय का विवेचन करते हैं। इसी प्रकार मन के संकल्पात्मक व्यापार के वर्णन के प्रसंग में ग्रन्थकार ने कुमारिल भट्ट के (श्लोकवार्तिक) के प्रत्यक्ष सूत्र से भी कई कारिकायें उद्धृत कर विषय को समझाया है। (कारिका २७)। यह तौलनिक पद्धति यथार्थ में वाचस्पति मिश्र की अपनी विशिष्ट शैली है। कारण यह है कि षड्दर्शन के इस प्रकाण्ड विद्वान् की अँगुलियों पर दार्शनिक तत्त्व नाचते रहते थे। फलतः सांख्य के मत को स्पष्ट करने के लिये अन्य मतों का उपन्यास उनके लिये बायें हाथ का खेल था।

'तत्त्वकौमुदी' तर्क तथा न्याय के तत्त्वों से परिपुष्ट की गयी है। मूल में अनुमान (कारिका) के प्रकरण में केवल सामान्य लक्षण तथा त्रैविध्य की चर्चा मात्र है, परन्तु इसकी व्याख्या में न्यायभाष्य के अभिमत सिद्धान्तों का विवरण ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया है। तत्त्वकौमुदी' केवल व्याख्या-ग्रन्थ न होकर मूल के समान नवीन तथ्यों की प्रतिपादिका है। वाचस्पति मिश्र ने मूल कारिका में अनुल्लिखित नवीन तर्क तथा युक्तियों का भी यहाँ विवरण दिया है, जिससे सांख्य का यह सिद्धान्त पुङ्खानुपुङ्ख रूप से पाठकों के सामने विराजने लगता है। एक उदाहरण से इसे समझिये—'कारणभावाच्च सत्कार्यम्' (कारिका ९) की पुष्टि में कार्य तथा कारण के अभेद

बोधक चार नवीन प्रमाणों का उपन्यास मिश्रजी ने किया है, जिसका संकेत तक भी मूल में नहीं पाया जाता (पृ० ४२, चौखम्बा काशी)। अन्य युक्तियों का भी वर्णन यहाँ किया गया है (पृ० ४५)।

वाचस्पति मिश्र में पक्षपात का गन्ध भी नहीं है

प्रायः देखा जाता है कि ग्रन्थकार का कोई न कोई अपना अभीष्ट मत होता है, जिसका वह संकेत ही नहीं करता, प्रत्युत वह उसे सिद्ध करने का प्रयत्न भी अनेकशः किया करता है। ग्रन्थ के अनुशीलन से वाचस्पति के स्वाभीष्ट मत का पता लगाना टेढ़ी खीर है—नितान्त कठिन समस्या है। वे क्या थे, नैयायिक, सांख्यवादी या अद्वैती ? पता लगाना दुष्कर व्यापार है। 'तत्त्वकौमुदी' की समीक्षा बतलाती है कि वे इस व्याख्यान के अवसर पर पूर्णतः सांख्यवादी हैं।

ईमानदार लेखक की यही तो विशेषता होती है कि वह व्याख्यात सिद्धान्तों से अपनी वैयक्तिकता को पृथक् नहीं रखता; वह अपने को उसमें घुला-मिला देता है, विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य धारण कर लेता है। तभी उसके व्याख्यानों में प्रकृष्ट प्रभाव सिद्ध होता है। ऐसे व्याख्याकारों में वाचस्पति अग्रणी हैं। वे सांख्य की व्याख्या सांख्य के दृष्टि-बिन्दु से करते हैं। उस समय वे न नैयायिक हैं और न वेदान्ती; वे पूर्ण आस्थावान् श्रद्धालु सांख्यवादी हैं। एक-दो उदाहरणों से इस कथन का परिष्कार किया जा सकता है।

(क) आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु (कारिका ५)—व्याख्या में 'आप्तश्रुति' का अर्थ किया गया है—'आप्ता-प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः' इस व्याख्या का हेतु क्या है ? यह लक्षण 'आप्तोपदेशः शब्दः' गौतम सूत्र के समान ही प्रतीत होता है। 'आप्त' का लक्षण वात्स्यायन ने अपने भाष्य में यह किया है—'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः सा। तया वर्तते इति आप्तः तस्योपदेशः शब्दः प्रमाणम्'।

वाचस्पति वात्स्यायन की इस व्याख्या से पूर्ण परिचित हैं, फिर भी उन्होंने 'आप्त' का विलक्षण अर्थ क्यों किया ? इसका कारण है सांख्य का वेदविषयक विभिन्न सिद्धान्त। न्याय से विपरीत सांख्यमत में वेद अपौरुषेय है। न्याय वेद को पौरुषेय मानता है। इसलिए वह ईश्वर को आप्त कोटि में मानकर वेद की पौरुषेयता सिद्ध करता है। सांख्य अपौरुषेयवादी है। फलतः 'आप्त' शब्द की नवीन व्याख्या की आवश्यकता है।

(ख) अन्य प्रमाणों का खण्डन

वाचस्पति उपमान को सांख्यदृष्टि से नया प्रमाण नहीं मानते। अनुमान के अन्तर्गत इसका अन्तर्भाव उन्होंने बड़े आग्रह से दिखलाया है। इसी प्रकार सांख्य-दृष्टि से अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक प्रमाण भी, जिन्हें भट्ट मीमांसक तथा तदनुसारी अद्वैती वेदान्ती प्रमाणकोटि में मानते हैं, अमान्य ठहराये गये हैं। वाचस्पति की यह महती विशिष्टता है कि वे जिस शास्त्र पर टीका लिखते हैं, वहाँ उसका दृष्टिकोण भी वे बड़े आग्रह के साथ पकड़ते हैं। तभी तो उनकी टीकाओं में तत्तद् दर्शनों के प्रमेयों का इतना रुचिर समुच्चय प्रस्तुत मिलता है। मत की पुष्टि के लिए वे पुराणों से यथासाध्य साहाय्य लेते हैं। 'देवी भागवत' के उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अन्तिम कारिका की टीका में इन्होंने किसी राजवार्तिक नामक ग्रन्थ से श्लोकत्रयी को उद्धृत किया है, जिसमें षष्टितन्त्र के सार विषयों का नामोल्लेख किया गया मिलता है।

(ग) सांख्य का औपनिषदिक प्रमाण

वाचस्पति ने तत्त्व-कौमुदी के मङ्गल श्लोक को उपनिषद् के मन्त्र के आधार पर निर्मित किया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

इस पद्य में लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण रंगवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति का, उसकी प्रजासृष्टि के व्यापार का, उसे भजने वाले संसारी पुरुषों का तथा भुक्तभोगा प्रकृति के परित्याग करने वाले मुक्त पुरुषों का पूर्ण संकेत पाया जाता है। ये चारों ही विशिष्टतायें सांख्य-दर्शन की निजी विभूतियाँ हैं। वाचस्पति ने इस मंगल श्लोक का निर्माण श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र के आधार पर किया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इस ग्रन्थ की व्याख्या में, व्याख्याकारों में पर्याप्त मतभेद है। अद्वैतवादी टीकाकारों की दृष्टि में यहाँ 'अजा' से अभिप्राय त्रिगुणात्मिका माया से है परन्तु सांख्यवादी व्याख्याकार यहाँ 'अजा' से अभिप्राय सांख्याभिमत प्रकृति मानते

हैं। वाचस्पति का भी झुकाव इसी अर्थ की ओर प्रतीत होता है। उपनिषद् में प्रकृतिपरक अर्थ की सद्भावना यह सिद्ध करती है कि सांख्य भी वेदान्त के समान ही उपनिषदों में संकेतित सिद्धान्त है। पूर्वोक्त मंगल श्लोक से वाचस्पति भी इसी मत के पोषक प्रतीत हो रहे हैं।

(घ) सांख्य की न्याय से पुष्टि

'तत्त्वकौमुदी' की रचना से पूर्व वाचस्पति न्यायदर्शन पर अपनी 'न्याय-तात्पर्यटीका' की रचना कर चुके थे। फलतः सांख्य की व्याख्या में उन्होंने आवश्यक तत्त्वों का विवरण न्यायदर्शन से दिया है। 'त्रिविधमनुमानम्' की व्याख्या इस तथ्य की प्रतिपादिका है। जहाँ अन्य टीकाकार केवल सामान्य बातों के वर्णन में ही निमग्न हैं वहाँ वाचस्पति ने इसकी बड़ी ही पूर्ण व्याख्या की है। अनुमान के सामान्यरूप से दो भेद हैं—वीत तथा अवीत; जिसमें प्रथम दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट। अन्तिम केवल एक ही प्रकार का होता है—शेषवत्। इस प्रकार 'तत्त्वकौमुदी' का अनुशीलन हमारे सामने न्याय-शास्त्र के तत्त्वों का भी पूर्ण परिचायक है।

तत्त्ववैशारदी की समीक्षा

योगसूत्रों पर 'व्यासभाष्य' प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। व्यासभाष्य के निर्माता महर्षि व्यासदेव से कोई भिन्न ही व्यक्ति हैं। अल्पाक्षरों में निविष्ट होने के कारण योगसूत्र स्वयं एक दुरूह ग्रन्थ है, परन्तु उसकी व्याख्या में प्रवृत्त होने वाला व्यासभाष्य उससे कम दुरूह नहीं है; प्रत्युत नवीन तथ्यों के उपन्यास के कारण यह ग्रन्थ भाषा, भाव तथा शैली—तीनों दृष्टियों से नितान्त दुरूह, कठिन तथा रहस्यमय ग्रन्थ है। वाचस्पति मिश्र ने इसी व्यासभाष्य के ऊपर अपनी 'वैशारदी' टीका लिखकर योग के तत्त्वों को सुबोध और सरल बनाया है। लेखक का यह सुनिश्चित मत है कि यदि यह व्याख्या उपलब्ध नहीं होती तो न तो मूल सूत्रों का ही अर्थ निकलता और न भाष्य का ही गंभीर तात्पर्य खुलता। दोनों के अर्थ तथा रहस्य को खोलने वाली एकमात्र कुञ्जी हमारे पास है—वाचस्पति मिश्र की यह 'तत्त्व वैशारदी'— भाष्य-व्याख्या।

इस व्याख्या की कतिपय विशिष्टताओं का यहाँ संकेत मात्र किया जा रहा है।

(क) पारिभाषिक शब्दों का तात्पर्य-प्रदर्शन

योगसूत्र तथा व्यासभाष्य में पारिभाषिक शब्दों की बड़ी प्रचुरता पाई जाती है। इसके तात्पर्य को समझना नितान्त आवश्यक है। 'तत्त्ववैशारदी' में इसका विस्तृत परिष्कार किया गया है। उदाहरण के लिए देखिये १।१६ सूत्र के भाष्य में 'ज्ञान-प्रसाद' शब्द का अर्थ बतलाते हुए वाचस्पति का कथन बड़ा ही हृदयावर्जक है। जब सत्त्व में रजोगुण का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् वैराग्य तथा अभ्यास की विमल धाराओं से रज एवं तम के सर्वथा नाश होने पर सत्त्व ही जब एकमात्र स्थित रहता है, तब चित्त की दशा 'ज्ञान-प्रसाद' कहलाती है (पृ० २०)। इसी प्रकार १।१७ में 'वितर्क' शब्द की व्याख्या में व्यासभाष्य में 'आभोग' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस पर्यायदान से विषय स्पष्ट नहीं होता। फलतः वाचस्पति मिश्र की समर्पक व्याख्या है— "स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः" (स्वरूप के साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा का ही नाम आभोग है)—पृ० २१। योगसूत्र २।९ का एक प्रख्यात शब्द है 'स्वरसवाही' जो व्यासभाष्य में भी व्याख्या-रहित ही छोड़ दिया गया है। वाचस्पति की टीका है—स्वरसेन वासनारूपेण वहनशीलः न पुनरागन्तुकः—अर्थात् स्वाभाविक, आगन्तुक नहीं।

(ख) सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण

व्यासभाष्य में वैदिक मतों की अपेक्षा बौद्धों के मत की विस्तृत समीक्षा है। भाष्य में यह मत स्वल्प अक्षरों में ही उपन्यस्त है। इन स्थलों पर वाचस्पति ने मतों का प्रतिपादन बड़े ही विस्तार तथा सुबोध रीति से किया है। योगसूत्र ३।१३ के भाष्य में 'धर्म से अतिरिक्त धर्मी नहीं होता' इस बौद्ध मत का संकेत मात्र किया गया है, परन्तु तत्त्ववैशारदी में दृष्टान्त के सहारे इसको भली-भाँति समझाया गया है। ३।४४ सूत्र तथा भाष्य में निबद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस सूत्र की तत्त्ववैशारदी से बड़े विस्तार के साथ किया गया है। स्थान-स्थान पर पुराणों के तत्तत् उपयोगी श्लोकों का उद्धरण भी दिया गया है। कहीं-कहीं प्राचीन कथाओं की ओर विषय की विशदता के लिए संकेत भी किया गया है। ३।३० सूत्र में यम के भेदों का वर्णन किया गया है। इसके भाष्य में पाँचों यमों के स्वरूप का वर्णन विस्तार के साथ है। दूसरे को बोध कराने के लिये प्रयुक्त वाणी में तीन दोषों का सद्भाव कभी कभी बना रहता है, जिनके नाम हैं—१. अज्ञान,

२. भ्रान्तिप्रतिपत्ति, ३. प्रतिपत्तिमिथ्यात्व। वाचस्पति ने इन तीनों को उदाहरणमुखेन बड़ी सफलता के साथ समझाया है। उदाहरण के अभाव में इनका यथार्थतः समझाना कठिन ही नहीं; अपितु असम्भव भी था। योगसूत्र के चतुर्थ पाद में बौद्धों के विभिन्न नाना मतों का खण्डन किया गया है। इनका विशद रूप से प्रतिपादन वाचस्पति ने अपनी व्याख्या में किया है।

विज्ञान भिक्षु ने भाष्य के ऊपर 'योगवार्त्तिक' नामक जो अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है उस में तत्त्ववैशारदी का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि अनेक स्थलों पर विज्ञानभिक्षु वाचस्पति मिश्र से भिन्न मत रखते हैं।

इस संक्षिप्त आलोचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाचस्पति मिश्र सांख्य तथा योगशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी इन शास्त्रों की व्याख्या बड़ी ही सुबोध सरल तथा प्रामाणिक है। इनकी सहायता मूल तत्त्वों की जानकारी के लिये हमें एक हजार वर्षों से अधिक समय से मिल रही है, और भविष्य में भी मिलती रहेगी।

(२) योग-मनोविज्ञान

'योग' शब्द समाध्यर्थक 'युज्' धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है। अतः योग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—समाधि है। पतञ्जलिकृत योग का लक्षण है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना। चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से है। चित्त सत्त्वप्रधान प्रकृति

चित्त

परिणाम है, अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है। चित्त प्राकृत होने से जड और प्रतिक्षण परिणामशाली है। यह सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता के कारण क्रमशः तीन प्रकार का होता है—प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील तथा स्थितिशील। प्रख्या (ज्ञान) रूप चित्त सत्त्व, रज, और तम से संसृष्ट होने पर ऐश्वर्य और शब्दादि विषयों का प्रेमी बनता है। तम से युक्त होने पर यही चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य से व्याप्त हो जाता है। तम के आवरणों के नितान्त क्षीण हो जाने पर रज के अंशमात्र से संतुष्ट चित्त सर्वत्र प्रद्योतमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है। प्रथम अवस्था में चित्त ऐश्वर्य और विषयों को केवल चाहता ही रहता है, परन्तु वे उसे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वह रज और तम से संयुक्त रहता है; तथापि इस दशा में सात्त्विक गुण की अधिकता से

ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। जब चित्त में रज का लेशमात्र भी मल नहीं रहता, तब सत्त्वप्रधान चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति-पुरुष की अन्यथाख्याति या विवेकज्ञान को प्राप्त कर लेता है और धर्ममेघ समाधि से समन्वित हो जाता है।

चित्त की भूमि

इस चित्त की ५ भूमियाँ या अवस्थायें होती हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र (५) निरुद्ध। क्षिप्त का अर्थ चञ्चल है। क्षिप्त दशा में चित्त रजोगुण की अधिकता के कारण अस्थिर और चञ्चल बना रहता है और बहिर्मुख होने से संसार के सुख-दुःखादि विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त रहता है। मूढ चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेकशून्य रहता है, कृत्याकृत्य का विवेचन नहीं करता और क्रोधादि के द्वारा विरुद्ध कार्यों में ही प्रवृत्त रहता है। 'मुझे क्या करना है और क्या नहीं करना है' इस विषय का वह कभी निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि वह अत्यन्त तामसिक होता है। विक्षिप्त चित्त सत्त्व की अधिकता से दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनभूत शब्दादि विषयों में प्रवृत्त रहता है। राजस क्षिप्त चित्त की की अपेक्षा यह सात्त्विक चित्त कभी कभी स्थिरता धारण करता है। 'विक्षिप्त' दशा में चित्त में सत्त्व की अधिकता रहती है और इस प्रकार यह क्षिप्त दशा से नितान्त विशिष्ट होती है। रजोगुण की प्रबलता होने के कारण क्षिप्त दशा में चित्त कभी भी स्थिर नहीं होता, वह सदा चञ्चल बना रहता है, परन्तु विक्षिप्त दशा में वह सत्त्व की अधिकता के कारण कभी-कभी स्थिरता को प्राप्तकर लेता है। इस विशिष्टता को सूचित करने के लिए 'क्षिप्त' से पहले 'वि' उपसर्ग जोड़ा गया है[५]। चित्त की अन्तिम दोनों दशाओं में सत्त्व की अधिकता बढ़ जाती है। इसलिए इन दशाओं में चित्त समाधि के लिए उपयोगी बन जाता है। इन दोनों प्रकार के चित्तों में पर्याप्त अन्तर है। 'एकाग्र' का अर्थ है—एक ही विषय को चिन्तन करने वाला चित्त। 'निरुद्ध' का अर्थ है—रुका हुआ चित्त, अर्थात् वह चित्त जिसकी सारी वृत्तियाँ रोकी गई या हटायी गई हों। जब बाहरी वृत्तियों के विरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकारवृत्ति धारण करता है, तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं, परन्तु सब वृत्तियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा 'निरुद्ध' है[१]। इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं, परन्तु अन्तिम दोनों भूमियों में योग का उदय होता है। इन भूमियों के अनुरूप चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं। क्षिप्त और मूढ भूमियों में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-

प्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता तथा निरुद्ध में निरोधलक्षण परिणाम होते हैं। अतः समाधि के लिए अन्तिम दो दशाओं की नितान्त उपयोगिता है।

पुरुष निसर्गतः शुद्ध, चैतन्यरूप तथा शरीर मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञान दशा में चित्त से सम्बद्ध रहता है। चित्त वास्तव में प्रकृति से उत्पन्न होने से अचेतन है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर वह चेतन के समान प्रतीत होता है। पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त उस वस्तु के रूप को ग्रहण कर लेता है। पुरुष को पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान चित्त के परिवर्तनों के कारण होता है, जिन्हें 'वृत्तियाँ' कहते हैं। जिस प्रकार नदी की लहरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्थिर होने पर भी चलायमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार परिणामशील चित्त में प्रतिबिम्बित स्वतः अपरिणामशाली पुरुष परिवर्तनशील मालूम होता है।

चित्त की वृत्तियाँ प्रधानतया पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण (सत्य ज्ञान) सांख्यों के समान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रकार का होता है। किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं, जिसके अन्तर्गत संशय भी माना जाता है। शब्द-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला परन्तु सत्य वस्तु से शून्य ज्ञान 'विकल्प' है। जैसे 'घोड़े की सींग' को सुनकर इन शब्दों के अर्थ को तो हम समझ जाते हैं, परन्तु वास्तविकता से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि घोड़े को सींग होती ही नहीं। यह केवल शाब्दिक ज्ञान है, अर्थ से हीन होने से अधिक नहीं। 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है', इस वाक्य में षष्ठी के प्रयोग से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में चैतन्यात्मक पुरुष चैतन्य से भिन्न नहीं है। अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्परूप है। तम के आधिक्य पर अवलम्बित होनेवाली वृत्ति 'निद्रा' है, जिसमें जाग्रत और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। जागने पर पुरुषों को यह भान होता है कि मैंने खूब अच्छी गहरी नींद ली, जिससे मेरा मन खूब प्रसन्न है, या मुझे अच्छी नींद नहीं आई, जिससे मेरा मन घूम रहा है। यह भान (प्रत्यवमर्श ज्ञान) होने पर ही हो सकता है। अतः निद्रा वृत्तिरूप है। अनुभव किये गये विषयों का बिना परिवर्तन के ठीक ठीक याद आना 'स्मृति' कहलाती है। चित्त के समस्त व्यापारों या अवस्थाओं का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों के भीतर किया जा सकता है।

चित्त की वृत्तियाँ

जब वृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त में क्षय प्राप्त कर लेती हैं, तब ये नितान्त क्षीण नहीं हो पातीं; प्रत्युत उनका सूक्ष्म रूप 'संस्कार' के रूप में रहता है।

ये संस्कार ही योग्य अवसर आने पर उद्बोधक हेतु के होने पर पुनः स्थूल रूप प्राप्त करते हैं और वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। अतः वृत्तियों से संस्कारों की ओर संस्कारों से वृत्तियों का उदय होता है। इस प्रकार यह चक्र सतत क्रियाशील रहता है।[७] वृत्ति और संस्कार का परस्पर सम्बन्ध वृक्ष और जड़ों के उदाहरण से भली-भाँति दर्शाया जा सकता है। जड़ें पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप से विद्यमान रहती हैं और वृक्ष के नाश हो जाने पर अनुकूल परिस्थिति में बढ़ कर पेड़ को पैदा कर सकती हैं। उसी प्रकार वृत्ति तथा संस्कार का एक चक्र होता है। वृत्तियाँ जब क्षीण हो जाती हैं, तब वे संस्कार का रूप पा लेती हैं। वे नष्ट नहीं होतीं; प्रत्युत अवचेतन मानस में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में टिक जाती हैं। अनन्तर वे 'संस्कार' का रूप ग्रहण लेती हैं। इस प्रकार 'संस्कार' वृत्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। अनुकूल कारण के आने पर वे ही संस्कार चेतन मानस में उद्बुद्ध होकर प्रत्यक्षतः दिखलाई पड़ने लगते है और तब वे वृत्तियों का रूप धारण करते हैं। इस दशा में संस्कार वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति से संस्कार का जन्म और संस्कार से वृत्ति का उदय—यह चक्र सदा चला करता है। इस विषय को समझाने के लिए ऊपर वृक्ष तथा जड़ का उदाहरण दिया गया है। वृक्ष ही क्षीण होकर पृथ्वी में घुसकर जड़ बन जाता है और जड़ें ही उपयुक्त सामग्री—जल तथा वायु पाने पर वृक्ष के रूप में पनप उठती हैं। फलतः वृत्ति है स्थूलरूप और संस्कार है सूक्ष्म रूप। वस्तु एक ही है, परन्तु रूप भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। अब चित्तवृत्ति के निरोध का क्या अर्थ है? साधारणतया प्रतीत होता है कि चित्त की वृत्तियों का जब निरोध (रोकना) होता है तब योग सिद्ध होता है, परन्तु इतने से ही 'योग' नहीं होता। पूरा योग तभी होता है जब वृत्तियों के साथ साथ उनके संस्कारों का भी निरोध हो जाय। स्थूल वृत्तियाँ तथा सूक्ष्म संस्कार—इन दोनों के निरोध होने पर ही योग की पूर्णता सिद्ध होती है। वृक्ष का पूरा सूखना क्या है? केवल बाहर दिखाई पड़ने वाले वृक्ष का ही नहीं, बल्कि उसकी जड़ों के सूखने या नाश होने पर ही वृक्ष को हम पूर्णतः नष्ट हुआ समझ सकते हैं। इस उदाहरण से योग का सच्चा रूप समझ में आ सकता है। प्रज्ञा के आलोक से वृत्तियों के निरोध के साथ साथ संस्कार का निरोध भी होना आवश्यक है। तभी योग पूर्ण कहा जा सकता है।

योग के दो भेद होते हैं—(१) सम्प्रज्ञात तथा (२) असम्प्रज्ञात। इन भेदों का रहस्य जानने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर दृष्टिपात करना

योग के प्रकार

चाहिए। लकड़ी के टुकड़ों में जब आग लगा दी जाती है, तो वे टुकड़े जलने लगते हैं और सब टुकड़ों को जलानेवाली आग एक आकार में दिखलाई पड़ती है। टुकड़े पहले जलते हैं; अनन्तर आग स्वयं जलती रहती है, पर अन्त में बाह्य पदार्थ के अभाव में वह स्वयं बुझ जाती है, उसका जलना समाप्त हो जाता है। योगप्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति की ऐसी ही दशा होती है। चित्त में अनेक वृत्तियों का सद्भाव रहता है। जब किसी एक वस्तु के ध्यान में चित्त लगाया जाता है, तब अन्य वृत्तियाँ क्षीण होकर उसी वृत्ति को दृढ तथा प्रबल बनाती हैं। उस समय वही वृत्ति मुख्य रहती है, तथा ध्यान के प्रकर्ष से 'प्रज्ञा' कहलाती है। समाधि दो वस्तुओं के घर्षण (रगड़) के समान है। उससे उत्पन्न प्रज्ञा घर्षण से (रगड़ने से) होनेवाली आग के समान है। यह प्रज्ञाग्नि अन्य वृत्तियों का नाश कर देती है और कुछ काल तक स्वयं प्रद्योतित रहती है, परन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही आप उपशान्त हो जाती है। जिस समय चित्त अन्य वृत्तियों के उपक्षीण होने पर एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सतत ध्यान में लगा रहता है, उस समय संप्रज्ञात (सं + प्रज्ञा + त) समाधि होती है। इसका फल है—प्रज्ञा का उदय। यह प्रज्ञा सद्भूत (वास्तव, सत्य) अर्थ को प्रद्योतित करती है (सत्त्वदर्शन), समस्त क्लेशों का नाश करती है (अविद्याक्षय), कर्म बन्धनों को शिथिल बनाती है तथा निरोध को अभिमुख (आसन्न) करती है।[८]

इतर वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न प्रज्ञा का भी निरोध आवश्यक है, क्योंकि प्रज्ञा कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो आखिर है तो वृत्ति ही। योग में चित्त की समग्र वृत्तियों का निरोध होना ही चाहिए। प्रज्ञा भी तो एक वृत्ति ही ठहरी। अतः जब इसका निरोध होता है, तभी पूर्ण योग की सिद्धि होती है।

समाधि के दो भेद

'एकाग्र' चित्त की वह अविचलित अक्षुब्ध अवस्था है जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक रहता है। इस योग का नाम सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त के समाहित होने के लिए कोई न कोई बीज या आलम्बन बना रहता है; परन्तु निरुद्ध दशा में असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है, जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध या बन्द हो जाती हैं। यहाँ किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता। अतः इसे निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। ध्येय वस्तु का ज्ञान बने रहने के कारण पूर्व समाधि सम्प्रज्ञात

कहलाती है; ध्येय, ध्यान तथा ध्याता के एकाकार हो जाने से ध्येय वस्तु से ज्ञान के पृथक् न होने से दूसरी समाधि का नाम 'असम्प्रज्ञात' है।

किसी भी ध्यान में तीन कोटियाँ होती हैं। ध्याता—ध्यान करने वाला व्यक्ति। ध्येय—ध्यान की वस्तु जिस पर ध्यान किया जाता है, तथा ध्यान, ध्यान करने की क्रिया। बिना आलम्बन के कोई ध्यान प्रारम्भिक दशा में हो नहीं सकता। यह आलम्बन बहुत काल तक विद्यमान रहता है। इस दशा की समाधि का नाम है—सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि। इसी का आश्रय प्रत्येक साधक को लेना पड़ता है। इस समाधि में पूर्व वर्णित प्रकारों में चित्त 'एकाग्र' की दशा में रहता है। इसके चिरकाल अभ्यास से साधक का चित्त सब वृत्तियों से निरुद्ध हो जाता है, अर्थात् वह पूर्व आलम्बन भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है और चित्त अपने विशुद्ध निरालम्ब दशा में उपनीत होता है। अब चित्त कहलाता है—निरुद्ध और समाधि का नाम है—असम्प्रज्ञात। ऊपर कहा गया है कि अन्तिम दोनों चित्त समाधि-उपयोगी होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एकाग्र चित्त में 'सम्प्रज्ञात' समाधि और निरुद्ध चित्त में 'असम्प्रज्ञात' समाधि का उदय होता है। यही दोनों में अन्तर होता है।

सम्प्रज्ञात का भेद

इन दोनों में सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ग्राह्य विषय दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल आलम्बन में जो चित्त का आभोग है उसे 'वितर्क' कहते हैं। 'आभोग' शब्द का अर्थ है[१]—एक वस्तु का दूसरी वस्तु के ऊपर आरोपित होने पर उसके साथ देश सम्बन्धी एकता। पदार्थ के सान्निध्य में एकता होने से चित्त जो उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है वह आभोग है। (वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा—त० वै० १।१७) (क) अतः किसी महाभूत आदि अवयवी स्थूल वस्तु में शब्दार्थोल्लेखपूर्वक जो भावना की जाती है उसे 'सवितर्क' समाधि कहते हैं। 'यह गौ है' यहाँ शब्द, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान तीनों एक साथ संवलित रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः वस्तु के जिस चिन्तन में तीनों उपस्थित रहते हैं वह सवितर्क समाधि होती है और जहाँ शब्द-शून्य होने से केवल अर्थ की भावना की जाती है, उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं। (ख) सूक्ष्म आलम्बन में चित्त के आभोग को 'विचार' कहते हैं। अतः जहाँ तन्मात्र आदि सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण कर भावना की जाती है, वह होती है सविचार समाधि, परन्तु जहाँ देश, काल और धर्म के सम्बन्ध का परित्याग कर

केवल सूक्ष्म धर्म की ही भावना की जाती है, वह निर्विचार समाधि कहलाती है। ग्राह्यविषयक होने से इनका नाम 'ग्राह्यसमापत्ति' है। (ग) सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ सुखात्मक हैं। अतः साक्षात्कार के साधनभूत इन्द्रियों की भावना करने पर सानन्द समाधि का उदय होता है। यह सम्प्रज्ञात 'ग्रहणसमापत्ति' होता है। (घ) इन्द्रियाँ अस्मिता से उत्पन्न होती हैं। अतः कारण होने से अस्मिता (बुद्धि) इन्द्रियों से नितान्त सूक्ष्म है। चित्-प्रतिबिम्ब बुद्धि 'अस्मिता' है। अतः इस बुद्धि की भावना करने पर 'सास्मिता समाधि' का जन्म होता है। बुद्धि में ग्रहीता पुरुष के अन्तर्भाव होने से यह सम्प्रज्ञात समाधि 'ग्रहीतृविषयक' मानी जाती है।

इस समाधि में साधक स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर विषयों का ध्यान करता है। साधना की यही प्रक्रिया है। आरम्भ करना चाहिए किसी स्थूल पदार्थ से और धीरे-धीरे स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म पदार्थों पर ध्यान स्थिर करना चाहिए। स्थूल पदार्थ का चिन्तन कहलाता है—वितर्कानुगत समाधि तथा सूक्ष्म का ध्यान है—विचारानुगत समाधि। इन्द्रियाँ सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर होती हैं। अत एव उनका ध्यान करना सानन्द समाधि कहलाता है। इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण करने का द्वार होती हैं इसीलिए यह समाधि 'ग्रहणसमापत्ति' कहलाती है। सबके अन्त में होता है बुद्धि का ध्यान। यह सूक्ष्मतम होता है और इसी का नाम है—सास्मिता समाधि। इस समाधि के फलस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् साधक को यह विवेक ज्ञान हो जाता है कि आत्मा यथार्थ रूप से शरीर, मन तथा अहंकार सबों से भिन्न है।

असम्प्रज्ञात समाधि

इस समाधि की अन्तिम दशा में भी चित्त के लिए कोई न कोई आलम्बन बना ही रहता है, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो; परन्तु इसी प्रकार ध्यान करते-करते चित्त का सम्बन्ध सब विषयों से छूट जाता है। यही समाधि असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।[१०] इस दशा में पहुँचने पर आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यरूप में प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् वह 'केवल' असंपृक्त रूप से विद्यमान होता है। इसी दशा का नाम है—कैवल्य। योग का यही ध्येय है। यह कब सम्भव है? इसके लिए केवल चित्त की वृत्तियों का ही निरोध आवश्यक नहीं होता, प्रत्युत उनके सूक्ष्म संस्कारों का भी निरोध आवश्यक होता है। 'निरोध' का अर्थ है—निःशेषरूप से रुद्ध हो जाना, सदा के लिए बन्द हो जाना।

इस दशा में समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है, परन्तु इसके लिए चाहिए दृढ साधना तथा पूर्ण अध्यवसाय। योग की साधना कोई बालक का खेल नहीं है कि वह अनायास प्राप्त हो सकती है, इसके लिए साधक को कठिन परिश्रम, दृढ निष्ठा और अटूट श्रद्धा रखनी पड़ती है। तब दीर्घकाल में यह दशा सिद्ध होती है और योगी असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति पर पहुँचता है।

चित्त अनेक क्लेशों का भाजन है, जिन्हें दूर करने से ही वह योग-मार्ग में अग्रसर हो सकता है। ये समग्र क्लेश विपर्यय-रूप हैं। अविद्या तो साक्षात् विपर्यय, मिथ्याज्ञान रूप ही है, परन्तु अन्य क्लेश भी अविद्यामूलक होने से मिथ्याज्ञान ही हैं। महत्तत्व और अहंकारादि परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं, तथा आपस में अनुग्राहक बनकर कर्मों के फलों (जाति, आयु तथा भोग रूप) को निष्पन्न करते हैं। कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। अतः वे आपस में एक दूसरे के सहायक हैं।

क्लेश

क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। (१) अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म-बुद्धि रखना अविद्या कहलाती है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थों में सुखबुद्धि रखना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानना अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पदा अविद्या क्लेशसन्तान का बीज है, तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। (२) पुरुष (दृक्शक्ति) बुद्धि (दर्शनशक्ति) से नितान्त भिन्न है, परन्तु दोनों को एक मान बैठना 'अस्मिता' है। भोक्ता और भोग्य के इस प्रकार एकत्व की भावना होने पर ही भोग की कल्पना होती है। पुरुष चेतन होने से द्रष्टा होता है। केवल वही द्रष्टा है, इसलिए वह दृक्शक्ति के नाम से अभिहित होता है। बुद्धि के द्वारा प्रपञ्च का भान होता है, इसलिए वह हुई दर्शन-शक्ति। दोनों एकदम भिन्न हैं, परन्तु मन, बुद्धि को आत्मा मान लेना 'अस्मिता' है। इसे क्लेश कहने का अभिप्राय यह है कि सुख तथा दुःख का अनुभव तो साक्षात् रूप से बुद्धि ही करती है, परन्तु पुरुष अपने आपको बुद्धि से एकाकार कर लेता है और उस समय वह भोक्ता बन जाता है। भोग वस्तुतः बुद्धि में होता है, परन्तु इसी अस्मिता के कारण पुरुष को भी भोग की

उपलब्धि होती है। इसीलिए 'अस्मिता' की गणना क्लेशों में की गई है। (३) सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे 'राग' कहते हैं। (४) इससे विपरीत दुःख को जानने वाले पुरुष का दुःख की स्मृति के साथ दुःख साधनों में जो क्रोध या जिघांसा होती है, वह 'द्वेष' है। (५) पामर जीव से लेकर विद्वानों तक जो मृत्यु का भय लगा रहता है, उसे 'अभिनिवेश' कहते हैं। यह स्वभाव से ही वासनरूप से प्रवृत्त होता (स्वरसवाही) है, अतः यह स्वाभाविक होता है, आगन्तुक नहीं।

(३) योग कर्तव्यमीमांसा

विवेक की सिद्धि के लिए पातञ्जल दर्शन में योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। वह तो निर्विवाद है कि जब तक आत्मा का शरीर और मन के ऊपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता, तब तक उसमें वह शांति या निश्चिन्तता नहीं आती जिससे वह प्रज्ञा की उपलब्धि कर सके। अतः शरीर, मन तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया गया है। इन योगांगों के नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि।

(१) यम—का अर्थ संयम होता है। इसके पाँच प्रकार होते हैं—(क) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों के ऊपर द्रोह न करना; (ख) सत्य—मन और वचन का यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा गया था, अनुमान किया हो उसी के समान मन तथा वचन का होना; (ग) अस्तेय—चोरी न करना अर्थात् दूसरों के द्रव्यों के लिए स्पृहा न रखना; (घ) ब्रह्मचर्य—गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम करना; (ङ) अपरिग्रह—विषयों के अर्जन, रक्षण आदि दोष होने से उन्हें स्वीकार न करना।

(२) नियम भी पाँच प्रकार के हैं—(क) शौच—आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि। आभ्यन्तर शौच चित्त के मलों का अच्छी तरह धो देना है; बाहरी शुद्धि मृत्तिका, जल से तथा पवित्र भोजन के करने से होती है। (ख) सन्तोष—सन्निहित साधनों से अधिक वस्तुओं के ग्रहण करने की इच्छा न होना; (ग) तप—सुख-दुःख, आतप-शीत, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन तथा चान्द्रायणादि कठिन व्रतों का पालन करना; (घ) स्वाध्याय—मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और प्रणव का जप; (ङ) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर को भक्तिपूर्वक सब कर्म समर्पण करना।

(३) आसन—स्थिरसुखमासनम्; स्थिर तथा सुख देने वाले जो बैठने के प्रकार हैं उन्हें आसन कहते हैं। ध्यान के लिए आवश्यक बात है कि साधक को ऐसा आसन ग्रहण करना चाहिये जिससे शरीर को सुख मिले, साथ ही मन की शान्ति बनी रहे। कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन 'हठयोगप्रदीपिका' आदि हठयोग के ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है। इन आसनों के अभ्यास करने से चित्त स्वाभाविक चञ्चलता का परित्याग कर एकाग्रता प्राप्त करता है। आसनजय करने से द्वन्द्वजन्य पीडा नहीं होती।

(४) प्राणायाम—आसनजय होने पर श्वास-प्रश्वास के गतिविच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का लेना श्वास है और भीतरी वायु को बाहर निकाल देना प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास सदा ही चलता रहता है। बाहर से वायु नासिकारन्ध्र से भीतर जाता है और भीतरी वायु बाहर निकलता है। इन दोनों की गति को नष्ट कर देने को प्राणायाम कहते हैं। पतञ्जलि ने चार प्रकार के प्राणायाम का वर्णन किया है—(क) बाह्य—कोष्ठय वायु को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक देना (रेचक प्राणायाम), (ख) आभ्यन्तर (भीतरी)—नासारन्ध्र से बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना (पूरक), (ग) स्तम्भवृत्ति—एक ही प्रयत्न से वहाँ श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाय (कुम्भक); इसमें न पूरक होता है न रेचक। व्यासभाष्य में इसके स्वरूप को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार गरम पत्थर के ऊपर रखा गया जल चारों तरफ से सिकुड़ने लगता है, उसी प्रकार इस कुम्भक में दोनों प्राण, अपान की गति एक साथ रुक जाती है। (घ) चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक। प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों या दोषों का नाश हो जाता है तथा मन एकाग्र या स्थिर होने के योग्य बन जाता है। जबतक श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है, तबतक चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से ज्यों-ज्यों प्राणापान की गति का निरोध होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त में एकाग्रता आने लगती है।

(५) प्रत्याहार—जब विभिन्न इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों से हट कर चित्त के समान निरुद्ध हो जाती हैं, तब इसे 'प्रत्याहार' कहते हैं (प्रति = प्रतिकूल; आहार = वृत्ति) अर्थात् बहिर्मुखवृत्ति इन्द्रियाँ बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी (भीतर वृत्ति वाली) हो जाती हैं, तब उनका प्रत्याहार निष्पन्न

होता है। इसका फल यह होता है कि इन्द्रियों के ऊपर पूरी वश्यता (अधिकार) स्थापित हो जाती है। साधारण स्थिति में इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता प्रबल रहती है, जहाँ चाहती हैं वहाँ वे मन को दौड़ाया करती हैं, परन्तु प्रत्याहार के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ मन के कब्जे में आ जाती हैं; वह जैसा चाहता है वैसा इन्हें काम में लगाता है। अब तक प्रतिपादित पाँच अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—बहिरंग साधन कहे जाते हैं। अन्तिम तीन अन्तरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि—अंगों की विवेकख्याति के उत्पादन से जितनी उपयोगिता है उतनी प्रथम पाँचों की नहीं है।

(६) धारणा—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योगसूत्र ३।१)। किसी देश में (जैसे हृदय-कमल में, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) या वाह्य पदार्थ में (जैसे इष्ट देवता की मूर्तियों आदि में) चित्त को लगाना या सम्बद्ध कर देना 'धारणा' कहलाता है। पूर्व अंगों के जय से यह कार्य सुगमता से हो सकता है। प्राणायाम से पवन और प्रत्याहार से इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती। अतः वह एक स्थान पर सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

(७) ध्यान—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (योगसूत्र ३।२)। उस देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे 'ध्यान' कहते हैं।

(८) समाधि—समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विक्षेपों को हटा कर चित्त का एकाग्र होना (सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः)। जहाँ पर ध्यान ध्येय-वस्तु के आवेश से मानो अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वह 'समाधि' कही जाती है। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्याता, ध्याता और ध्येय पदार्थ की एकता-सी हो जाती है। धारणादि अन्तिम तीनों अंगों का सामूहिक नाम 'संयम' है। संयम के जीतने का फल है—विवेकख्याति का आलोक या प्रकाश। ज्ञान ज्योति का उदय ही इन अन्तरंग साधनों के जीतने का सद्यः परिणाम है। संयम की दृष्टि में यमादि-पञ्चक बहिरंग है, परन्तु निर्बीज समाधि के लिए संयम भी बहिरंग है, अर्थात् परम्परया उपकारक है, साक्षात् नहीं।

कैवल्य प्रकृति

अब वर्णित विषयों के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करना चाहिए। प्रत्येक साधक को क्रियायोग तथा समाधियोग का अभ्यास करने से इष्ट सिद्धि होती है। क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है। क्रियायोग से तप (चान्द्रायण व्रत आदि), स्वाध्याय (मोक्षशास्त्रों का अनुशीलन तथा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप) तथा ईश्वरप्रणिधान (भक्ति-पूर्वक सब कर्मों के फलों का ईश्वर को समर्पण करना) समझे जाते हैं। क्रियायोग के अभ्यास का फल दो प्रकार का होता है—क्लेशतनूकरण और समाधिभावना। पञ्चप्रकार के क्लेश क्रियायोग के कारण क्षीण हो जाते हैं। क्रियायोग क्लेशों की क्षीणता का कारण होता है, परन्तु उनके दाह (एकदम जला देने) का कारण प्रसंख्यान (ज्ञान) होता है। समाधि की भावना भी इससे उत्पन्न होती है। अब योगांगों का अनुष्ठान आवश्यक होता है। यम, नियमादि अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष पूर्ण चैतन्य रूप का लाभ करता है। निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। जब चित्त वृत्तिरहित हो जाता है, तब उसे उस दशा में प्रतिष्ठित होने के लिए साधक को लगातार यत्न करना चाहिए। इसी का नाम 'अभ्यास' है। अभ्यास को दृढ़ करने के लिए बहुत दिनों तक आग्रह-पूर्वक वैराग्य का अवलम्बन करना होता है।[1]

सिद्धियाँ

योग का अभ्यास करने से साधक की अवस्था में विशेष विशिष्टता लक्षित होती है और वह अधिक शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। इनका ही नाम है—सिद्धि। सिद्धियाँ आठ प्रकार होती हैं—(१) अणिमा (अणु के समान छोटा या अदृश्य बन जाना), (२) लघिमा (हलका बनकर ऊपर उठ जाने की सिद्धि), (३) महिमा (पहाड़ के समान भारी बन जाने की सिद्धि), (४) प्राप्ति (कहीं से भी किसी चीज को प्राप्त करने की सिद्धि), (५) प्राकाम्य (इच्छा शक्ति का अबाधित होना, संकल्प की सिद्धि), (६) वशित्व (सब प्राणियों को अपने वश में करे लेने की योग्यता), (७) ईशित्व (सब पदार्थों पर अधिकार जमा लेने की सिद्धि), (८) यथाकामावसायिता (साधक के जो संकल्प होते हैं उनका पूर्ण होना)। योगदर्शन के अनुसार ये सिद्धियाँ योगी के मार्ग में स्वतः उपस्थित होती हैं और उसे लुभाती हैं। ये अन्तिम लक्ष्य के लिए विघ्नरूप होती हैं। इनके लोभ में फंसने वाला योगी कभी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। योगदर्शन का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मदर्शन। योगी को इसी

लक्ष्य की ओर सदा जागरूक रहना चाहिए; सिद्धियों के प्रति कभी ध्यान नहीं देना चाहिए। योगदर्शन की यही शिक्षा है।[१२]

ईश्वर

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वशाली है। योगी को भी सांख्य के २५ तत्त्व अभीष्ट हैं; केवल ईश्वर तत्त्व अधिक है। इसीलिए योग 'सेश्वर सांख्य' कहलाता है। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म-विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार के सम्पर्क) से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है।[१३] मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन के भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना रहती है, परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है। अतः वह प्रकृतिलीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न होता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। नित्य होने से वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से अनवच्छिन्न है। वह गुरुओं का भी गुरु है—वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा ईश्वर ही है।

योगदर्शन के अनुसार ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमात्मा है और संसार के सब जीवों से भिन्न तथा श्रेष्ठ है। जीव नाना प्रकार के क्लेशों को भोगता है। पूर्ववर्णित पाँच प्रकार के क्लेश जीव को अपने वश में हमेशा रखते हैं। जीव नाना प्रकार के कर्मों को करता है और इन कर्मों के फलों को वह भोगता है शोभन कर्मों के कारण वह सुख भोगता है और पाप कर्मों के करने से वह दुःख भोगता है। पूर्वजन्म में निहित संस्कारों (आशय) के द्वारा भी जीव प्रभावित होता है। पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—(१) बद्ध पुरुष, (२) मुक्त पुरुष तथा (३) प्रकृतिलीन पुरुष। इनमें बद्ध पुरुषों के स्वभाव का जो वर्णन अभी किया गया है उससे स्पष्ट है कि ईश्वर ऐसे पुरुषों से भिन्न होता है। वह मुक्त पुरुषों से भी भिन्न ही होता है। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में था, यद्यपि वह आज दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर चुका है। फलतः मुक्त पुरुष सर्वदा मुक्त नहीं कहा जा सकता। प्रकृतिलीन पुरुष की विशेषता यह है कि वह आगे चल कर अगले जन्म में बन्धन प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वर इन सबों से भिन्न है। वह ऐसा विशिष्ट पुरुष है जो क्लेश, कर्म-विपाक (कर्मों का फल) तथा आशय (संस्कार)—इन चारों से अपरामृष्ट अर्थात् अप्रभावित रहता है। वह नित्य मुक्त होता है और इसलिए पूर्वकाल के बन्धन-प्राप्त मुक्त पुरुषों से सदा भिन्न होता है। वह सर्वदा बन्धनरहित है, सदा

(ईश्वर का स्वरूप)

ईश्वर रहता है। वह किसी प्रकार के क्लेश के वश में नहीं रहता। कर्म तथा उनके फल उसे स्पर्श नहीं करते। वह अखण्ड ज्ञान का भाण्डार है। ऐश्वर्य तथा ज्ञान की जो अन्तिम कोटि या पर्यवसान है वही ईश्वर है, अर्थात् उसके समान ऐश्वर्य से युक्त और ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति जगत् में कोई नहीं है। इसलिए ईश्वर जगत् के जीवों से सर्वथा पृथक् है।

ईश्वर की सिद्धि

योग के आचार्यों ने ईश्वर की सिद्धि तथा सत्ता मानने के लिये कतिपय स्वतन्त्र प्रमाणों को प्रस्तुत किया है— (१) ईश्वर की सिद्धि में शब्द सर्वातिशायी प्रमाण है। श्रुति एवं शास्त्र एक स्वर से ईश्वर की सत्ता मानते हैं तथा उसकी प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते हैं। (२) न्यून और अधिक मात्रावाली वस्तुओं की अल्पतम कोटि के समान एक उच्चतम कोटि भी होती है। वस्तु का सबसे छोटा रूप है परमाणु और सबसे बड़ा है आकाश। इसी प्रकार ज्ञान की सबसे बड़ी मात्रा जहाँ रहती है वही ईश्वर है। जगत् में ज्ञान की धारा के प्रवाहित होने का वह मूल स्रोत है। प्रश्न यह है कि इस जगत् में ज्ञान आया कहाँ से? कहा जा सकता है कि किसी गुरु से। लेकिन उसे कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ? अपने गुरु से। इस प्रकार गुरु की जो अन्तिम कोटि है वही ईश्वर है। किसी ऋषि या मुनि को हम इस कोटि में नहीं रख सकते, क्योंकि वे किसी विशेष काल में होने वाले जीव हैं, परन्तु ईश्वर काल से अनवच्छिन्न है, असीमित तथा नित्य है। फलतः ज्ञान की परम निधि होने की योग्यता जिस व्यक्ति में है वही ईश्वर है। (३) प्रकृति-पुरुष के संयोजक तथा वियोजक रूप से ईश्वर की सिद्धि होती है। जड प्रकृति की सृष्टि के लिए पुरुष के साथ संयोग कौन कराता है? प्रलयकाल में इन दोनों का वियोग कौन करता है? वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर ही है जो प्रत्येक पुरुष के कर्मों को तथा अदृष्ट को जानता है और इसी के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष का संयोग घटित कराता है, जीवों की तथा जगत् की सृष्टि के लिए प्रकृति को प्रेरित करता है। साथ ही जीवों को अपने कर्मफलों को भोगने के लिए अग्रसर करता है। ऐसा कार्य करने वाला वही ईश्वर है। सांख्य के साथ अनेक सिद्धान्तों में साम्य रखने पर भी योग ईश्वर को मानता है और साधना तथा सिद्धान्त इन उभय दृष्टियों से अपने दर्शन में ईश्वर को उपयोगी बतलाता है।

ईश्वर की उपयोगिता

इस ईश्वर की उपयोगिता योगसाधन में नितान्त मौलिक है। ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि मानी जाती है।[१४] 'प्रणिधान' का अर्थ है—प्रकर्षेण

चित्तस्य निधानम्; चित्त का अतिशय रूप से एकत्र लगाना अथवा कर्म के फलों का समर्पण करना। अतः अनुरागपूर्वक चित्त को ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। इस प्रणिधान से क्लेश क्षीण हो जाते हैं। जो समाधि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा परिश्रम से साध्य होती है, उसका सम्पादन इस प्रणिधान से सुगमता से हो जाता है। अतः समाधि की सिद्धि का सरल साधन ईश्वर-प्रणिधान है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि करा देते हैं। इन सबसे बढ़कर योग में ईश्वर की एक विशिष्ट उपयोगिता यह है कि "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"—अर्थात् ईश्वर ही पूर्वकाल में होने वाले गुरुओं का भी गुरु माना गया है। अतः तारक ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर ही है। सांख्य तो मुक्त पुरुषों की परम्परा को ही ज्ञान का उपदेष्टा मानता है, परन्तु योग सब के प्राचीन मुक्त पुरुषों के गुरुरूप में ईश्वर को ही मानता है। अतः तारक ज्ञान का प्रदाता होने के कारण योगदर्शन में ईश्वर का मौलिक उपयोग है।

उपसंहार

योग का विषय इतना विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है कि उसका यथार्थ परिचय थोड़े में नहीं दिया जा सकता; तथापि अत्यन्त सक्षेप में पातञ्जलयोग का विवेचन ऊपर किया गया है। योग की उपयोगिता में किसी भी दार्शनिक की विमति नहीं है। योग भारतीयों की अपनी विशिष्ट सम्पत्ति है, जिसका इन्होंने विज्ञान की भाँति अनुशीलन किया है तथा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। वैदिक साहित्य में योगविद्या के महत्त्व का निदर्शन हमने आरम्भ में किया है। मोहनजो दड़ो की खुदाई में अनेक योगमुद्रावाली मूर्तियाँ मिली हैं। अतः योग की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है। काय और चित्त को मलों से निर्मुक्त कर पुरुष को आध्यात्मिक उन्नति में उपयोग करना 'योग' ने ही हमें सिखलाया है। योग व्यावहारिक ही है। इसकी तत्त्वमीमांसा सांख्य के समान है। अतः 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (ब्रह्मसूत्र २।१।२)—इस सूत्र के द्वारा बादरायण ने योग के सांख्यानुरूप सिद्धान्तों का खण्डन किया है; योगप्रक्रिया उन्हें भी नितान्त माननीय और मननीय है। इधर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि योग की ओर आकृष्ट हुई है, जिससे इसका विपुल प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी होने लगा है।

एकादश परिच्छेद

मीमांसा दर्शन

'मीमांसा' शब्द का अर्थ किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ वर्णन है। वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। यज्ञयागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है और जीव, जगत् तथा ईश्वर के रूप और परस्पर सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानकाण्ड का विषय है। इनमें आपाततः दिखाई पड़ने वाले विरोधों को दूर करने के लिए मीमांसा की प्रवृत्ति होती है। मीमांसा के दो प्रकार हैं—कर्ममीमांसा और ज्ञान-मीमांसा। कर्मविषयक विरोधों का परिहार करती है कर्ममीमांसा तथा ज्ञानविषयक विरोधों का परिहार करती है ज्ञानमीमांसा। कर्ममीमांसा तथा पूर्वमीमांसा के नाम से अभिहित दर्शन मीमांसा कहलाता है। ज्ञानमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा के नाम से प्रख्यात दर्शन वेदान्त' कहलाता है। 'मीमांसा' का मुख्य तात्पर्य समीक्षा है और यह तत्त्व पूर्णतया वैदिक है। संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि किसी वैदिक तथ्य के ऊपर सन्देह होने पर ऋषियों ने युक्तियों और तर्कों के सहारे उचित वस्तु का निर्णय किया था। 'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्' होम के विषय में कौषीतकि ब्राह्मण प्रश्न उठा कर उसके समीक्षक जनों को निर्देश करता है। 'मीमांसते' क्रियापद तथा 'मीमांसा' संज्ञापद—दोनों का प्रयोग ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में मिलता है। अतः मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में सिद्ध हो गई प्रतीत होती है।

कर्मकाण्ड के सिद्धान्त

दर्शन के ऊपर धर्म प्रतिष्ठित रहता है। वैदिक कर्मकाण्ड अपनी सत्ता और स्थिति के लिए कतिपय सिद्धान्तों को मान्यता देता है। आत्मा के अमरत्व की भावना ऐसी ही है। मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा विद्यमान रहता है और अपने किये गये शुभ कर्मों का फल स्वर्ग में भोगता है। कर्म के फलों को सुरक्षित रखने वाली शक्ति में विश्वास दूसरा मान्य सिद्धान्त है। किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित न होने से वेद अपौरुषेय माना जाता है। जगत् वस्तुतः

सत्य है—इस तथ्य में पूर्ण विश्वास तथा मानव-जीवन को मायिक न मान कर नितान्त सत्य—यथार्थ मानना ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके ऊपर कर्मकाण्ड का पूरा प्रासाद खड़ा है। वेद के प्रामाण्य के ऊपर चार्वाक, जैन तथा बौद्ध सदा से खड्गहस्त हैं—वे इसकी प्रामाणिकता कथमपि नहीं मानते। वेद को विरोधियों के प्रबल प्रहारों से बचाना मीमांसा का मुख्य कार्य रहा है। अपने सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए तथा उनकी प्रामाणिकता बतलाने के लिए मीमांसाने अपने लिए एक नवीन प्रमाणशास्त्र बना रखा है जो न्याय के प्रमाणशास्त्र से अनेक बातों में विलक्षण एवं स्वतन्त्र है। इसके प्रतिष्ठापक तथा व्याख्याता आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा है 'मीमांसा' का प्राचीन नाम 'न्याय' है। मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं—तर्क के द्वारा संदिग्ध विषय का निर्णय करने वाले दार्शनिक। मीमांसा का विषय धर्म का विवेचन है—

धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।

(श्लोकवार्तिक, श्लोक ११)

वेदके द्वारा विहित इष्ट साधन 'धर्म' हैं तथा तद् विपरीत अनिष्ट साधन 'अधर्म' है। इस विश्व में कर्म ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। कर्म करने से फल अवश्यमेव उत्पन्न होता है चाहे वह कर्म लौकिक हो या वैदिक। आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्म का फल-दाता मानते हैं, परन्तु आचार्य जैमिनि, जो मीमांसा दर्शन के आदि आचार्य हैं, कर्म को फलदाता मानते हैं—यज्ञ से ही तत्तद् फलों की उत्पत्ति होती है। अनुष्ठान और फल के समय में व्यवधान दृष्टिगोचर होता है। कर्म का अनुष्ठान आज हो रहा है, परन्तु तज्जन्य स्वर्गादि फल की प्राप्ति कालान्तर में सम्पन्न होती है। इस वैषम्य को दूर करने के लिए मीमांसा दर्शन में 'अपूर्व' नामक सिद्धान्त प्रतिपादित है। कर्म से उत्पन्न होता है अपूर्व (पुण्य और अपुण्य), और अपूर्व से उत्पन्न होता है फल। इस प्रकार अपूर्व ही कर्म और कर्मफल को बांधने वाली शृंखला है। वेद नित्य है और इसे सिद्ध करने के लिए मीमांसा ने अनेक युक्तियाँ दी हैं जो आज भी नवीन तथ्य प्रकट करती हैं।

कर्म तथा ज्ञान के विषय में कर्म मीमांसा और वेदान्त ने विभिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। वेदान्त के अनुसार कर्मत्याग के अनन्तर ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार होता है। कर्म से केवल चित्त-शुद्धि होती है। मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान के ही द्वारा होती है, परन्तु कर्म-मीमांसा के अनुसार 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि

जिजीविषेच्छतं समा' मन्त्रानुकूल मुमुक्षु जनों को भी कर्म करना चाहिए। वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान से कर्मबन्धन स्वतः समाप्त हो जाता है। अतः कर्म का अनुष्ठान अभीष्ट है कर्म का परित्याग नहीं। मीमांसा का यह परिनिष्ठित मत है। फलतः वैदिक दर्शन का मुख्य प्राण मीमांसा दर्शन है।

मीमांसा का इतिहास

मीमांसा दर्शन का इतिहास बड़ा ही विशाल है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसके तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं। इस दर्शन के इतिहास में कुमारिल भट्ट एक नवीन युग के उद्भावक माने जाते हैं। अतः उनको केन्द्र मान कर उनसे पूर्व युग को 'कुमारिलपूर्व' तथा उनके पश्चात् काल को 'कुमारिल पश्चात्' के नाम से पुकार सकते हैं।

जैमिनि (३०० वि पू०)—ये मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं परन्तु प्रवर्तक नहीं। इन्होंने मीमांसा के आठ आचार्यों के मत का उल्लेख किया है—आत्रेय, आलेखन, आश्मरथ्य, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण बादरि तथा लालुकायन। परन्तु इनके सूत्रों की उपलब्धि अभीतक नहीं हुई है। 'काशकृत्स्न' नामक आचार्य के मीमांसा ग्रन्थ का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है (४।१।१४) मीमांसादर्शन के १६ अध्याय हैं जिनमें प्रथम १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और अन्तिम ४ अध्याय 'संकर्षण काण्ड' या 'देवता काण्ड' के नाम से प्रख्यात हैं। इस दर्शन की सूत्र-संख्या २६४४ तथा अधिकरण संख्या ९०९ है। द्वादशलक्षणी का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—(१) अध्याय में धर्म पुराणों का निरूपण किया गया है; (२) शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकरणान्तर—६ कर्म भेद के प्रमाण वर्णित हैं; (३) श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, तथा समाख्या इन विनियोजक प्रमाणों तथा (४) श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, और प्रवृत्ति इन बोधक प्रमाणों का वर्णन है। (५) अध्याय में क्रम (कर्मों में आगे पीछे होने का निर्देश), (६) में अधिकरण, ७ तथा ८ में अतिदेश (एक कर्म की समानता पर अन्य कर्म का विनियोग), (९) में ऊह, (१०) में बाध, (११) में तन्त्र तथा (१२) में प्रसंग वर्णित है।

इसी द्वादशलक्षणी पर वृत्ति, भाष्य तथा वार्तिक का निर्माण कालान्तर में किया गया। सर्वाधिक प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष (१००–२०० ई०) हैं (शाबरभाष्य १।१।५ तथा शारीरकभाष्य ३।३।५३ में उल्लिखित) पूर्व तथा

उत्तर दोनों मीमांसाओं के ऊपर इनकी वृत्ति सुनी जाती है, परन्तु उपलब्ध नहीं है। भवदास उपवर्ष के पश्चात् तथा शबरस्वामी से पूर्ववर्ती वृत्तिकार हैं। प्रपञ्चहृदय के अनुसार भवदास ने उपवर्ष के समान १६ अध्यायों पर वृत्ति लिखी थी जो उपवर्ष वृत्ति का संक्षिप्त रूप बताया जाता है। वृत्तिकारों में ये ही दोनों प्रख्यात आचार्य हैं।

शबरस्वामी (२०० ई०) ने समस्त १२ अध्यायों पर भाष्य लिखकर इस दर्शन के गम्भीर तत्वों का विवरण प्रस्तुत किया। पाण्डित्य से ओत-प्रोत इस ग्रन्थ की तुलना शैली की रोचकता तथा विषय की विशदता के कारण पातञ्जलमहाभाष्य और शाङ्करभाष्य से की जाती है। इनके अनन्तर भर्तृमित्र ने वृत्ति लिखी जिसका नाम उम्बेक की तात्पर्यटीका के प्रमाण पर 'तत्वशुद्धि' था और जो कुमारिल की दृष्टि में चार्वाक मत का प्रचारक होने से मीमांसा के मूलतत्वों का विकृत विवरण देती थी। भर्तृमित्र का समय ३०० ई०–६०० ई० के बीच मानना उचित है। इनके मत का खण्डन कर आस्तिक मार्ग में मीमांसा को लाने का श्रेय कुमारिल भट्ट को ही है [२]।

भाट्ट मतके आचार्य

कुमारिल भट्ट (सप्तम शती) का नाम मीमांसा के इतिहास में मौलिक सूझ, विशद व्याख्या तथा अलौकिक प्रतिभा के कारण सदा स्मरणीय रहेगा। इन्होंने बौद्धों को परास्त,कर वैदिक धर्म की मर्यादा का संरक्षण किया। शाबरभाष्य पर वृत्तिरूप से इनके तीन ग्रन्थ प्रख्यात है—(१) कारिकाबद्ध विपुलकाय 'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय के प्रथम तर्कपाद का व्याख्यान); (२) गद्यात्मक तन्त्रवार्तिक (१।२ पाद से आरम्भ कर तृतीय अध्याय तक); (३) टुप्टीका (अन्तिम ६ अध्यायों पर टिप्पणी)। पाण्डित्य की दृष्टि से प्रथम दोनों वार्तिक असाधारण विद्वत्ता के परिचायक हैं जिनमें बौद्धों के सिद्धान्तों का मार्मिक खण्डन और वैदिक धर्म के तथ्यों का मार्मिक मण्डन है, समय सप्तम शती का अन्त (६५० ७२५ ई०)। कुमारिल के प्रधान शिष्य थे मण्डन मिश्र। प्रसिद्धि है कि शंकराचार्य के द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये तथा सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए। दोनों के सिद्धान्तगत मतभेद होने के कारण मण्डन तथा सुरेश्वर की एकता प्रमाणकोटि में नहीं मानी जाती। मण्डन मिश्र मैथिल ब्राह्मण थे तथा माहिष्मती (वर्तमान 'महिसी' ग्राम, जिला सहर्सा, बिहार) के निवासी थे।

उनके प्रख्यात ग्रन्थ हैं—(१) विधिविवेक (विधिविवेक अर्थ का विचार), (२) भावना-विवेक (आर्थी भावना की मीमांसा), (३) विभ्रम-विवेक (पञ्चविध भ्रान्तियों तथा ख्यातियों) की व्याख्या; (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसासूत्रों का कारिकाबद्ध संक्षेप); (५) 'स्फोट-सिद्धि' में वे स्फोट-सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं जिसका खण्डन उनके गुरु ने श्लोकवार्तिक में किया है; (६) ब्रह्मसिद्धि—अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण विवरण, जो अनेक तथ्यों में शंकर के अद्वैत से भिन्नता रखता है। कुमारिल के दूसरे शिष्य भट्ट उम्बेक (जो भवभूति से अभिन्न माने जाते हैं) ने दो ग्रन्थों का निर्माण किया—(क) तात्पर्य टीका (श्लोक वार्तिक की स्वल्पाक्षरा टीका)। यह स्फोटवाद तक है, शेष की पूर्ति जयमिश्र ने की जो कुमारिल के सुपुत्र बतलाये जाते हैं; (ख) भावनाविवेक की टीका मण्डन मिश्र के निर्दिष्ट ग्रन्थ पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान है। वाचस्पतिमिश्र ने पूर्वोक्त 'विधिविवेक' की टीका 'न्याय-कणिका' के नाम से तथा शाब्द बोध के विषय में 'तत्त्वबिन्दु' नामक प्रौढ यौलिक मीमांसाग्रन्थ का प्रणयन किया।

भाट्ट सम्प्रदाय

भाट्ट सम्प्रदाय कुमारिलभट्ट के द्वारा व्याख्यात मीमांसा सम्प्रदाय है। आज विपुल प्रसिद्धि तथा ग्रन्थ सम्पत्ति के कारण मीमांसादर्शन में सर्वाधिक विख्यात यही है। इसकी प्रख्याति के कारण तीन मुख्य आचार्य हैं—

(१) पार्थसारथि मिश्र—(लगभग १०५० ई०–११२५ ई०) निम्नांकित प्रकाण्ड ग्रन्थों के प्रणेता हैं—(क) न्यायरत्नाकर—श्लोक वार्तिक की टीका; (ख) तर्करत्न—टुप्टीका की व्याख्या; (ग) न्यायरत्नमाला—स्वतः प्रामाण्य, व्याप्ति आदि विषय-सप्तक का विवेचक स्वतन्त्र ग्रन्थ (रामानुजाचार्य १७ शती के 'नायकरत्न' व्याख्यान के साथ बड़ोदा से प्रकाशित) (घ) शास्त्रदीपिका—प्रमेय-बहुल ग्रन्थरत्न जिस पर रामकृष्ण भट्ट की 'युक्तिस्नेह-प्रपूरणी' तर्कपाद तक तथा सोमनाथ की 'मयूखमालिका' शेष अंश पर व्याख्यात टीका है। यज्ञात्मा के पुत्र पार्थसारथि मिथिला के निवासी माने जाते हैं। श्लोकवार्तिक पर 'काशिका' के प्रणेता सुचरित मिश्र तथा तन्त्रवार्तिक की टीका 'न्यायसुधा' के रचयिता सोमेश्वर भट्ट इनके समकालीन थे।

(२) माधवाचार्य—वेदभाष्य-कर्ता सायण के अग्रज माधव ने 'न्याय-माला विस्तर' नामक प्रौढ अधिकरण विवेचक-ग्रन्थ का प्रणयन किया

(१४ शती)। इनके समकालीन विशिष्टाद्वैत के आचार्य वेदान्तदेशिक ने मीमांसापादुका नाम्नी तर्कपाद की पद्यात्मक टीका तथा सेश्वर मीमांसा नामक दोनों मीमांसाओं का समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखकर प्रसिद्धि पाई है।

खण्डदेव मिश्र

भाट्टमत में नव्यमत' के उद्भावक होने के कारण इनकी विपुल ख्याति है। ये काशी में ही रहते थे। संन्यास लेने पर इनका नाम 'श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र' पड़ा। १७१४ वि० (१६५७ ई०) देवर्षि ब्राह्मणों के विषय में काशीस्थ पण्डितों ने जो व्यवस्थापत्र दिया था, उसमें इनके हस्ताक्षर हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट खण्डदेव के शिष्य थे। इनके साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार इनकी मृत्यु १७२२ वि० (= १६६५ ई०) में हुई। अतएव इनका कार्यकाल १६०० ई०–१६६५ ई० तक है। उच्च कोटि के पाण्डित्य से मण्डित इनके तीन मुख्य ग्रन्थ हैं—(क) भाट्टकौस्तुभ (मीमांसा सूत्रों की विस्तृत टीका), (ख) भाट्टदीपिका (अधिकरण प्रस्थान पर निर्मित मौलिक ग्रन्थ)। इस ग्रन्थ की तीन टीकायें उपलब्ध हैं—(क) प्रभावली (इनके साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट द्वारा रचित); (ख) भाट्ट चन्द्रिका (भास्करराम रचित); (ग) भाट्टचिन्तामणि (१७८० ई०–१८६० ई० तक विद्यमान वाञ्छेश्वर यज्वा कृत); (ग) भाट्टरहस्य (शाब्दबोध विषयक यह मौलिक ग्रन्थ मञ्जूषा और व्युत्पत्तिवाद के समान है)। खण्डदेव के विद्यागुरु विश्वेश्वरभट्ट (प्रसिद्ध नाम गागाभट्ट) ने 'भाट्टचिन्तामणि' में जैमिनीय सूत्रों पर टीका लिखी है तथा इनके समकालीन अप्पय दीक्षित ने सटीक 'विधिरसायन', 'उपक्रम पराक्रम', वादनक्षत्रावली तथा चित्रकूट की रचना की है। लोकप्रिय 'मीमांसान्याय-प्रकाश' (प्रसिद्ध नाम आपोदेवी) के कर्ता आपदेव तथा इसकी विस्तृत व्याख्या 'भाट्टालंकार' के प्रणेता उन्हीं के पुत्र अनन्तदेव खण्डदेव के ही समकालीन थे।

इनके अतिरिक्त नारायण (१६ श०) का 'मानमेयोदय', लौगाक्षिभास्कर का 'अर्थसंग्रह', शंकरभट्ट का 'मीमांसा बालप्रकाश' और 'विधि-रसायन-दूषण', प्रख्यात अन्नंभट्ट की सुबोधिनी (तन्त्रवार्तिक की टीका) तथा राणकोज्जीवनी (न्यायसुधाकी व्याख्या), रामेश्वरसूरि की सुबोधिनी (द्वादश लक्षणी की सुबोध टीका), कृष्णयज्वा की 'मीमांसा परिभाषा'— आदि उपयोगी और लोकप्रिय मीमांसाशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

गुरुमत के आचार्य

गुरुमत के संस्थापक प्रभाकर मिश्र के काल तथा व्यक्तित्व के विषय में आलोचकों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ तो इन्हें कुमारिल का शिष्य मानते हैं, परन्तु अन्य आलोचक इन्हें एक नवीन सम्प्रदाय के संस्थापक के रूपमें कुमारिल से प्राचीन मानते हैं। भाट्टमत तथा गुरुमत में सिद्धान्तगत अनेक मौलिक पार्थक्य हैं। इन्होंने शाबर भाष्य पर दो टीकायें लिखीं—(१) बृहती (दूसरा नाम 'निबन्धन') तथा (२) लघ्वी (अपर नाम 'विवरण)। इन दोनों में बृहती ही प्रकाशित है, लघ्वी अभी तक नहीं। इनकी व्याख्या सरल, सुबोध तथा भाष्यानुसारिणी हैं। कुमारिल की भाँति भाष्य की विषय आलोचना यहाँ नहीं है। गुरुमत की प्रतिष्ठा शालिकनाथ ने अपनी तीन पंचिकाओं के प्रणयन-द्वारा स्थापित की–(१) ऋजुविमला पंचिका–पूर्वोक्त बृहती की व्याख्या, (२) दीपशिखा पंचिका–लघ्वी की टीका; (३) प्रकरण-पञ्चिका—मौलिक प्रकरण ग्रन्थ। मिथिला या बंगाल के निवासी ये ग्रन्थकार प्रभाकर के साक्षात् शिष्य बतलाये जाते हैं। ये मण्डन मिश्र के 'विधि-विवेक' के पद्यों को उद्धृत करते हैं तथा वाचस्पति मिश्र-द्वारा इनकी 'ऋजु विमला' उद्धृत की गई है। फलतः इनका समय लगभग ६९० ई० से ७५० ई० तक समझना चाहिए।

भवनाथ (या भवदेव) ने शालिकनाथ के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए 'नयविवेक' का निर्माण किया जिसमें मीमांसा के अधिकरणों की व्याख्या है। वाचस्पति के मत का निर्देश करने से तथा आनन्दबोधाचार्य (११वीं शती) द्वारा 'शब्द-निर्णय दीपिका' में उद्धृत किये जाने से भवदेव का समय १०वीं शती में मानना उचित है। नयविवेक की चार टीकायें उपलब्ध हैं—(क) रन्तिदेव—विवेकतत्त्व, (ख) वरदराज—नयविवेकदीपिका; (ग) शंकरमिश्र—पञ्चिका तथा (घ) दामोदर—नयविवेकालङ्कार। गुरुमत के अन्य ग्रन्थों में नन्दीश्वर-रचित 'प्रभाकर विजय' तथा रामानुजाचार्य-रचित 'तन्त्ररहस्य' उल्लेखनीय हैं। पूर्व ग्रन्थ शालिकनाथ तथा भवनाथ (नायद्वयातसारेऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः श्लोक ३) का निर्देश करता है तथा सुदर्शनाचार्य (श्रीभाष्यके वृत्तिकार) के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। अतः इनका समय १२०० ई०-१३०० ई० के बीच में होना चाहिए। तन्त्ररहस्य लघुकाय होने पर भी गुरुमत के तथ्यों की जानकारी के लिए नितान्त उपयोगी ग्रन्थ है।

मुरारि मिश्र

'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' के लक्ष्यभूत मुरारि मिश्र को मीमांसा के तृतीय सम्प्रदाय का प्रवर्तक होने का अलौकिक गौरव प्राप्त है। मुरारि ने भवनाथ (१० शतक) के मत का खण्डन किया है तथा प्रख्यात गंगेश उपाध्याय और तदात्मज वर्धमान उपाध्याय द्वारा उद्धृत किये गये हैं। फलतः इनका समय १२वाँ शतक प्रतीत होता है। इनके ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं। इनका 'त्रिपादी नीतिनयन' मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पदों की अधिकरणमूलक व्याख्या है। कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने 'द्वादशलक्षणी' की समग्र व्याख्या लिखी या कतिपय अधिकरणों की ही। इनकी एकादश अध्याय के आदिम अधिकरण की व्याख्या प्रथम विकल्प की ओर संकेत करती है।

(२) मीमांसादर्शन की ज्ञानमीमांसा

अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। अज्ञात कहने से स्मृति और अनुवाद का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि इनका विषय पूर्वतः ज्ञात होता है। प्रमा के लिए पदार्थ को सत्य अर्थात् वास्तविक होना चाहिए जिससे भ्रम तथा संशय ज्ञान का निराकरण हो जाता है। प्रमा के करण को 'प्रमाण' कहते हैं। जिस ज्ञान में अज्ञातपूर्व वस्तु का अनुभव हो, जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो तथा दोषरहित हो, वही प्रमाण है।[४] भाट्टमत में प्रमाण छह प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अद्वैतवेदान्त को ये प्रमाण मान्य हैं; परन्तु प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान

इनकी कल्पना सामान्यतः न्यायदर्शन के अनुरूप है। मीमांसा वास्तववादी दर्शन है जिसकी दृष्टि में जगत् वास्तविक है, आभास नहीं है। मीमांसा प्रत्यक्ष के दोनों भेद मानती है और निर्विकल्पक ज्ञान को 'आलोचन ज्ञान' कहती है। सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशिष्टताओं का पता चलता है, वे पूर्वदशा में भी विद्यमान रहते हैं। न वैयाकरण निर्विकल्पक ज्ञान को मानते हैं और न बौद्ध सविकल्पक को। न्यायसम्मत षट् संनिकर्षों में दो ही संनिकर्ष होते हैं—संयोग और संयुक्त तादात्म्य। भाट्टमत

द्रव्यों के साथ जाति, गुण तथा कर्म का 'समवाय' न मानकर 'तादात्म्य' मानता है। फलतः घटत्व, घटरूप तथा घटकर्म के अनुभव में 'संयुक्ततादात्म्य' सम्बन्ध होता है। समवायवादी प्रभाकर संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय तीन ही सन्निकर्ष मानते हैं। भाट्टमत की अनुमान-प्रक्रिया नैयायिकों से कतिपय अंश में भिन्न है (विशेषतः हेत्वाभास के विषय में)। पञ्चावयव वाक्य के स्थान पर मीमांसा तथा वेदान्त तीन ही वाक्य मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त; अथवा दृष्टान्त, उपनय और निगमन[1]।

उपमान

मीमांसा के मत में उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है। न्याय भी यही मानता है, परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। मीमांसा के अनुसार उपमान-जन्य ज्ञान तब होता है जब किसी पहले देखी गई वस्तु के सदृश कोई पदार्थ देखने पर स्मृत पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है। 'मानमेयोदय' के शब्दों में दिखाई पड़ने वाली वस्तु के सादृश्य से स्मरण की गई वस्तु के सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उदाहरण से इसे समझिए। गाय को देखने वाला व्यक्ति जब जंगल में जाता है और उसी के समान नील गाय को देखता है, तब सादृश्य के कारण उसे गाय की स्मृति होती है और उसे यह ज्ञान होता है कि 'गाय नील गाय के समान है'। यही ज्ञान उपमिति कहलाता है।

यह ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है जिसका अन्तर अन्य प्रमाणों से स्पष्टतया प्रतीत होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य को धारण करने वाली वस्तु (गाय) ही जब उस समय दृष्टिगोचर नहीं होती, तब प्रत्यक्ष ही क्योंकर हो सकता है? जिस समय हमें गाय का ज्ञान पहले हुआ, उस समय नील गाय के साथ उसका सादृश्य कथमपि ज्ञात नहीं था। फलतः अन्य वस्तु के साथ सादृश्य का अनुभव न होने से यह 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण न तो यह अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के। इसीलिये उपमान सब प्रमाणों से अलग एक स्वतंत्र प्रमाण माना जाता है।

उपमान न्यायमत में इससे नितान्त भिन्न होता है। किसी आप्त पुरुष के मुख से किसी व्यक्ति ने यह कथन सुना कि 'गवय गाय के समान होता है'।

---

१. मानमेयोदय, पृ० ६७; वेदान्त परिभाषा, पृ० ९२।

यह वाक्य सुनकर वह व्यक्ति जंगल में जाता है और गाय की समानता रखने वाले एक जन्तु को देखता है, तब आप्त वाक्य के श्रवण होने पर 'यही गवय नामक जन्तु है' यह ज्ञान होता है, यही न्यायमत में उपमान है। मीमांसा को इसमें विशेष अरुचि है। उसकी दृष्टि में इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके अवयवों में अन्य प्रमाणों की सत्ता विद्यमान है। 'यह जन्तु गाय के समान है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। गाय के समान नील गाय है' यह ज्ञान आप्त वाक्य की स्मृति से उत्पन्न होता है। फलतः 'यह जन्तु नील गाय है'— यह ज्ञान अनुमान के द्वारा सिद्ध हो जाता है। इसके लिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है; नैयायिकों का यह प्रयास व्यर्थ है।

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना 'शाब्दी' प्रमा कहलाता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य की प्रमाणता तभी मानी जाती है, जब वह आप्त पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो। अपौरुषेय स्वयं श्रुति है। वाक्य दो प्रकार का और माना जाता है—किसी पदार्थ की सत्ता के प्रदर्शित करने वाले वाक्य को 'सिद्धार्थक वाक्य' कहते हैं, तथा किसी अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को 'विधायक वाक्य' कहते हैं, जो उपदेशक तथा अतिदेशक होने से द्विविध माना जाता है।

शब्द

वेदों में दोनों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। एक वाक्य वे हैं जो किसी वस्तु की सत्ता या स्थिति के बोधक होते हैं, जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। यह वाक्य ब्रह्म के स्वरूप का परिचायक है। अत एव यह 'सिद्धार्थक वाक्य' कहलावेगा। दूसरे प्रकार के वाक्य वे हैं जो किसी यज्ञ-याग, या विधि-अनुष्ठान का वर्णन करते हैं, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'—अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति यज्ञ करे। यह 'विधायक वाक्य' कहलाता है। मीमांसा का यह दृढ मत है कि वेद का तात्पर्य विधायक या विधि-वाक्यों में ही है, सिद्धार्थक वाक्यों में नहीं। दूसरे प्रकार के वाक्य भी अन्ततोगत्वा विधि की ओर ही श्रोताओं को प्रेरित करते हैं। इसी से उनका तात्पर्य होता है। ऊपर- ब्रह्म-बोधक वाक्य का तात्पर्य ब्रह्म के स्वरूप को बतलाने में नहीं, प्रत्युत ऐसे स्वरूप वाले ब्रह्म के जानने में ही है। मीमांसा की दृष्टि में वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान को 'धर्म' कहते हैं और वेद से जो भी वस्तु प्रतिपादित होती है वह कर्मरूप ही

होती है, ज्ञान रूप नहीं। ज्ञान का भी उपयोग इसी में है कि वह कर्म को प्रेरित करता है और उसे स्फूर्ति प्रदान करता है। फलत: हम मीमांसा शास्त्र को व्यवहारवाद (प्रैग्मेटिज़म) का एक विशिष्ट रूप मान सकते हैं क्योंकि यहाँ ज्ञान-बोधक वाक्यों का पर्यवसान विधिवाक्यों में ही माना गया है।

मीमांसा-दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। धर्म के लिए प्रमाणभूत वेद हैं। अतः मीमांसा ने वेद के स्वरूप तथा प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए बड़ी सबल युक्तियाँ दी हैं। बौद्धों और नैयायिकों के मतों का खण्डन मीमांसा करती है। वेद नित्य हैं तथा पुरुषनिर्मित न होने से अपौरुषेय हैं।

वेद की अपौरुषेयता

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय वाक्य जिसका कर्ता कोई न कोई व्यक्ति ही होता है। अपौरुषेय वाक्य, जो किसी के द्वारा निर्मित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं नित्य होता है। हमारे आपके वचन पौरुषेय वाक्य हैं, परन्तु वेद अपौरुषेय हैं। इसकी पोषक युक्तियाँ कुछ दी जाती है[1]—

(क) नैयायिक लोग वेद को ईश्वर की रचना मानते हैं और इसलिए वेद उनकी दृष्टि में 'पौरुषेय' ही होता है, परन्तु मीमांसा ईश्वर की सत्ता नहीं मानती फलतः ईश्वर के अभाव में उसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता।

(ख) वेद में किसी कर्ता का नाम नहीं पाया जाता। कतिपय मन्त्रों के ऋषियों के नाम अवश्य पाये जाते हैं, परन्तु वे उन मन्त्रों के द्रष्टा, साक्षात्-कर्ता नहीं होते। 'ऋषि' का अर्थ है 'द्रष्टा' देखने वाला, कर्ता नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें 'अपौरुषेय' मानना ही न्यायसंगत होगा।

(ग) वेद की नित्यता का सबसे पक्का प्रमाण है शब्द की अनित्यता और दार्शनिक दृष्टि से मीमांसकों का यह 'शब्द-नित्यतावाद' बड़े महत्त्व की कल्पना है।

वेदों की नित्यता का सर्वश्रेष्ठ साधक प्रमाण शब्दों की नित्यता है। कानों से सुनाई पड़ने वाली ध्वनि अनित्य है, वह केवल शब्द के स्वरूप की सूचिका है। शब्द स्वयं नित्य हैं। सबसे सबल तथा प्रसिद्ध युक्ति यह है कि उच्चारित ध्वनि ही यदि वास्तव में शब्द होती तो एक ही शब्द के दस बार उच्चारण करने पर

---

१. द्रष्टव्य मीमांसासूत्र १।१।२७-३२ तथा उसका शाबरभाष्य।

दस शब्दों का अनुभव होता, पर अनुभव होता है एक ही शब्द का। फलतः उच्चारण शब्द को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत उसके रूप का आविर्भाव करता है। अतः उच्चारण के ऊपर अवलम्बित न होने से शब्द है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक तथा नित्य है[५]। वेद नित्य शब्दसमूहात्मक हैं, अतः वे भी नित्य हैं। मीमांसा स्फोटवाद को नहीं मानती है[६]।

लौकिक ज्ञान के लिए आप्त पुरुष का कथन प्रमाण माना जा सकता है, पर धर्म का प्रतिपादन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। अतः धर्म के लिए वेदों की ही प्रामाणिकता सबसे अधिक है। वेद के विषय-

वेद का विषय-विभाग

विभाग का विवेचन मीमांसकों ने बड़े विस्तार तथा छानबीन के साथ किया है[१]। वेद के ५ प्रकार के विषय हैं—(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामधेय, (४) निषेध, और (५) अर्थवाद,। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे', इस प्रकार के प्रवर्तना गर्भित वाक्यों को 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थस्मारकों को 'मन्त्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम की 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को 'अर्थवाद' का नाम दिया गया है। इन पाँच विषयो के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधिवाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अंगभूत हैं, तथा पुरुषों को अनुष्ठान के लिए उत्सुक बनाकर विधिवाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। 'विधि' का विचार मीमांसा के लिए प्रधान विषय है। विधि चार प्रकार की होती है—कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली विधि 'उत्पत्ति-विधि' है; अंग तथा प्रधान अनुष्ठानों की सम्बन्ध बोधक विधि को 'विनियोग-विधि', कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व की विधि को 'अधिकार-विधि, तथा प्रयोग की शीघ्रता की बोधक विधि को 'प्रयोग-विधि' कहते हैं। विध्यर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट् प्रमाणों को मीमांसा स्वीकार करती है। उसके द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों का उपयोग हिन्दू स्मृतियों की व्याख्या करने में प्रधान रूप से किया जाता है।

अर्थापत्ति पञ्चम प्रमाण है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की सिद्धि जिस अर्थ के अभाव में न होती हो, उसे अर्थापत्ति कहते हैं, अर्थात् किसी अर्थ की अर्थान्तर के बिना अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना

---

१. देखिए अर्थसंग्रह, पृ० १० तथा मीमांसापरिभाषा, पृ० ९।

की जाती है वह अर्थापत्ति कहलाती है* । उदाहरण के लिए उस व्यक्ति की दशा पर विचार कीजिए जो दिन में बिलकुल उपवास करता है, परन्तु फिर भी मोटा होता जा रहा है । यहाँ उपवास करना तथा मोटा होना—इन दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट ही है । अतः इस विरोध को दूर करने के लिए 'यह रात में अवश्य भोजन करता होगा' इस अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है; क्योंकि बिना इसका आक्षेप किये पूर्वोक्त वाक्य की उक्ति सिद्ध नहीं हो सकती ।

अर्थापत्ति

दृष्ट अर्थ की व्याख्या के लिये ऐसे किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाती है जिसके बिना उस वस्तु की उपपत्ति ही नहीं हो सकती । अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान को न हम प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से ही जान सकते हैं । मोटे होने वाले व्यक्ति को भोजन करते हमने नहीं देखा, अतः उसे प्रत्यक्ष हम नहीं कह सकते । उसके रात के समय भोजन करने की बात किसी आप्त पुरुष के वचनों के द्वारा हमें ज्ञात नहीं हुई । अतः शब्द भी यहाँ ठीक नहीं । अनुमान के लिए ठीक व्याप्ति ही नहीं जमती । इसलिये इससे उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रमाणों के भीतर अन्तर्भूत नहीं हो सकता । अतएव मीमांसकों ने 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण माना है ।

दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है । वाक्यों के अर्थ समझने में भी 'अर्थापत्ति' सहायता करती है । जैसे किसी ने कहा 'काशी नगरी गंगाजी पर है', इस वाक्य का अर्थ ठीक नहीं जमता । इसलिए अर्थापत्ति के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि 'काशी नगरी गंगा जी के तट के ऊपर है ।' यहाँ 'गंगा पर' का अर्थ होता है 'गंगा के तट पर' और यह अर्थापत्ति के द्वारा होता है । प्रतिदिन के जीवन में अर्थापत्ति हमारी विशेष सहायता करती है । हम अपने मित्र से मिलने के लिये शाम को उनके घर जाते हैं; सबेरे उनसे भेंट हो चुकी है, वे भले चंगे हैं; इसका ज्ञान हमें पहले से है, परन्तु वे घर पर उस समय नहीं मिलते । फलतः हम अर्थापत्ति के द्वारा जानते हैं कि वे कहीं बाहर गये होंगे । अतः जीवित व्यक्ति का घर पर न मिलना तभी उत्पन्न हो सकता है जब उसके बाहर जाने की घटना की कल्पना की जाय । इसी प्रकार इसका बहुल उपयोग हमारे लिए है ।

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं—(१) दृष्टार्थापत्ति, जहाँ देखी गई किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त ।

(२) श्रुतार्थापत्ति—जहाँ किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अन्य शब्द की कल्पना होती है, जैसे 'पिधेहि' (बन्द करो) पद को सुनते ही 'द्वारं' (द्वार को) पद की कल्पना की जाती है।

ये पाँचों प्रमाण भाव पदार्थों की उपलब्धि के साधक हैं, पर अभाव की उपलब्धि के प्रमाण की भी आवश्यकता है। हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को बतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अतः अनुपलब्धि की स्वतन्त्र सत्ता है। यदि लेखनी होती तो अवश्य उपलब्ध होती, पर इस समय वह उपलब्ध नहीं हो रही है। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित कर रही है। साधारण अनुपलब्धि से किसी पदार्थ के अभाव का पता नहीं चलता, अन्यथा अन्धकार में अदृश्य तथा अनुपलभ्यमान वाटिका के वृक्षों का भी अभाव सिद्ध हो जाएगा। अतः यहाँ 'योग्यानुपलब्धि' का ग्रहण करना चाहिए। किसी पदार्थ के उपलब्धि-ज्ञान के समग्र साधन उपस्थित हैं, पर फिर भी उस पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है। इससे उसका अभाव सिद्ध होता है।

अनुपलब्धि

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि हम नेत्रों से घट को देख सकते हैं, घटाभाव को तो नहीं। घट के अभाव से हमारे नेत्र इन्द्रिय का कभी संयोग नहीं होता। इसलिए यह प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत अनुपलब्धि (अदर्शन) के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हमें होता है। यह अनुमान भी नहीं है अनुमान के लिए जिस उचित व्याप्ति की सत्ता होनी चाहिए वह यहाँ नहीं है। इसीलिए अनुपलब्धि को अनुमान से भिन्न मानना पड़ता है। आप्त वाक्य के न होने से यह शब्द भी नहीं है और सादृश्य ज्ञान न होने से उपमान भी नहीं है। फलतः यह है एक स्वतन्त्र प्रमाण। कुमारिल भट्ट के अनुयायी (भाट्ट मीमांसक) तथा अद्वैती वेदान्ती इसे प्रमाण मानते हैं, परन्तु प्रभाकर इसे नहीं मानते। उनका मत है कि अभाव जिस स्थान में रहता है तद्रूप ही होता है। घट का अभाव जिस स्थान पर, जिस अधिकरण में है (जैसे घर में) रहेगा वह अधिकरणरूप ही होता है। अतः प्रभाकर को दृष्टि में अभाव की सिद्धि के लिए एक नवीन प्रमाण मानने की आवश्यकता तनिक भी नहीं है।

इन ६ प्रमाणों के द्वारा लौकिक तथा शास्त्रीय प्रमेयों की सत्ता सप्रमाण सिद्ध की जा सकती है।

प्रमाण विचार

यह सर्वमान्य नियम है कि जब किसी ज्ञान के उदय के समय उसकी कारण-सामग्री निर्दोष हो, तब वह ज्ञान यथार्थ कहलाता है। दिन दोपहर के उजाले में हम अपने निर्विकार नेत्रों से देखते हैं कि टेबुल के ऊपर लाल रंग का कलम पड़ा है, तो यह यथार्थ ज्ञान कहलावेगा, क्योंकि इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाले कारणों में किसी प्रकार का दोष या त्रुटि नहीं है। दिन में पूरा प्रकाश है। नेत्रों में कोई विकार नहीं है और न कहीं अन्धकार का घेरा है कि आँख काम न करती हो। फलतः यह ज्ञान यथार्थ है। तब हम लिखने के लिए कलम लेने के वास्ते अपना हाथ बढ़ाते हैं और हाथ में हमारे लिखने की सहायता देने वाला कलम आ जाता है। अतः पहले था ज्ञान और अब हुई क्रिया। यहाँ ज्ञान तथा क्रिया में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। ज्ञान जो बतलाता है उसे क्रिया सत्य सिद्ध करती है। परन्तु यदि कारणसामग्री में दोष होता है, तब ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। पाण्डुरोग का रोगी शंख को भी पीला ही देखता है। यहाँ उसके नेत्र में विकार होने के कारण उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान यथार्थ नहीं माना जा सकता। इस वस्तुस्थिति से मीमांसक गण अपने सिद्धान्त पर पहुँचते हैं –(१) ज्ञान की प्रामाणिकता (ज्ञान की सत्यता) कहीं बाहर से नहीं आती, बल्कि वह ज्ञान की उत्पादक सामग्री के संग में स्वतः अपने आप ही उत्पन्न होती है। (२) ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान उसी समय होता है। उस ज्ञान की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती। संस्कृत के शब्दों में हम इन दोनों तथ्यों को सुगमता से व्यक्त कर सकते हैं—(१) प्रमाणं स्वतः उत्पद्यते, तथा (२) प्रमाणं स्वतः ज्ञायते (अर्थात् प्रमाण स्वतः उत्पन्न होता है और प्रमाण स्वतः जाना जाता है)।

इसी सिद्धान्त को स्वतःप्रामाण्यवाद के नाम से पुकारते हैं; मीमांसकों का यही विशिष्ट मत है।[१]

मीमांसक की दृष्टि में सत्य स्वतःप्रकाश्य होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। हमारी पहली दृष्टि यह होती है कि ज्ञान बिलकुल सच्चा है, परन्तु आगे विचार करने पर यदि उसकी साधक प्रणाली में या साधक पदार्थों में त्रुटि लक्षित होती है तो हमें बाध्य होकर अपना पूर्व निश्चय बदलना पड़ता है और यह मानना पड़ता है कि यह ज्ञान प्रमाण-कोटि में नहीं आता; यह सत्य नहीं है, यह यथार्थ नहीं है। इस प्रकार ज्ञान का

अप्रामाण्य (अप्रामाणिकता) अन्य प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है। अतः ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है। संक्षेप में मीमांसकों का यह मत है—ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है, परन्तु ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है।

न्याय की दृष्टि में प्रामाण्य परतः होता है। ज्ञान होने पर उसकी प्रामाणिकता हमें अन्य प्रमाणों से सिद्ध करनी पड़ती है। जब हम देखते हैं कि ज्ञान होने पर क्रिया की चरितार्थता होती है और हमारी प्रवृत्ति यथार्थ होती है, तब हम तर्क के द्वारा पूर्व ज्ञान को प्रमाण कोटि में मानते हैं और उसे ठीक जानते हैं। यही नैयायिका का मत है कि प्रामाण्य परतः होता है।

न्याय मत का खण्डन

इसमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि एक अनुमान को सिद्ध करने के लिए दूसरे अनुमान की आवश्यकता है और उस दूसरे के लिए तीसरे अनुमान की। इसी प्रकार हम बढ़ते चले जाते हैं, परन्तु इस अनुमान को प्रक्रिया का अन्त नहीं होता। इस प्रकार 'अनवस्था दोष' हमारे गले पतित हो जाता है। फलतः न्याय का सिद्धान्त मान्य नहीं। मीमांसकों का यही संक्षिप्त मत है।

भ्रमज्ञान

प्रभाकर-मत

भ्रमज्ञान के विषय में मीमांसकों के विशिष्ट मत हैं। प्रभाकर के मत में समस्त ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, परन्तु शुक्ति में रजत का, रस्सी में सर्प का भ्रम भी सर्वत्र परिचित है। इस विषय की मीमांसा प्रभाकर ने इस प्रकार की है—'इदं रजतम्' ऐसी भ्रान्ति की उपलब्धि में केवल 'इदमंश' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चक्षु 'इदं' पदार्थ के अस्तित्व की ही सूचना देकर विरत हो जाती है। 'रजत' अंश प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि वहाँ वह पदार्थ विद्यमान नहीं है। अन्यत्र देखे गये 'रजत' का केवल स्मरणमात्र हो जाता है। दोनों अपने अपने स्थानों पर सत्यरूप हैं, पर स्मृति के दोष होने से उपलभ्यमान 'इदं' पदार्थ तथा स्मरण किए गए 'रजत' पदार्थ के आपस में भेद का ज्ञान न होने से ही यह भ्रम उत्पन्न होता है, तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के ही भाँति इनके विषय—रजत तथा शुक्ति—में विवेक ग्रहण न होने के कारण भ्रमज्ञान होता है। शुक्ति तथा रजत का ज्ञान, दोनों ही अपने-अपने विषयों में यथार्थ हैं।[१०] परन्तु इस स्थान पर अनुभव होता है चमक का, और स्मरण होता है रजत का। इस गड़बड़ी के कारण ही यह भ्रान्ति है। प्रभाकर इसे 'विवेकाग्रह' (ज्ञान का अभाव) कहते हैं। इसो का नाम 'अख्याति' भी है।[११]

कुमारिल मत

कुमारिल तथा मुरारि मिश्र नैयायिकों के मत को मानते हैं। शुक्तिविषयक ज्ञान शुक्तित्वप्रकारक होता है और रजत-विषयक ज्ञान रजतत्वप्रकारक होता है। शुक्तित्व तथा रजतत्व दो धर्म हैं, जो शुक्ति और रजत में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं जिससे वे कथमपि पृथक् नहीं किये जा सकते; परन्तु शुक्ति में रजतज्ञान होने के अवसर पर शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान होता है, अर्थात् अन्य विषय (शुक्ति) में अन्य (रजतत्व) प्रकारक ज्ञान है।

भाट्टमत का तात्पर्य यह है कि जहाँ कोई ज्ञान होता है वहाँ उस ज्ञान की विशिष्टता का बोधक कोई न कोई धर्म भी रहता है। उसे 'प्रकारता' के नाम से न्यायशास्त्र पुकारता है। जैसे हमें चाँदी का ज्ञान होता है तब रजत के ज्ञान में 'रजतत्व' 'प्रकारता' है, अर्थात् रजत का ज्ञान रजतत्व-प्रकारक होता है। यही वस्तु स्थिति है। ऐसा ज्ञान यथार्थ कहलाता है। अब भ्रम के स्थल पर विचार कीजिए। शुक्ति (सीपी) में हम चमक देखकर कह बैठते हैं कि 'यह सीपी चाँदी है।' यहाँ असली चीज तो है शुक्ति, परन्तु हमें ज्ञान होता है चाँदी का। यही यहाँ भ्रान्ति है। इसका कारण यह है कि यहाँ शुक्ति का ज्ञान 'शुक्तितत्वप्रकारक' न होकर रजतत्वप्रकारक' होता है। ज्ञान तो होता है शुक्ति का, परन्तु प्रकारता है 'रजतत्व' की। इस प्रकार यह ज्ञान भिन्न रूप से हो रहा है। जिस रूप में (जिस प्रकार के रूप में) उसे होना चाहिए वह न होकर अन्य प्रकार के रूप में हो रहा है। इसीलिए इसका नाम अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति है, क्योंकि यहाँ अकार्य में कार्य का ज्ञान होने से यह ज्ञान वस्तुतः उलटा ही होता है।

दोनों मतों की तुलना करने पर दोनों के दृष्टिकोण में पार्थक्य स्पष्ट मालूम पड़ता है। प्रभाकर मीमांसक किसी ज्ञान में भ्रम की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते—भ्रम होता ही नहीं। स्मृति के प्रमोष के कारण (स्मरण-शक्ति में दोष होने के हेतु) यहाँ भेदज्ञान का अभाव रहता है (विवेकाग्रह)। फलतः सब भ्रान्ति के स्थान पर ज्ञान का अभाव मात्र रहता है, कोई भावात्मक वस्तु नहीं होती, जिसे हम 'भ्रम' नाम दे सकें परन्तु कुमारिल भ्रम की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि भ्रम विषयों को लेकर नहीं होता, बल्कि उनके संसर्ग को लेकर ही होता है। 'यह रज्जु सर्प है'—यहाँ उद्देश्य तथा विधेय दोनों ही पृथक् रूप से सत् पदार्थ हैं, परन्तु इन दोनों का उद्देश्य—विधेय-सम्बन्ध जोड़ना ही असत् है। अतः भ्रम संसर्ग को लेकर है, पदार्थों को लेकर नहीं, जो वस्तुतः सत्य पदार्थ हैं। रज्जु भी ठीक है, साँप भी सत्य है, परन्तु यहाँ तक

दोनों का सम्बन्ध ही असत्य है। यही भ्रम है। प्रभाकर का सिद्धान्त है अख्याति और कुमारिल का विपरीताख्याति, परन्तु दोनों की दृष्टि में सामान्य नियम यही है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है और इसी आधार पर हमारा लोकव्यवहार चलता है। कभी-कभी इस नियम के अपवाद भी होते हैं और वहीं भ्रम उत्पन्न होने की गुंजाइश रहती है।

(३) मीमांसा की तत्त्वसमीक्षा

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा प्रपञ्च की नित्यता स्वीकार करती है, पर पदार्थों की कल्पना में प्रभाकर, कुमारिल और मुरारि में मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्रभाकर आठ पदार्थों की सत्ता मानते हैं[1]—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें द्रव्य, गुण तथा कर्म के स्वरूप का वर्णन वैशेषिकों के समान ही है। सामान्य की सत्ता

(क) पदार्थ

व्यक्तियों से पृथक नहीं मानी जाती; वह व्यक्तियों में ही रहती है। 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय है। यह जाति तथा व्यक्ति के बीच विद्यमान सम्बन्ध है। यह नित्य नहीं हैं, क्योंकि यह अनित्य पदार्थों में भी रहता है। केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मों में कार्यजनकता नहीं है, शक्ति से सम्पन्न होने पर ही इनसे कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना युक्तियुक्त मानी जाती है। न्यायदृष्टि में शक्ति प्रतिबन्धका-भाव रूप है और सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत हैं।

कुमारिल के अनुसार पदार्थों की संख्या केवल पाँच ही है। पदार्थों के दो विभाग हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। वैशेषिकों के समान अभाव के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। भाव पदार्थों के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, तथा सामान्य। वैशेषिक मत में नौ ही द्रव्य हैं। भाट्ट मत में अन्धकार और शब्द दो नये द्रव्य माने जाते हैं[2]—'नीलरंग का अन्धकार प्रकाश आने पर चलता है, इस व्यवहार के ऊपर अन्धकार में नील गुण तथा चलन कर्म को विद्यमान मानकर उसे द्रव्य माना गया है, पर प्रभाकर तथा वैशेषिक लोग इसे प्रकाश का अभाव मानते हैं और इसके गुण तथा कर्म को उपाधिजन्य मानते हैं, वास्तविक नहीं। मीमांसा में गुण आदि के विभाग का वर्णन न्याय-वैशेषिक के ही समान होता है।

---

१. द्रष्टव्य तन्त्ररहस्य, पृ० २०-२४।

२. मानमेयोदय (अड्यार सं०) पृ० १५९।

मुरारि मिश्र की पदार्थ-कल्पना दोनों से भिन्न है। ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए अन्य भी चार पदार्थ हैं—(क) धर्मिविशेष—नियत आश्रय, जैसे घटत्व का आश्रय घट; (ख) धर्म विशेष—नियत आधेय, जैसे घट का घटत्व; (ग) आधार-विशेष—अनियत आधार, जसे 'इदानीं (इस समय का) घटः' 'तदानीं (उस समय के) घटः' में कालबोधक 'इदानीं' तथा 'तदानीं' पद घट के अनियत आधार हैं; (घ) प्रदेश-विशेष—दैशिक आधार, यथा 'गृहे घटः', 'भूतले घटः' में घट का गृह और भूतल देश-सम्बन्धी अनियत आधार हैं[१२]।

हमारी इन्द्रियाँ ही बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हैं। उनके द्वारा जगत् की जिस रूप से उपलब्धि होती है, उसी रूप में जगत् की सत्यता है[१३]।

(ख) जगत्

इस संसार में तीन प्रकार की वस्तु का ज्ञान हमें होता है—(१) शरीर, जिसमें रहकर आत्मा सुख दुःख का अनुभव करता है (भोगायतन); (२) इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का भोग किया करता है (भोगसाधन); (३) पदार्थ; जिनका भोग आत्मा किया करता है (भोगविषय)। इन तीन वस्तुओं से युक्त नानारूप यह संसार अनादि तथा अनन्त है। मीमांसा मूल जगत् की सृष्टि तथा प्रलय नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते हैं; जगत् की सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता। कुछ मीमांसक अणुवाद को स्वीकार करते हैं[१४]। जगत् के सब पदार्थ अणु से उत्पन्न हुए हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, तथा फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से मान कर परमाणुवाद को स्वीकार किया गया है, पर दोनों दर्शनों के परमाणुवाद में अनेक अंश में भेद दीख पड़ता है। न्याय परमाणुओं को हमारे लिए प्रत्यक्ष-सिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है। सूर्य-किरण के छिद्रगत होने पर जो सूक्ष्म द्रव्य दीख पड़ते हैं, वे त्रसरेणु कहलाते हैं और उनके छठे भाग को परमाणु माना जाता है, पर मीमांसको को यह मत अभीष्ट नहीं है। हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, इनसे भी सूक्ष्म कणों की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। न्याय उसे योगिप्रत्यक्ष का विषय मानता है, पर मीमांसा योगजप्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष से विलक्षण नहीं मानती। अतः हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, यही मीमांसा के मत का निष्कर्ष है। जगत् का यही मीमांसा सम्मत स्वरूप है[१५]।

इस प्रकार तत्त्वविचार की दृष्टि से मीमांसा दर्शन जगत् को सत्य मानता है और वेद के द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक अतीन्द्रिय विषयों की भी सत्ता मानता है। अतः वह वस्तुवादी ही नहीं; प्रत्युत 'अनेक वस्तुवादी' (प्लुरलिस्टिक) दर्शन है।

मीमांसा कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में एक नवीन दृष्टि का परिचय देती है। उसका कहना है कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त 'शक्ति' भी माननी चाहिए। बीज से अंकुर होते हैं—यह सत्य बात है, परन्तु यदि किसी कारण से बीज की शक्ति नष्ट हो जाय (उन्हें भून देने से), तो लाख परिश्रम करने पर भी उनसे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकते। जब तक यह शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है तभी तक बीज से अंकुर हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए बीज से अतिरिक्त 'शक्ति' को भी कारण की सहायता देने वाला पदार्थ मानना ही चाहिए। इस प्रकार शक्ति एक विशिष्ट पदार्थ है।

(ग) शक्ति

परन्तु न्याय का मत इसके विरुद्ध है। उसका कहना यह है कि कार्य की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब उसे रोकने या रुकावट डालने वाली वस्तुएँ नहीं रहती। उपादान कारण के होने पर भी कार्य तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक उसमें रुकावट डालने वाली वस्तुओं का नाश नहीं हो जाता। ऊपर के उदाहरण में केवल बीज से ही अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्युत उसके रोकने का (जसे भून देने का) भी अभाव होना ही चाहिए। कारण सामग्री में केवल उपादान वस्तु ही कारण नहीं होती, बल्कि उसको रोकने वाली वस्तुओं का अभाव भी कारण होता है। न्याय की भाषा में 'प्रतिबन्धकाभाव' भी कारण है। इस प्रकार न्याय 'शक्ति' को 'प्रतिबन्धकाभाव' के रूप में ग्रहण करता है। मीमांसा का कहना है कि जो कुछ भी हो, उपादान कारण से अतिरिक्त कोई न कोई वस्तु अवश्यमेव विद्यमान रहती है। यह नैयायिकों को भी सम्मत है। अतः उसे अभाव न मानकर भाव पदार्थ ही मानना श्रेयस्कर होगा। इसलिए भावरूप 'शक्ति' की कल्पना युक्तियुक्त है।

शक्ति' के मानने का मौलिक उपयोग मीमांसा मत में है। मीमांसा वैदिक काण्ड के अनुष्ठान का पक्षपाती है, परन्तु कर्म तथा कर्मफल में बहुत ही अधिक व्यवधान होता है। आज तो यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है और उसका स्वर्ग-रूपी फल बहुत वर्षों के अनन्तर होता है। इस व्यवधान की व्याख्या करने के लिए मीमांसा 'अपूर्व' नामक पदार्थ मानती है। 'अपूर्व' का अर्थ है कर्मों के

शुभ या अशुभ फल—पुण्य तथा पाप। कर्म के अनुष्ठान से यही अदृष्ट उत्पन्न हो जाता है और यही 'अपूर्व' कर्म के फलों को कालान्तर में उत्पन्न करने का साधन बनता है। इस प्रकार आज किये गये कर्म तथा कालान्तर में उत्पन्न होने वाले फल—इन दोनों के बीच में 'अपूर्व' वर्तमान रहता है, जो एक ओर कर्म से उत्पन्न होता है और दूसरी ओर कर्मफल का निष्पादक होता है। यह 'अपूर्व' भी 'शक्ति' जैसे स्वतन्त्र द्रव्य का ही कर्मकाण्ड के क्षेत्र में एक श्लाघनीय प्रतीक है। फलतः 'शक्ति' की कल्पना मीमांसा का एक मौलिक तत्त्व है।

आत्मा कर्ता तथा भोक्ता दोनों है। वह व्यापक और प्रति-शरीर में भिन्न है। ज्ञान, सुख, दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं।

(घ) आत्मा आत्मा ज्ञानसुखादिरूप नहीं है। न्याय-वैशेषिक मत के विपरीत भाट्ट मीमांसक आत्मा में क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—स्पन्द तथा परिणाम। इनके मतसे आत्मा में स्पन्द (स्थान-परिवर्तन) नहीं होता, पर परिणाम (रूप-परिवर्तन) होता है[१६]। कुमारिल परिणामी वस्तु की भी नित्यता मानते हैं। उनके मत से परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा में चित् तथा अचित् दो अंश होते हैं। इसमें चिदंश से आत्मा प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करने वाला है, पर अचिदंश से वह परिणाम को प्राप्त करता है। सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि, जिन्हें न्यायवैशेषिक आत्मा का विशेष गुण बतलाते हैं, भाट्टमत में आत्मा के अचिदंश के परिणाम-रूप हैं[१७]। वेदान्तियों के मत से विपरीत, कुमारिल आत्मा को चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते; प्रत्युत चैतन्यविशिष्ट मानते हैं। अनुकूल परिस्थिति में (शरीर तथा विषय से संयोग होने पर) आत्मा में चैतन्य का उदय होता है, स्वप्नावस्था में विषय से सम्पर्क न होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। आत्मा इस प्रकार जड तथा बोधात्मक दोनों प्रकार का है। प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता नहीं मानते।

आत्मज्ञान

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को लेकर मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में कतिपय तथ्यों के विषय में मतभेद है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इस 'आत्मा' का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है? भाट्ट मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक वस्तुज्ञान में आत्मा का ज्ञान नहीं होता; प्रत्युत 'आत्मसंवित्ति' में ही आत्मा का ज्ञान होता है। 'मैं अपने को जानता हूँ' इस ज्ञान में 'जानता हूँ' क्रिया का कर्म क्या है? 'अपने को' इस पद के द्वारा आत्मा के ज्ञान का ही संकेत होता है।

इस प्रकार कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का कर्म दोनों एक साथ ही मानते हैं, परन्तु प्रभाकर के मत में यह तथ्य यथार्थ नहीं है। उनके अनुसार 'आत्मसंवित्ति' की धारण ही ठीक नहीं; एक ही वस्तु एक साथ कर्ता तथा कर्म नहीं हो सकती। ऊपर के अनुभव वाक्य में 'आत्मा' 'जानता हूँ' क्रिया का कर्ता भी है और साथ ही साथ कर्म भी है, यह युक्ति-युक्ति नहीं है। प्रभाकर के मत में प्रत्येक वस्तुज्ञान मे उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान भी कर्ता के रूप में प्रकाशित होता है। 'मैं घड़े को जानता हूँ', 'मैं लेखनी से लिख रहा हूँ'—इन समग्र अनुभवों में क्रिया के कर्ता रूप में आत्मा ही आलोकित होता है। यही ज्ञान मेरा है और यह दूसरों के ज्ञान से भिन्न ही है। इस प्रकार का अन्तर हमें तभी ज्ञात होगा, जब हम यहाँ आत्मा के ज्ञान को भी सिद्ध मानें। निष्कर्ष यह है कि कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों मानते है, परन्तु प्रभाकर आत्मा को 'अहंप्रत्यय-वेद्य' (अर्थात् 'अहं' पद के द्वारा जाना गया) मानते हैं, अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के कर्ता रूप में आत्मा की सत्ता मानते हैं। प्रभाकर का खण्डन करते हुए कुमारिल कहते हैं कि शास्त्र तथा लोक-व्यवहार दोनों के अनुभव से हम यही जानते हैं कि आत्मा ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों ही होता है। शास्त्रीय वाक्य है—'आत्मानं विद्धि' (अपने को जानो) और लौकिक अनुभव है—'मैं अपने आप को जानता हूँ।' इन दोनों ज्ञानों में आत्मा ज्ञान का कर्ता भी है और साथ ही साथ विषय भी है। अतः प्रभाकर की युक्ति ठीक नहीं है। इस प्रकार 'आत्मसंवित्ति' के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है और यह पक्ष यथार्थ है।

(५) मीमांसक आचारमीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण दिया है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—'चोदना' के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना का अर्थ है—क्रिया का प्रवर्तक वचन, अर्थात् वेद का विधिवाक्य। चोदना[१]—भूत, भविष्य, वर्तमान सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बतलाने में जितना समर्थ है, उतना सामर्थ्य न तो इन्द्रियों में है और न किसी अन्य पदार्थ में। मीमांसकों की माननीय सम्मति में भगवती श्रुति का तात्पर्य क्रियापरक ही है। विधि का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है। अतः ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध का प्रतिपादन करने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। उन्हें सामान्यतः 'अर्थवाद' कहते हैं। इसीलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ 'धर्म' कहलाता है।

इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषों को निःश्रेयस की—दुःखों को निवृत्त करने वाले स्वर्ग की—उपलब्धि होती है; यथा 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे) इस वाक्य में 'यजेत' क्रियापद के द्वारा 'भावना'[१९] की उत्पत्ति मानी जाती है।

वेदविहित कर्मों के फलों के विषय में मीमांसकों में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। यह प्रसिद्धि है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है। प्राणियों की कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है, जब उससे किसी इष्ट, अभिलषित पदार्थ के सिद्ध होने का उन्हें ज्ञान होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान 'इष्टसाधनताज्ञान' कारण है, परन्तु प्रभाकर 'कार्यताज्ञान' को कारण अंगीकार करते हैं, अर्थात् वेदविहित कृत्यों का अनुष्ठान कर्तव्यबुद्ध्या करना चाहिये, उनसे न सुख पाने की आशा रखे, न अन्य किसी फल के पाने की चाह। कुमारिल का कथन है कि काम्य कर्म विशेष इच्छा की सिद्धि के लिये किये जाते हैं, पर प्रभाकर का मत है कि काम्य कर्म में कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है—वैसी कामना रखने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। इन दोनों का नित्यकर्म के विषय में मतपार्थक्य नितान्त स्फुट है। कुमारिल के मत में नित्यकर्म (यथा संध्यावन्दन आदि) के अनुष्ठान से दुरितक्षय (पाप का नाश) होता है, और अनुष्ठान के अभाव में प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होता है, परन्तु प्रभाकर की सम्मति में नित्यकर्मों का अनुष्ठान वेदविहित होने के कारण ही कर्तव्य है। वेद की अनुल्लंघनीय आज्ञा है कि दिन-प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए (अहरहः सन्ध्यामुपासीत)। इसी उद्देश्य से, कर्तव्य कर्म होने की दृष्टि से इन कृत्यों का संपादन करणीय है। अतः निष्काम-कर्मयोग की दृष्टि से कार्यों का निष्पादन प्रभाकर को माननीय है। इस सिद्धान्त पर श्रीमगवद्गीता के 'कर्मयोग' का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वेदप्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(क) काम्य—किसी कामना विशेष के लिए करणीय कार्य, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'; (ख) प्रतिषिद्ध—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध, जैसे 'कलञ्जं न भक्षयेत्' (विषदग्ध शस्त्र से मारे गये पशु का मांस नहीं खाना चाहिए); (ग) नित्य नैमित्तिक—अहेतुक करणीय कर्म, जैसे संन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है और अवसर विशेष पर अनुष्ठेय श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक। अनुष्ठान करते ही फल की निष्पत्ति सद्यः नहीं होती, प्रत्युत कालान्तर में होती है। अब प्रश्न यह है कि फल-काल में कर्म के अभाव में वह फलोत्पादक

किस प्रकार होता है ? मीमांसकों का कहना है कि 'अपूर्व' के द्वारा। प्रत्येक कर्म में 'अपूर्व' (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है[२०]। कर्म से होता है अपूर्व और अपूर्व से होता है फल। अतः 'अपूर्व' कर्म तथा फल के बीच की दशा का द्योतक है। शंकराचार्य ने इसी से अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है[२१]। 'अपूर्व' की कल्पना मीमांसकों की कर्मविषयक एक मौलिक कल्पना मानी जाती है।

कर्मकाण्ड के प्रति मीमांसकों की भावना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कर्ममीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कर्मों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण सम्पादन करे। यज्ञ यागादि में किसी देवताविशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य कर आहुति दी जाती है। वेद में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है, परन्तु मीमांसा के मत में देवता सम्प्रदानकारक सूचक पदमात्र है। इससे बढ़कर उनकी स्थिति नहीं है। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़ कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिए होम का विधान होता है। तब प्रश्न यह होता है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान किस लिए किया जाय ? सामान्य मत यह है कि किसी कामना की ही सिद्धि के लिए, परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान हमें करना चाहिए। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा दृष्ट वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित धर्म हमारे कल्याण के लिए है। अतः हमें चाहिए कि उसका अनुष्ठान बिना किसी प्रयोजन की सिद्धि के स्वयं करते चलें। इस प्रकार निष्काम कर्म के अनुष्ठान की शिक्षा देना मीमांसा के कर्तव्यशास्त्र का चरम उत्कर्ष है। जर्मन तत्त्वज्ञ कांट भी कर्तव्य के विषय में मीमांसा के मत के समान ही मत रखते हैं। इनका कहना है कि प्राणी को कर्तव्य का सम्पादन स्वार्थ बुद्धि से न कर निरपेक्ष बुद्धि से करना चाहिए। इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। जहाँ कांट के मत में कर्म के फलों का दाता ईश्वर है, वहाँ मीमांसक कर्म को ही फल देने की योग्यता से मण्डित मानता है। कांट की दृष्टि में ईश्वर ही मानव को कर्तव्य करने की ओर प्रेरित करता है, परन्तु मीमांसामत में कर्तव्य का मूल स्रोत अपौरुषेय वेद ही है। वही हमें निष्काम कर्म करने का आदेश देता है और हमें उसकी आज्ञा का पालन कर्तव्यबुद्धि से करना चाहिये।

देवता—मीमांसा दृष्टि में

वेद से विहित यागादि कर्म द्रव्य और देवता इन दो वस्तुओं से साध्य होते हैं। द्रव्य दधि आदि पदार्थ है और देवता शास्त्रैकसमाधिगम्य है। 'देवता' के

विषय में तीन पक्ष हैं—अर्थ देवता, शब्दविशिष्ट अर्थ देवता और शब्द देवता। इन तीनों में अन्तिम पक्ष ही सिद्धान्त है, क्योंकि अर्थका स्मरण शब्द के ही द्वारा होता है। शब्द की उपस्थिति प्रथम होने से शब्द ही देवता माना जाता है। यथा 'इन्द्राय स्वाहा', 'अग्नये स्वाहा' शब्दों में इन्द्राय और अग्नये ये चतुर्थ्यन्त पद ही देवता हैं। अर्थ को देवता मानने वाला व्यक्ति भी शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकता। फलतः 'शब्दमयी देवता' ही मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त है।

देवता का विग्रह मीमांसा मानती है। इस विषय में वह पांच वस्तुओं की सत्ता मानती है—

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥

देवता मनुष्यों के समान ही कर-चरण आदि अवयवों से युक्त होते हैं (विग्रह), हविष्य का वे भोग करते हैं, उनमें ऐश्वर्य का निवास रहता है तथा वे प्रसन्न होकर किये गये कर्म का फल प्रदान करते हैं। फलतः देवता विग्रहादिमान् होते हैं। मीमांसादर्शन के अनुसार 'शब्दमयी देवता' का सिद्धान्त सर्वथा मान्य है। परन्तु इस दर्शन के आचार्यों में इस विषय में मतविभेद दृष्टिगोचर होता है। शबरस्वामी देवता-विग्रह का खण्डन करते हैं जिसका अनुसरण पार्थसारथि तथा खण्डदेव जैसे मूर्धन्य मीमांसक करते हैं। कुमारिलभट्ट ने देवता को प्रधान न मानकर कर्म का अंग ही माना है तथा कर्म को फलदाता अंगीकार किया है। शबर का मत प्रौढिवाद माना जाता है। अत एव 'शब्दमयी देवता' —यही मीमांसा का सर्वापेक्षा विशिष्ट सिद्धान्त है।

वैदिक कर्मों का फल है स्वर्ग की प्राप्ति। निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है। 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य यज्ञ का सम्पादन स्वर्ग की कामना के लिए विधान करता है, परन्तु अन्य दर्शनों में मोक्ष ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है। फलतः यहां भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते हैं, परन्तु निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दुःखों से निवृत्ति पा लेता है; वह शरीरादि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और निरतिशय सुख की प्राप्ति करता है।

हमारे अचेतन कर्मों के फल का दाता कौन है ? बिना किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के कर्म स्वकीय फल उत्पन्न करने में नितरां असमर्थ हैं। अतः आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं। पर जैमिनि[1] के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं। प्राचीन मीमांसाग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं मानी जाती, पर पीछे के मीमांसकों को यह त्रुटि बेतरह खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार किया। आपदेव तथा लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वर-समर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यों के फल को ईश्वर को समर्पण कर देने की बात लिखी है।[२२] वेदान्तदेशिक ने उसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमांसा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। ईश्वर के विषय में प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मीमांसक लोग ईश्वर की सत्ता मानते हैं। वेदान्तमत में ईश्वर श्रुतिवाक्यों के द्वारा तथा न्यायमत में अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। 'प्रभाकर-विजय' के कर्ता ने ईश्वर के विषय में किये गये अनुमान का तो खण्डन किया है,[२३] परन्तु ईश्वर की सिद्धि को स्पष्टतः अंगीकार किया है। प्रभाकर भी उस ईश्वर को मानते हैं, जो श्रुतिमूलक वाक्यों के द्वारा प्रमाणित किया जाता है, अनुमानगम्य ईश्वर को नहीं। कर्मकाण्ड की उपादेयता मीमांसामत में इतनी अधिक मान्य है कि वह ईश्वर को मानने के लिए तैयार नहीं है। प्राचीन मीमांसा का मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है। पिछले मीमांसकों को यह बात खटकी और उन्होंने ईश्वर को कर्मफल के दाता के रूप में स्वीकार किया।

ईश्वर

मोक्ष

मोक्ष के महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में इस प्रकार है—प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः, इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत्-कारागार में डाल रखा है। आत्मा शरीरावच्छिन्न बन कर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों ने संसारशृङ्खला में जीव को जकड़ रखा है—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहते हैं।[२४] 'आत्यन्तिक' का अभिप्राय यह है कि

---

१. धर्मो जैमिनिरत एव—ब्रह्म-सूत्र ३।२।४०।

पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाता है, परन्तु बन्धन के उत्पादक धर्माधर्म के एकदम नाश हो जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं रहती।

मोक्ष-विषय में वेदान्त और मीमांसा का अन्तर नितान्त सुस्पष्ट है। मीमांसा 'प्रपञ्चसम्बन्ध विलय' को, परन्तु वेदान्त 'प्रपञ्चविलय' को ही मोक्ष स्वीकार करता है। स्वप्नप्रपञ्च के समान यह संसार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है,[२५] परन्तु वास्तववादी मीमांसा की दृष्टि इससे बिल्कुल भिन्न है। मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार अविद्यादशा में रहती है। केवल बन्ध का नाश हो जाता है। यही दोनों दशाओं का पार्थक्य है। प्रभाकरमत का मोक्ष भाट्ट मत से भिन्न है। प्रभाकर के मत में 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः'। बिना किसी बाहरी फल की कामना किये कर्तव्यबुद्धि से नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। अतः मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है, जिसमें क्रिया को छोड़ कर अन्य फल की आकांक्षा रहती ही नहीं।[1]

मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता।[२६] मीमांसा के मत में चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वरन् शरीर आदि के सम्पर्क में आने पर ही उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। मोक्ष दशा में आत्मा शरीरादिकों से विच्छिन्न हो जाता है। फलतः साधन के अभाव में सुख का अनुभव उस समय नहीं हो सकता। तब उस दशा के लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय? बात यह है कि इस दशा में सब दुःखों का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा सुख-दुःख से परे अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान हो जाता है। यही मुक्त दशा है, जो आनन्दमय न होने पर भी वांछनीय है।

मोक्ष का साधन

अब इस मोक्ष के साधन पर विचार करना चाहिये। काम्य और निषिद्ध कर्म बन्धनरूप होते हैं, परन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म इस दोष से रहित हैं। किसी कामना की सिद्धि के लिए किए गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फल उत्पन्न करेगा ही। अतः इससे निवृत्ति

१. प्रकरणपञ्चिका, पृ० १८०–१९०।

वाञ्छनीय है, परन्तु नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, परन्तु नित्य कर्मों में प्रवृत्ति रखनी चाहिए। मोक्ष की साधिका यही है। कर्म के साथ आत्म-ज्ञान उपेक्षणीय विषय नहीं है। कर्म प्रधान कारण है, परन्तु आत्मज्ञान सहकारी कारण है। अतः कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से मीमांसा ज्ञानकर्मसमुच्चय को मानती है। कुमारिल ने इसीलिए वेदान्त के अनुशीलन को उपादेय बतलाया है[२७]।

उपसंहार

इस दार्शनिक विवेचन के अनुशीलन से मीमांसा की दार्शनिकता में किसी प्रकार सन्देह नहीं रह जाता। मीमांसा का मुख्य अभिप्राय यज्ञ-यागादि वैदिक अनुष्ठानों की तात्त्विक विवेचना है, परन्तु इस विवेचन की उपपत्ति के लिए उसने जिन सिद्धान्तों को खोज निकाला है वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'शब्द' विषयक मीमांसा के सिद्धान्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी कम महत्त्वशाली नहीं हैं। कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' और प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शाब्दबोध के यथार्थ निरूपण के लिए नितान्त माननीय हैं। 'बालमनोविज्ञान' के समझने के लिए मीमांसा ग्रन्थों में मसाला भरा हुआ है। विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता करने की प्रक्रिया मीमांसा के ही द्वारा बतलाई गई है। अतः जिस प्रकार 'पद' का ज्ञान व्याकरण से और 'प्रमाण' का न्याय से होता है, उसी प्रकार 'वाक्य' का ज्ञान मीमांसा से होता है। इस विषय में मीमांसा ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है, जिसका उपयोग स्मृति ग्रन्थों का अर्थ निर्णय करने में किया जाता है। स्मृतियों का क्षेत्र विशाल है तथा उनमें नाना प्रकार के विरोध-सूचक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। देखने में ये विरोधी बड़े ही मार्मिक प्रतीत होते हैं, परन्तु मीमांसा की व्याख्या शैली के उपयोग करने पर इन विरोधों का परिहार भली भाँति किया जा सकता है। इसलिए स्मृति के मर्मज्ञान के लिए 'कर्ममीमांसा' का उपयोग अत्यधिक किया जाता है। अतः मीमांसा का अनुशीलन निःसन्देह वैदिक धर्म की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुमारिल का यह कथन यथार्थ है—

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'॥

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूडान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् है, जिनका वर्णन पहले किया गया है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है—उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए 'वेदान्त' (वेद का अन्त = सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय्य है[1]। परन्तु कालान्तर में औपनिषद सिद्धान्तों में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' का निर्माण किया। यह साढ़े पाँच सौ सूत्रों का स्वल्पकलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का आकर-ग्रन्थ है, जिसकी अपनी दृष्टि से विस्तृत व्याख्या कर पीछे के आचार्यों ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है, तथा विपुल यश अर्जन किया है। इन सूत्रों का उदयकाल प्राचीन है। भिक्षुओं अर्थात् संन्यासियों के लिए उपादेय होने के कारण इन सूत्रों को 'भिक्षुसूत्र' भी कहते हैं। पाणिनि ने जिन पाराशर्य (पराशरपुत्रनिर्मित) भिक्षुसूत्रों का नाम निर्देश किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास के द्वारा विरचित प्रकृत ब्रह्मसूत्रों से भिन्न प्रतीत नहीं होते। श्रीधरस्वामी की सम्मति में गीता भी 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३।४) पद्यांश में ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माणकाल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से उतर कर नहीं है। तर्कवाद (२।२) में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन उपलब्ध होने पर भी इस सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ये मत बुद्ध से भी अधिक प्राचीन हैं। असंग आदि ने नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर इनका व्यवस्थापनमात्र किया।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

संख्या	नाम		भाष्य-नाम	सिद्धान्त
१	शंकर	(७८८-८२० ई०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२	भास्कर	(१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज	(११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	मध्व	(१२३८)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क	(१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ	(१२७०)	शैवभाष्य	शैव-विशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति	(१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ	(१४७९-१५४४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु	(१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव	(१७२५)	गोविन्दभाष्य	अनित्यभेदाभेद

इन भाष्यों में सिद्धान्तों का ही फर्क नहीं है, बल्कि सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भी बड़ा अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों और अधिकरणों की संख्या क्रमशः ५५५ और १९१ है; रामानुजमत में ५४५ और १६०; माध्वमत में ५६४ और २२३; निम्बार्कमत में ५४९ और १६१; श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२ तथा वल्लभमत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है, जिसमें समग्र वेदान्तवाक्यों का साक्षात् या परम्परया प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिंगयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र विषयदृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन्हें 'चतुः-सूत्री' कहते हैं। द्वितीय पाद में अस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त उपास्य ब्रह्मविषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिङ्ग प्रायशः ज्ञेय-ब्रह्मविषयक वाक्यों का, चतुर्थ पाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद्गत पदों के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है, जिसमें, स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस

अध्याय के प्रथम पाद (स्मृति-पाद) में सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। द्वितीय पाद (तर्क-पाद) में सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों का युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। दोनों पादों में बादरायण ने अपनी तर्क-युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है वह विद्वानों के आदर का विषय है। तृतीय तथा चतुर्थ पादों में महाभूतसृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय-विषयक श्रुतियों का विरोध-परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है, जो वेदान्त-सम्मत साधनों का विधान करता है। परलोकगमन, तत्त्वपदार्थपरिशोधन, सगुणविद्यानिरूपण तथा निर्गुण-ब्रह्म-विद्या के बहिरङ्गसाधन (आश्रमधर्म, यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरङ्गसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है, जिसमें सगुण-निर्गुण विद्याओं के फलों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

ब्रह्मसूत्र के विषयों का यही संक्षिप्त प्रतिपादन है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन-कौन से थे ? इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन कार्य है। सूत्र इतने स्वल्पाक्षर हैं कि बिना किसी भाष्य की सहायता के उनका अर्थ लगाना दुष्कर है और साम्प्रदायिक भाष्यों में अर्थ की खींचातानी भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में बादरायण के मन्तव्यों का प्रकाशन एक विषम समस्या है जिसके हल करने का श्लाघनीय उद्योग डाक्टर घाटे ने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तक में किया है, जिसमें उन्होंने शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ की व्याख्याओं के तारतम्य का अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को खोज निकाला है। उनकी सम्मति में शंकराचार्य के अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। सूत्रकार के सिद्धान्त सम्भवतः इस प्रकार थे—विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है, जीव चैतन्यरूप है तथा ज्ञान इसका विशेषण या गुण भी है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में सूत्रकार परिणामवाद के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, विवर्तवाद के नहीं। "आत्म-कृतेः परिणामात्" (ब्र० सू० १।४।२६) में सूत्रकार ने 'परिणाम' शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है। सूत्रकार के ये मन्तव्य रामानुजादि चारों वैष्णव भाष्यकारों के सामान्य, समभावेन माननीय सिद्धान्त हैं। यदि किसी विशिष्ट सिद्धान्त की झलक सूत्रों में दीख पड़ती है, तो वह 'भेदाभेद' सिद्धान्त है। बादरायण के मत मध्यम कोटि के हैं।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण से भी पूर्व काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त-तत्त्व की मीमांसा की थी, परन्तु इन आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाम अकारादिक्रम से नीचे दिये जाते हैं।—

(१) आत्रेय—इनका नाम केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।४।४४ में) निर्दिष्ट है। यज्ञ में अङ्गाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा ऋत्विज् के द्वारा दोनों प्रकार से हो सकती है। यहाँ फल के विषय में सन्देह बना हुआ है। आत्रेय के मतानुसार कर्म का फल यजमान (यज्ञ स्वामी) को ही प्राप्त होता है, ऋत्विज् को नहीं।

(२) आश्मरथ्य—इनका निर्देश दो बार (ब्र० सू० १।२।२६;१।४।२०) मिलता है। उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापक ईश्वर को प्रादेश-मात्र (एक प्रदेश में टिकने वाला) कहा गया है, जिसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बतलाते हैं—परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए प्रदेशमात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि कोई भी सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उपलब्धि स्थानों (प्रदेशों) में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इस कारण भी वह प्रादेशमात्र कहा गया है। इनके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध है। ये भेदाभेदवादी थे। श्रुतिप्रकाशिका के कर्ता सुदर्शनाचार्य का कथन है कि इन्हीं के मत को परवर्ती-काल में यादव-प्रकाश ने पुष्ट किया है। मीमांसा (६।५।१६) में भी इनके नाम का निर्देश एक बार है।

(३) औडुलोमि—तीन बार निर्दिष्ट है (१।४।२१; ३।४।४५ तथा ४.४।६)। इनके मत में अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है, अर्थात् संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, पर मुक्तावस्था में दोनों में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का उपपादन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

(४) कार्ष्णाजिनि—ब्र० सू० (३।१।९) में एक बार तथा मीमांसा-सूत्र में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र में 'रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत निर्दिष्ट हुआ है।

(५) काशकृत्स्न—इनके मत में (ब्र० सू० १।४।२२) परमेश्वर ही इस संसार में जीव रूप से अवस्थित है, जीव परमात्मा का विकार नहीं है। आचार्य शंकर के शब्दों में इनका सिद्धान्त यह है—काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। यह मत श्रुत्यनुसारी होने से आचार्य को मान्य है।

(६) जैमिनि—इनका नाम ब्र० सू० में सबसे अधिक आता है—पूरे ११ बार। ये बादरायण के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। कर्ममीमांसा दर्शन की रचना इन्होंने ही की है। प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है।

(७) बादरि—इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र० सू० १।२ ३०; ३।१।११; ४।३।७; ४।४।१०)। उधर मीमांसा सूत्रों में भी इनका निर्देश उपलब्ध है। अनुमान किया जाता है कि इन्होंने इन दोनों मीमांसाओं पर सूत्र-ग्रन्थ लिखे थे। इनके मत ये हैं।—

(क) कर्मानुष्ठान के विषय में इनका विलक्षण मत यह था कि वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। जैमिनि ने इसका खण्डन कर शूद्र के अनुष्ठान का निषेध किया है।

(ख) ईश्वर को प्रादेशमात्र कहने की इनकी व्याख्या विचित्र है। हृदय में रहने के कारण मन प्रादेशमात्र कहा जाता है। ईश्वर का स्मरण ऐसा ही प्रादेशमात्र मन करता है। अतः ईश्वर के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है।

(ग) 'रमणीयचरणाः' में चरण का अर्थ कर्म ही है। अनुष्ठानवाचक चरण का प्रयोग कर्म के लिए होता है।

(घ) 'य एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) में ब्रह्म शब्द कार्य ब्रह्म का वाचक है। जैमिनि के मत में यह परब्रह्म का वाचक है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापक होने से वह गन्तव्य नहीं हो सकता।

(ङ) ईश्वर-भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता के विषय में बादरि कहते हैं कि सत्ता नहीं रहती, तभी तो मन से कामों को देखने का वर्णन छान्दोग्य करता है (८।१२।१५)।

(८) आचार्य-काश्यप—इनका भी कोई सूत्रग्रन्थ था, परन्तु ब्र० सू० में उल्लेख नहीं है। शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र में (तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्—सूत्र २९) किया है। इनका मत भेदवाद था।

शंकर-पूर्व वेदान्ताचार्य

शंकर से पूर्व के आचार्यों का उल्लेख स्वयं शंकराचार्य के ग्रन्थों में किया गया है। इनमें 'भर्तृ-प्रपञ्च' ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी इनका ग्रन्थ उपलब्ध था। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद कहा है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक-भाष्य में कहीं-कहीं 'औपनिषन्मन्य' कह कर इनका परिहास किया है। दार्शनिक दृष्टि में इनका मत द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। 'भर्तृमित्र' का प्रसंग न्याय-मञ्जरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आता है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के आचार्य रहे होंगे। इनके मीमांसा-ग्रन्थ का उल्लेख किया जा चुका है। 'भर्तृहरि' का नाम यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित है। भर्तृहरि वाक्यप्रदीपकार ही हैं, परन्तु इनका कोई वेदान्त ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। शब्दाद्वैत ही इनका प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। 'उपवर्ष' का नाम आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य (३।३।५३) में निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर उभय मीमांसाओं पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखा था। ब्रह्मसूत्र पर 'बोधायन' की एक वृत्ति थी जिसका उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में किया है। प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्त-वृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था। 'ब्रह्मनन्दी', 'टंक' और 'भारुचि' के नाम वेदान्ताचार्य के रूप से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं। 'द्रविडाचार्य' एक प्राचीन वेदान्ती थे, जिन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहत् भाष्य लिखा था। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने इनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है। शंकर के पहले 'सुन्दरपाण्ड्य' नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्त्तिका की रचना की थी। शंकराचार्य ने इनके वार्त्तिक-ग्रन्थ से तीन श्लोक उद्धृत किए हैं (१।१।४ ब्र० भा०)। ये शैव वेदान्ती थे। तन्त्रवार्त्तिक में इनके श्लोकों के उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर मीमांसा पर वार्त्तिक की रचना की थी। 'ब्रह्मदत्त' शंकराचार्य के पूर्वकाल में एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। सम्भव है ये सूत्र के भाष्यकार रहे हों। ब्रह्मदत्त के मत से जीव अनित्य है; एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं, अपितु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोगवाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इनके मत से किसी अवस्था में भी साधक के

कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। आश्मरथ्य के मत से इनका भेद इतना ही है कि वे भेदाभेदवादी हैं तथा ये अद्वैतवादी।

अद्वैत-वेदान्त का इतिहास

शंकराचार्य

ये अलौकिक मेधासम्पन्न पुरुष थे। इनकी अलौकिक विद्वत्ता, सर्वातिशायिनी शेमुषी, असाधारण तर्कपटुता देख कर किसी भी आलोचक का मस्तक गौरव से इनके सामने नत हुए बिना नहीं रहता। इनका जन्म ७८८ ई० (संवत् ८४५) तथा निर्वाण काल ८२० ई० माना जाता है। ३२ वर्ष को स्वल्प आयु में आचार्य ने वैदिक धर्म के उद्धार तथा प्रतिष्ठा का जो महनीय कार्य सम्पादन किया वह अद्वितीय है। इसीलिये ये भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। मालाबार प्रान्त के एक नम्बूद्री ब्राह्मण के घर जन्म लेकर इन्होंने काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया था। आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

प्रस्थानत्रयी के आद्य उपलब्ध भाष्यकार आप ही हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं—उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसहस्री आदि। इनकी रचनाशैली इतनी रोचक है, गम्भीर विषयों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम हैं। इनके परमगुरु 'गौडपादाचार्य' अद्वैत के प्रथम आचार्य हैं, जिनकी 'माण्डूक्यकारिका' अद्वैततत्त्व की आधारशिला के समान महनीय मानी जाती है। शंकरोत्तर युग के विख्यात आचार्यों के नाम ये हैं :—

(१) मण्डनमिश्र—शंकराचार्य के समकालीन अद्वैतप्रतिपादक आचार्य थे। इनके मीमांसा ग्रन्थों का निर्देश पहले किया गया है। इनकी 'स्फोटसिद्धि' स्फोटविषयक ग्रन्थ है। इनकी 'ब्रह्मसिद्धि' शंखपाणि की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। इसकी अन्य व्याख्यायें 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्सुख की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर)

की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन यह व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के 'शब्दाद्वयवाद' के समर्थक हैं। आचार्य के दो शिष्यों ने उनके ग्रन्थों पर व्याख्यायें लिखी हैं—(२) 'सुरेश्वराचार्य' आचार्य के उपनिषद्भाष्य पर वार्त्तिकों की रचना करने के कारण 'वार्त्तिककार' के नाम से विख्यात हैं। इनका बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक विपुलकाय, प्रौढ तथा पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक अथवा मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्त्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य के दूसरे शिष्य (३) 'पद्मपादाचार्य' ने शारीरकभाष्य की प्रथम वृत्ति 'पञ्चपादिका' नाम से लिखी, जिसमें चतुःसूत्री का ही विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त 'प्रपञ्चसारटीका' और विज्ञानदीपिका' पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। पञ्चपादिका' से ऊपर अवान्तर शताब्दियों में अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थ रचे गये। 'प्रकाशात्मयति' ने इसकी टीका 'विवरण' नाम से लिखी। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर 'विवरण-प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकायें हैं—(क) अखण्डानन्दमुनि कृत 'तत्त्वदीपन' और (ख) विद्यारण्य कृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह'। पञ्चपादिका की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं।

'सुरेश्वराचार्य' के शिष्य (४) सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेप-शारीरक' नामक एक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है, जिसपर नृसिंहाश्रम की तत्त्वबोधिनी, तथा मधुसूदनसरस्वती का 'सारसंग्रह' प्रसिद्ध है। (५) वाचस्पति की 'भामती' भाष्य पर एक भव्य टीका है, जो उनको सर्वतोगामिनी वैदुषी के नितान्त अनुरूप है। ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' अभी तक उपलब्ध नहीं है। भामती की अपनी विशेषता है, जिसके कारण उसकी पद्धति के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ 'भामतीप्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र के वेदान्त-सिद्धान्तों पर मण्डनमिश्र के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था; यह इन दोनों के ग्रन्थों की तुलना से प्रतीत होता है। अव्यक्तात्मा के शिष्य (६) 'विमुक्तात्मा' (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' बड़ोदा से हाल में ही प्रकाशित हुई है। वेदान्त के इस गौरवमय ग्रन्थ में 'अविद्या' के स्वरूप का विवेचन बड़े ऊहापोह के साथ किया गया है। नैषध-चरित के रचयिता (७) महाकवि 'श्रीहर्ष' असाधारण वेदान्ती थे, जिनका 'खण्डनखण्डखाद्य' आज भी पाण्डित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वत्तापूर्ण खण्डन मिलना दुष्कर है। शंकर मिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना इसके गौरव का परिचायक है। (८) 'अद्वैतानन्द' (१२ शतक) का

'ब्रह्मविद्याभरण' भाष्य का आभरण ही है। (६) 'आनन्दबोध (१२ शतक) का 'न्यायमकरंद' वेदान्त का माननीय ग्रन्थ है।

(१०) 'चित्सुखाचार्य' (१३ शतक) अपनी ही कृति 'तत्त्वदीपिका' (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) से विख्यात हो गये हैं। पर इनकी अन्य रचनायें— (१) शारीरकभाष्य पर भावप्रकाशिका, (२) ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्राय-प्रकाशिका, (३) नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका—कम महत्त्वशालिनी नहीं है। भामती पर 'कल्पतरु' तथा शास्त्रदर्पण के रचयिता (१२) 'अमलानन्द' (१३ शतक) चित्सुख के समकालीन थे। माधवाचार्य संन्यास लेकर शृंगेरी मठ पर अधिष्ठित होने पर (११) 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी 'पञ्चदशी' की लोकप्रियता का परिचय देना व्यर्थ है। यह वेदान्ततत्त्व-जिज्ञासुओं के गले का हार है। इसके अतिरिक्त विवरण-प्रमेय-संग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यक-वार्त्तिकसार आदि ग्रन्थ वेदान्त के सिद्धान्तों की जानकारी के लिये विशेष उपादेय हैं। गीता पर वेदान्ततत्त्वप्रतिपादक शंकरानन्दी टीका के रचयिता (१३) शंकरानन्द' और वैयासिक न्यायमाला के निर्माता 'भारतीतीर्थ' विद्यारण्य के गुरु थे। पञ्चदशशतक में (१४ 'आनन्दगिरि' ने शंकराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने के लिए उनपर टीकायें लिखीं। शारीरकभाष्य पर इनका 'न्याय-निर्णय' भाष्यार्थ को भली-भाँति समझाने में कृतकार्य है। इनके समकालीन (१५) 'प्रकाशानन्द यति' ने 'वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली' नामक 'एक-जीववाद' के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की और (१६) 'अखण्डानन्द' ने 'तत्त्वदीपन' में विवरण के गूढार्थ को भली-भाँति प्रकट किया।

(१७) 'मधुसूदन सरस्वती' (१६ शतक) काशी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' है, जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह वेदान्त-ग्रन्थों में खण्डन के समकक्ष माना जाता है। वेदान्तकल्प-लतिका, सिद्धान्तबिन्दु, गीता-टीका (मधुसूदनी) आज भी नितान्त लोकप्रिय हैं। अद्वैतसिद्धि पर अद्वैत-चन्द्रिका (लघु तथा गुरु) के रचयिता (१८) 'ब्रह्मानन्द सरस्वती' बंगाल के रहने वाले थे। अतः इनकी टीका 'गौड ब्रह्मानन्दी' के नाम से विख्यात है। (१९) नृसिंहाश्रम सरस्वती' मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ संन्यासियों में विशेष विख्यात हैं। वेदान्ततत्त्वविवेक, अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, विवरणटीका आदि उद्भट ग्रन्थ इनकी कीर्ति को स्थायी

रखने के लिए पर्याप्त हैं। इनके समकालीन (२०) 'अप्पय दीक्षित' वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही नहीं थे, प्रत्युत उच्च कोटि के साधक भी थे। श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' इनकी एक उच्च कोटि की कृति है। शांकरमत में 'कल्पतरु-परिमल' (अमलानन्दकृत 'कल्पतरु' व्याख्या की टीका) तथा 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' प्रख्यात ग्रन्थ हैं। 'सिद्धान्तलेश' अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है; प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। (२१) 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' (नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकटनाथ के शिष्य) की 'वेदान्त-परिभाषा' वेदान्त प्रमाणशास्त्र पर एक अनुपम ग्रन्थ है। तत्त्वचिन्तामणि की दशटीकाविभञ्जती अभिनवा टीका के निर्माता होने से इस ग्रन्थकार की तार्किक विद्वता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इसके पुत्र (२२) 'रामकृष्ण' ने परिभाषा को 'वेदान्तशिखामणि' टीका से विभूषित किया। (२३) 'सदानन्द' (१६ श) के 'वेदान्तसार' को सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्राइमर कह सकते हैं और यह इसी कारण लोकप्रिय है। (२४) 'गोविन्दानन्द' (१७ श०) की रत्नप्रभा शारीरिकभाष्य की सरल टीका है, जो काशी में लिखी गई। (२५) 'नारायणतीर्थ' तथा ब्रह्मानन्द' के मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' पर क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' नामक उपयोगी टीकायें लिखी हैं। कश्मीर के (२६) 'सदानन्द यति' इन्हीं ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनकी 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' विषय की व्यापकता तथा सुबोध शैली के कारण वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के आदरणीय आचार्यों का यही संक्षिप्त विवरण है।[1]

गौडपाद

अद्वैत वेदान्त का विकास जानने के लिए शंकर से पूर्व के दार्शनिकों का अध्ययन उपादेय है। इनमें सबसे मुख्य हैं गौडपाद, जो शंकर के गुरु गोविन्दपाद के गुरु माने जाते हैं। 'मायावाद' का आरम्भ गौडपाद से माना जाता है। इनका कीर्तिस्तम्भ 'माण्डूक्यकारिका' है, जो उपनिषदों के अनन्तर अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है। 'उत्तरगीता' का भाष्य भी आप की ही कृति है। कारिकाओं की रचना बड़ी ही उदात्त तथा मर्मस्पर्शिणी है।

---

१. द्रष्टव्य म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज की ब्रह्मसूत्र के भाष्यानुवाद की भूमिका तथा स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती का वेदान्तेर इतिहास (२ भाग-बंगला)।

इसमें चार प्रकरण हैं जिनमें कुल मिलाकर २१५ कारिकायें हैं। इन प्रकरणों के नाम हैं—(१) आगम प्रकरण, (२) वैतथ्य-प्रकरण, (३) अद्वैत प्रकरण, तथा (४) अलातशान्ति प्रकरण।

(क) आगम प्रकरण में मूल माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है, जिसमें अ, उ, म, के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से भिन्न तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक्, परन्तु इनमें अनुगत परमात्मतत्त्व, अनुष्ठान तथा साक्षीरूप से और ओंकार के चतुर्थ-पाद अमात्र 'तुरीय' नाम से वर्णित किया गया है।

(ख) वैतथ्य (मिथ्यात्व) प्रकरण में युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से प्रपञ्च का मायामयत्व सिद्ध किया गया है। जाग्रत जगत् भी स्वप्न के अनुरूप ही एकदम मिथ्या है। आत्मा ही एक नित्य पदार्थ है, परन्तु उसी में तरह-तरह के भावों की कल्पना होकर इस प्रपञ्च का उदय होता है। इस विकल्प का मूल 'माया' है। यह समस्त मायाकल्पित जगत् स्वप्न तथा गंधर्वनगर के समान असत्य है। तब परमार्थ का लक्षण क्या है? आचार्य का कहना है—

ब्रह्म का न तो कभी नाश होता है और न उदय; न वह कभी बन्धन में आता है, न वह मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। उत्पत्ति और नाश; बन्धन तथा मुक्ति—ये सापेक्ष भावनाएँ हैं। ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। उस एक अखण्ड चिद्घन वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता नहीं है।

(ग) अद्वैतप्रकरण में आचार्य ने अनेक दृढ युक्तियों के आधार पर अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि की है। आत्मा में सुख-दुःख की भावना करना नितान्त असंगत है। बालक लोग धूलि तथा धूम के संसर्ग से आकाश को मलिन बतलाते हैं; परन्तु आकाश वास्तव में कभी मलिन नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा को भी सुख-दुःखादि भावों के संसर्ग से मलिन तथा दुखी-सुखी मानना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है; आत्मा तो स्वतः असंग ठहरा। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ मर्त्य होता है, न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अतः अमृत आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्व धर्म का दोष आने लगेगा। अतः आत्मा की उत्पत्ति—जाति—नहीं होती। यही है गौडपाद का विख्यात 'अजातिवाद' का सिद्धान्त।

(घ) चतुर्थ प्रकरण का नाम 'अलाति-शान्ति' है। अलात का अर्थ होता है। 'मशाल'। मशाल के घुमाये जाने पर गोल आकृति की उत्पत्ति भ्रमण-

अन्य व्यापार से होती है। उसी प्रकार जगत् का यह रूप मायाकल्पित है। मन के व्यापार होने से ही उनकी सत्ता है, मन के निरोध होते ही उनका अभाव हो जाता है। अतः मन के अमनीभाव होते ही प्रपञ्च का विलय हो जाता है। प्रपञ्च की उत्पत्ति तथा लय, प्रतीति तथा अप्रतीति दोनों भ्रान्तिजनित हैं। वस्तुतः एक ही परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है। इस प्रकरण की भाषा, परिभाषिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन वेदान्त के रूप में किया है, परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण शब्द रहे हों, जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के लिए भी न्याय्य था। केवल शब्दसाम्य के आधार पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना करना उतना उचित नहीं है। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्ध धर्म के तत्त्वों का प्रचार करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं[1]।

(२) वेदान्त तत्त्वमीमांसा

अद्वैत वेदान्त का मूल मन्त्र है परमार्थ सत्ता-रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भली-भाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है—आत्मज्ञान की स्वयंसिद्धि।

आत्मा की स्वयंसिद्धता

जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है; अनुभव के ही आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर से आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है[2]।

---

१. दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४२३–४२९ तथा उसके उत्तर के लिए देखिये, स्वामी निखिलानन्द कृत माण्डूक्यकारिका का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० १५–३०)।

शंकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता; निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आनेवाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? अन्यथाभाव (परिवर्तन) ज्ञातव्य में सम्भव है, ज्ञाता में नहीं। 'वर्तमान को इस समय जानता हूँ', 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा'—इस अनुभवपरम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वथा अपने स्वरूप से विद्यमान रहता है। आचार्य ने भी अन्यत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है; ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा न होता, तो सब किसी को अपने न रहने में विश्वास होता; परन्तु ऐसा तो कभी होता ही नहीं। अतः आत्मा की स्वतःसिद्धि माननी ही पड़ती है।[२]

अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि जो सब किसी को जानने वाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जाय[३]? अतः आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध होती है।

आत्मा ज्ञानरूप

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है, परन्तु ज्ञेय के न रहने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है, परन्तु उसके अभाव में आत्मा की सर्वदा ज्ञानरूपेण स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है)। इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु है। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मानकर इसी सिद्धान्त को अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्यभेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तः-

करणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है, जो विषय-सान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तु के अभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है। निष्कर्ष यह है कि रामानुज के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) धर्मीभूत ज्ञान, जो कर्तारूप ज्ञान होता है; (२) धर्मभूत ज्ञान, जो कर्म या विषय रूप में विद्यमान होता है। ज्ञान भी नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। 'मैं इस लेखनी को जानता हूँ'—यहाँ लेखनी के साथ हमारे अन्तःकरण का सम्बन्ध होने पर वह लेखनी का रूप धारण कर लेती है। इसे वृत्ति' कहते हैं। लेखनी का यह ज्ञान वृत्तिजन्य ज्ञान कहलायेगा और अनित्य है। लेखनी जब तक विद्यमान है तब तक ज्ञान है; लेखनी के हटाते ही ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। इसीलिए वृत्तिजन्य ज्ञान अनित्य होता है, परन्तु इससे भिन्न नित्य ज्ञान होता है, जो वास्तव ज्ञान है और वह एक ही रूप से सर्वदा रहता है। आत्मा का ज्ञान इसी कोटि का होता है। कर्तारूप ज्ञान सदा नित्य होता है, जब कि वृत्ति-जन्य ज्ञान अनित्य होता है।

दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि अनित्य है, क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है, पर रोग के दूर होने पर उत्पन्न हो जाती है; परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति भी आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है, लोक में भी आत्मा की दृष्टि नित्य मानी जाती है, क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो, वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा। बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता है। अतः आत्मा की दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है। नित्य आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने में संशय उठाने की कोई गुञ्जाइश नहीं है[४]।

आत्मा की अद्वैत सिद्धि

प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश होते हैं—अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेय पदार्थ। वास्तववादी की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथग्भूत स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिकी है—व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अवसर पर आचार्य कहते हैं[५]—'ज्ञप्ति आत्मा का स्वरूप है, तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द-स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्म-विज्ञान के विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा प्राप्त होती हैं।' अतः जगत् की समस्त वस्तुएँ आत्मविज्ञान के द्वारा प्राप्त होकर

उत्पन्न होती हैं। नामरूप से विकार प्राप्त होने वाले पदार्थ अन्तर्निविष्ट कारण-शक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है, उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मस्वरूप का परित्याग नहीं करती, अर्थात् कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वथा और सर्वदा अनुस्यूत रहती है। क्या कार्यरूप घट अपने कारण भूत मृत्तिका का परित्याग कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं हैं, अपितु स्थितिकाल में भी वे सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं[६]। जगत् की कलाएं उत्पत्ति, स्थिति तथा लय दशाओं में सर्वदा चैतन्य से अव्यतिरिक्त—अपृथग्भूत ही रहती हैं। चैतन्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से स्थित रहते हैं[७]। इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से प्रविभक्त भूत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो आत्मा से पृथक् या भिन्न हो[८]। नामरूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्यरूप में झलक रहा है। अतः प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही—विषयी या विषयरूप से, कर्ता या कर्म रूप से–एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है; विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देश काल की उपाधि द्वैत सत्ता को सिद्ध करती है। 'यहाँ'–'वहाँ' का भेद देशजन्य है। भूत, वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देश-काल की कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित सी करती है, परन्तु आपाततः ही। थोड़ा भी विचार करने से प्रतीत होता है कि देश-काल अद्वैत-सिद्धान्त के व्याघातक नहीं है। घर की दीवाल उसे बाह्य वस्तुओं से पृथक् करती सी प्रतीत होती है, परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है; क्योंकि ज्ञानरूप से आत्मा के अवभासित किये जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है; तब वस्तुओं का व्यवच्छेद क्योंकर हो सकता है? विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मा रूप है, तब आत्मस्वरूप दिक् आत्मचैतन्य से अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक् कैसे कर सकता है? पूर्व, पश्चिम आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की एकता में किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आत्मा की एकता बनी रहती है।

इसी प्रकार काल से उत्पन्न भेद भी काल्पनिक है। 'आज', 'कल' आदि का भेद काल की उपाधि से ही उत्पन्न होता है, वस्तुतः काल एक ही है और वह

भी आत्मा से भिन्न नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने इस सृष्टि को देश और काल की विचित्रता से चित्रीकृत कहा है और देशकाल को माया की कल्पना माना है, अर्थात् देश और काल से होने वाले भेद केवल काल्पनिक होते हैं, वास्तव नहीं। इस प्रकार इस जगत् में एक ही अखण्ड सत्ता विद्यमान है। जो उस सत्ता को जानता है वह सच्चा तत्वज्ञानी होता है। जगत् में नाना या अनेकता देखना मृत्युरूप है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि वह मृत्युको प्राप्त होता है जो इस संसार में भिन्नता को देखता है। एकता का दर्शन अमरत्व है और अनेकता का ज्ञान मृत्यु। उपनिषद् के इन वचनों का तात्पर्य सत्ता की अद्वैतधारणा पर ही आश्रित तथा अवलम्बित है।

ब्रह्मविचार

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—स्वरूप लक्षण और (२) तटस्थ-लक्षण। स्वरूप लक्षण पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसको देखिये। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर आता है, जहाँ वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन कृत्यों को कर प्रजा का अनुरञ्जन करता है, परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप का निर्णय करने के लिये उसे राजा बतलाना क्या उचित है? राजा है वह अवश्य, परन्तु कब तक? जब तक नाटक का व्यापार चलता रहता है; नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ लक्षण' हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप लक्षण' हुआ[९]।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका 'तटस्थ' लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[१०] (तैत्ति० उप० २।१।१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) ब्रह्म के स्वरूपप्रतिपादक लक्षण हैं। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्द रूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' है; परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं—सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही हैं, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से

दो रूपों में गृहीत किये जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। 'ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के लिए करता है। ईश्वर जगत् का स्वामी तथा नियन्ता है। इसीलिए जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही है सगुण ब्रह्म या ईश्वर। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से ही की गई है।

सगुण ब्रह्म

परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत—इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के मत में ब्रह्म में 'स्वगत' भेद रहता है। ब्रह्म में दो अंश होते हैं—चित् अंश तथा अचित् अंश और ये आपस में विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में एक अंश दूसरे अंश से भिन्न होता है और स्वगत भेद की सिद्धि करता है। शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं—विश्व तथा विश्वातीत। विश्वग रूप में वह गुण सम्पन्न माना जा सकता है, परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय है; क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वह 'निर्गुण' है।

निर्गुण ब्रह्म

उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति नेति' शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? प्रत्येक विधेय उद्देश्य के क्षेत्र को सीमित करता है—वह उसका स्वभाव होता है। 'यह लेखनी लाल है'—इस वाक्य में 'लाल' यह विधेय उद्देश्य (लेखनी) के क्षेत्र को वस्तुतः सीमित करता है। अर्थात् 'लाल' से पृथक् क्षेत्र में 'लेखनी' का कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। ब्रह्म के विषय में हम किसी विधेय का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से वह सीमित तथा परिमित बन जायगा; वह ठहरा वस्तुतः अपरिमित सत्ता। इस प्रकार उसमें कोई गुण नहीं रहता। न यह गुण वहाँ है, और न वह गुण। इस प्रकार सब गुणों के निषेध करने से जो तत्त्व बच जाता है वही है ब्रह्म। इस प्रकार जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति 'नेति नेति' शब्दों का व्यवहार करती है वह ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही है। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है।

सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक ही सत्ता है परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण वह इन दोनों नामों से पुकारा जाता है। नाट्यशाला में रंगमंच के ऊपर दुष्यन्त की भूमिका में उतरने वाला नट नाट्यशाला के बाहर जाते समय वह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बन जाता; रहता है वह वही मनुष्य ही, परन्तु नाट्य की दृष्टि से वह नट कहलाता है; वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह मनुष्य ही रहता है। ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है। वह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय करता है। अतः संसार की अपेक्षा वह ईश्वर है परन्तु निरपेक्ष भाव से देखने पर वही ब्रह्म है। अतः सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक है। निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक परमार्थिक सत्ता है, परन्तु व्यवहार के लिए, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है। तत्त्व एक ही है, दृष्टि भिन्न-भिन्न हैं और इसीलिए उसके दो रूप हैं। एकबारगी हम अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुंच सकते। ज्ञान के मन्दिर में चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं, जिनके द्वारा ही साधक उसमें पहुंच सकता है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है, परन्तु उसे अभ्रान्त ज्ञानी ही पा सकता है। उसके सोपान रूप हैं उपासना और इसके लिए 'ईश्वर' की महती आवश्यकता है। ईश्वर की उपासना से—सगुण ब्रह्म के भजन-पूजन से—चित्त की शुद्धि होती है। और तभी साधक विशुद्ध ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है अन्यथा नहीं। यही उपासना का उपयोग है।

अद्वैत-सिद्धि की युक्ति

ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने बड़ी सुन्दर युक्तियाँ दिखलायी हैं। श्रुति के आधार पर ही ब्रह्म प्रतिष्ठित मूल तत्त्व नहीं है बल्कि युक्ति भी उसके अस्तित्व को भली भाँति समझाती है।

कार्य-कारण के सम्बन्ध पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कारण में उत्पन्न होने से पहिले भी कार्य विद्यमान रहता है। कार्य कारण से भिन्न वस्तु नहीं है। मिट्टी से बने हुए जितने पदार्थ हैं वे वस्तुतः मिट्टी ही तो हैं। सोने से बनने वाले गहने (जैसे अँगूठी आदि) आखिरकार सोना ही तो हैं। यह समझना एकदम मिथ्या है कि कार्य कारण से भिन्न कोई नई चीज है। सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान रहता है। अव्यक्त रूप में निमित्त कारण (जसे कुम्हार और सुनार आदि) के द्वारा वही अव्यक्त-रूप व्यक्त बना दिया जाता है। सत् से असत् की उत्पत्ति कथमपि नहीं सोची

जा सकती। यदि ऐसा होता तो तिलों से तेल न निकालकर बालू से तेल निकाला जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कार्य कारण में सत् या कार्य विद्यमान ही रहता है। सांख्य का भी यही (सत् कार्यवाद) सिद्धान्त है, परन्तु अद्वैत वेदान्त से उसमें कुछ अन्तर है। सांख्य के मत में मृत्तिका में वास्तव परिवर्तन या विकार उत्पन्न होता है। दूध से दही या सोने से अँगूठी—दोनों नये पदार्थ हैं, अर्थात् दूध में और सोने में जो यह परिवर्तन होता है वह वास्तव है। यहाँ नवीन आकार की सृष्टि होती है। निमित्त कारण के द्वारा पदार्थ नये आकार में पैदा होता है, जो वास्तविक सत्य है। अतः सांख्यों के अनुसार परिणाम मानना ही युक्तियुक्त है।

विवर्त

शंकराचार्य की व्याख्या इससे आगे बढ़ती है। जगत् के कार्यों में नया रूप, नया आकार उत्पन्न होता है। इस प्रत्यक्ष को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से यही प्रतीत होगा कि आकार कोई नई चीज नहीं है, जो पदार्थ से अलग हो। आकार वस्तुतः द्रव्य की एक अवस्थामात्र है और द्रव्य से वह भिन्न नहीं है। आकार की सत्ता तो द्रव्य को लेकर ही है। आकार कोई नई चीज नहीं है, जिसके कारण मूल वस्तु में वास्तव परिवर्तन माना जाय। साकारजन्य भेद को लेकर किसी उपादानकारण को भिन्न मानना उचित नहीं, क्योंकि आकार में परिवर्तन होने पर भी वस्तु एक ही रहती है। सोता, खाता, पीता चलता फिरता व्यक्ति आखिरकार वही व्यक्ति रहता है, कोई दूसरा व्यक्ति तो बदल कर नहीं हो जाता। तथ्य यह है कि आकार की या किसी गुण की द्रव्य से पृथक् कल्पना मानना नितान्त असंगत है। यदि दोनों भिन्न माने जायँगे तो उनका सम्बन्ध क्योंकर सिद्ध हो सकता है? उनमें सम्बन्ध की कल्पना किसी तीसरी वस्तु को ही लेकर हो सकती है। तो उसके सम्बन्ध की कल्पना के लिए एक चौथी वस्तु भी माननी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। उससे बचने का एक ही उपाय है और वह है यह मानना कि आकार या गुण द्रव्य से भिन्न सत्ता रखते ही नहीं। वस्तुतः 'मृत्तिका' ही एक वास्तव द्रव्य है और कुम्भकार के व्यापार से वह कभी घड़े, कभी कड़ाही और कभी कसोरे के रूप में जो दीख पड़ती है, वह वस्तुतः मिथ्या है। नाम तथा रूप दोनों की कल्पना मिथ्या है। 'वह मृत्तिका है' यही बात एकदम सच्ची है।

फलतः कारण की ही एकमात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं, वह केवल मानसिक आरोप है, वास्तव नहीं है। इसी मानसिक आरोप को शंकराचार्य 'अध्यास' के नाम से पुकारते हैं। कार्य-कारण की शृंखला पर विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कारण ही एकमात्र सत्ता है; उसके समस्त आकार मिथ्या हैं। कारण के इस असत्य, काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैत की भाषा में 'विवर्त' कहते हैं।

मूल तत्त्व

इस प्रकार युक्ति से विचार करने पर जगत् के समस्त आकार मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, समस्त गुण असत्य सिद्ध होते हैं; तब प्रश्न यह है कि वह कौन-सी वस्तु है जो सर्वत्र विद्यमान रहती है। हमने देखा कि 'घड़ा' नामक कोई वास्तव पदार्थ नहीं होता, वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है, परन्तु यह भी ठीक नहीं; घड़े की अपेक्षा मृत्तिका अवश्यमेव विशेष स्थायी है, परन्तु फिर भी वह एकान्त पदार्थ नहीं जो सब जगह समान रूप से विद्यमान रहे। अंगूठी की अपेक्षा सुवर्ण अवश्य ठोस तथा चिरस्थायी है, परन्तु फिर भी वह मूल वस्तु नहीं हो सकता। मूल वस्तु वही हो सकती है जो सब पदार्थों का अधिष्ठान हो, सब पदार्थों में समान रूप से सम्बद्ध (अनुस्यूत) हो और जिसे छोड़कर ये पदार्थ क्षण भर के लिए भी जीवित न रह सकें। ऐसी वस्तु को खोजने पर हमें 'सत्ता' ही एक ऐसी वस्तु मिलती है जो समग्र पदार्थों में विद्यमान रहती है। 'सत्ता' से हमारा तात्पर्य किसी विशिष्ट सत्ता से नहीं है, बल्कि 'शुद्ध सत्ता' से ही है। यह सत्ता प्रत्येक पदार्थ में सम भाव से रहती है। अतः 'सत्ता' को जगत् की मूल वस्तु या उपादान-कारण मानना चाहिए। वह भौतिक पदार्थों में ही नहीं बल्कि मानसिक व्यापारों में भी विद्यमान रहती है। भ्रम भी तो एक 'प्रत्यय' (आइडिया) है, चाहे उसका विषय असत्य भले हो परन्तु वह भी 'सत्ता' रूप है। इस प्रकार सत्ता समस्त पदार्थों में—चाहे वे भौतिक जगत् के हों या मानस व्यापार—अनुगत रहती है। इस तथ्य पर हम युक्ति के द्वारा पहुंचते हैं। इसी शुद्ध सत्ता को, जो संसार का मूल कारण है, जो नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार तथा निरवयव है, ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। यही ब्रह्म है। वह एक है। अनेक नहीं युक्तियों से पुष्ट अद्वैतवाद का यही आधार है।

माया

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत् की उत्पत्ति क्योंकर हुई? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के

लिए 'माया' के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दोंमें सूक्ष्म अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम 'माया' है। माया-रहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं[१]। अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया भी ब्रह्म के साथ संग रहने वाली शक्ति है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है। भाव-रूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। जो पदार्थ सद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। जगत् के पदार्थों का रूप दो प्रकार का होता है—सत् या असत्। 'सत्' उसे कहते है जो सर्वदा एक ही प्रकार का हो और किसी ज्ञान से भी उसका विरोध न हो, अर्थात् 'बाध' न हो। निर्बाध वस्तु सत् होती है, परन्तु यदि अन्य ज्ञान के द्वारा पूर्व वस्तु बाधित हो जाती है, तो उसे 'असत्' कहना पड़ता है। माया के विषय में ये दोनों प्रकार असंगत हैं। माया को 'सत्' कैसे माना जाय ? ब्रह्म का ज्ञान होने पर माया का ज्ञान बाधित हो जाता है। ब्रह्म-ज्ञानी को माया का ज्ञान कभी नहीं होता, केवल अज्ञानी ही माया के पचड़े में फिरता रहता है। यदि माया 'सत्' होती, तो वह कभी बाधित नहीं होती और उसकी प्रतीति सर्वदा होती रहती, परन्तु ऐसा न होने से वह 'सत्' नहीं कही जा सकती। तो माया 'असत्' कही जाय यह भी पक्ष ठीक नहीं क्योंकि असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती, परन्तु माया की प्रतीति तो हमें अवश्यमेव होती है। अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'माया' में बाध प्रतीति दोनों प्रकार के विरुद्ध धर्मों के कारण उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ता है[१]।

तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है[२]। सूर्योदय काल में अन्धकार की भाँति ज्ञान के

---

१. इसी तथ्य को संस्कृत के एक संक्षिप्त वाक्य में यों कहते हैं—सत् चेत् न बाध्येत, असत् चेत् न प्रतीयेत।

उदय-काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि[१३] का कहना है कि "यह भ्रान्ति आलम्बन हीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।" इस प्रकार प्रमाण को न सहने और विचार को न सहने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है[१४]।

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है; वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है; न भङ्गसहित है, न भङ्गरहित है और न उभयात्मिका ही है, अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है—वह ऐसी है जो कही न जा सके[१५]।

माया की दो शक्तियाँ होती हैं:[१६]—आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढक कर उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रकृति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जादू के खेल पर विचार कीजिये। जादूगर दर्शकों के सामने एक जादू का खेल दिखला रहा है। वह कंकड़ों को आकाश में ऊपर उछालता है और वे सफेद चमकते हुए सिक्कों के रूप में जमीन पर गिरते हैं। यहाँ जादूगर अपने जादू के बल पर कंकड़ के असली रूप को ढक देता है, परन्तु इतने से भी उसके अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वह उनको सिक्कों के रूप में जो दिखलाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है। अतः वस्तु के असली रूप को छिपा देना पहली सीढ़ी है (आवरण) और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना अन्तिम सीढ़ी है (विक्षेप)। जब तक ये दोनों कार्य सिद्ध नहीं होते जादू का खेल बन नहीं सकता। ठीक इसी तरह माया भी ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है और फिर उसमें आकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है। ब्रह्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, परन्तु माया-शक्ति की कृपा से उसी से आकाश,

(पार्श्व शीर्षक: माया की शक्तियाँ)

जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि पदार्थों के उत्पन्न होने की धारणा हमारे सामने आती है। यह माया का ही विलास है तथा उसकी दोनों शक्तियों का सामूहिक व्यवसाय है।

आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य-मण्डल को ढकता मालुम होता है उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु में अपनी शक्ति से साँप पैदा करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान 'विक्षेप' है।

'आवरण' का अर्थ है असली स्वरूप पर परदा डाल देना तथा 'विक्षेप' का तात्पर्य है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। इन दोनों शक्तियों के बल पर माया भी ब्रह्मसे जगत् की उत्पत्ति करती है। एक बात विचारणीय है। जादूके पूर्वोक्त खेल में जादू का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है, स्वयं जादूगर के ऊपर नहीं। वह तो अपने जादू के रहस्य को जानता है कि वह दूसरों को भ्रम में डालने के लिए है। वह इससे अछूता बचा रहता है। माया में भी यही बात होती है। ईश्वर के लिए माया केवल एक इच्छामात्र है। वह इससे प्रभावित नहीं होता। परन्तु हम अज्ञानियों की दृष्टि में ईश्वर के बदले नाना प्रकार के पदार्थ दीखने लगते हैं। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण होती है। इसीलिए हम उसे अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। उसके दो कार्य हैं—आवरण तथा विक्षेप। सृष्टि अनादि है। इसी प्रकार माया भी अनादि है।

माया की विभिन्न कल्पना

शंकर तथा रामानुज दोनों आचार्यों के द्वारा माया व्याख्यात है, परन्तु इन दोनों की माया-विषयक कल्पना नितान्त भिन्न है। ध्यान देने की बात है कि रामानुज के मतानुसार यह सृष्टि वास्तविक और सच्ची है। इसीलिए वे माया को ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं। ईश्वर की शक्ति माया है जो इस वास्तव जगत् की रचना करती है। रामानुज के मत में इस प्रकार

ब्रह्म में अवस्थित अचित् तत्त्व में (और इस प्रकार ब्रह्म में भी) वास्तव विकार उत्पन्न होता है। शङ्कर के मत में ब्रह्म में कोई वास्तव विकार या परिवर्तन नहीं होता। विकार केवल प्रातिभासिक होता है, वास्तविक नहीं। शङ्कराचार्य भी माया को ईश्वर की शक्ति मानते हैं, परन्तु यह ईश्वर का नित्य स्वरूप नहीं है। माया तो ईश्वर की इच्छामात्र है, जिसको वे जब चाहें छोड़ सकते हैं। फलतः रामानुज माया को ईश्वर की सर्जन शक्ति मानते हैं, जो वहाँ नित्य निवास करती है। शङ्कर उसे ईश्वर की अनित्य इच्छा मानते हैं, जो वहाँ कभी रहती है और कभी नहीं रहती। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता शक्ति भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म से भी मायाशक्ति भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है। यही माया रामानुज के मत में ब्रह्म में परिणाम पैदा करती है, परन्तु शङ्कर के मत में केवल विवर्त की जननी है, विकार की नहीं।

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा आवृत होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है। परन्तु ईश्वर का जगत् की सृष्टि करने में कौन-सा उद्देश्य सिद्ध होता है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। बुद्धि पूर्वकारी चेतन पुरुष की प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के सिद्ध नहीं होती, एतदर्थ इस बड़ी प्रवृत्ति का प्रयोजन खोज निकालना आवश्यक है। श्रुति ईश्वर को 'सर्वकामः' कह कर पुकारती है, अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हैं। यदि ईश्वर का इस सृष्टि-व्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है, तो परमात्मा का परितृप्त होना बाधित होता है। यदि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय, तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है ? अतः परमेश्वर का यह सृष्टि-व्यापार लीलामात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार, बिना किसी प्रयोजन के लीला के लिए होते हैं, उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टि-व्यापार भी लीला-विलास है[१०]।

न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त-कारण मानता है, परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है। ईक्षणपूर्वक सृष्टि-व्यापार करने वाला ईश्वर निमित्त-कारण निःसन्देह है, पर उसका उपादान-कारण भी सिद्ध है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं, ब्रह्म ही

उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड के जानने से मिट्टी के समग्र बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूप वाले हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं। मृत्तिका के साथ ब्रह्म का दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादान होना स्पष्ट है। मुण्डक (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त-कारण और उपादान-कारण भी है।

इस प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है (निमित्त-कारण) और साथ ही साथ जगत् का वह उपादान कारण है, मृत्तिका की तरह। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी से नाना प्रकार के मिट्टी के बरतनों को तैयार करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने में से ही जगत् को स्वयं बनाता है। एक ही वस्तु के दोनों कारण होने में कोई विरोध नहीं है। ईश्वर है मायोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् वह ब्रह्म जिसे माया आवृत किये रहती है। वह चेतना भी है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान-कारण है। इस प्रकार ब्रह्म का एक साथ ही जगत् का उपादान और निमित्त-कारण होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं है। अतः ब्रह्म की जगत् सृष्टि में माया को ही प्रधानतया कारण मानना उचित है।

इस पर कुछ तार्किकों का आक्षेप है कि जगत् ब्रह्म से नितान्त विलक्षण है। (१) जगत् है सुख-दुःखमय तथा अचेतन और चेतन; इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म से बिलकुल भिन्न है। तब क्या यह ब्रह्म का कार्य हो सकता है? इसका यथार्थ उत्तर यह है कि इस प्रकार का पार्थक्य कथमपि बाधक नहीं हो सकता। अचेतन से चेतन की उत्पत्ति लोक में दिखाई पड़ती है, तथा चेतन से अचेतन की सृष्टि भी दृष्टिगोचर होती है। गोबर की राशि अचेतन होती है, परन्तु उससे चेतन बिच्छू पैदा होता है। इससे विपरीत पुरुष होता है चेतन और उससे अचेतन नख तथा केश उत्पन्न होते हैं। इसलिए कारण-कार्य की यह विलक्षणता ब्रह्म के जगत्कर्ता होने के सिद्धान्त को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकता[१]।

(२) जगत् भोग्य तथा आत्मा भोक्ता, है परन्तु उपादान कारण होने से दोनों की एकता सिद्ध है, तो भोक्ताभोग्य का विभाग न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा? यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी, ब्रह्म और जगत् में वास्तव अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है।[२]

---

१. ब्रह्मसूत्र २।१।३ पर शांकरभाष्य देखिए।

२. ब्रह्मसूत्र २।१४। पर शांकरसूत्र-भाष्य देखिये।

उपास्य ब्रह्म

उपासना के लिए भी निर्विशेष सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुत: प्रादेशिहीन है, तथापि उपाधिविशेषसे सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए उपनिषदों में सूर्य में, नेत्र में और हृदय में ब्रह्म की उपासना कही गई है। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि दोनों प्रकार के ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान बतलाया गया है वहाँ फल-रूप मोक्षही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है, अर्थात् ब्रह्म का संबंध किसी प्रतीक (सूर्य, आकाश आदि)[१८] विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसार-गोचर ही भिन्न-भिन्न फल होते हैं। उपास्य-उपासक की भेददृष्टि से ही यह कल्पना है। अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—माया के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है।

आशय यह है कि ब्रह्म तो वस्तुत: निर्गुण ही है, परन्तु माया के सम्बन्ध से वही सगुण प्रतीत होता है। उपासना की दृष्टि से वही सगुण रूप अर्थात् ईश्वर का रूप धारण करता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का अंतर नहीं होता, परन्तु अन्तःकरण की उपाधिसे युक्त होने पर वही जीव कहलाता है। ईश्वर मायावच्छिन्न चैतन्य है, तो जीव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। दोनों चैतन्य रूप हैं, परन्तु माया-जन्य उपाधि के द्वारा सीमित होने के कारण ही ईश्वर तथा जीव की ब्रह्म से पृथक् सत्ता है। माया ही इन दोनों को ब्रह्म से पृथक् पदार्थ बनाती है। इसीलिए विद्यारण्य स्वामी के सुन्दर शब्दों में जीव और ईश्वर दोनों मायारूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं। वे अपनी इच्छानुसार द्वैत का पान भले ही करें, परन्तु तत्त्व तो अद्वैत ही होता है[१९]। इसीलिए उपास्य ब्रह्म की सत्ता काल्पनिक ही है।

जीव-विचार

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं[२०]। पहला प्रश्न है कि उपनिषदों में आत्मा के उत्पत्तिविषयक वाक्यों का क्या रहस्य है? यदि आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव माना जाता है, तो उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जाती है? इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि उपाधियों की ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न

नहीं होता। आत्म-स्वरूप के विषय में भी दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनायें हैं। सुप्त, मूर्छित तथा ग्रहाविष्ट पुरुषों में कतिपय काल तक चैतन्य भाव को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव का पक्षपाती वैशेषिक दर्शन चैतन्य को आत्मा का कभी होने वाला गुण मानता है, परन्तु वेदान्त की सम्मति में आत्मा चैतन्यरूप ही है, क्योंकि परब्रह्म ही उपाधिसम्पर्क से जीवभाव में विद्यमान रहता है। अतः आत्मा में ब्रह्म के साथ स्वभावगत ऐक्य होने पर नित्य-चैतन्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। सूत्रभाष्य में आत्मा के परिमाण का भी विशेष विचार किया गया है। अनेक श्रुतिवाक्यों के आधार पर पूर्वपक्ष का कहना है कि आत्मा अणु है। भाष्यकार का उत्तर है—नहीं। परब्रह्म के विभु होने से तद्व्यपदेश आत्मा का भी विभुपरिमाण ही युक्तियुक्त है। आचार्य ने अणुत्व-कल्पना की उत्पत्ति यह कह कर दिखलाई है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आत्मा अणु स्वीकार किया गया है। आत्मचैतन्य जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—त्रिविध अवस्थाओं[1] में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोषों में उपलब्ध होता है, परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोषपञ्चक से नितान्त परे की वस्तु है। इसी तरह स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञायें हैं और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें दी गई हैं। व्यष्टि तथा समष्टि के अभिमानी पुरुष परस्पर में अभिन्न हैं, परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है। निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोष	अवस्था
स्थूल	समष्टि—वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि—विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि—सूत्रात्मा व्यष्टि—तैजस	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	समष्टि—ईश्वर व्यष्टि—प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं, तो कर्ता को अभिव्यक्त

---

१. द्रष्टव्य ब्र० सू० ३।२।१—१०; तथा तैत्ति उप० २।१ का शाङ्करभाष्य।

करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला के दीपक से बड़े सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रङ्गस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतःप्रद्योतित होता है।[२१] बुद्धि में चाञ्चल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने पर जीव चञ्चल-सा प्रतीत होता है; वस्तुतः वह शान्त है।

जीव और ईश्वर

इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रीति से किया है। एक आचार्य की सम्मति में जीव और ईश्वर के सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य बिम्बस्थानीय है। उसी का प्रतिबिम्ब भिन्न भिन्न उपाधियों में पड़ने से भिन्न नाम ग्रहण करता है। चैतन्य का वह प्रतिबिम्ब जो माया या अविद्या में पड़ता है 'ईश्वर-चेतन्य' कहलाता है और जो अन्तःकरण में पड़ता है वह 'जीव-चेतन्य' नाम से अभिहित होता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर और भिन्नता है, जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब में होता है।

परन्तु इस मत से परमेश्वर में अविद्या से उत्पन्न दोषों की सम्भावना बनी रहती है। उपाधि प्रतिबिम्ब को प्रभावित करती है। अतः अविद्या अपने में प्रतिबिम्बित चैतन्य को अवश्य ही अपने दोषों से दूषित करेगी, इसलिए इस मत के मानने में आपत्ति है।

दूसरे मत में ईश्वर-चैतन्य ही बिम्ब के स्थान में माना जाता है, जिसके प्रतिबिम्ब को हम लोग जीव के नाम से पुकारते हैं। दोनों में चैतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह बिम्बाकार धारण करता है, तब 'ईश्वर' कहलाता है और जब प्रतिबिम्ब से आच्छादित रहता है, तो 'जीव' नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चैतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की कल्पना उपाधिजन्य है। 'एक जीव' मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है; नाना-जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में बिम्बभूत चैतन्यरूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और इनका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और इन प्रतिबिम्बों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

वेदान्त में जडतत्त्व

श्री शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने जडतत्त्व के विषय में उद्भावित उन सिद्धान्तों का खण्डन किया है जिनके द्वारा यह जगत् (१) या तो अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है अथवा (२) बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणामशालिनी अचेतना प्रकृति का विकारमात्र है अथवा (३) स्वतन्त्र पदार्थ—दो प्रकृति तथा ईश्वर के द्वारा निर्मित है, जिनमें एक तो उपादान कारण है और दूसरा निमित्त कारण है। परन्तु ये सिद्धान्त उक्त दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं हैं। दोनों का यह मत है कि अचेतन वस्तु इस जगत् को पैदा करने में नितान्त असमर्थ है, तथा चेतन और अचेतन के परस्पर संयोग से जगदुत्पत्ति को सिद्ध मानना भी ठीक नहीं है। वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के औपनिषद् तथ्य का अवलम्बन कर प्रकृति तथा मन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानने के लिए उद्यत नहीं हैं, प्रत्युत यह समस्त जगत् के ब्रह्ममय होने से प्रकृति तथा मन दोनों ही अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित हैं। इस प्रकार ये दोनों आचार्य ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत करने के कारण अद्वैतवादी हैं। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय (तर्क) पाद में जगदुत्पत्ति-विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सुन्दर तथा अकाट्य युक्तियों से किया है। यह सिद्धान्त वेदान्त के प्रायः समस्त सम्प्रदायों को माननीय है। अतः इन युक्तियों का प्रदर्शन संक्षेप में यहाँ किया जाता है—

सांख्यमत का खण्डन

सांख्य दर्शन के मतानुसार सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणत्रयात्मिका प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होकर इस जगत् की उत्पत्ति करती है और इस कार्य में उसे किसी चेतन अध्यक्ष की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। प्रकृति के जगद्रूप से परिणत होने में एक महान् उद्देश्य है—पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि। प्रकृति के परिणाम का ही यह फल है कि पुरुष अपने पूर्व कर्मानुसार सुख-दुःख-रूप भोगों को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृति से अपने को विविक्त (पृथक्) जान लेने पर वह इस संसार से मुक्तिलाभ कर लेता है। क्या इस प्रकार के उद्देश्य की कल्पना कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है? लोकानुभव इसका नितान्त विरोधी है। दूसरी बात यह है कि बिना किसी चेतन अध्यक्ष के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। चेतन पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर हाथ की लेखनी लेखन-व्यापार में प्रवृत्त होती है; सारथि की अध्यक्षता में रथ में

गति का आविर्भाव होता है। तब अचेतन प्रकृति में पहली प्रवृत्ति का उदय क्योंकर हुआ ? इसके उत्तर में सांख्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए गाय के स्तन से दूध आप से आप बहने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति बिना किसी बाह्य कारण के स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। वत्स की विवृद्धि के लिए गो-स्तन से स्वयं प्रवृत्त होने वाले दूध का यह उदाहरण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है जिसके हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान है। पुरुष की सहायता भी प्रकृति को इस महत्त्व के कार्य में नहीं मिल सकती, क्योंकि सांख्य ने पुरुष को क्रियाहीन तथा उदासीन मानकर उसे नितान्त पंगु बना डाला है। प्रकृति की कल्पना भी केवल आनुमानिक है। बादरायण सूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुति में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतने विरोधों के होने पर जगत् को प्रकृति का परिणाम मानना युक्तियुक्त नहीं।

वैशेषिक मत का तिरस्कार

सूक्ष्म परमाणुओं के संघात से इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है—यह वैशेषिक सिद्धान्त है, जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। परमाणुओं संयोग से द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है, परन्तु अचेतन परमाणु इस नियमबद्ध जगत् की उत्पत्ति में क्या कभी समर्थ हो सकता है ? वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् का नियामक बतलाते हैं, परन्तु अदृष्ट भी तो अन्ततोगत्वा अचेतन ही ठहरा। परमाणु में प्रथम संयोग की को उत्पत्ति किसी भी युक्ति के बल पर समझाई नहीं जा सकती। यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता का सिद्धान्त मानें, तो उनमें कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी। ऐसी स्थिति में प्रलय की कल्पना ही नष्ट हो जायेगी। जगत् के रूप, रस गन्ध, स्पर्श उत्पन्न करने के लिए परमाणुओं में इन गुणों का सद्भाव माना जाता है। तब परमाणु सगुण हुए और ऐसी दशा में सगुण पदार्थ न तो नित्य हो सकता है और न सूक्ष्म। गुण से युक्त होना उसे स्थूल, अतएव अनित्य ही बनाता है। ऐसी दशा में वैशेषिक मत में परमाणुओं की स्वरूप-हानि होती है। अतः परमाणु को भी जगत् का उपादान मानना युक्तियुक्त नहीं है।

वास्तववादी बौद्ध (सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक) दार्शनिकों की सम्मति में यह जगत् समूहात्मक है। आन्तर जगत् पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा

बौद्ध मत का खण्डन

विज्ञान का संघातमात्र तथा बाह्य जगत् विभिन्न रूप वाले चार परमाणुओं का पुञ्जमात्र है। जगत् के समस्त पदार्थ क्षणस्थायी हैं; परन्तु क्षणिक पदार्थों में कारणता नहीं सिद्ध हो सकती। कारण मानने के लिए किसी भी पदार्थ को उत्पन्न होना चाहिए तथा स्थित भी होना चाहिए। ऐसी दशा में पदार्थ दो क्षणों तक स्थायी होगा। एक क्षण में उत्पन्न होगा और दूसरे क्षण में स्थित होगा। इस प्रकार क्षणिकवाद का स्वतः खण्डन हो जाता है। चेतन की अध्यक्षता मानने पर भी यह मत सुसम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि चेतन स्थायी है, तो क्षणवाद का निरास होता है। यदि वह क्षणिक है, तो वह कार्य उत्पन्न ही नहीं कर सकता। एक क्षण उत्पन्न होने के लिए तथा दूसरा क्षण परमाणुओं को संयोग करने के लिए मानने से क्षणिकवाद का खण्डन हो जाता है। अचेतन कारण का दोष अभी बतलाया गया है। ऐसी दशा में जगत् को संघातमक तथा क्षणिक मानना नितान्त निराश्रय सिद्धान्त है।

विज्ञानवादी बौद्धों का भी सिद्धान्त इतना ही हेय तथा अप्रामाणिक है। शंकराचार्य ने इस मत के विरुद्ध बड़ी प्रौढ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। सबसे प्रधान युक्ति यह है कि जगत् को असत्य मानकर विज्ञानमात्र को सत्य मानना प्रतिदिन के लोकानुभव के नितान्त विरुद्ध है[1]। अनुभव के विषय होने पर भी घटपटादि की सत्ता का तिरस्कार करना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार रसभरी मिठाइयों के स्वाद का अनुभव करते हुए भी उन्हें मिथ्या ठहराना है। जगत् के असत्य होने पर घटपटादि का आपस में विभेद किस कारण पर ठहरेगा? विज्ञान रूप होने से तो ये दोनों समान ही ठहरे। ऐसी दशा में घट माँगने पर यदि घट लाकर उपस्थित कर दिया जाय, तो लोक का व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? अतः जगत् को विज्ञान का ही विकृत रूप बतलाना नितान्त अनुचित है। जब विज्ञानवाद की ऐसी विषम दशा है तो समस्त पदार्थों के अभाव मानने वाले शून्यवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार ठीक माना जाय? अतः बौद्धों की जगदुत्पत्ति की कल्पना नितान्त तर्कशून्य, अप्रामाणिक, अतएव अविश्वसनीय है।

द्वैतवादियों—पाशुपत, शैव तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों—के मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्त-कारण मात्र है, उपादान-कारण नहीं। यह मत भी

---

१. ब्रह्मसूत्र २।२।१८—३२ पर शांकर भाष्य।

द्वैतवाद का निरास

सन्तोष-प्रद नहीं है। यदि ईश्वर जगदुत्पत्ति में केवल निमित्तमात्र है, तो वह पक्षपात के दोष से लांछित हुए बिना नहीं रह सकता। जगत् में कोई जीव सुखी है और कोई नितान्त दुखी। इस वैषम्य का क्या कारण है ? यदि कर्मानुसार यह विषम सृष्टि मानी जाय, तो श्रुतिमूलक होने के कारण ईश्वर का उपादान-कारण होना भी अनिवार्य है। जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का स्रष्टा बतलाती है, वही उसे उपादान-कारण भी बतलाती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रियाओं को पैदा करता है, परन्तु द्वैतवादियों का ईश्वर न तो शरीर है और न रागद्वेषादि भावों से मण्डित है। ऐसी दशा में केवल निमित्त-कारण मानने पर ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का सिद्धान्त ठीक नहीं होता। अतः वेदान्त बाध्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त-कारण दोनों बतलाता है। श्रुति और युक्ति दोनों इस सिद्धान्त के पोषक हैं। इस विषय में उपनिषद् ऊर्णनाभि (मकड़े) का उदाहरण प्रस्तुत करती है[२२]—जिस प्रकार मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है—अर्थात् उन्हें अपने शरीर के बाहर फैलाती है और फिर उन्हें ग्रहण कर लेती है–अर्थात् अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना लेती है, उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादान-कारण है तथा निमित्त-कारण भी। वेदान्त का यही परिनिष्ठित मत है। अतः जगत् की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

जगत्

जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है[२३]। जादू उन्हीं लोगों को मोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्य जानने वाले पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल मोह का विषय नहीं होता। ठीक उसी प्रकार अद्वैत-तत्त्व के ज्ञानियों के लिए इस जगत् की सत्ता निर्मूल है। इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है। समस्या यह है कि–जगत् सत्य है या असत्य ? 'जगन्मिथ्यात्व' के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण में कौन कहे शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैला रक्खी है कि अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य-परिवर्तनशील या परिणाम-स्वभाव ही जगत् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है—एक क्षण के लिए भी जगत प्रवृत्ति-शून्य नहीं रहता।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में[२४] जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सतत समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं। इस प्रतिक्षण-परिणामी, सतत चञ्चल, नियत-परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कोटि में नहीं आ सकती। तो क्या जगत् नितान्त असत्य है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान-वादियों के मत का खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है। विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियसन्निकर्ष सब बुद्धि में है। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि प्रत्यय बाहरी वस्तु के बिना ही आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थशून्य हैं।

विज्ञानवादियों के अनुसार समस्त पदार्थ केवल विज्ञानमात्र होते हैं, स्वप्न तथा जागरित दशा में अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न बिना किसी बाहरी पदार्थ की सत्ता के केवल कल्पनामात्र होता है, उसी प्रकार जागरित दशा में भी घड़ा एक विज्ञान का रूप है; घड़ा नामक कोई पदार्थ बाहरी जगत् में नहीं होता। फलतः इनके मत में जगत् स्वप्न के समान मायिक, काल्पनिक तथा असत्य है। इस पर शंकराचार्य का आक्षेप यह है कि—जगत् में पदार्थों का अनुभव तो प्रत्येक क्षण में हो रहा है। वस्तु तथा वस्तुज्ञान दो अलग-अलग चीजें हैं। यदि वस्तु को उस वस्तु के ज्ञान के बाहर न माना जाय, तो हँसी की बात होगी। स्वादिष्ट भोजन करके तृप्त होने वाला पुरुष उपहास का ही पात्र होता है, वह यदि न तो भोजन की बात माने और न अपनी तृप्ति की बात स्वीकार करे। बौद्धों का कथन है कि बाहरी वस्तुयें 'बाहर के समान' प्रतीत होती हैं; समानता की भावना दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में ही हो सकती है। 'मुख चन्द्रमा के समान है'—यह सादृश्य की धारणा ठीक है, क्योंकि मुख तथा चन्द्रमा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जब बाहरी वस्तुयें 'बाहर के समान' बतलाई जाती हैं तब स्पष्ट है कि यहाँ दो वस्तुओं की सत्ता है। अतः बाहरी वस्तुओं को विज्ञान से अलग सत्तावान् मानना ही उचित होगा।

जगत् स्वप्नवत् अलीक है—इस मत का खण्डन आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। वे कहते हैं[२५]—स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्न-दशा का बाध होता है, परन्तु जागरित-दशा का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थों की जागने पर प्राप्ति न होने से बाधित

होना प्रत्यक्ष ही है परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न ज्ञान स्मृतिमात्र है, परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभवरूप है। अतः दोनों की भिन्नता एकदम स्पष्ट है।

ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है ? व्यवहार में इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता, परन्तु ब्रह्मात्म के ऐक्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। अतः उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् बाधित रहता है, पर व्यवहार-दशा में यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है जितना अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है।

सृष्टि

तमःप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त, अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्ररूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वायुपञ्चक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं, अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिला कर आधा होता है, जैसे आकाश = $\frac{1}{2}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु। प्रत्येक स्थूल भूत पञ्चभूतात्मक होता है। (इसका नाम पञ्चीकरण है।)

'सत्य' का लक्षण

'सत्' वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित (विरुद्ध) न हो, और 'असत्' वही है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो। घनघोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी रस्सी को देख कर सर्प का ज्ञान होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी को देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यहाँ पहले का सर्प-ज्ञान अब रज्जु-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अतः रज्जु में सर्प-ज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। परन्तु यदि मेढकों की आवाज सुन कर हमें उनमें खाने वाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजली चमकने से घासों

में भागने वाला साँप दीख पड़े तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है। सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से वेदान्तियों ने 'अबाध्य' से प्रथम 'त्रिकाल' शब्द की योजना की है। अतः सत्य की शास्त्रीय परिभाषा 'त्रिकालाबाध्यं सत्यम्' है—भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो—अर्थात् एकरूपेण अवस्थित रहे वही सत्य है। ब्रह्म ऐसा ही एक तत्त्व है—जो तीनों काल में समभाव से उपस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है, वह एक है तथा अद्वितीय है; ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है।

त्रिविध सत्ता

वेदान्त मत में तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है—(क) प्रातिभासिक या प्रातीतिक, (ख) व्यावहारिक और (ग) पारमार्थिक।

(क) प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है जो प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित हो, परन्तु पीछे बाधित हो जाय, जैसे रज्जु सर्प, शुक्ति-रजत आदि। मृगतृष्णिकादि पदार्थ आधारहीन (निरास्पद) नहीं हैं। प्रतीति से पूर्वकाल में रज्जु सर्प-ज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान में उसी के आधार पर सर्प-ज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान अन्तर्हित हो जायगा[२६]। अतः रज्जु सर्प का ज्ञान आकाशकुसुम के समान निराकार नहीं है।

(ख) व्यावहारिक सत्ता जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं[२७]—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का न कोई नाम है और न कोई रूप। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है; अतः एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है[२८]। इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है, जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है। वही ब्रह्म है।

(ग) 'पारमार्थिक' सत्ता वास्तव सत्ता है। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी यह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है। इन तीनों से

भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे वन्ध्या पुत्र, आकाशकुसुम आदि। ये निराधार या निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या 'अलीक' कहे जाते हैं क्योंकि इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती[२१]।

अनिर्वचनीयतावाद

शुक्ति में रजत के भान के विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख भिन्न-भिन्न दर्शनों के वर्णन के अवसर पर हमने यथास्थान किया है। अद्वैत-वेदान्त का भी ज्ञान सत नहीं है, क्योंकि कि दीपक के लाने और रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान बाधित हो जाता है। अर्थात् दीपक आने पर हमारे सामने रस्सी ही एक मात्र रहती है, वह साँप के रूप में कभी प्रतीत नहीं होती। अतः रज्जु में सर्पज्ञान को हम 'सत्' नहीं कह सकते। उसे 'असत्' (अविद्यमान) कहते भी नहीं बनता, क्यों कि साँप को देखकर जैसे कोई आदमी डर के मारे काँपने लगता है और भाग खड़ा होता है, उसी प्रकार इस रस्सी को भी देखकर वह वैसा ही व्यवहार करता है। फलतः रस्सी साँप के सब काम करने की योग्यता रखती है। पुनः उसे 'असत्' कैसे कहा जाय ? फल यह है कि रज्जु में सर्पज्ञान न सत् है और न असत्; प्रत्युत दोनों से विलक्षण है इसे अनिर्वचनीय कहते हैं अथवा 'मिथ्या' भी कहते हैं। ध्यान देने का बात है कि वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ 'असत्' नहीं; प्रत्युत 'अनिर्वचनीय' है। भ्रम के विषय में अद्वैतियों का यह सिद्धान्त 'अनिर्वचनीया ख्याति' के नाम से प्रख्यात है।

विवर्तवाद

कार्य-कारण-भाव का विचार करनेपर भी जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय ही ठहरती है। अद्वैतवादियों के मत में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। परिणामवादी कार्यभूत द्रव्य को कारण से अभिन्न साथ ही भिन्न भी स्वीकार करते हैं, परन्तु ये युक्ति-युक्त नहीं हैं। घट आदि मिट्टी के बर्तन मृत्तिका से अभिन्न हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी इनमें पारस्परिक भेद कहाँ से आया ? यदि इनमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्य-कारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं ? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद (या एक) का परमार्थ सत् होना उचित है और भेद (या नाना) को कल्पित मानना ठीक है। ऐसा न करने पर असंख्य परमार्थ

वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण-सत्ता अविनाशी एवं निर्विकार है, तथा उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपञ्च केवल कल्पमूलक है—अनिर्वचनीय है। इस तरह एकमात्र स्वप्रकाश अखण्ड चैतन्य सत्ता के अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है, पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीयवाद की पारिभाषिकी संज्ञा 'विवर्त' है[१०]। परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है—

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है, परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है किन्तु रज्जु तथा सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (२।१।८ शां० भा०)।

अध्यास

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्य-मुक्त है, तब वह संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है ? निरतिशय आनन्दरूप आत्मा इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दुःखों के झेलने का उद्योग क्यों करता है ? इसका एकमात्र उत्तर है—'अध्यास' के कारण। अध्यास कौन सी वस्तु है ? शारीरक भाष्य के उपोद्घात में आचार्य ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में किया है। आचार्य के शब्दों में 'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः' तत्पदार्थ में अतद् (तद्भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना 'अध्यास' कहलाता है। जैसे पुत्र स्त्री के सत्कृत या तिरस्कृत होने पर अपने को मनुष्य का सत्कृत या तिरस्कृत मानना—यह हुआ बाह्य धर्मों का आरोप। इसी प्रकार अपने को स्थूल या कृश, चलनेवाला या खड़ा होने वाला, अन्ध या बधिर मानना इन्द्रियादिकों के धर्मों के आरोप के कारण ही आभ्यन्तर धर्मों का आरोप है। यह सब अविद्या विजृम्भित अध्यास ही है। आत्मा के विषय में यह अध्यास क्यों चला तथा कब से चला ? इसका भी वर्णन आचार्य ने किया है। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान है—विषयी (अस्मत्प्रत्यय) तथा विषय (युष्मत्प्रत्यय)। सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का आरोप 'अध्यास' है, परन्तु आत्मा तो विषयी ठहरा' अतः विषयी आत्मा में अध्यास बनता ही नहीं। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि आत्मा का विषयी होना तो ठीक है, परन्तु आत्मा भी अस्मत्प्रत्यय (मैं हूँ' ऐसा ज्ञान) का विषय होता ही है। अतः वह

भी कभी-कभी विषय बनता है। अध्यास कब से चला ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं[1]—कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अध्यास स्वाभाविक है, अनादि है तथा अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास है। यह अध्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान ही पाया जाता है। अध्यास का ही दूसरा नाम 'अध्यारोप' है। इसी अध्यारोप को हटाने के लिए आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

वेदान्त आचार-मीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन-यापन करता है। वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है। आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है। नानात्व ज्ञान से ही संसार है, तथा एकत्व ज्ञान से ही मुक्ति है। आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोकनिवृत्ति मोक्ष कहलाता है। अब इस मोक्ष के साधन मार्ग की रूपरेखा का निरूपण करना नितान्त आवश्यक है।

ज्ञान-कर्म का समुच्चय

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञानसमुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधन-मार्ग बतलाया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण, सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाण-कोटि में अंगीकार किया है। उनका कहना है कि स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठायें हैं—'कर्मनिष्ठा' तथा 'ज्ञाननिष्ठा'। इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। मानव जीवन के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिये कर्मों का विधान किया है और आत्मा का परमात्मरूप में ज्ञान, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्यकर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान और कर्म में गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है[2] कि क्या पूर्व समुद्र जाने वाले पुरुष का तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता है? आत्मा की प्रतीति को निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में। अतः ऐकान्तिक विरोध के विद्यमान होने से ज्ञान-कर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता।

कर्म-मार्ग

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कथमपि सिद्ध हो सकती है ? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है। अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है (उत्पाद्य) परन्तु क्या नित्य सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य), परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं, परन्तु आत्मा में विकार तथा संस्कार का अभाव है। अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मों की निष्पत्ति का प्रयास अकिञ्चित्कर ही है। अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती[१३]। अतः कर्म व्यर्थ हैं। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु कामनाहीन नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है[१४]। आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म-मोक्ष साधक हैं। सकाम कर्मों का अनुष्ठान असुरत्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है। देव तथा असुर का अन्तर भी यही है। स्वाभाविक रागद्वेष-मूलक प्रवृत्तियों का दास होने वाला अधर्म-परायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है, परन्तु रागद्वेष को अभिभव कर शुभ वासना की प्रबलता से धर्माचरण करने वाला पुरुष 'देव' कहलाता है[१५]।

पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञानदीपिका' में वेदान्तसम्मत आचारपद्धति का विवेचन किया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन माननीय है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। अतः संसार के उच्छेद के लिए कर्म का 'निर्हरण' (विनाश) करना नितान्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सञ्चित (प्राचीन), संचीयमान (भविष्य में उत्पन्न होने वाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रक्खे गये अन्न, सञ्चीयमान कर्म क्षेत्र में बीजरूपी अन्न और प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान हैं। जिस प्रकार गृहस्थित तथा क्षेत्रस्थित अन्न का विविध रूप से नाश किया जा सकता है, परन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन के ही द्वारा होता है, उसी प्रकार संचित तथा संचीयमान कर्म का नाश ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु

प्रारब्ध का क्षय भोग के ही द्वारा हो सकता है। कर्म का निर्हरण कर्म, योग ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है[३६]। फलानुसंधान-रहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्य-पापादि कार्य का तथा सूक्ष्म-स्थूल शरीररूपी कारण का सर्वथा लोप कर देता है। अतः यही वास्तव कर्मनिर्हरण है।

इस विवेचन से यही परिणाम निकलता है कि सत्त्वशुद्धि या अन्तःकरण के शोधन के लिए कर्म व्यर्थ न होकर मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं; तथापि ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। आचार्य की माननीय सम्मति में न तो कर्म से, न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से; प्रत्युत केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ज्ञान-कर्म : विभिन्न मत

आचार्य शंकर तथा उनके पट्टशिष्य सुरेश्वर ज्ञान को केवल विशुद्ध ज्ञान को—मुक्ति का एकमात्र साधन मानते हैं। कर्म तो केवल सत्त्वशुद्धि का साधक होता है। इसके विरोध में अद्वैत के अनेक आचार्य इस विषय की मीमांसा नवीन ढंग से करते हैं—

(क) ज्ञान-कर्म-समुच्चय

ब्रह्मदत्त (शंकरपूर्व अद्वैताचार्य) तथा मण्डन मिश्र (शंकर पश्चात् अद्वैताचार्य) कर्मसमुच्चित ज्ञान के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। प्रथम का मत 'अभ्यास' तथा द्वितीय का 'प्रसंख्यान' नाम्ना प्रख्यात है। ब्रह्मदत्त ने 'समाहितो भूत्वा पश्येत्' आदि उपनिषद् वाक्यों को आधार मान कर अपना पक्ष खड़ा किया है कि ज्ञान केवल स्वरूप से (स्वतः) ब्रह्म-साक्षात्कार में कारण नहीं बनता, प्रत्युत शम-दम आदि साधनों द्वारा परिपुष्ट किये जाने पर ही कार्य-साधक होता है। मण्डन मिश्र 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' (बृहदा० ४'४।२१) वाक्य इस विषय में पीठस्थानीय औपनिषद वाक्य मानते हैं। श्रवण-द्वारा आत्मा की अभेद प्रतिपत्ति का केवल ज्ञान होता है, ब्रह्मसाक्षात्कार तो मनन-निदिध्यासन के द्वारा पुष्ट होने वाले श्रवण से ही साध्य है। फलतः ब्रह्मात्मक्य ज्ञान ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए परोक्ष साधन है, प्रत्यक्ष साधन तो निदिध्यासन से संवलित होने वाला ही ज्ञान है। यह निदिध्यासन अपनी पूर्णता के लिए आवृत्ति चाहता है और इसी आवृत्ति की संज्ञा है प्रसंख्यान।

ब्रह्मदत्त तथा मण्डन के समान प्रतीयमान मतों में भी सूक्ष्म भेद है। इस मत का खण्डन सुरेश्वर ने अपने ग्रन्थों में बड़े विस्तार से किया है[1]।

(ख) कर्मज्ञान-समसमुच्चय

पूर्वमत में ज्ञान की ही प्रधानता थी तथा कर्म की गौणता थी। यहाँ दोनों का समप्राधान्य है। यह मत भेदाभेदवादी आचार्य भर्तृप्रपञ्च का माना जाता है। इनके मत में जीव तथा ब्रह्म के साथ भेद और अभेद दोनों प्रकार का सम्बन्ध अभीष्ट है। इनका तर्क है कि केवल कर्म की आस्था भेद को ही सिद्ध करती है, उस अभेद को नहीं जो उसके अन्तस्थल में विद्यमान रहता है। इस अभेद की सिद्धि के लिए ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। साधक को न कर्म के सम्पादन से ही सन्तुष्ट होना चाहिये और न ज्ञान के सम्पादन से ही। प्रत्युत दोनों को समान रूप से प्रधान मान कर आचरण करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी विहित कर्मों का अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिए, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।

आचार्य सुरेश्वर ने पूर्वोक्त दोनों मतों का विस्तरशः खण्डन करके कर्म को ही चित्तशुद्धि का साधन स्वीकार किया है। उन्होंने साधन की सोपानपरम्परा को प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है कि नित्यकर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति, अनन्तर पाप की हानि होती है। तदनन्तर चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है। चित्तशुद्धि क्या है? चित्त में विवेक करने की क्षमता का उदय, जिससे संसार के यथार्थ रूप का अवबोध, वैराग्य, मुमुक्षुत्व (मायिक संसार से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा), मुक्ति उपायों की खोज, तथा सब कर्मों से संन्यास क्रमशः उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर साधक योगाभ्यास (श्रवणादि के अनुष्ठान) में आसक्त हो जाता है जिससे उसका चित्त प्रत्यगात्मा में स्वतः अवहित हो जाता है। अवहित चित्त त्वमसि आदि प्रेम-प्रतिपादक वाक्यों का अर्थ प्राप्त करता है जिससे अविद्या का उच्छेद होने से वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही है ब्रह्म की ऐक्य सम्पत्ति। यही अभिन्नता अद्वैती की दृष्टि में अन्तिम लक्ष्य है।

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धि (१।६९) में ब्रह्मदत्त का तथा बृहदारण्यभाष्यवार्तिक (४।४।७८६-८१०) में मण्डन के मत का विस्तृत खण्डन है।

ज्ञानमार्ग

ज्ञानप्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक-चूडामणि' और 'उपदेश-साहस्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदान्त-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है, तदितर समस्त संसार अनित्य एवं असत्य है —इस विवेक का उदय प्रथम साधन है (नित्यानित्य-वस्तुविवेक)। सांसारिक और पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों का वश में करना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता-शोक से रहित अप्रतीकारपूर्वक दुःखों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास) तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा)—इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त-श्रवणका अधिकारी बनता है। तदनन्तर शिष्य शान्त, दान्त, अहैतुक दयासिन्धु, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में जाकर आत्म-विषयक प्रश्न करता है। गुरु को निष्प्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिए वह 'अध्यारोप और अपवाद विधि' से ब्रह्म का उपदेश कराता है। 'अध्यारोप' निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक-एक कर निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है, तदनन्तर युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पञ्चकोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर उसके स्वरूप का बोध गुरु कराता है। वेदान्त की व्याख्या-पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।

अध्यारोप-विधि

वेदान्त-परम्परा का उपदेशक विषयों में अद्वैत तत्त्व का उपदेश देता है, तथा उन्हें ब्रह्म की एकता का ज्ञान् यथार्थ रूप से कराता है। ब्रह्म निष्प्रपञ्च है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म का ज्ञान बिना प्रपञ्च की सहायता से नहीं हो सकता। जगत् के भीतर से ही ब्रह्म के तत्त्व का अभ्यास कराया जाता है। इसके लिए वेदान्त के ग्रन्थों में बड़ी सुन्दर तथा वैज्ञानिक व्याख्या-पद्धति समझाई गई है। प्रथमतः आत्मा के ऊपर देह-धर्मों का आरोप कर देना चाहिए, अर्थात् आत्मा ही शरीर, मन, बुद्धि आदि समस्त पदार्थ है, इस धारणा को ही प्रथमतः शिष्य के सामने रखना चाहिए। इसका नाम है—अध्यारोप-विधि। अब युक्ति के बल पर

दिखलाना चाहिए कि आत्मा न तो बुद्धि है, न मन है और न शरीर है; वह इन सबसे भिन्न ही है। इस प्रकार एक एक आरोपित धर्म को आत्मा से हटाते जाना चाहिए। इस प्रकार हटाते-हटाते जो अन्तिम कोटि में शेष रह जाता है वही होता है आत्मा का सच्चा रूप। इसका नाम है—अपवाद-विधि। ये दोनों एक ही पद्धति के दो अंश हैं। इस विधि से शिष्य को आत्मा या ब्रह्म के यथार्थ रूप का, सच्चिदानन्द रूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है। अज्ञात तत्त्व के मूल्य तथा रूप को जानने के लिए इस पद्धति का उपयोग आज का 'बीजगणित' भी निश्चय रूप से करता है[३७]।

अपरोक्ष-ज्ञान का उदय

ब्रह्मवेत्ता गुरु अधिकारी और प्रपन्न शिष्य को 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है कि 'तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो।' इस महावाक्य का शब्दबोध आगे बतलाया जायगा। यहाँ इसके फल का विचार करना है। फलोदय में दो मत हैं। वाचस्पति मिश्र मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' का अनुकरण कर शब्द से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति बतलाते हैं[३८], जो मनन, निदिध्यासन आदि योगप्रक्रियाओं के द्वारा अपरोक्ष रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरूपदेश के अनन्तर वाक्यार्थ का मनन तथा ध्यान-धारणा का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक होता है। अनन्तर अपरोक्षानुभूति की उत्पत्ति होती है[३९]। यहाँ पर सुरेश्वराचार्य की सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। आवरणों की सत्ता होने से यदि सद्यः ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती तो उन्हें दूर करने के लिए मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्द सुनते ही सद्यः अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। 'दशमस्त्वमसि' (तुम ही दसवें हो) इस लौकिक वाक्य से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का रहस्य समझा जा सकता है। नदी पार कर लेने के बाद दसों मूर्ख गिनती से नौ ही आदमियों को पाकर शोक से उद्विग्न हो रहे थे। गिननेवाला गिनती करते समय अपने ही को भूल जाता था, परन्तु जब एक दूसरे व्यक्ति ने आकर उपदेश दिया कि दसवें तुम ही हो, तब वाक्य स्मरण करते ही उनका शोक विलीन हो गया। इसी प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होकर आनन्द का उदय सद्यः होता है[४०]। आचार्य का अपना मत यही जान पड़ता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्र तथा व्याकरणागम में विशिष्टरूपेण किया गया है। भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान का मूलभेद यहीं से आरम्भ होता है।

आत्मसाधना : विभिन्न मत

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन—आत्मा की सिद्धि के ये त्रिविध साधन हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बृहदारण्यक उपनिषद् आत्मा की सिद्धि इसी क्रम से बतलाता है। परन्तु इनकी उपादेयता के विषय में अद्वैत के आचार्यों में मतभेद है—

(१) वाचस्पति इसी क्रम से तीनों को आत्मदर्शन में हेतु मानते हैं। श्रवण मनन को उत्पन्न करता है, क्योंकि जबतक विषय का यथार्थ ज्ञान श्रवण द्वारा नहीं होता, तबतक उसका मनन ही क्योंकर हो सकता है? शास्त्रों के विषय का विचार (मनन) कर लेने पर ही उसका ध्यान (निदिध्यासन) सम्भव होता है। वे इन तीनों को इसी क्रम से सम्मिलित होकर ब्रह्म-साक्षात्कार में मिलकर कारण मानते है।

(२) विवरण सम्प्रदाय के अनुसार श्रवण ही साक्षात् कारण होता है तथा मनन-निदिध्यासन श्रवण के सहायक होने के हेतु परम्परया कारण होते हैं। घटकी उत्पत्ति में मुख्य कारण मृत्तिका है तथा चक्र, डोरा, कुलाल उसके निमित्त कारण होते हैं। उसी प्रकार यहाँ 'श्रवण' की प्रमुखता है, क्योंकि किसी वस्तु के ज्ञानके लिए शब्द तथा शब्दार्थ दोनों का ज्ञान वस्तुतः कारण होता है। मनन और निदिध्यासन उस शब्दार्थ के ज्ञान को दृढ तथा सुव्यवस्थित बनाते हैं। फलतः श्रवण की मुख्यता है; अन्य दोनों की गौणता।

(३) सुरेश्वराचार्य का मत कुछ विलक्षण है। वे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के क्रम को नैसर्गिक मानते हैं और तीनों को सम्मिलितरूपेण ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण मानते हैं। वे श्रवण तथा मनन को प्रथमतः सम्मिलित करने के पक्षपाती हैं। शास्त्र का श्रवण और युक्तियों द्वारा शास्त्र के अर्थ का मनन बारबार आवृत्तिरूपेण तबतक करना चाहिए, जबतक ये दोनों निदिध्यासन उत्पन्न नहीं करते। उसे वे ब्रह्म-साक्षात्कार का वस्तुतः आरम्भिक भाग ही स्वीकारते हैं।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

अद्वैतियों के सामने प्रश्न था कि उपाधिविशिष्ट क्लेश-कर्मादिकों में बद्ध जीव को निरुपाधि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावी-ब्रह्म से एकता क्योंकर सिद्ध की जा सकती है? 'तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८।७) इसी तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

इस महावाक्य का स्पष्ट अर्थ है कि त्वम् (= जीव) तत् (= ब्रह्म) हो, अर्थात् ब्रह्म और जीव की एकता है। दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। यह दोनों के अभेद का प्रतिपादक वाक्य है, परन्तु इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं जमता। जीव तथा ब्रह्म में अनेक विरुद्ध धर्मों की स्थिति है। जीव अल्पज्ञ तथा अणु है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है। इस परिस्थिति में दोनों की एकता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? उपनिषद् के इस महनीय वाक्य का तात्पर्य क्या है? आचार्यों का कहना है कि 'आद्यवृत्ति' के द्वारा इस वाक्य के अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता। इसके लिए 'लक्षणा' की आवश्यकता होती है। वही उस वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक बतलाती है[४१]।

अद्वैत वेदान्त की शिक्षा का निचोड़ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में दिया गया है। जीव तथा ब्रह्म दोनों में पूर्ण अभेद है। यही वेदान्त की शिक्षा है।

'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ

दोनों में शुद्ध चैतन्य को लेकर ही एकता मानी जाती है। इसे एक दृष्टान्त के द्वारा समझना चाहिये। 'यह वही देवदत्त है' इस तादात्म्य-सूचक वाक्य के अर्थ पर ध्यान दीजिये। जिस देवदत्त को हमने कल देखा था आज का यह देवदत्त वही है। यहाँ कल देखे गये देवदत्त का आज देखे गये देवदत्तके साथ अभिन्नता तथा तादात्म्य विद्यमान है, परन्तु दोनों देवदत्तों में अनेक विरुद्ध गुण भी हैं। तब दोनों में एकता कैसे सिद्ध हो सकती है? तात्कालिक और एतत्-कालिक इन दो विरुद्ध विशेषणों को हटा देने पर दोनों की एकता सिद्ध होती है। इसी उदाहरण की सहायता से 'तत्त्वमसि' का अर्थ समझा जा सकता है। 'तत्' का अर्थ है—अल्पज्ञ चेतन जीव तथा 'त्वम्' का अर्थ है—सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म। यहाँ अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ—दोनों आपस में विरुद्ध धर्म हैं। ऐसे धर्मों के रहने पर जीव तथा ब्रह्म में एकता तथा अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है? अतः इन विरुद्ध धर्मों को छोड़ देने पर केवल 'चैतन्य' अंश को ही लेकर दोनों में भेद सिद्ध हो सकता है, अर्थात् चेतन आत्मा तथा चेतन ब्रह्म दोनों एक हैं। भागवृत्ति लक्षणा के द्वारा यह एकता सिद्ध मानी जाती है।

साधन का मार्ग

वेदान्त के साधक को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की नितान्त आवश्यकता होती है। उसे वेदान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों को गुरुमुख से सुनना चाहिए (श्रवण)। अनन्तर अधीत विषय के ऊपर युक्ति तथा तर्क के द्वारा स्वयं मनन

करना चाहिए (मनन) तथा मनन के बाद उस विषय के ऊपर निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। तभी उसे आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व का पूर्ण ज्ञान तथा सच्चा बोध होता है। इस एकता का ज्ञान उसे परोक्ष रूप से न होकर अपरोक्ष रूप से करना चाहिए। केवल शाब्दिक ज्ञान से उसे लाभ ही क्या? यह तो केवल परोक्ष ज्ञान का जनक होता है। अपरोक्ष-ज्ञान स्वानुभूति पर आश्रित रहता है। साधक को गुरु उपदेश देता है—तत् त्वमसि—अर्थात् तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो। परन्तु इस उपदेश पर निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करना पड़ता है। तब वह परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत होता है। साधक अनुभव करता है—अहं ब्रह्मास्मि—मैं भी ब्रह्म हूँ। इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेदभाव मिट जाता है, एकत्व का ज्ञान हो जाता है, भ्रम दूर भाग जाता है तथा साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वह ज्ञान भारभूत है जो क्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता।

मुक्ति के भेद

मोक्ष प्राप्त करनेवाले पुरुष का शरीर जारी रहता है, क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। वह व्यक्ति अब संसार के प्रपञ्च में नहीं पड़ा रहता। न मोह उसे सताता है, न शोक उसे अभिभूत करता है। संसार उसके लिए अवश्य चलता रहता है, परन्तु वह उसके दुःखों से स्पृष्ट नहीं होता। संसार की अनुभूति होती है उसके लिए, परन्तु वह बाधित रूप में ही होती है। ऐसे पुरुष को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। 'जीवन्मुक्त' का अर्थ है—इसी जीवन में, जीते जी दुःखों से मुक्ति पा लेनेवाला व्यक्ति। पूर्व अवस्था से इस अवस्था की तुलना से दोनों में जमीन आसमान का अन्तर होता है। कर्म के तीन प्रकार होते हैं—(१) संचित (पूर्व जन्म का इकट्ठा कर्म), (२) प्रारब्ध (पूर्व जन्म के वे कर्म जिनका फल भोग रहा है) तथा (३) संचीयमान (वे कर्म, जो इस जन्म में जमा हो रहे हैं)। तत्त्व-ज्ञान के द्वारा संचित कर्म का नाश तथा संचीयमान कर्म का निवारण किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश तो भोग के द्वारा ही होता है। जब भोग होने से प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब वह कर्म भी शान्त हो जाता है। कुम्भकार का चाक दण्ड हटा लेने पर भी कुछ काल तक पूर्व अभ्यास के वश से चलता ही रहता है, पर वह भी धीरे-धीरे शान्त हो जाता है और गति बन्द होने से वह एकदम रुक जाता है। इस दशा में जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर का अन्त हो जाता है। उस समय विदेह-मुक्ति जीव को प्राप्त हो जाती है।

मुक्ति का रूप

मुक्ति का स्वरूप समझने के लिए वेदान्ती लोग एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। किसी मनुष्य के गले में सोने का हार है। उसे वह भूल कर इधर-उधर अपने से बाहर ढूंढता फिरता है, परन्तु किसी जानकार के उपदेश से उसे पता चलता है कि हार उसी के गले में है और तब उसकी प्राप्ति से वह प्रसन्न होता है। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है। मुक्ति न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य; न उसका उत्पादन होता है और न उसकी प्राप्ति, परन्तु जीव इसे भूलकर बाहर खोजता फिरता है। गुरु के उपदेश से अज्ञान और भ्रम दूर होता है, विवेक उत्पन्न होता है और वह व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति को पाकर प्रसन्न होता है। मुक्त पुरुष अपनी एकता सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रतिष्ठित करता है। फलतः वेदान्तमत में मुक्ति की दशा नितान्त आनन्दमयी दशा है। जीव और ब्रह्म की भेद-भावना से उत्पन्न होने वाले दुःखों की केवल निवृत्ति ही नहीं हो जाती, प्रत्युत साधक को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। अज्ञान आवरण के हट जाने से पूर्ण ज्ञान के आलोक से वह उद्भासित हो उठता है और ब्रह्म की अनुभूति से वह कृतकृत्य हो जाता है।

शंकर मत की मौलिकता

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में आलोचकों ने मौलिकता की खोज की है। आचार्य शंकर से पहले इस भारतभूमि में अनेक प्रकार के अद्वैतवाद का प्रचार था।

शंकर से प्राचीन अद्वैत मत

माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्यद्वैत तथा भर्तृहरि और तदनुयायी मण्डन मिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन हैं। प्रथम दो मतों का विशेष वर्णन बौद्धदर्शन के प्रसंग में किया गया है तथा शक्त्यद्वैत का विवेचन आगे किया जायगा। भर्तृहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द की ही अद्वैत कल्पना स्वीकृत की गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—इन चतुर्विध वाणी-विभेद में 'परा वाक्' साक्षात् ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डन मिश्र भी भर्तृहरि के मतानुयायी प्रतीत होते हैं। अभी प्रकाशित 'ब्रह्मसिद्धि' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे, श्रवण से परोक्ष ज्ञान का उदय मानकर 'उपासना' को ब्रह्म-साक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे तथा वे 'ज्ञानकर्म—समुच्चय' के पक्षपाती

थे, जिसके अनुसार भी मोक्ष की उत्पत्ति में अग्निहोत्रादि वैदिक कृत्यों का अवश्यमेव उपयोग है। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। शंकर शाक्ताद्वैत से परिचित थे। 'सौन्दर्यलहरी' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है। अत: शंकर अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं, परन्तु कतिपय आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्दसाम्य के बल पर ब्रह्मवाद को शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मानते हैं, तथा प्राचीन द्वैतवादी आलोचकों ने भी शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है, परन्तु बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन के तारतम्य परीक्षण से निश्चित हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ आधारों पर है। 'शान्तरक्षित' ने तत्वसंग्रह (कारिका ३२८-३३१) में 'अद्वैतदर्शनावलम्बी' औपनिषद मत का खण्डन किया है। यदि अद्वैत में बौद्धमत की तनिक भी झलक होती, तो शान्तरक्षित तथा कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिक इसका बिना उल्लेख किये कैसे रहते ? बौद्धों का विज्ञान अनित्य और नाना है, शङ्करमत में विज्ञान नित्य तथा एक है; विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नावभास है, परन्तु शङ्करमत में ऐसा नहीं। चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य सत्' रूप नहीं है, पर शङ्करमत में 'ब्रह्म' तद्रूप है। ये अनेक मौलिक धारणायें भिन्न-भिन्न हैं। अत: शङ्कर को अद्वैत कल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी ठहराना असंगत प्रतीत होता है। शंकर के अनन्तर अनेक प्रौढ वेदान्तियों ने अपने नवीन मतवाद का विवरण प्रस्तुत किया है[१२]।

उपसंहार

अद्वैत वेदान्त का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्मविषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्कविषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। आचार्य ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही है, उन्हें पुष्ट करने के लिए तथा अन्य मतों के निराकरण के वास्ते उन्होंने आगमरहित तर्क से विपरीत वेदशास्त्रानुकूल तर्क का विशेष उपयोग किया है। आचार्यप्रतिपादित साधन-मार्ग भी नितान्त मनोरम हैं। वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। इन्हीं कारणों से जनसाधारण में भी इसकी इतनी लोकप्रियता है। बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में कुमारिलभट्ट के साथ शंकराचार्य का भी बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य श्रीविद्या के उपासक परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के

अवतार माने जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने मायावाद को भक्ति से नितान्त विरोधी मान कर उसका खण्डन बड़े समारोह के साथ किया। इतना होने पर भी आचार्य का अद्वैत वेदान्त इस विश्व की पहेली को समझाने में जितना सफल हुआ, उतना दूसरा मत नहीं। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का इतना गौरव है।

अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत का पता हमें उपनिषदों में तो लगता ही है, उससे भी प्राचीन वैदिक संहिताओं में भी यह सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक रूप से जागरूक दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी विद्वानों का यह आग्रह है कि संहिताओं में कर्मकाण्ड पर ही जोर है, तथा ज्ञानकाण्ड का उदय कर्मकाण्ड के विरोध के रूप में उपनिषदों में सर्वप्रथम हुआ। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। उपनिषदों ने अपने सिद्धान्तों के लिए संहिताओं को ही अपना उद्गम स्वीकार किया है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन तथा व्यावहारिक धर्म होने के कारण वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा सर्वतोभावेन उचित तथा श्लाघनीय है।

वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। जो आलोचक वेदान्त के ऊपर निष्क्रियता की शिक्षा देने का आरोप लगाते हैं वे सत्य से बहुत दूर-हैं। वेदान्त विश्व के भीतर प्रत्येक जीव में, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाता है। जब सब जीव ब्रह्म के ही रूप हैं और प्राकारान्त से वे अपने ही अविभाज्य रूप ठहरते हैं, तब ईर्ष्या-द्वेष के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है? वेदान्त विषयसुख को तुच्छ सिद्ध कर जीवों को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन देता है। विषय का सुख क्षणिक होता है, परन्तु आध्यात्मिक सुख सच्चा तथा चिरस्थायी होता है। वेदान्त उसी की ओर बढ़ने के लिए जीवों में स्फूर्ति भरता है। वेदान्त प्रत्येक जीव में अनन्त-शक्ति-सम्पन्न होने की शिक्षा देकर उसे आगे बढ़ने का उपदेश देता है। नर से नारायण बनने का अमूल्य आदर्श वेदान्त हमारे सामने रखता है। वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है—वसुधैव कुटुम्बकम्। समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना। आज क्षुद्र स्वार्थ की भावना से ग्रस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिए वेदान्त की महनीय शिक्षा कितनी अमृतमयी है, इसे विशेष बतलाने की आवश्यकता नहीं। आज के पश्चिमी संसार में विशेषतः अमेरिका में वेदान्त के प्रचुर प्रचार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छिपा है।

त्रयोदश परिच्छेद

वैष्णव दर्शन

नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत है। ज्ञान और भक्ति की धारायें नारायण से आरम्भ होकर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती हैं। भगवान् ही अद्वैत दर्शन तथा वैष्णव दर्शनों के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञान-धारा प्रवृत्त हुई। शुक, गौडपाद, गोविन्द भगवत्पाद, शंकराचार्य—यह अद्वैत-मार्ग की मुख्य आचार्य-परम्परा है। वैष्णवधर्म के चारे प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा सनक-सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय भगवान् से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरु-परम्परा का क्रम प्रत्येक सम्प्रदाय में मिलता है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज 'विशिष्टाद्वैत' के, 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) 'द्वैत' के, रुद्रसम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ 'शुद्धाद्वैत' के, 'सनक-सम्प्रदाय' के आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। पाञ्चरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्रीवैष्णव मत पर पाञ्चरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में विष्णुपुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है। इस परिच्छेद में इन्हीं निगमागममूलक पाँचों वैष्णव दर्शनों का परिचय संक्षेप में क्रमशः दिया जायेगा।

(१) रामानुज दर्शन

दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त को अपने भक्तिमय पद्यों तथा गायनों से आनन्द-विभोर बनानेवाले वैष्णव सन्तों का नाम 'आलवार' है। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ अध्यात्म-ज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान् नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तमिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पद्यों की

आलवार

रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध 'आलवारों' में अनेक नीच जाति के भी पुरुष थे। सुनते हैं कि सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे, 'तिरुमंगै' आलवार जाति से नीच और कर्म से बड़े भारी डाकू थे, गोदा या ओण्डाल स्त्री थी। भगवान् के दरबार में जातिपाँति का आदर नहीं होता, वहाँ पहुँचने में केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। 'आलवारों' ने अपने जीवन से इस सत्य को यथार्थ प्रमाणित कर दिया। 'आलवार' संख्या में १२ माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नालायिर प्रबन्ध' (चतुःसहस्र पद्यात्मक) कहा जाता है, जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का अनमोल खजाना है। इनका आविर्भाव काल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।

आलवारों के नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इनके जीवन की घटनायें बड़े विस्तार के साथ लिखी गई हैं। इन भक्तों का आदर इतना अधिक है कि वैष्णव मन्दिरों में इनकी मूर्तियों की स्थापना की गई है, जहाँ इनके मधुर पद आज भी गाये जाते हैं तथा इनकी प्रभावशालिनी जीवन-घटनाय नाटक के रूप से सर्वसाधारण के उपदेश के लिए दिखाई जाती हैं। इनके पद वेदमन्त्रों के समान पवित्र तथा मुक्तिरूपी गंगा के बहानेवाले हैं। पवित्रता और आध्यात्मिकता के कारण इन पदों का पूर्वोक्त संग्रह 'तमिलवेद' के महनीय नाम से पुकारा जाता है। इनके नाम पराशरभट्ट ने एक सुन्दर श्लोक में दिए हैं—

> भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ-
> श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान्।
> भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
> श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

आरम्भ के तीन आलवारों के नाम 'पोयगै' आलवार (सरोयोगी), 'भूतत्तालवार' (भूतयोगी), 'पेयालवार' (महद्-योगी) है। ये प्रायः समकालीन तथा सबसे प्राचीन माने जाते हैं। चौथे भक्त का नाम 'तिरुमळिशै आलवार (भक्तिसार) है, जो उनकी जन्मभूमि तिरुमळिशै के कारण है। पञ्चम आलवार इन भक्तों की श्रेणी के मुकुटमणि माने जाते हैं इनका नाम 'नम्मालवार' या परांकुशमुनि या शठकोपाचार्य है। इन्होंने चार सुप्रसिद्ध भक्तिज्ञानपूरित ग्रन्थरत्नों की रचना की है—(क) तिरुविरुतम (ख) तिरुवाशिरियम्,

(ग) पेरियसिरुवन्दादि, (घ) तिरुवाँयमोलि। साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित ये ग्रन्थ आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रदर्शक होने के कारण श्रीवैष्णव ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चारों ग्रन्थ चारों वेदों के समकक्ष स्वीकृत किये गये हैं। वेदान्तदेशिक ने अन्तिम ग्रन्थ को 'द्रविडोपनिषद्' कहा है, तथा उसका संस्कृत भाषा में अनुवाद भी किया है। श्रीवैष्णवों के मौलिक सिद्धान्त—मूल मन्त्रद्वय तथा चरम श्लोक—का प्रतिपादन होने से वैष्णव समाज में समधिक आदर के भाजन हैं। योगी शठकोपाचार्य के शिष्य (६) 'मधुरकवि' ने अपने गुरुदेव का पवित्र चरित्र लिखकर गुरु-भक्ति को ईश्वर-भक्ति के समान ही आदरणीय बतलाया है। (७) 'कुलशेखर' आलवार मालबार प्रान्त के प्रजारक्षक राजा थे। राज्य-वैभव को लात मारकर ये श्रीरंगम् में एक साधारण निर्धन भक्त के समान जीवन यापन करते थे। इन्होंने 'पेरुमाल तिरोमोलि' की रचना तमिल भाषा में और 'मुकुन्द माला' की रचना संस्कृत में की है, जो भाषा और भाव के सौन्दर्य के कारण रसिक-समाज में नितान्त प्रख्यात है। (८) 'पेरिय आलवार' का दूसरा नाम 'विष्णुचित्त' है जिन्होंने दक्षिण के एक बड़े राजा को वैष्णव बनाया था। (९) 'गोदा' या ओण्डाल को विष्णुचित्त अपनी पुत्री के समान मानते थे। ओण्डाल कृष्ण के प्रेम में सदा मस्त रहती थी। वह श्रीरंगम् के रंगनाथजी को अपना पति मानती थी। गोपी-प्रेम की झलक ओण्डाल के जीवन तथा काव्य में भरपूर मिलती है। इनके 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोलि' नामक काव्य-ग्रन्थ भक्तिरस से विभोर भक्त जन के हृदयोद्गार हैं। (१०) 'तोण्डरडिपोलि, (विप्रनारायण) की उपाधि 'भक्तपदरेणु' है, क्योंकि वे श्रीरंगम् के मन्दिर में आनेवाले समस्त भक्त जनों का चरणामृत लिया करते थे। (११) 'तिरुप्पाण' (मुनिवाहन, योगवाहन) जाति से अछूत थे, पर भक्ति में पहुँचे हुए भक्त थे। (१२) 'तिरुमंगै' 'आलवार (नीलन्, परकाल) अछूत जाति के बड़े भयानक डाकू थे और लूट से मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिर बनवाते थे। इन्होंने छह पद्यग्रन्थों का निर्माण किया है जो तमिल भाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से नीलन् का स्थान शठकोपाचार्य से कुछ ही घटकर है। इन्हीं आलवारों के उद्योग का फल था कि परवर्ती काल में रामानुज को श्रीवैष्णव मत का प्रचार करने में इतनी सफलता प्राप्त हुई।

(क) विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

दशम शताब्दी में तमिल प्रान्त में वैष्णव धर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तमिल जनता में विष्णु-भक्ति के प्रचार करने का

श्लाघनीय उद्योग किया। ये 'आचार्य' कहलाते हैं। इन आचार्यों ने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय किया; तमिल वेद तथा संस्कृत वेद का गहरा अध्ययन कर इन लोगों ने तमिल वेद के सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों से पूरा सामञ्जस्य दर्शाया। इसी कारण ये 'उभय वेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और 'प्रपत्ति' मार्ग की प्रतिष्ठा कर एक नवीन वैष्णव मत चलाया, जो 'श्री' या 'लक्ष्मी' के आद्य प्रवर्तक होने के कारण 'श्रीवैष्णव' के नाम से विख्यात है।

आद्य आचार्य (१) रंगनाथमुनि (८२४ से ९२४ ई०) 'नाथमुनि' के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात हैं। ये शठकोपाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। इन्होंने लुप्तप्राय 'तमिल वेद' का पुनरुद्धार किया, श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की तथा वैदिक ग्रन्थों के ही समान इन ग्रन्थों का भी अध्यापन प्रारम्भ किया। इनके 'योगरहस्य' का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका 'न्याय-तत्त्व' विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है।

(२) यामुनाचार्य का विख्यात नाम 'आलवन्दार' है। ये नाथमुनि के पौत्र थे। ९७३ ई० के लगभग ये आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। नाथमुनि के बाद 'पुण्डरीकाक्ष' और 'राम मिश्र' आचार्य पद पर आरूढ थे। राम मिश्र के उद्योग करने पर यामुन ने राजसी वैभव का तिरस्कार कर वैष्णव मत के प्रचार में अपना शेष जीवन बिताया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(क) गीतार्थ-संग्रह, (ख) श्रीचतुश्श्लोकी (लक्ष्मी की स्तुति), (ग) सिद्धित्रय (आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, माया-खण्डन तथा आत्म-विषय-सम्बन्ध प्रतिपादक संवित्-सिद्धि), (घ) महापुरुषनिर्णय (विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन) (ङ) आगमप्रामाण्य (पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन), (च) आलवन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न)। यामुन के ग्रन्थों में सबसे अधिक लोकप्रिय इस स्तोत्र के ७० पद्यों में 'आत्मसमर्पण' के सिद्धान्त का मनोरम वर्णन है। कविहृदय की भक्ति-भावना इन सरस पदों में फूट कर बह रही है।

(३) रामानुजाचार्य—(१०३७–११३७ ई०)। ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे, परन्तु गुरु के अद्वैतमत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़कर अन्य आचार्यों से वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया। ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान

आचार्य बने। पत्नी से मतभेद, संन्यासग्रहण, शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर मैसूर में भाग आना, मेलकोट में लगभग १२ वर्ष तक निवास तथा बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) को वैष्णव मत में दीक्षित करना—आदि इनकी जीवन-घटनायें नितान्त प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'श्रीभाष्य' (रचनाकाल ११०० के आसपास) की स्वयं रचना कर, अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशर भट्ट के द्वारा विष्णुसहस्रनाम पर पाण्डित्यपूर्ण 'भगवद्गुण-दर्पण' भाष्य और अपने मातुलपुत्र कुरुकेश के द्वारा नम्मालवार के 'तिरुवायमोलि' पर तमिल भाष्य का निर्माण कराकर रामानुज ने यामुन के तीनों मनोरथों की पूर्ति कर दी। आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (शांकर और भास्कर मत का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ—सुदर्शनसूरि की 'तात्पर्यटीका' विख्यात व्याख्या है), (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षर टीका, (३) वेदान्तदीप—यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है, पर सार से विस्तृत है; (४) गद्यत्रय—(ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ), (५) गीताभाष्य (वेदान्तदेशिक कृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका), (६) श्रीभाष्य—रामानुज के पांडित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत, प्रामाणिक विवेचन है। इन्होंने बोधायन, टंक, द्रमिळ, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के व्याख्यानों पर इस विशिष्टाद्वैत मार्ग का अवलम्बित होना बतलाया है (वेदार्थ-संग्रह, पृ० १०८)।

परवर्ती आचार्यों ने श्रीभाष्य के गूढार्थ को प्रकट करने लिए अनेक वृत्तिग्रन्थों की रचना की है—(१) सुदर्शनसूरि' (१३ श०) की 'श्रुतप्रकाशिका' भाष्यवृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, (२) इनके पहले भी 'राममिश्र देशिक' ने 'श्रीभाष्यविवृत्ति' लिखी थी, (३) 'वात्स्यवरद' कृत 'तत्त्वसार', (४) 'वेदान्तदेशिक'-कृत 'तत्त्वटीका', (५) 'वीरराघवदास' (१४ श०) की 'तात्पर्यदीपिका', (६) 'मेघनादारि' कृत 'नयप्रकाशिका', (७), परकालयति' की 'मितप्रकाशिका'—आदि टीकायें श्रीभाष्य के गौरव को बढ़ानेवाली हैं।

दो मत

आचार्य रामानुज की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो बड़े स्वतन्त्र मत उठ खड़े हुए। एक पक्ष तमिल वेद की ही प्रामाणिकता अक्षुण्णभावेन स्वीकार करता था तथा संस्कृत के निबन्ध-ग्रन्थों में आस्था नहीं रखता था; तमिळ के पक्षपाती इस मत का नाम 'टेंकले' है। दूसरा पक्ष

दोनों को प्रमाण-कोटि में मानता था, पर संस्कृताभिमानी था। इस मत का नाम 'वडकले' है। दोनों में भाषाभेद के अठारह सिद्धान्तगत पार्थक्य भी हैं, जिनमें 'प्रपत्ति' के विषय में विशेष पार्थक्य है। 'टेंकले' मत के अनुसार प्रपत्ति के लिए जीव को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती; शरणापन्न होते ही भगवान् स्वयं जीव का उद्धार करते हैं परन्तु 'वडकले' मत में जीव को प्रपत्ति के लिए भी कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। मार्जारकिशोर (बिल्ली का बच्चा) और कपिकिशोर (बन्दर का बच्चा) के दृष्टान्त इन मतों के भेद को समझाने के लिए ग्रन्थों में क्रमशः दियये जाते हैं। मार्जारकिशोर स्वयं निश्चेष्ट रहता है। कपिकिशोर की दशा इससे विपरीत है; वह शरणागत होने पर भी अपनी माता के शरीर की ओर से पकड़े रहता है। भक्त को भगवान् के शरण में जाने पर भी अपने कर्तव्य-कर्मों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। रामानुज के इन मतों में यही प्रपत्ति-विषयक मतभेद है। 'टेंकले' मत के प्रतिष्ठापक श्रीलोकाचार्य (१३ शतक) थे, जिन्होंने 'श्रीवचनभूषण' ग्रन्थ में इस प्रपत्तिपन्थ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है। 'वडकले' मत के प्रतिष्ठापक व्याख्यात 'वेदान्तदेशिक' थे, जो लोकाचार्य के समकालीन थे। लोकभाषा पर पक्षपात दिखलाने के कारण आजकल टेङ्कले मत का प्रचार प्रसार तथा प्रभाव दक्षिण भारत में विशेष रूप से दृष्टि-गोचर होता है।

रामानुज सम्प्रदाय की ग्रन्थसम्पत्ति शाङ्करमत से कम नहीं है, परन्तु प्रकाशित विशिष्टाद्वैत साहित्य ग्रन्थों की संख्या बहुत नहीं है। विख्यात ग्रन्थकारों का का ही यहाँ निर्देश करना प्राप्त होगा—

(१) सुदर्शनसूरि—ये वरदाचार्य (१२००—१२७४ ई०) के शिष्य थे जिन्होंने अपने गुरु के व्याख्यानों के आधार पर श्रीभाष्य की प्रसिद्ध व्याख्या, 'श्रुत-प्रकाशिका' लिखी। इसके अतिरिक्त श्रुतिदीपिका, उपनिषद्-व्याख्या, वेदार्थसंग्रह पर 'तात्पर्यदीपिका' और भागवत 'पर शुकपक्षीय टीका' प्रसिद्ध हैं।

(२) वेंकटनाथ—(१२६९-१३६९ ई०)—वेदान्ताचार्य के नाम से विख्यात हैं। इनकी कोटि का विद्वान् श्रीवैष्णव पन्थ में दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी 'कवितार्किकसिंह' तथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि यथार्थ है। ये कवि, तार्किक, विचारक, शास्त्रार्थवावदूक के रूप में समभावेन आदरणीय हैं। इनके काव्यग्रन्थों में संकल्पसूर्योदय, हंसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, पादुकासहस्र काव्य-दृष्टि से अनुपम हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में मुख्य ये हैं—तत्त्वटीका (श्रीभाष्य पर

विस्तृत व्याख्या), अधिकरणसारावली (ब्र० सू० के अधिकरणों का पद्यमय विवेचन), तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ), न्यायपरिशुद्धि और न्यायसिद्धाञ्जन में विशिष्टाद्वैत मत की प्रमाण-मीमांसा वर्णित है, गीतार्थतात्पर्य-चन्द्रिका (रामानुज के गीताभाष्य की टीका), ईशावास्यभाष्य, द्रमिडोपनिषद्-तात्पर्यरत्नावली, शतदूषणी (रामानुजदास कृत 'चण्डमारुत' टीका; अद्वैत का विविध प्रकार से प्रचण्ड खण्डन)। 'सेश्वरमीमांसा' का परिचय पहले दिया गया है। पाञ्चरात्ररक्षा, सच्चरित्ररक्षा, निक्षेपरक्षा, न्यासविंशति—आदि निबन्ध प्रपत्ति और धर्म-विषयक महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं। इनके मामा आत्रेय रामानुज का 'नयकुलिश' तर्कविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

(३) लोकाचार्य—इनका जन्म १२६४ ई० में हुआ था और इस प्रकार ये वेदान्तदेशिक तथा सुदर्शनसूरि ('श्रुतिप्रकाशिका' के कर्ता) के समकालीन थे। १३२७ ई० में श्रीरंगम् पर जब मुसलमानों ने आक्रमण किया, तब मन्दिर की रक्षा का भार लोकाचार्य के ऊपर ही पड़ा। श्रीरंगनाथकी मूर्ति को लेकर ये उसकी रक्षा के लिए यत्र-तत्र प्रयत्न करते थे, परन्तु अन्त में ये रक्षा-कार्य में मुसलमानों के द्वारा मारे गये। फलतः इनका समय १२६४ ई० से लेकर १३२७ ई० तक था। 'तत्त्वशेखर' नामक ग्रन्थ में लोकाचार्य ने अपने १८ 'रहस्य' ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनमें चार प्रकाशित तथा मुख्य हैं—(१) तत्त्वशेखर, (२) अर्थपञ्चक, (३) तत्त्वत्रय और (४) श्रीवचनभूषण। इनमें प्रथम तीन का सम्बन्ध दार्शनिक विवेचन से है, तथा अन्तिम का सम्बन्ध धार्मिक विवरण से है। श्रीवैष्णव आचार्यों के इतिहास में लोकाचार्य का अत्यधिक महत्त्व है। ये टेंकलै मत के संस्थापक थे, जिसके अनुसार प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती।

(४) वरवरमुनि (१५ श०)—टेंकलै मत के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने लोकाचार्य के ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं तथा 'तमिलवेद' के भाष्यों का प्रचुर प्रचार किया।

(५) श्रीनिवास (१६ श०) की 'यतीन्द्रमतदीपिका' रामानुजमत का लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(६) रङ्गरामानुज (१६ श०) ने ब्रह्मसूत्र, श्रीभाष्य और न्याय-सिद्धाञ्जन पर टीकायें लिखीं। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर विशिष्टाद्वैती भाष्य एवं रामानुजसिद्धान्तसार नामक प्रकरणग्रन्थ की भी रचना की।

(ख) रामानुज की तत्त्वमीमांसा

रामानुज के अनुसार तीन तत्त्व होते हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। इनमें 'चित्' का अर्थ है—जीव, अचित् का प्रकृति या जड तत्त्व और सबके

ईश्वर

अन्तर्यामी तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर चित् तथा अचित् दोनों तत्त्वों से युक्त होता है। वही एकमात्र सत्ता है, उसे छोड़कर कोई स्वतन्त्र सत्ता जगत् में नहीं है। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन ही होकर रहते हैं, क्योंकि ईश्वर भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड पदार्थ) इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। इसीलिए चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ईश्वर सगुण तथा सविशेष है। रामानुज जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना को असम्भव मानते हैं। संसार के समग्र पदार्थ गुण-विशिष्ट ही होते हैं। यहाँतक कि निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है[1]। ईश्वर कल्याण-गुणों का आकर, अनन्त-ज्ञान, आनन्द रूप और ज्ञान-शक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित तथा जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य का कर्ता है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो 'निर्गुण' कहा गया है उसका यही तात्पर्य है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते। रामानुज ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर जगत् में तीन पदार्थों की कल्पना है। श्वेताश्वतर का भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता यह त्रिविध ब्रह्म यहाँ क्रमशः चित्, अचित् तथा ईश्वर के रूप में गृहीत किया गया है[2]।

वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है—(१) सजातीय भेद (उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भेद, जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद), (२) विजातीय भेद (गाय का भैंस से भेद), (३) स्वगत भेद (अर्थात् एक वस्तु में एक अंग का दूसरे अंग से भेद, जैसे गाय के सींग तथा पूँछ में)। रामानुज के मत में ईश्वर में प्रथम दोनों भेद तो अवश्य रहते हैं, परन्तु अन्तिम भेद नहीं रहता। ईश्वर का चित् अंश अचित् अंश से भिन्न होता है। ऐसी दशा में ईश्वर में स्वगत-भेद विद्यमान रहता है। शङ्कर से यहाँ भी अन्तर पड़ता है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्म इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर में तीसरा भेद विद्यमान रहता है। ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है। प्रलयमयी दशा में जगजीवों का तथा भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है, तब भी चित् तथा अचित् दोनों

तत्त्व अपनी जीवावस्था में ब्रह्म में विद्यमान रहते हैं। उस दशा में विषयों का प्रभाव होने के कारण ब्रह्म शुद्ध चित् (शरीररहित जीव) से तथा अव्यक्त अचित् (निर्विषयक भूत तत्त्व) से युक्त रहता है और वह 'कारण ब्रह्म' कहलाता है। पुनः जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है। उस समय वह कार्यब्रह्म कहलाता है।

ईश्वर तथा अंश-सम्बन्धी प्रश्न की मीमांसा के लिए आचार्य श्रीरामानुज ने द्रव्य तथा गुण अथवा द्रव्य तथा अन्य द्रव्य में विद्यमान रहनेवाला 'अपृथक्-सिद्धि' नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया है। यह सम्बन्ध न्यायवैशेषिक-सम्मत समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न है। समवाय बाह्य सम्बन्ध है, परन्तु अपृथक्-सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है चिदचित् का सम्बन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के नितरां अनुरूप है। शरीर वही है जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचित् को आश्रित करता है तथा कार्य में प्रवृत्त करता है[३]। इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है; जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा 'विशेषण' कहलाता है। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य अथ च अप्रधान होने के कारण जीव तथा जगत् विशेषण हैं। आत्मभूत ईश्वर के चिदचित् शरीर हैं, विशेष्यभूत ईश्वर के चिदचित् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना युक्तियुक्त है। ब्रह्म अद्वैतरूप है, क्योंकि अंगभूत चिदचित् की अंगी से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर सकल जगत् का निमित्तोपादान कारण है। रचना का प्रयोजन केवल लीला है, अन्य कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार वह लीलाधाम भगवान् जगत् को उत्पन्न कर खेल किया करता है। संहारदशा में लीला की विरति नहीं होती, क्योंकि संहार भी उसकी एक लीला ही है।

जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल रूप और सूक्ष्म रूप धारण करने से है। प्रलयकाल[४] में जीव-जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है और सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने पर स्थूल-चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। वह किसी भी अवस्था में निर्विशेष नहीं रह सकता। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से है। ब्रह्म समस्त

हेय गुणों से शून्य है। इसलिए वह 'निर्गुण' कहलाता है[५]। 'एकमेवाद्वितीयम्'—आदि वाक्यों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म है, जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों का यही कथन है[६]।

विशिष्टाद्वैत मत में ऐसी कभी दशा ही नहीं होती जब कि ब्रह्म विशिष्टता से हीन हो। प्रलयकाल में विषयों के अभाव में जीव तथा जगत् दोनों सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म इन सूक्ष्म जीव तथा जगत् से (चित् तथा अचित् से) विशिष्ट बना ही रहता है। सृष्टिदशा में ये दोनों व्यक्त रूप अर्थात् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। फलतः इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट रहता है। उसमें 'विशेष' रहता ही है, वह कभी भी निर्विशेष नहीं होता। 'विशिष्टाद्वैत' नाम में भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत है। यहाँ केवल ब्रह्म का अद्वैत नहीं होता (जैसा शंकराचार्य मानते हैं); प्रत्युत विशिष्ट (चित्-अचित् से विशिष्ट) ब्रह्म का ही अद्वैत होता है, अर्थात् चित्-अचित् जिसमें अंश रूप में विद्यमान रहते हैं ऐसा विशिष्ट ब्रह्म का अंशी रूप अद्वैत रूप में विद्यमान रहता है। शंकर मत से इसीलिए रामानुज वेदान्त की भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रख्यात है।

भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के (पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार) रूपों को धारण करता है। ईश्वर के इस पञ्चविध रूप की कल्पना रामानुज ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की।

अंश-अंशी विचार

ईश्वर के साथ चित् (जीव) तथा अचित् (भूत) का सम्बन्ध क्या है? यदि ईश्वर अंशी माना जाता है तो ये दोनों उसके अंश कैसे हैं? यदि भौतिक विकारों के होने पर अचित् अंश में विकार उत्पन्न होता है, तब तो ईश्वर को भी विकारी मानना पड़ेगा? उसी प्रकार अंशभूत जीव के दोषों से ईश्वर को भी दोषी होना ठहरता है। अंशभूत जीव में नाना दोष होते हैं, अतः अंशी ब्रह्म में भी ये दोष आरोपित अवश्यमेव किये जा सकते हैं? फलतः ब्रह्म विकारी तथा दोषी सिद्ध होता है। इस विषम स्थिति से बचने के लिए रामानुज ने दोनों के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा कर० सिद्धान्तरक्षा का दृढतर उपाय किया है। वे दोनों के सम्बन्ध को आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध के सदृश मानते हैं—जिस प्रकार आत्मा शरीर को भीतर से नियमित करता चलता

है, उसी प्रकार ईश्वर चित् अचित् को भीतर से नियमित करता है और इसलिए वह 'अन्तर्यामी' कहलाता है। जिस प्रकार शरीर यदि अन्धा या लँगड़ा हो जाय, तो आत्मा इन दोषों से स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार चित्-अचित् में दोषों के राजा-प्रजा के सम्बन्ध के साथ तुलना करते हैं—प्रजा के दुःखों से या सुखों से जिस प्रकार राजा प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार जीवों के दुःखों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वह अविकारी शुद्ध सत्ता है, जिसमें चित्-अचित् अंशरूप से विद्यमान रहकर भी अपनी क्रिया से उसे परिणामी नहीं बना सकते।

परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि ऊपर की दोनों उपमायें क्या ईश्वर और चिदचित् के सम्बन्ध को पूरी तरह से समझाती हैं? ईश्वर है अंशी और चिदचित् उसके अंश हैं, किन्तु राजा-प्रजा में तो अंशांशी सम्बन्ध होता नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध कैसे सुसंगत बैठता है? रामानुज जगत् को विशेष तथा ईश्वर को विशेष्य मानते हैं। यदि यह ठीक है तो जगत् के दोषों के आरोपण से ईश्वर बच नहीं सकता। रामानुज को भी अपने सिद्धान्त में इस परस्पर-विरोध की सत्ता का आभास था, क्योंकि इन्होंने एक स्थान पर स्पष्टतः स्वीकार किया है कि ब्रह्म यथार्थ रूप में अपरिणामी है और वह जगत् के विकारों से विकृत नहीं होता[1]। इसका फल यह निकलता है कि विकारशील अचित्, ईश्वर का यथार्थ आन्तरिक स्वरूप न होकर केवल बाह्य रूप है। इस वस्तु-स्थिति से बचने का जो भी उपाय किया जाय, इतना तो सत्य प्रतीत होता है कि परिणामी अचित् को ईश्वर का आन्तरिक अंश मानना और साथ ही साथ ईश्वर में परिणाम न मानना ऐसा विरोधाभास है जो रामानुज के मूल सिद्धान्त को बहुत कुछ दुर्बल बनाता है।

अद्वैत मत से पार्थक्य

इस प्रकार रामानुज की ईश्वरकल्पना शांकर मत की कल्पना से भिन्न है। शांकर मत में (१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं है, (२) ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है, (३) ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में (१) चिदचित् रूप शरीरविशिष्ट ब्रह्म सत्य है, इसके तथा उसके शरीर (जीव और जगत्) से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है; (२) सजातीय-विजातीय भेद से शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद से शून्य नहीं है; (३) ब्रह्म सविशेष ही है,

---

१. श्रीभाष्य २।१।१४

स्वभाव से ही उसमें कल्याणकारी गुणों की सत्ता है, प्राकृत हेय गुणों से वह सर्वथा हीन है। शांकर मत में (४) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है, परन्तु जड जगत् प्रातिभासिक (मिथ्या) ही है। अतः तत्त्व एक ही है। रामानुज के अनुसार (४) ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।

जीव

चित्

अब 'चित्' के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड है। सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुख-पूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को आनन्दरूप सिद्ध करता है। हृत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुण्डक (३।१।९) और श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं।[७] जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता है। जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' विद्यमान है, अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है; ईश्वरानुग्रह के बिना अपने कर्तव्यों का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। जीव की विशिष्टाद्वैतवादी कल्पनायें अद्वैतवादियों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहरती हैं। जहाँ अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैती उसे अणु मानते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है, पर रामानुज मत में जीव अनन्त हैं और वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध

देह तथा देही के समान जीव ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है, जीव दुःखत्रय से नितरां पीडित है। ऐसी दशा में ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है? "ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव) का अधिपति है"; 'जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है"; दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश; एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ"—आदि भेद मूलक श्रुतियाँ[८] जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक्, स्वतन्त्र बतलाती हैं। अतः दोनों का अभेद बतलाना वास्तव नहीं है। ब्रह्म अखण्ड है, तब जीव को उसका खण्ड बतलाना कहाँतक उचित है? रामानुजका कहना है कि चिनगारी

जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है; उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। अभेदश्रुतियों का भी यही तात्पर्य है कि जीव ब्रह्मव्याप्य तथा ब्रह्म का शरीर है। अतः जीव-ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध है।

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध रामानुज मत में अभेदसूचक एकता नहीं है। जीव है अल्पज्ञ तथा अनन्त और ईश्वर है सर्वज्ञ तथा एक। ऐसी दशा में दोनों का अभेद कैसे बन सकता है? इसके उत्तर में रामानुज का कथन है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और भीतर से उसका नियमन करता हुआ 'अन्तर्यामी' है। इसी दृष्टि से दोनों में अभेद माना जा सकता है। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर रहता है और गुण का द्रव्य पर, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ईश्वर के ऊपर निर्भर रहता है, क्योंकि जीव है अंश और ईश्वर है अंशी; जीव है नियम्य और ईश्वर है नियामक; जीव है आधेय और ईश्वर है आधार। इस तरह के सम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि जीव ईश्वर के ऊपर आश्रित तथा निर्भर रहता है। ऐसी दशा में ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का निस्तार तथा कल्याण नहीं हो सकता। वह अशेष गुणों का आकर है, दया का समुद्र है तथा करुणा का निधि है; वह जीव की दीन दशा को देखकर स्वयं द्रवित होता है। अतः जीव-ईश्वर के इस सम्बन्ध-निर्णय से स्पष्ट है कि रामानुज के अनुसार प्रपत्ति (शरणागति) ही जीव की आध्यात्मिक उन्नति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इस प्रसंग में 'तत् त्वमसि' महावाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने-योग्य है। 'त्वं' पदार्थ साधारणतया जीव का प्रतीक माना जाता है, पर विशिष्टाद्वैत मत में 'त्वं' का अर्थ है—अचिद्विशिष्ट जीव-शरीरवाला ब्रह्म।
'तत्' पद से अभिप्राय है सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, जगत्-कारण
'तत्त्वमसि' का अर्थ ईश्वर से। इस प्रकार इस महावाक्य का अभिप्राय
है कि अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्वप्रपञ्च का निर्माता
ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता है, अर्थात् एक विशेषण से विशिष्ट ईश्वर तदन्य-विशेषण से विशिष्ट ईश्वर के साथ नितान्त अभिन्न है। अतः एकता विशिष्ट ईश्वर की है (विशिष्टयोरैक्यम्)। इसी कारण रामानुज-सिद्धान्त की 'विशिष्टाद्वैत' संज्ञा दी गई है[1]।

सृष्टि-विचार

सृष्टि के विषय में रामानुज उपनिषदों के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इनमें चित् जीव का द्योतक है और अचित् जडतत्त्व या प्रकृति का। वे

श्वेताश्वतर उपनिषद्, पुराण तथा स्मृति-ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति के रूप को स्वयं स्वीकार करते हैं। श्वेताश्वतर के अनुसार प्रकृति एक है, अनादि (अजा) है तथा अपने समान ही बहुत सी प्रजाओं की सृष्टि करने वाली है। इतना तो सांख्य भी मानता है, परन्तु रामानुज तथा सांख्यमत में इस बात को लेकर भेद है कि रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर के द्वारा परिचालित मानते हैं। प्रकृति स्वयं सृष्टि नहीं करती (जैसा सांख्य मानता है); प्रत्युत ईश्वर की अध्यक्षता में ही वह सृष्टि का कार्य करती है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से सूक्ष्म प्रकृति स्वयं तीन प्रकार के तत्वों—तेज, जल तथा पृथिवी—में विभाजित हो जाती है, जिनमें क्रमशः सत्त्व, रज तथा तमोगुण पाये जाते हैं। इन्हीं तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोग तथा मिश्रण के फल से जगत् के स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसीलिए ये तीनों तत्त्व संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। इस मिश्रणक्रिया का नाम त्रिवृत्त-करण है। इसका मूलतः संकेत छान्दोग्य-उपनिषद् में पाया जाता है जिसे रामानुज ने अपने सिद्धान्त के लिए अपनाया है।

ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। माया क्या है? माया का अर्थ है—अद्भुत पदार्थों की सृष्टि करनेवाली शक्ति। इस माया से युक्त होने से श्वेताश्वतर में ईश्वरको मायावी कहा गया है। इसे रामानुज अक्षरशः मानते हैं, परन्तु ईश्वर को मायावी कहने का इतना ही तात्पर्य है कि उसकी सृष्टिलीला अद्भुत तथा विचित्र होती है। ईश्वर की यह सृष्टि उतनी ही वास्तविक तथा सत्य है जितना स्वयं ईश्वर। शङ्कर के समान रामानुज इस संसार को काल्पनिक तथा असत्य नहीं मानते। जहाँ शङ्कर विवर्तवाद के सिद्धान्त को सृष्टिव्यापार के लिए सत्य मानते हैं, वहाँ रामानुज परिणाम के सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं। संसार तथा सृष्टि भ्रममात्र है—इस मत को रामानुज नहीं मानते। उनके मत में 'ज्ञानमात्र ही सत्य होता है और कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं है।' इसी तथ्य के आधार पर वे सृष्टि को सत्य मानते हैं। समस्त वैष्णव आचार्य शङ्कराचार्य के मायावाद का खण्डन करने में अपनी शक्ति लगाते हैं। रामानुज भी मायावाद का खण्डन अनेक तर्कों के बल पर करते हैं, तथा अद्वैतवादियों ने भी अपने मत का समर्थन अपनी युक्तियों के सहारे किया है। यह खण्डन-मण्डन का क्रम आज भी चलता है।

जगत्

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहते हैं। लोकाचार्य ने (तत्त्व-त्रय, पृ० ४१) अचित् तत्त्व कि तीन भेद माने हैं—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और

अचित् तत्त्व

सत्त्वशून्य। शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है। इस सत्त्व की कल्पना रामानुज दर्शन की विशेषता है। मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या 'प्रकृति' है। सत्त्वशून्य तत्त्व 'काल' कहलाता है। शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता। यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक निरवधिक तेजोरूप द्रव्यविशेष है। इस कारण ईश्वर, नित्य पुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर, भोगसाधन चन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिकों की उत्पत्ति भगवान् के संकल्पमात्र से होती है। ईश्वर तथा नित्य पुरुषों के शरीर भगवान् की नित्येच्छा से सिद्ध हैं, मुक्त पुरुषों का शरीर भगवान् के संकल्प से उत्पन्न होता है। भगवान् के व्यूहविभवादिरूप इसी शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होते हैं। वे प्रकृतिजन्य न होने से अप्राकृत हैं। रामानुज का यह मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता। अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है, परन्तु शुद्ध सत्त्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है। इसी नित्य विभूति का नाम त्रिपाद विभूति, परम पद, परम व्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या—आदि है[10]।

(ग) साधन-मार्ग

ईश्वरभक्ति

वेदान्त के शुष्क अध्ययन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यह तो पुस्तकों का ज्ञान है, तथा किसी के द्वारा अनुभूत तथ्य की शाब्दिक पुनरावृत्ति है। यथार्थ ज्ञान तो अपरोक्ष ज्ञान है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती—उपनिषदों का यह मन्तव्य बिल्कुल ठीक है, परन्तु ज्ञान का अर्थ क्या है? यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुवा स्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही उपासना या भक्ति है। भगवान् की प्राप्ति में भक्ति ही मुख्य साधन है जिसकी प्राप्ति में वैदिक कर्मों का अनुष्ठान साधक तथा सहायक होता है। अतः जहाँ शंकर केवल ज्ञान के मार्ग को ही उपादेय बतलाते हैं, वहाँ रामानुज ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञानरूप भक्ति को ही जीव के निस्तार के लिए श्रेष्ठ उपाय मानते हैं। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् जीव के समस्त बन्धनों और क्लेशों का नाश कर देता है, तब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। भक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्ति से है। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'शरणागति' का लक्ष्य है शरण में आना अर्थात् भगवान् ही हमारी गति है, गन्तव्य स्थान है। वहीं लौट कर आना ही शरणागति का लक्ष्य है। शरणापन्न जीव ही भगवत्कृपा का प्रिय पात्र बनता है—भक्ति शास्त्र का यही निष्कर्ष है।

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार से मुक्ति लाभ करता है। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय हैं। वेद-विहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है। अतः वर्णाश्रम-विहित कर्मों का विधान मानव-मात्र का कर्तव्य है। चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः कर्ममीमांसा का अध्ययन ज्ञानमीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती है। कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण है[११]। मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है[१] और भक्ति में भी परा प्रपत्ति—शरणागति। जबतक जीव भगवान् के शरण में नहीं आता, तबतक उसका परम कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु शरणागति के लिए कर्मों का अनुष्ठान उचित है या अनुचित? इस पर श्रीवैष्णव आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। 'टेंकलै' मत के संस्थापक लोकाचार्य प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। मार्जारकिशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से माता के शरण में उपस्थित होता है, तब बिल्ली उसे अपने मुंह में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है। भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी इस प्रकार 'अहैतुकी' होती है। नारायण की अनुग्रहशक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से आप से आप होता है[१२]।

'वडकलै' मत के आचार्य वेदान्तदेशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से ही भगवान् गम्य हैं, उन्हें पाने का दूसरा उपाय है ही नहीं। 'मामेकं शरणं व्रज'—यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है। अकिञ्चन, दीन भाव से भगवान् की शरण में प्राप्त होनेवाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं[१३]।

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्णज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं, जिसका फल ईश्वर का अपरोक्षज्ञान होता है, मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन है, परन्तु उस अवस्था-तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मों का

---

१. द्रष्टव्य रामानुज—वेदार्थसंग्रह, पृ० १४५-१४७।

सम्पादन होना ही चाहिये। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का संन्यास न्याय्य नहीं है। अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (भक्तिरूपापन्न ध्यान) के द्वारा अमृत पाने का सिद्धान्त ईशोपनिषद् (श्लो० ११) में वर्णित है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं होता है। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिल कर एक नहीं हो जाता। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं होता, वह ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य-संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता है[१४]। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता[१५]। मुक्त जीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा संकल्प-सिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता। जीवित दशा में मुक्ति नहीं हो सकती, अतः अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं है, केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है। वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बनना ही—कैंकर्य ही—परमा मुक्ति है।

श्रीकण्ठाचार्य (१३ श० का उत्तरार्ध) का सिद्धान्त रामानुज सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ ईश्वर शिव रूप में माने गये हैं। श्रीकण्ठ ने इस 'शैव-विशिष्टाद्वैत' का समर्थन ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर किया है, जिस पर अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। अतः आपके मत में सगुण ब्रह्म ही परमार्थ भूत है[१६] तथा चित् अचित् उसके प्रकार हैं। शिव, महादेव, उग्र आदि संज्ञायें परब्रह्म की ही हैं।

२

माध्वमत

माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान् को प्राप्त हुआ, हनुमान् से भीम को तथा अन्त में आनन्दतीर्थ को। आनन्दतीर्थ का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान के पास ११९९ ई० में इनका जन्म हुआ तथा १३०३ ई० में इनकी मृत्यु मानी जाती है।

आचार्य

भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन कर आपने अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपके ३७ ग्रन्थों में से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) ब्रह्मसूत्र-भाष्य; (२) अनुव्याख्यान (सूत्र की अल्पाक्षरा वृत्ति; जिस पर 'न्यायविवरण' स्वयं आचार्य ने, 'न्यायसुधा' जयतीर्थ ने तथा न्यायसुधा की परिमल नाम्नी टीका राघवेन्द्र यति ने लिखी है), (३–७) ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, (८) गीताभाष्य, (९) भागवत-तात्पर्यनिर्णय (टीका—यदुपति की), (१०) महाभारत-तात्पर्यनिर्णय, (११) विष्णुतत्त्व-निर्णय, (१२) प्रपञ्चमिथ्यात्वनिर्णय, (१३) गीता-तात्पर्यनिर्णय, (१४) तन्त्रसारसंग्रह आदि। नारायण पण्डित ने 'मध्वविजय' तथा 'मणिमञ्जरी' में मध्व का प्रामाणिक जीवन-चरित लिखा है।

जयतीर्थ (१४ श०) प्रकाण्ड पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्व के भाष्यों पर विद्वत्तापूर्ण वृत्ति-ग्रन्थों की रचना कर द्वैत-सिद्धान्त को परिपुष्ट किया। माध्वमत में जयतीर्थ के समान विद्वान् बिरला ही हुआ। जयतीर्थ ने मध्व के सूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' और तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, प्रमाणलक्षण तथा गीताभाष्य (टीका न्यायदीपिका) के ऊपर अन्य सुबोध टीकायें ही नहीं लिखीं, प्रत्युत 'प्रमाण-पद्धति' और 'वादावली' जैसे मौलिक ग्रन्थों की रचना से अद्वैत का खण्डन कर पर्याप्त मात्रा में द्वैतमत की स्थापना की। 'प्रमाण-पद्धति' की अष्ट टीकायें इसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रदर्शित करती हैं।

व्यासतीर्थ (१५ श०)—माध्वमत के उद्भट विद्वान् थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ 'न्यायामृत' है, जिसका खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत-सिद्धि' में किया। इसी न्यायामृत ने द्वैत-अद्वैत सम्प्रदाय में घनघोर वाग्युद्ध की अवतारणा की, जो आज भी खण्डन-मण्डनरूप से चल रहा है। इनके अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ तर्कताण्डव, तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थ की तत्त्वप्रकाशिका की टीका), मन्दारमञ्जरी, भेदोज्जीवन, मायावाद-खण्डन टीका आदि हैं। इनके न्यायामृत' के ऊपर कम से कम १० विख्यात टीकायें हैं, जिनमें रामाचार्य की 'तरंगिणी' तथा विजयीन्द्रतीर्थ का 'कण्टकोद्धार' अद्वैतसिद्धि के खण्डन होने से विशेष प्रसिद्ध हैं।

रघूत्तमतीर्थ (१५५७–१५९६ ई०)—माध्वग्रन्थकारों में भावबोधाचार्य या भावबोधकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'विष्णु-तत्त्वनिर्णय' तथा जयतीर्थ के तत्त्वप्रकाशिका पर 'भावबोध' नामक व्याख्यायें लिखी हैं, पर इनका सर्वश्रेष्ठ

ग्रन्थ मध्वाचार्य के बृहदारण्यकभाष्य की टीका 'परब्रह्मप्रकाशिका' है। इनके शिष्यों में तरंगिणीकार रामाचार्य तथा वेदेश भिक्षु मुख्य हैं। वेदेश माध्वमत के विद्वान् व्याख्याकारों में माने जाते हैं, जिन्होंने 'तत्त्वोद्योतपञ्जिका', ऐतरेय, छान्दोग्य, केन पर माध्वभाष्य की टीका तथा 'प्रमाणपद्धति' पर सुन्दर व्याख्या निर्माण कर विपुल कीर्ति प्राप्त की है। न्यायामृत पर 'आमोद' और 'तात्पर्य-चंद्रिका' टीका के लेखक विजयीन्द्र ने गीता की मधुसूदनी टीका की आलोचना 'गूढार्थदीपिकायुक्तिमल्लिका' में की है। वे रामाचार्य के सम-कालीन थे।

वनमाली मिश्र (१७ श०) मथुरा के आस-पास के निवासी उद्देशीय ब्राह्मण थे। द्वैत साहित्य में इनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है। इनके विपुल ग्रन्थों में से 'माध्वमुखालंकार' अप्पय दीक्षित के 'माध्वमतमुखमर्दन' का तथा 'न्यायामृतसौगन्ध्य और 'तरंगिणी सौरभ' अद्वैतसिद्धि और गौड ब्रह्मानन्दी के पाण्डित्यपूर्ण खण्डन हैं। 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' ब्रह्मसूत्र की टीका है। अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ के खण्डन में 'अभिनवगदा', 'अभिनवतर्कताण्डव' तथा तात्पर्यदीपिका की टीका 'अभिनवचंद्रिका' के निर्माता सत्यनाथ यति (१६५० ई०) वनमाली मिश्र के समकालीन थे। वेणीदत्त की 'भेदजयश्री' तथा 'वेदान्तसिद्धान्त-कण्टक' इसी काल की रचनायें हैं। बंगाल के पूर्णानन्द चक्रवर्ती की तत्त्व-मुक्तावली (या मायावादशतदूषणी) ने अद्वैत मत के खण्डन में एक नई दिशा खोज निकाली है। अद्वैत वेदान्त के समान द्वैत मत की भी साहित्यिक सम्पत्ति बहुत है, परन्तु अधिकांश ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

माध्व पदार्थ-मीमांसा

माध्वमत में दस पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों का विशेष वर्णन पद्मनाभ ने अपने 'मध्वसिद्धान्तसार' में विशदरूपेण किया है।

पदार्थ भेद

इनमें कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय-वैशेषिक के साथ साम्य होने पर भी अधिकांश में माध्वमत की विशेषता है। 'द्रव्य' बीस प्रकार का माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत् तत्त्व, अहंकार तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। 'गुण' के अनेक प्रकार हैं, जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा और सौन्दर्य आदि की

भी गणना है। 'कर्म' तीन प्रकार का है:—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दनात्मक है जिसके भीतर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि नाना-विध कर्मों का अन्तर्भाव होता है। नित्यानित्य भेद तथा जाति-उपाधि भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का होता है। भेद के अभाव होने पर भी भेद-व्यवहार के निर्वाहक पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं[१७]। परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता है। विज्ञानानन्दरूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। यह विशेष जगत् के समस्त पदार्थों में रहता है, अतएव अनन्त है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को 'विशिष्ट' कहते हैं। हस्त-पादादि से व्यतिरिक्त समग्र अवयवविशिष्ट पदार्थ 'अंशी' हैं। 'सादृश्य' तथा 'अभाव' की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है।

'शक्ति' चार प्रकार की है—(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति और (४) पद शक्ति। 'अचिन्त्य शक्ति' अघटित-घटना-पटीयसी होती है और भगवान् विष्णु में ही निवास करती है। भगवान् में ही विचित्र कार्य-सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। परमात्मा में विरुद्ध गुणों की सार्वकालिक स्थिति इसी शक्ति के कारण है। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कोटिगुण न्यून होती हैं। (२) दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को 'आधेय शक्ति' कहते हैं (अन्याहितशक्तिराधेयशक्तिः)। विधिवत् प्रतिष्ठा करने से प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है वही आधेय शक्ति' है। कामिनी के चरणाघात से अशोक का पुष्पित होना और औषधलेप से कांस्य-पात्र का स्वच्छ हो जाना इसी शक्ति से सम्पन्न होता है। (३) कार्यमात्र के अनुकूल स्वभाव - रूपा शक्ति 'सहज शक्ति है। यह सर्व-पदार्थ-निष्ठा होती है। पदार्थ-भेद से यह नित्य भी होती है तथा अनित्य भी। (४) पदपदार्थ में वाचक-वाच्य-सम्बन्ध 'पदशक्ति' कहलाता है। मुख्या और परम मुख्या भेद से यह दो प्रकार की होती है। 'इन्द्र' शब्द का 'पुरन्दर' अर्थ मुख्या वृत्ति से और 'परमेश्वर' अर्थ परम मुख्या वृत्तिसे होता है।

परमात्मा—साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण-परिपूर्ण है, अर्थात् भगवान् के गुण अनन्त हैं तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष—इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परम मुख्या वृत्ति से समस्त पद-वाच्य हैं। वे जीव, जड और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही भगवान् के शरीर हैं। अतः शरीरी होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण

करते हैं। इनके समस्त रूप स्वयं परिपूर्ण हैं, अर्थात् उनके मत्स्यादि अवतार स्वय परिपूर्ण हैं[१८]। मत्स्य, कूर्मादि स्वरूपों से, कर-चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं। अतएव भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेद-दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

लक्ष्मी—परमात्मा की शक्ति है। वह केवल परमात्मा के ही अधीन रहती है; अतः उससे भिन्न है[१९]। इस प्रकार माध्व मत में तन्त्र मत के विपरीत शक्ति और शक्तिमान में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। लक्ष्मी भगवान् से गुणादिकों में कुछ न्यून ही रहती हैं। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्य मुक्ता है, नाना-रूपधारिणी भगवान् की भार्या हैं। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य शरीर से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी भी उसी प्रकार अप्राकृत-देह धारिणी हैं। ब्रह्म, रुद्रादि अन्य देवतागण शरीर के क्षरण (नाश) होने से 'क्षर' हैं, परन्तु लक्ष्मी दिव्यविग्रहवती होने से 'अक्षरा' हैं। परमात्मा देश, काल, तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न हैं, परन्तु लक्ष्मी परमात्मा से गुण में न्यून हैं; तथापि देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक हैं[२०]।

जीव—अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं-मुक्तियोग्य, नित्यससारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पाँच प्रकार होते हैं। नित्यसंसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं[२१]। वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं, जिसमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार गुणों के तारतम्य के कारण मनुष्य तीनों श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। ससार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है, तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है। संसार-दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती है[२२]। मुक्त पुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्वमत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है[२३]। मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्वमत की विशेषता है। मुक्तावस्था में जीव परम साम्य को प्राप्त कर लेता है (निरंजनः परमं साम्यमुपैति—मुण्डक० ३।१।३) इस श्रुति का तात्पर्य प्राकृतविषयक है, अभेदविषयक नहीं। भगवान्

के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाणसिद्ध है[१४]।

'अव्याकृत आकाश' न्याय-वैशेषिक का 'दिक्' है, जो सृष्टि और प्रलय में भी विकारशून्य रहता है। यह भूताकाश से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उत्पन्न होने से भूताकाश अनित्य है, परन्तु अव्याकृत आकाश नित्य, एक तथा व्यापक है। इसके अभाव में समस्त जगत् एक निविड पिण्ड बन जाता है। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। 'प्रकृति' साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है या जडरूपा, नित्या, व्याप्ता, सर्व-जीवलिंग-शरीर-रूपा है। रमा इसकी अभिमानिनी देवता है। इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। 'गुणत्रय' प्रसिद्ध हैं। अन्य वैष्णव मतों के अनुरूप माध्व मत भी शुद्ध सत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है, जिससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते हैं। सत्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा होती हैं। महत्तत्त्वादि अन्य द्रव्यों की कल्पना सांख्य तथा पुराणों के अनुरूप ही है।

साधनमार्ग—श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य-परिज्ञान तथा पञ्चभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं। ज्ञान-सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है। यही तारतम्य ज्ञान है। भेद पाँच प्रकार का होता है—(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड से भेद, (३) जीव का जड पदार्थ से भेद, (४) जीव का दूसरे जीव से भेद, तथा (५) एक जड पदार्थ का दूसरे जड पदार्थ से भेद। इन पञ्चविध भेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति-साधक है। उपासना दो प्रकार की होती है—सन्तत-शास्त्राभ्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान' से तात्पर्य इतर विषयों के तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषया अखण्ड स्मृति से है (ध्यानं च इतर-तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः—भ० सि० सा०, पृ० १६६)। जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह हुए बिना परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परम भक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है, अनन्तर मोक्ष का जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग और भोग। सालोक्य, सामीप्य' सारूप्य तथा सायुज्य भेद से भोग चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना 'सायुज्य'

है २५, जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की विशिष्ट कल्पना है।

हनुमान् और भीम के अनन्तर वायु के तृतीय अवतारभूत मध्वाचार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

३

निम्बार्क-मत

'हरिगुरुस्तवमाला' में उल्लिखित गुरुपरम्परा के अनुसार निम्बार्क मत के आद्य आचार्य हंसनारायण हैं जो राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं।

आचार्य

उन्होंने इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को दी, जो सनन्दनादि रूप से चतुर्व्यूहात्मक हैं। सनत्कुमार के शिष्य त्रेता युग में प्रेमा-भक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक नारदजी थे, जिन्होंने इस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के अवतारभूत निम्बार्क को बतलाया।

निम्बार्क—तैलंग ब्राह्मण थे। 'सिद्धान्तजाह्नवी' (प्रथम श्लोक) के अनुसार इनका असली नाम नियमानन्द था; निम्ब के वृक्षपर अर्क (सूर्य) का रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं:—(१) वेदान्तपारिजात-सौरभ (ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य), (२) 'दशश्लोकी' (सिद्धान्त-प्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह, जिस पर हरिव्यास आचार्य की टीका प्राचीन तथा महत्त्व-शालिनी मानी जाती है), (३) 'श्रीकृष्णस्तवराज' निम्बार्क-तत्त्व-प्रकाशक पच्चीस श्लोकों का है, जिसकी श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी तथा श्रुत्यन्त-कल्पवल्ली नामक विस्तृत व्याख्यायें प्रकाशित हुई हैं। अप्रकाशित ग्रन्थों में मध्व-मुख-मर्दन, वेदान्त-तत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्त-प्रदीप, श्रीकृष्णस्तव मुख्य हैं।

श्रीनिवासाचार्य—निम्बार्क के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने पारिजातसौरभ के ऊपर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढ अर्थों का रहस्य भली भाँति समझाया है।

केशवभट्ट काश्मीरी—(१५ श०) इस दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थकार हैं। इनके (१) 'कौस्तुभप्रभा—वेदान्त कौस्तुभ की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या

(२) 'तत्त्व प्रकाशिका'—गीता की निम्बार्क-मतानुसारिणी व्याख्या; (३) तत्त्व-प्रकाशिका 'वेदस्तुति टीका' दशम स्कन्ध भागवत की टीका; (४) 'क्रम-दीपिका'—पूजा-पद्धति का विवरणात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रभा के अवलोकन से इनकी गाढ विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का परिचय स्फुट रीति से उपलब्ध होता है। चैतन्य के साथ जिस केशवभट्ट के शास्त्रार्थ करने का वर्णन 'चैतन्य-चरितामृत' में दिया गया है; वे ये ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य—निम्बार्क मत के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य हैं। ये हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थों की समधिक प्रसिद्धि है—(१) वेदान्त-रत्न-मञ्जूषा—(दशश्लोकी की विस्तृत सिद्धान्त-प्रतिपादक व्याख्या) तथा (२) श्रुत्यन्त-सुरद्रुम—(आचार्य के श्रीकृष्णस्तवराज के श्लोकों की पांडित्यपूर्ण टीका)। देवाचार्य के 'सिद्धान्त-जाह्नवी' (पृ० ५६) में वेदान्त-रत्न-मञ्जूषा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अतः इनका समय देवाचार्य से पहले होना चाहिए। कृपाचार्य के शिष्य श्रीदेवाचार्य की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम है—'सिद्धान्त-जाह्नवी' (सुन्दर भट्ट की 'सिद्धान्त-सेतु' टीकायुक्त), जो ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का समीक्षात्मक भाष्य है। अनन्तराम कृत वेदान्त-तत्त्व-बोध तथा पुरुषोत्तमदास वैष्णव कृत 'श्रीकृष्ण-स्तवराज की श्रुत्यन्त-कल्पवल्ली टीका इस मत के तत्त्वों की परीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी है'। माधवमुकुन्द ने, जो बंगाल के अरुणवाटी नामक ग्राम के निवासी बतलाये जाते हैं, 'परपक्षगिरिवज्र' (हार्दसंचय) नामक नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसमें प्रबल युक्तियों के बल पर विस्तार के साथ वेदान्त के अद्वैतमत का खण्डन किया गया है[२३]।

(क) निम्बार्क की पदार्थ-मीमांसा

निम्बार्क-सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप ही है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है। इन्द्रियों की सहायता के बिना इन्द्रियनिरपेक्ष जीव विषय का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है और जीव के विषय में 'प्रज्ञानघनः', स्वयंज्योतिः' तथा 'ज्ञानमयः'—आदि शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में उसी प्रकार है जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय भी है तथा प्रकाश का आश्रय भी है[२७]। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूतज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही है, तथापि इन दोनों में धर्मधर्मिभाव से भिन्नता है।

जीव

जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव कर्ता ही रहता है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परन्तु मुक्त हो जानेपर भी जीव में कर्तृत्व का होना श्रुतिप्रतिपादित है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत', 'शान्त उपासीत'—आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना करने का प्रतिपादन करती हैं और मुक्त आत्मा को कर्ता बतलाती है[२८]।

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' इस गीतावाक्य में प्रकृति सृष्टि की कर्त्री मानी जाती है तथा कर्ता होने के अभिमानवाला आत्मा अहङ्कार-विमूढ कहा जाता है। इस वाक्य का अभिप्राय यह नहीं है कि जीव में कर्तृत्व का निषेध है, प्रत्युत इसका अर्थ तथा तात्पर्य दूसरा ही है। संसार की प्रवृत्ति में प्राकृत गुण से संमूढ आत्मा प्रकृति के गुणों-द्वारा प्रयुक्त होकर ही प्रवृत्त होता है। इतना ही इसका तात्पर्य है, आत्मा के कर्ता होने का कथमपि निषेध नहीं करता। जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है और इसलिए वह भोक्ता भी है। आत्मा के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध स्वस्वामिभाव है। जीव है स्वामी तथा इन्द्रियाँ है उसके वश में रहनेवाली (स्व)। अत इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत समस्त विषय जीव के लिए ही भोग्य हैं। इन्द्रियाँ तो इस कार्य में केवल करणमात्र हैं। यह जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों होता है।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिये स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष भेदक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियन्ता है, जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी वह ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है तथा ईश्वर नियन्ता है। इसका कारण यह है कि जीव परतन्त्र होता है और ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र होने से ईश्वर प्रत्येक दशा में नियन्ता होता है, अर्थात वह जैसा चाहे वैसा बर्ताव जीव के साथ कर सकता है। जीव अपने सब कार्यों के लिए परतन्त्र है तथा ईश्वर पर आश्रित रहता है। यहाँतक कि जीव का कर्तृत्व भी उसके वश की बात नहीं है। नियन्ता परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार जीव में कर्तृत्व उत्पन्न करता है। इसलिए श्रुति कहती है कि ईश्वर मनुष्यों के हृदय में प्रवेश कर उनका शासन या नियमन करता है और गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझसे जीवों को 'स्मृति और ज्ञान होता है' (मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च)—ये दोनों वचन जीव की परतन्त्रता तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता के बोधक हैं।

जीव परिमाण में अणु है—ऐसी स्थिति में संशय उत्पन्न होता है कि वह अणु होने पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में होनेवाले सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव में व्यापक ज्ञानलक्षण गुण सदा विद्यमान रहता है और इसी गुण की सहायता से जीव सकल शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव सदा किया करता है। वह रहता तो है हृदय में ही, परन्तु वहीं से वह शरीर के अन्य भागों में उत्पन्न सुख-दुःख का अनुभव किया करता है। एक उदाहरण से इसे देखिए—चन्दन का तिलक तो ललाट के ऊपर रहता है, परन्तु वह वहीं से समग्र शरीर को विभूषित करता है; दीपक घर के एक कोने में रक्खा जाता है, परन्तु वहीं से वह समस्त घर को प्रकाशित करता है। अणुरूप जीव की भी ठीक यही दशा है। जीव प्रतिशरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता है।

इस प्रकार जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव—विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है[२९]। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, अतः वह अंशी है; जीव उसका शक्तिरूप है, अतः वह अंशरूप है। अघटनघटनापटीयसी, गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से ही जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है[३०]। मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद से बद्ध जीव दो प्रकार का है। क्लेशों से पीडित होने पर विरक्त तथा मुक्ति चाहनेवाला जीव मुमुक्षु कहलाता है, परन्तु विषय आनन्द का इच्छुक जीव बुभुक्षु कहलाता है। बद्ध जीव के दो प्रकारों के समान मुक्त जीव भी दो प्रकार का होता है—(१) नित्यमुक्त तथा (२) मुक्त। जो जीव गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि प्राकृत दुःखों के अनुभव से शून्य है और नित्य भगवान् के स्वरूप का दर्शन करता हुआ भजनानन्द में मस्त रहता है वह नित्य मुक्त माना जाता है। भगवान् के पार्षद विश्वक्सेन तथा गरुड आदि इसी श्रेणी के जीव हैं। जो जीव अविद्या से उत्पन्न दुःखों के अनुभव से रहित होता है वह केवल मुक्त कहलाता है। मुक्त पुरुषों की भी अनेक श्रेणियाँ आकर ग्रन्थों में वर्णित हैं। मुक्त पुरुषों में कुछ तो ऐसे हैं जो निरतिशय आनन्दरूप भगवद्भाव को पानेवाले हैं और दूसरे मुक्त जीव अपने आत्मज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करनेवाले होते हैं और इतने से ही वे संतुष्ट होते हैं।

जडतत्त्व

अचित्—चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है[३१]—

(१) 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्।
(२) अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं है, जैसे भगवान् का लोक, जिसकी 'परम व्योमन्', 'विष्णुपद', 'परमपद'—आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें श्रुतियों में हैं।
(३) 'काल'—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिए नियम्य (अधीन) ही है। काल अखण्ड-रूप है। स्वरूप से वह नित्य है, परन्तु कार्यरूप से अनित्य है। काल का कार्य औपाधिक है। इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है।

ईश्वर

निम्बार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है[२५]। इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है[२६]। नियम्य तथा परतन्त्र सत्त्वाश्रय चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होने वाला है। परब्रह्म, नारायण, भगवान् कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि परमात्मा की ही संज्ञायें हैं।

ईश्वर समस्त प्राकृत (प्रकृतिजन्य) दोषों से रहित है तथा अशेष कल्याण-गुणों का निधान है। प्राकृत दोषों से अभिप्राय—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश से है, जो योगशास्त्र में क्लेशों के नाम से पुकारे जाते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, करुणा आदि गुण भगवान् में सदा निवास करते हैं। कल्याण गुणों की भी इयत्ता नहीं है, वे अनन्त हैं, जिनमें जगत् के उदय का कारण होना तथा मोक्ष देना प्रधान है। ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल का वितरण करता है। विश्व का आधारभूत परमात्मा सर्वव्यापी, सर्व-नियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान्, ईश्वरों का ईश्वर तथा सब का अतिक्रमण करनेवाला है। उसके शक्ति और सामर्थ्य की अवधि नहीं है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है, तथा अपनी इच्छा के विलास से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार करता है।

जीव की दो दशायें होती हैं—बद्धदशा, जब जीव संसार के नाना दुःखों के बन्धन में पड़ा रहता है और मुक्तदशा, जब भगवान् के अनुग्रह से बन्धनों दुःखों की निवृत्ति हो जाने से वह मुक्ति पा लेता है। ब्रह्म तथा जीव के बीच में

भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक है और ऊपर की दोनों दशाओं में नियत है। इसका तात्पर्य यह है कि बद्ध तथा मुक्त दोनों दशाओं में जीव ब्रह्म से भिन्न भी रहता है और अभिन्न भी रहता है। अतः दोनों का भेदाभेद स्वाभाविक है। बद्ध दशा में तो सर्वज्ञ, व्यापक ब्रह्म से अल्पज्ञ तथा एक-देशव्यापी जीव की भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है, परन्तु इस दशा में भी दोनों में अभिन्नता रहती है। बद्धदशा में जीव की न तो ब्रह्म से अलग स्थिति है और न अलग प्रवृत्ति ही होती है। जिस प्रकार पेड़ से पत्तों की, प्रदीप से प्रभा की, गुणी से गुणों की तथा प्राण से इन्द्रियों की न तो अलग स्थिति है और न अलग कार्यों में प्रवृत्ति है, उसी प्रकार जीव तथा ब्रह्म में भी अभिन्नता समझनी चाहिए। मुक्त दशा में जीव ब्रह्मसे अभिन्न तो बन जाता है, परन्तु फिर भी दोनों में भेद बना ही रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् (८।३।४) का स्पष्ट कथन है कि मुक्त जीव भी अपने विशेष स्वरूप को ही प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता। आशय यह है कि मुक्तिदशा में जीव ब्रह्म के साथ मिलकर एकाकार होने पर भी अपनी स्वतन्त्रता पृथक् बनाये रहता है और उसका व्यक्तित्व बना ही रहता है[१]।

साधन मार्ग

निम्बार्क मत में साधन का मार्ग शरणागति (प्रपत्ति) है। जीव जबतक भगवान् के शरण में नहीं आता, तबतक उसका वास्तव कल्याण नहीं होता। प्रपन्न होते ही भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह होने से भगवान् के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। भगवान् के प्रति प्रेम होना कोई साधारण घटना नहीं है। भगवान् जिसपर अपनी दया की वर्षा करते हैं वही जीव उनकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम करता है। इस प्रेमा भक्ति का फल है—भगवान् से साक्षात्कार अर्थात् भगवान् का दर्शन। तब जीव भगवान् के भावों से स्वतः व्याप्त हो जाता है और इस दशा में वह सदा के लिए क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर 'भगवद्भावापत्ति' हो नहीं सकती। इसलिए निम्बार्कमत में भी अन्य वैष्णव मतों के समान 'विदेहमुक्ति' ही मान्य है, 'जीवन्मुक्ति' नहीं[२]।

---

१. देखिये—ब्रह्मसूत्र १।४।२१ पर वेदान्त-कौस्तुभ तथा छान्दोग्य उपनिषद् ८।३।४।

२. द्रष्टव्य 'दशश्लोकी' के नवम पद्य पर—वेदान्तरत्नमञ्जूषा।

४

वल्लभमत

पद्मपुराण के वर्णनानुसार रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे[३४]। नाभादासजी के भक्तमाल[३५] से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे, तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्ध द्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वशाली यह कथन बतलाता है कि विष्णुस्वामी का समय ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०) से पहले है। रसेश्वरदर्शन में माधवाचार्य ने इनके एक श्लोक को उद्धृत किया है। 'सकलाचार्यमत-संग्रह' में श्रीनिवास के कथनानुसार ये शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक थे।

वल्लभ (जन्म १४७९ ई०) की जीवन-घटनायें काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन से सम्बद्ध हैं। विजयनगराधीश श्रीकृष्णराय (१५००-१५२५ ई०) के दरबार में द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया था। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्य की घनिष्ठता की बात कही जाती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) ब्रह्मसूत्र (अणुभाष्य), (२) तत्त्वदीपनिबन्ध (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ), (३) सुबोधिनी (श्रीमद्भागवत के १, २, ३, १० स्कन्धों पर उपलब्ध विख्यात टीका) (४) भागवत-सूक्ष्म-टीका, (५) पूर्वमीमांसा-भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्तमुक्तावली आदि १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ हैं।

विट्ठलदास (१५१६-१५८६) आचार्य के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने पिता के ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी लिखकर पुष्टि-मार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में निबन्धप्रकाश, विद्वन्मण्डन, शृङ्गाररसमण्डन, सुबोधिनी-टिप्पणी हैं। अन्तिम डेढ़ अध्यायों पर भाष्य लिख कर इन्होंने वल्लभ कृत अणुभाष्य की पूर्ति की। इनके सात पुत्रों ने अलग-अलग गद्दियों की स्थापना कर इस मत का विपुल प्रचार किया। कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्र पर 'भाव-प्रकाशिका' नाम्नी टीका लिखी है। इनके शिष्य पुरुषोत्तमजी वल्लभ सम्प्रदाय के विशेष विद्वान् टीकाकार हैं। इन्होंने 'भाष्य-प्रकाश' नामक टीका लिख कर अणुभाष्य के गूढार्थ को अच्छी प्रकार से अभिव्यक्त किया है। अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थकार की

विशिष्टता है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—(१) सुबोधिनीप्रकाश, (२) उपनिषद्-दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थानररत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र (विद्वन्मण्डल की पांडित्यपूर्ण विवृति), (६) गीता की अमृततरंगिणी टीका तथा (७) षोडशग्रन्थ-विवृति। इस भाष्यप्रकाश पर विस्तृत 'रश्मि' नामक व्याख्या गोपेश्वरजी (१८ शतक) ने लिखी है।

गिरिधर महाराज गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' वल्लभ मत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ है। हरिराय (हरिदास) ने अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि विख्यात हैं। व्रजनाथभट्ट की 'मरीचिका' ब्रह्म सूत्रों की अणुभाष्यानुसारिणी वृत्ति है। 'लालूभट्ट' के नाम से प्रसिद्ध, पुरुषोत्तम तथा अप्पयदीक्षित के समकालीन बालकृष्ण भट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है। अधिकांश वल्लभ-साहित्य का प्रकाशन बम्बई तथा काशी (चौखम्बा कार्यालय) से हुआ है।

सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध-रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है[३६]।

ब्रह्म

इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। अद्वैतवादियों के मतानुसार निधर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहिकुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभय-रूपता का होना श्रुतिसिद्ध है[३७]। यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित ही नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक भी है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है, अतः जो अणोरणीयान् हैं, वे ही महतो महीयान् हैं। वे अनेक रूप होकर भी एक हैं, स्वतन्त्र होने पर भी भक्तपराधीन हैं। यह संसार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विकासमात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव है, माया-कल्पित नहीं। अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म हैं।

आचार्य वल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधि-दैविक = परब्रह्म; (२) आध्यात्मिक = अक्षरब्रह्म; (३) आधिभौतिक = जगत् । अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है । कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है । जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भावदशा में जगत् तथा तिरोभावरूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं । जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है ।

वल्लभाचार्य के मत में ब्रह्म ही स्वभाव से जगत् के कर्ता हैं । उनके कर्ता होने में माया का व्यापार तनिक भी नहीं होता । वे स्वयं लीलाधाम ठहरे और इसलिए जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती है । जब उनकी इच्छा होती है वे जगत् का संहार या लय कर देते हैं । अन्ततः प्रलय भी भगवान् की लीला का ही एक रूप है । अतः भगवान् स्वाभाविक रीति से सृष्टि और प्रलय दोनों करते हैं । ये दोनों उनकी लीला के विलासमात्र हैं । जिस प्रकार कोई योगी अपनी विचित्र शक्तियों के सहारे वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे खेलता है और अन्त में उनका संहार कर देता है; भगवान् की भी यही दशा होती है । भगवान् की महिमा अतर्क्य है । कोई भी उनकी महिमा के यथार्थ रूप को जान नहीं सकता । भगवान् अपनी अचिन्त्य माया से जगत् की सृष्टि कर उससे क्रीडा करते हैं और अन्त में सब सृष्टि को अपने में तिरोहित कर देते हैं । इस प्रकार जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव भगवान् की लीला के कारण होता है अन्यथा उस पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई कामना ही शेष नहीं है जिसके लिए वह जगत् की सृष्टि करता । यह जगत् ब्रह्मरूप है और ब्रह्म के समान ही नित्य है । अद्वैतियों के समान यह जगत् मायिक तथा असत्य नहीं है ।

इस प्रकार लीला को छोड़कर इस ब्रह्माण्ड के उदय का कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं है । लीला का रहस्य वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी में बड़ी सुन्दरता से समझाया है । उनका महत्त्वपूर्ण कथन है[३८]—लीला विलास की इच्छा का नाम है । कार्य के बिना ही यह केवल व्यापारमात्र होता है, अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता । उत्पन्न किये गये कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता; कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे, इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है, न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है । जब अन्तःकरण आनन्द से पूर्ण हो जाता है तब

लीला का रहस्य

उसके उल्लास से कार्य के उदय के समान हो कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान् की लीला है। सर्ग-विसर्ग आदि के समान भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतन्त्र रहते हैं, क्योंकि इस मार्ग में भगवान् को अपनी बँधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभीष्ट होता है। पुष्टिमार्ग में भगवान् किसी साधन के परतन्त्र न होकर स्वयं स्वतन्त्र होते हैं। अनुग्रह भी भगवान् की नित्यलीला का विलास है।

जीव के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् का इस भूतल पर आविर्भाव होता है। जीव-मात्र को निरपेक्ष मुक्ति देने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। भगवान् सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न, अपराधीन तथा सर्व-निरपेक्ष हैं। तब उनके अवतार लेने का प्रयोजन ही क्या है? दुष्टों के दलन तथा शिष्टों के रक्षण का कार्य तो अन्य साधनों से भी हो सकता है। तब वे अवतार क्यों लेते हैं? इसके उत्तर में भागवत का कहना है कि अद्वय तथा निर्गुण भगवान् का प्रकटीकरण इस जगत् में मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करने के लिए ही होता है। मनुष्यों को साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का प्रयोजन है[३९]। इसका अभिप्राय यह है कि बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए भी भगवान् साधक को स्वतः अपनी लीला के विलास एवं अपने अनुग्रह से मुक्ति प्रदान करते हैं। भगवान् की यह लीला ही ठहरी। ज्यों ही जीव भगवान् के शरणापन्न हो जाता है और शरण-मन्त्र का उच्चारण करता है, भगवान् की भक्ति का उदय हो जाता है। फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की विमल दया की धारा उस साधक के ऊपर क्षरने लगती है। यही 'पुष्टि' का रहस्य है। शक्तितन्त्रों में जिस तत्त्व को 'शक्तिपात' के नाम से पुकारते हैं वही तत्त्व इस पुष्टिमार्ग में 'पुष्टि' के नाम से प्रख्यात है।

अक्षरब्रह्म क्षरपुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ है, परन्तु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ है (गीता ८।२१), अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का किञ्चिन्मात्र में तिरोधान रहता है, पर पुरुषोत्तम आनन्द से परिपूर्ण रहता है। क्षर से अतीत तथा अक्षर उत्तम होने के कारण परब्रह्म को गीता 'पुरुषोत्तम' के नाम से पुकारती है। अक्षरब्रह्म विशुद्ध-ज्ञानैकगम्य है, परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति तो केवल 'अनन्यभक्ति' के द्वारा ही हो सकती है[४०]।

वल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंपर श्रीमद्भागवत तथा भगवद्-गीता का विशेष प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म के तीनों रूपों की कल्पना गीता के अष्टम तथा पंचदश अध्याय के वर्णन के अनुसार है। ब्रह्म के 'आधिभौतिक' रूप का ही दूसरा नाम है—

क्षर पुरुष, अर्थात् भौतिक तत्त्व (प्रकृति)। यह भी ब्रह्म के रूप होने से उसी के समान वास्तव तथा नित्य है। ब्रह्म में जब थोड़ी मात्रा में आनन्द अंश तिरोहित हो जाता है, तब उसे 'अक्षर-ब्रह्म' कहते हैं और जब आनन्द का अंश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, तब वह परब्रह्म या पुरुषोत्तम कहलाता है। यह 'ब्रह्म का आधिदैविक रूप' होता है। ब्रह्म के इन दोनों रूपों की प्राप्ति का साधन भिन्न ही होता है। ज्ञानी जन अपने विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं, परन्तु पुरुषोत्तम' की प्राप्ति अनन्या भक्ति के ही द्वारा हो सकती है। इसीलिए गीता (८।२२) कहती है कि परब्रह्म अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्य होता है। पुरुषोत्तम ब्रह्म ही परब्रह्म के नाम से पुकारे जाते हैं और ये ही निरतिशय सर्वज्ञ ब्रह्म हैं।

भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुण के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं।

जीव

इस व्यापार में क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद होता है; ज्ञान के तिरोधान से देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख प्राप्त करता है[४१]। ब्रह्म से जीव का उदय अग्निस्फुलिंगवत् है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता। वल्लभ मत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है, परन्तु जीव के निर्गमन-काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है (प्रमेयरत्नार्णव, पृ० ७-६)।

जीव नित्य है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ (स्फुलिंग) छिटक कर निकलती हैं, उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता है। इस निकलने से (व्युच्चरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। वह उसी भाँति नित्य बना रहता है। अग्नि-स्फुलिंग का दृष्टान्त जीव के निर्गमन के लिए श्रुति तथा भागवत पुराण दोनों में उपलब्ध होता है। वल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते हैं। इनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणाम-रूप हैं, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

वह परिणामी नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। भगवान् में तीन अंश हैं—सत्, चित् और आनन्द। इनमें कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता। ब्रह्म के अविकृत (विकार न पानेवाले) 'सत्' अंश से भौतिक पदार्थों का उदय होता है और अविकृत 'चित्' अंश से जीवों का आविर्भाव होता है। जब भौतिक पदार्थों का उदय होता है, तब ब्रह्म के दोनों अंश— चित् और आनन्द अंश छिपे रहते हैं। केवल 'सत्' अंश ही प्रकट रहता है और इसलिए इस अंश से ही भौतिक पदार्थों का जन्म होता है। जीव के उदयकाल में ब्रह्म में केवल आनन्द-अंश ही तिरोहित रहता है, अन्य दो अंश विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

जीव अनेक प्रकार का होता है–(१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसारी। स्फुलिङ्गवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने पर अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव 'संसारी' कहलाता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं—दैव और आसुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उसमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंशों को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। 'तत् त्वमसि' महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार सुवर्ण के कटक-कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है।

जगत्

जगत् के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्रूपेण होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

वल्लभाचार्य परिणामवाद को ही कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में मानते हैं, परन्तु परिणाम मानने से मूल वस्तु में विकार होना अवश्यंभावी होता है। दूध

से दही बनता है। दूध का परिणाम दही है। यहाँ दूध में विकार उत्पन्न होने से ही दही जैसा परिणाम उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् की सृष्टि के विषय में यह नियम कथमपि नहीं माना जाता। ब्रह्म से जगत् का परिणाम होता है, परन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार नहीं उत्पन्न होता। वल्लभाचार्य इसीलिए अपने इस विशिष्ट मत को 'अविकृत परिणामवाद' के नाम से पुकारते हैं। कार्य-कारण के विषय में उनकी यह नई धारणा श्रीमद्भागवत की मान्यता के अनुसार है। भागवत ने सुवर्ण का उदाहरण देकर इस तत्त्व को समझाया है[४१]। सोने से जितने भी गहने (अँगूठी, कुण्डल आदि आदि) तथा पदार्थ बनते हैं उनमें सोना सदा अपने अविकृत रूप में बना रहता है। समस्त सुनहले पदार्थों के आदि, अन्त तथा मध्य में सुवर्ण की प्राप्ति होती है और वह भी बिना किसी विकारी रूप में। इसी प्रकार ब्रह्म भी नाना नामों तथा रूपों के भीतर एक ही प्रकार से अविकृत रूप में विद्यमान रहता है। यह जगत् भगवान् का ही आकार है। श्रुति तथा पुराण दोनों एक ही तत्त्व के बोधक हैं। उपनिषद् कहती है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय है। भागवत अपने मंगलश्लोक में ही इस तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है। अतः जगत् को भगवान् का रूप मानना सर्वथा उचित है। कहना न होगा कि भगवान् का आकार होने से यह जगत् भी सर्वथा नित्य सिद्ध होता है।

आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते। वे आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता है[४२]।

वल्लभ मत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है। अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है, परन्तु ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत्' का विनाश कभी सम्भव नहीं है। वह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग

भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है; ज्ञानमार्ग

आध्यात्मिक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु परब्रह्म, सच्चिदानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है। आचार्य का आचार-मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है (पोषणं तदनुग्रहः—भाग० २।१०)। अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है। मर्यादामार्ग वैदिक है, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से निकला है। मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही ध्येय होती है, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग-रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है[४४]।

मुक्ति—विचारणीय है कि अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी होती होती है? आनन्द-स्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूपबल से अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध मात्र से स्वरूपदान करते हैं, अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने आनन्द का स्थापन कर उसे अपने स्वभाव में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है, अर्थात् अन्यथाभाव को, दुःख तथा जडता को छोड़कर स्वरूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही मुक्ति है; भागवत का यही मन्तव्य है[४५]। वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त में मुक्ति का यही रूप माना है। इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की 'प्रकृति' है। प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे जीव को अपने समान ही आनन्दमय बना देते हैं। 'पुरुषोत्तम' स्वयं सच्चिदानन्द रूप ठहरे, अतः वे जीवों को भी वही रूप प्रदान कर उन्हें आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव 'स्वरूपापत्ति' कहलाता है, 'स्वरूप' का अर्थ ही है आनन्दमय रूप। इसे ही पाना मुक्ति है।

मुक्ति की दशा

भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'मर्यादाभक्ति' तथा 'पुष्टिभक्ति'। इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है। भगवान् के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादाभक्ति है, परन्तु भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिभक्ति है। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है, परन्तु पुष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादाभक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पुष्टिभक्ति से अभेदबोधन की प्रधानतया सिद्धि

होती है। इस प्रकार इस क्लेशविपुल संसार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है पुष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के बिना सब प्राणियों के लिए उपादेय है।

यह 'पुष्टि' श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है। वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पुष्टितत्त्व को पुष्ट किया है। इस मत के 'प्रस्थान-चतुष्टयी' में उपनिषत्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवत (समाधिभाषा व्यासस्य) की भी गणना है। भागवत का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों में अणुभाष्य की अपेक्षा 'सुबोधिनी' की ख्याति कहीं अधिक है[२३]।

विज्ञानभिक्षु वल्लभ के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'विज्ञानामृत' भाष्य में इन्होंने "अविभागाद्वैत" का प्रतिपादन किया है। इनके मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है।

५

चैतन्यमत

बंगदेश को अपने रसमय कीर्तनों से भक्ति-विभोर बना देने वाले निखिल-रसामृतमूर्ति श्री महाप्रभु चैतन्यदेव (१४८५ ई०—१५३३ ई०) वल्लभाचार्य जी के समसामयिक थे। नवद्वीप में जन्म ग्रहण कर आपने वैष्णवधर्म के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किया वह सर्वसाधारण को अविदित नहीं है। आपके युगल शिष्य श्रीरूपगोस्वामी तथा श्री सनातनगोस्वामी ने प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण कर गौडीय वैष्णवमत की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा की है। श्रीरूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदी, ललितमाधव तथा विदग्धमाधव नाटकों में श्रीकृष्ण की ललित वृन्दावनलीलाओं का रसमय वर्णन ही नहीं किया है, प्रत्युत 'लघुमाधवामृत', 'उज्ज्वलनीलमणि', भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस की सांगोपांग विवेचना की है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—पद्यावली, हंसदूत और उद्धवसन्देश। रूप के ज्येष्ठ भ्राता सनातन ने 'बृहद्भागवतामृत', भागवत दशम स्कन्ध की 'वैष्णवतोषिणी' नाम्नी टीका तथा 'भक्तिविलास' में चैतन्यमत के सिद्धान्त तथा आचार का सविस्तर वर्णन किया है। सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र श्रीजीव-गोस्वामी का नाम चैतन्यमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु पर 'दुर्गमसंगमनी' तथा भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' व्याख्या लिखने के अतिरिक्त 'भागवतसन्दर्भ' या 'षट्सन्दर्भ' में भागवतसम्मत

भक्ति तथा भगवान् का स्वरूप विस्तृत रूप से दिखलाया है। भागवत का यह समीक्षात्मक ग्रन्थरत्न जीवगोस्वामी की भक्तिभावना तथा प्रचुर पांडित्य को सर्वदा विद्योतित करता रहेगा। 'सर्वसंवादिनी' टीका से मण्डित यह षट्सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती—का समय १७ वें शतक का अन्त तथा १८ वें का आदिम काल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत की 'सारार्थदर्शिनी' टीका (रचनाकाल १७०४ ई०) है। इनकी उज्ज्वलनीलमणि की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका तथा कविकर्णपूर के 'अलङ्कारकौस्तुभ' की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' (बंगला) में चैतन्य की प्रामाणिक जीवनी के साथ-साथ उनके भक्ति-सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है।

बलदेव विद्याभूषण

ये उत्कल के बालेश्वर जिला (आधुनिक बालासोर) में वैश्यकुल में उत्पन्न हुये। चिल्का झील के समीपस्थ गाँव में इन्होंने शास्त्रोंका तथा महीसूर (मैसूर) में वेदों का अध्ययन किया। माध्वमत स्वीकार कर ये वृन्दावन में आये जहाँ इन्होंने राधादामोदर से षड्दर्शन का, विश्वनाथ चक्रवर्ती से श्रीमद्भागवत का तथा पीताम्बरदास (सिद्धान्तरत्न ८।१५ में उल्लिखित अपने दीक्षा गुरु) से अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। जयपुर के पास गलता नामक स्थान के रामानन्दियों को परास्त करने के लिए भी गोविन्द-द्वारा स्वप्नमें आदेश पाकर केवल अठारह दिनों में 'गोविन्द भाष्य' का निर्माण किया। वृन्दावन में इनके स्थापित देवविग्रह का नाम 'श्यामसुन्दर' है। जयपुर के नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्यकाल में १७०४ ई० में इन्होंने गलता के धार्मिक शास्त्रार्थ में भाग लिया था। 'स्तवमाला' के ऊपर इनकी टीका का रचनाकाल १६८६ श० सं (=१७६४ ई०) है। फलतः इनका समय १६८० ई०–१७७० ई० माना जाता है। इनके आराध्यदेव 'गोविन्द' थे। अतः इनका दीक्षा-नाम 'गोविन्ददास' था।

इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों की सम्पत्ति बड़ी विशाल है जिनमें कुछ मौलिक ग्रन्थ हैं, परन्तु अधिकांश टीका-ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों-द्वारा इन्होंने चैतन्यमत के सिद्धान्तों को शास्त्रीय प्रतिष्ठा प्रदान की तथा अन्य वेदान्त सम्प्रदायों की श्रेणी में उसे प्रतिष्ठित किया। इनके मौलिक ग्रन्थ हैं—सिद्धान्तरत्न (या भाष्यपीठिका), प्रमेयरत्नावली, सिद्धान्त-दर्पण (भागवत की मीमांसा), वेदान्त-स्यमन्तक

(स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन)। अधिकांश टीकायें प्राचीन ग्रन्थों तथा गौडीय आचार्यों के ग्रन्थों पर है जिनमें कतिपय यहाँ उल्लिखित हैं—दशोपनिषद्, गोपाल-तापनी, गीता (गीताविभूषण भाष्य), विष्णुसहस्रनाम (नामार्थसुधा), भागवत (वैष्णवनन्दिनी), लघुभागवतामृत (सारंग-रंगदा) षट्संदर्भ, पद्यावली (रसिकरंगदा), रूपगोस्वामी की स्तवमाला (स्तवमाला भूषण) तथा गोविन्द-विरुदावली, विश्वनाथ चक्रवर्ती का कृष्णभावनामृत, गोपाल चम्पू—इन महनीय ग्रन्थों पर इन्होंने सुबोध तथा प्रामाणिक व्याख्यायें लिखीं। परन्तु इनकी कीर्तिका गौरव ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्र का चैतन्यमतानुसारी भाष्य जिसके निर्माण के लिए इनके आराध्यदेव श्री गोविन्दजी ने स्वप्न में आदेश दिया था और जो इसीलिए उन्हीं के नाम पर गोविन्दभाष्य कहलाता है। चैतन्यमत को वेदान्त सम्प्रदाय की महनीय श्रेणीमें प्रतिष्ठित करने का श्रेय इस भाष्य को प्राप्त है। तथ्य तो यह है कि विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा बलदेव विद्याभूषण ने वृन्दावनीय गोस्वामियों द्वारा आरब्ध कार्य को पूर्णता प्रदान की तथा चैतन्यमत का शास्त्रीय रूप परिष्कृत किया। इतिहास-दृष्ट्या यह मत माध्वमत से सम्बद्ध है, परन्तु सिद्धान्त-दृष्ट्या द्वैतवाद से नितान्त भिन्न होकर 'अचिन्त्य भेदाभेद' का प्रतिष्ठापक है। इसी प्रतिष्ठापना में बलदेव विद्याभूषण का समधिक गौरव है।

साध्यतत्त्व

भगवान्

भगवान् विज्ञानानन्द विग्रह हैं, ये अनन्त गुणों के निवासस्थान हैं। सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वविद्यत्व आदि अनन्त अपरमित गुण श्री भगवान् में सदा निवास करते हैं। गुण और गुणी का वास्तव में अभेद रहता है। इसीलिए सत्यकामत्वादि अनन्तगुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं हैं। इस अभेद दृष्टिको ध्यान में रखकर विष्णुपुराण ज्ञान-बलादि गुणों को भगवत् शब्दवाच्य बतलाता है[४७]। भगवान् का विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार ही है। अतः भगवद्-विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, विग्रह तथा गुणों में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्य नहीं है; तथापि पार्थक्य का वर्णन (जैसे भगवान् के गुण, भगवान् का स्वरूप) भाषा की दृष्टि से ही किया जाता है। चैतन्यमत में भेद का समर्थन जलकल्लोल न्याय से किया जाता है।

शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेद से शून्य है। वह अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है। भगवान् में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति रहती है जिसके कारण नानात्मक प्रतीत होने पर भी वह एकात्मक ही बना रहता है। भक्तों ने इसीलिए भगवान् को वैदूर्य मणि के समान बतलाया है। इस शक्ति की परिभाषिकी संज्ञा 'विशेष' है जिसकी कल्पना माध्वमत से ग्रहण की गई है। जहाँ पर भेदभाव होकर भी भेदकार्य की प्रतीति होती है, वहाँ 'विशेष' माना जाता है[४८]। 'विशेष' भेदव्यवहार का निर्वाहकमात्र होता है, पर 'भेद' वास्तव होता है। भगवान् का जीव तथा प्रकृति से पृथक् होना भेद-साध्य है, परन्तु भगवान् का अपने गुणों तथा विग्रहों से पृथक् होना 'विशेषजन्य' है क्योंकि वस्तुतः उनके गुण तथा विग्रह भगवान् से एकाकार ही हैं। इसी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं[४९]।

भगवान् की शक्तियाँ

भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति[५०]। स्वरूपशक्ति को चित्शक्ति तथा अन्तरंग शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवद्रूपिणी ही है। सत्, तथा आनन्द के कारण भगवान् को यह स्वरूपशक्ति एक होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती है[५१]।—(१) 'सन्धिनी'—इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं, तथा समस्त देश, काल एवं द्रव्यों में व्याप्त रहते है[५२]। (२) 'संवित्' चिदात्मा भी भगवान् इसी से स्वयं जानते हैं तथा दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं। (३) 'ह्लादिनी'—इससे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं[५३]। जो शक्ति परिच्छिन्न-स्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के अविर्भाव का कारण बनती है वह 'तटस्था' या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव-साधन होता है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को 'पराशक्ति' कहते हैं। भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न—निमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए भक्तों की रुचि के अनुसार ये ही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं अवतार नहीं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—श्रीमद्भाग० १।३।२८)।

जगत्

चैतन्यमत में जगत् प्रपञ्च नितरां सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्ववित् हरि की बहिरङ्ग शक्ति का विकास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करती है[५४]। जगत् को सत्यता के विषय में ईशावास्य-उपनिषद् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थभाव से पदार्थों का निर्माण किया, जिससे पदार्थों का सत्य होना प्रमाणित होता है। विष्णुपुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह अखिल जगत् जन्म तथा नाश आदि विकल्पों से युक्त होने पर भी अक्षय तथा नित्य है। महाभारत भी जगत् को सत्य तथा भूतमय मानता है। जगत् सच्चा अवश्य है, तथापि इसे अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि दुःख-बहुल होने से साधक को इससे विरक्त रहना चाहिए। वैराग्य के लिए ही संसार को अनित्य कहा गया है। सृष्टिकाल में यह जगत् भगवान् में अभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है, परन्तु प्रलयकाल में भी यह जगत् अव्यक्त रूप से भगवान् में ही रहता है। रात के समय चिड़िएँ जंगल के पेड़ों में छिप कर रहती हैं, अर्थात् वे वहाँ रहती अवश्य हैं, परन्तु काल के वश उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसी प्रकार यह जगत् भी प्रलय दशा में अव्यक्त रूप से भगवान् में रहता है। प्रमेयरत्नावली (३।२) में इसलिए प्रलय दशा में जगत् की उपमा 'वनलीनविहङ्गवत्' कह कर दी गई है।

चैतन्य मत की दार्शनिक दृष्टि अचिन्त्यभेदाभेद की है। इसका विशिष्ट वर्णन श्री जीवगोस्वामी ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूपादि शक्तियों का अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य है। वह भिन्न प्रतीत होता है। उधर उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् (भगवान्) तथा शक्ति (स्वरूपादि) में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं। ये दोनों ही अचिन्त्य शक्ति के कारण अचिन्तनीय हैं। इस प्रकार अचिन्त्य शक्ति के कारण यह प्रपञ्च न तो भगवान् के साथ बिल्कुल भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण यह मत अचिन्त्यभेदाभेद के नाम से दार्शनिक जगत् में प्रख्यात है[५५]।

साधनमार्ग

भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में

है। ज्ञान की प्रकाररूपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—केवल ज्ञान तथा विज्ञान। 'त्वं' पदार्थ के ज्ञान से कैवल्य-ज्ञान का उदय होता है, 'तत्' पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता है, सायुज्यादि मुक्ति की उपलब्धि होती है। फलतः विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्-प्रसाद को ही प्राप्त करता है, अपितु भगवान् को भी अपने वश में कर लेता है (भगवद्वशीकार)। अतः भगवद्वशीकार को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। संवित् तथा[५६] ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान् का ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का पृथग्-विशेषण है, परन्तु भक्तों का पृथग् विशेषण है।

भगवान् के दो रूप होते हैं—(१) ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा (२) माधुर्य, जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं। ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है। ऐश्वर्यज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत्सान्निध्य में स्वकीय भाव को भूल कर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता है, परन्तु माधुर्य ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह वात्सल्य, सख्य आदि स्वीय भावों को खो नहीं बैठता। भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'विधिभक्ति' और 'रुचिभक्ति' या राग। विधिभक्ति में भक्तिशास्त्र में निर्दिष्ट उपायों का अवलम्ब नितान्त उपादेय है। इस भक्त अपने प्रयत्न से 'देवयान' का आश्रय कर सिद्धि लाभ करते हैं, परन्तु आर्त भक्तों पर भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है। वह स्वयं उन्हें अपने वाहन के द्वारा स्वेच्छा से परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं। विधिभक्ति से रागात्मिका नितान्त श्रेयस्कर है। इसमें भक्त भगवान् को अपने प्रियतमरूप से ग्रहण करता है, तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत्-धाम को प्राप्त करता है। व्रजगोपिकाओं में प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन नारदपाञ्चरात्र ने किया है[५७]।

यह भक्ति अन्य दर्शनों के समान उपायभूता न होकर उपेयभूता है। मुक्तात्माओं के लिए यही भक्ति 'सेवानन्द' का रूप धारण कर प्रकट होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा से जो आनन्दलाभ होता है, वह मोक्ष से भी बढ़कर होने के कारण 'पञ्चम' पुरुषार्थरूप से गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है। इस भक्तिरस की सांगोपांग कल्पना चैतन्यमत की मुख्य विशेषता है, जिसका पाण्डित्यपूर्ण विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में किया है।

चैतन्यमत का संक्षिप्त वर्णन भक्तवर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है:—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

उपसंहार

प्रसिद्ध वैष्णव दर्शनों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसके अनुशीलन से पता चलता है कि इनमें कतिपय सिद्धान्त सामान्य रूप से मान्य हैं। वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा मोक्ष-साधन में भक्ति की ही प्रधानता है। भगवान् का साकार, सगुण, सविशेष भाव ही मान्य है। भगवान् अनन्त-कल्याण-गुण-निकेतन, समस्त प्राकृतगुण-विहीन, हेयप्रत्यनीक हैं तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर विग्रह धारण करनेवाले हैं। जीव का अणुत्व सर्वत्र समभावेन सिद्ध है। भक्ति-मार्ग में जीव की विभुत्वकल्पना कथमपि सुसंगत नहीं हो सकती। 'विदेह मुक्ति' की कल्पना ही सवत्र आदरणीय है, 'जीवन्मुक्ति' की नहीं। देह-धारण के समय जीव के दुःख क्षय होने पर भी सर्वदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते। विदेहमुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के संनिधान में उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताता है। मुक्त आत्माओं को भी भजन के लिए देहप्राप्ति अवश्यमेव होती है, परन्तु यह देह शुद्धसत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत होता है। नित्य देह के आश्रय से ही जीव भगवान् के साथ नित्य-लीलायें कर सकता है। सामीप्यादि चतुर्विध मुक्ति की कल्पना में भगवान् तथा भक्त का किञ्चिदंश में भेद बना ही रहता है। सायुज्यमुक्ति में दोनों की एकरूपता होने पर भी किञ्चिन्मात्र भेद उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार दो वृत्तों को एक दूसरे के ऊपर रखने से एकाकार होने पर भी उनमें परस्पर भेद किञ्चिन्मात्र में अवश्यमेव रहता है।

इस प्रकार जीव, ईश्वर तथा मुक्ति की कल्पना में साम्य होने पर भी जीवेश्वर-सम्बन्ध के विषय में इन विभिन्न वैष्णवसम्प्रदायों में पार्थक्य है। चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्यशक्ति के कारण 'अचिन्त्यभेदाभेद' के सिद्धान्त का पोषक है, तो वल्लभमत मायासम्बन्धरहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता

है। माध्वमत स्पष्टतः जीवेश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है। रामानुज तथा निम्बार्क मत में परस्पर सिद्धान्तगत विपुल साम्य है। रामानुज चित् अचित् को भगवान् के गुण या प्रकार मानकर उभयविशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं, परन्तु निम्बार्क चित् अचित् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं। ईश्वर के लिए किसी व्यावर्त्य पदार्थ की सत्ता न होने से चित् अचित् को विशेषण मानना निम्बार्क को न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।[५८] मायावाद का खण्डन भक्तिविरोधी होने के कारण सर्वत्र समभावेन किया गया है।

भारतीय दर्शन

चतुर्थ खण्ड

तन्त्र

(१) तन्त्र-परिचय
(२) वैष्णव-तन्त्र
(३) शैव-शाक्त-तन्त्र
(४) उपसंहार

चतुर्दश परिच्छेद

तन्त्र का परिचय

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यारी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र-सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। तन्त्र का नाम सुनते ही कितने लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनाओं और विशुद्ध आचारपद्धति को न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल हैं जितने षड्दर्शनों के; उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रमूलक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस चतुर्थ खण्ड का मुख्य विषय है।

१

तान्त्रिक साधना

सब सम्प्रदायों में साधना दो प्रकार की मानी जाती है—बहिरंग और अन्तरंग। बहिरङ्ग में सार्वभौम विधि-विधानों का प्रामुख्य रहता है—इन विधि-विधानों के निमित्त सर्वसाधारण अधिकारी होता है। इसकी सब बातें प्रकट रहती हैं—स्वभावत: उन्मुक्त, जिनके लिए अधिकारी की विशेष योग्यता अपेक्षित नहीं होती। इससे विपरीत होती है अन्तरंग साधना, जिसके विधान के लिए विशिष्ट अधिकारी की आवश्यकता होती है। इस साधना का मार्ग सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त नहीं होता, प्रत्युत अधिकारी की योग्यता का परीक्षण कर ही यह विधेयक होता है। साधनाका यह द्वैविध्य विश्व के समग्र उदात्त धार्मिक सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है, चाहे वे पूर्वी जगत् में उत्पन्न हुए हों चाहे पश्चिमी। प्राचीन यूनान तथा रोम में भी इस प्रकार की साधनाओं का अस्तित्व मिलता है। 'पाइथोगोरस' ने एक विशिष्ट प्रकार का सम्प्रदाय-प्रवर्तन किया था, जो दर्शन के कतिपय तथ्यों को मानने पर भी मुख्यतया अन्तरङ्ग धर्म के वैशिष्ट्य पर ही आश्रित था। रोम के धार्मिक आचरण में भी हमें अग्नि की परिचर्या करनेवाली कुमारियों का वृत्त मिलता है जो आजन्म कौमारव्रत का आश्रयण कर अग्नि की सेविका होती थीं। ईसाई

चतुर्दश परिच्छेद

तन्त्र का परिचय

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यारी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र-सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। तन्त्र का नाम सुनते ही कितने लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनाओं और विशुद्ध आचारपद्धति को न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल हैं जितने षड्दर्शनों के; उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रमूलक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस चतुर्थ खण्ड का मुख्य विषय है।

१

तान्त्रिक साधना

सब सम्प्रदायों में साधना दो प्रकार की मानी जाती है—बहिरंग और अन्तरंग। बहिरङ्ग में सार्वभौम विधि-विधानों का प्रामुख्य रहता है—इन विधि-विधानों के निमित्त सर्वसाधारण अधिकारी होता है। इसकी सब बातें प्रकट रहती हैं—स्वभावतः उन्मुक्त, जिनके लिए अधिकारी की विशेष योग्यता अपेक्षित नहीं होती। इससे विपरीत होती है अन्तरंग साधना, जिसके विधान के लिए विशिष्ट अधिकारी की आवश्यकता होती है। इस साधना का मार्ग सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त नहीं होता, प्रत्युत अधिकारी की योग्यता का परीक्षण कर ही यह विधेयक होता है। साधनाका यह द्वैविध्य विश्व के समग्र उदात्त धार्मिक सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है, चाहे वे पूर्वी जगत् में उत्पन्न हुए हों चाहे पश्चिमी। प्राचीन यूनान तथा रोम में भी इस प्रकार की साधनाओं का अस्तित्व मिलता है। 'पाइथोगोरस' ने एक विशिष्ट प्रकार का सम्प्रदाय-प्रवर्तन किया था, जो दर्शन के कतिपय तथ्यों को मानने पर भी मुख्यतया अन्तरङ्ग धर्म के वैशिष्ट्य पर ही आश्रित था। रोम के धार्मिक आचरण में भी हमें अग्नि की परिचर्या करनेवाली कुमारियों का वृत्त मिलता है जो आजन्म कौमारव्रत का आश्रयण कर अग्नि की सेविका होती थीं। ईसाई

मत में भी इसी प्रकार दो प्रकार की उपासनाओं की प्रभूत चर्चा मिलती है। सर्वसाधारण के निमित्त विहित साधना 'एक्सोटरिक' कहलाती थी तथा कतिपय अन्तरङ्ग जनों के लिए प्रतिपादित साधना 'एसोटरिक।' भारतीय धर्म में भी इन दोनों का अस्तित्व पाया जाता है।

यज्ञ-यागादि का आचरण अथवा त्रयीमार्ग की उपासना द्विजमात्र के लिए विहित है। इसमें कुछ नियन्त्रण है, परन्तु वह सामान्य कोटिका ही। वेदाध्ययन के प्रत्येक अधिकारी द्विज का अधिकार यज्ञ-याग के सम्पादन के निमित्त मान्य है, परन्तु कुछ ऐसी अन्तरङ्ग साधना भी है जो गुप्त रक्खी जाती है और जिसको योग्य अधिकारी पाने पर ही गुरु सिखलाता है। इन दोनों में से प्रथम प्रकार की साधना का प्रकाशक ग्रन्थ है—निगम अर्थात् वेद। और दूसरे प्रकार की साधना का बोधक ग्रन्थ है—आगम अर्थात् तन्त्र। भारत की संस्कृति उभयाश्रित है—वह जिस प्रकार निगम का आश्रयण करती है, उसी प्रकार वह आगम का भी अवलम्बन करती है। फलतः वह निगमागममूलक है। भारतीय संस्कृति के यथार्थ बोध के लिए वेद का ज्ञान जितना आवश्यक है उतना ही तन्त्र का भी। दोनों के मञ्जुल समन्वय के ऊपर ही वह शोभन वस्तु आधारित है, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' के नाम से पुकारते हैं।

परन्तु प्रश्न है तन्त्र है क्या वस्तु ?

तन्त्र का अर्थ

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति 'तन्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगने पर सिद्ध होती है। 'तन्' धातु का अर्थ है विस्तार। फलतः तन्त्र का अर्थ है वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्)। यह तो हुई इस शब्द की व्याकरणगम्य व्युत्पत्ति[1]। 'तन्त्र' की निरुक्ति तन् (विस्तार करना) और त्रै (रक्षा करना) इन दोनों धातुओं के योग से सिद्ध होती है जिसका तात्पर्य यह है कि तन्त्र विपुल अर्थों के विस्तार करने के साथ ही तदनुसारी आचरणशील व्यक्तियों का त्राण भी करता है। फलतः इससे सफलता की सिद्धि की भी सूचना मिलती है। शैव सिद्धान्त के एक प्रख्यात तन्त्र ग्रन्थ 'कामिक आगम' के अनुसार तन्त्र की निरुक्ति इस प्रकार है—

तनोति विपुलानर्थान्, तन्त्रमन्त्र - समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात्, तन्त्रमित्यभिधीयते॥

अतः 'तन्त्र' का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धांत, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान-विषयक ग्रन्थ आदि है और इस व्यापक अर्थ में इसका बहुशः प्रयोग भी उपलब्ध होता है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि शास्त्रों के लिए तन्त्र शब्द प्रयुक्त है। शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन के लिए 'तन्त्र' का प्रयोग किया है—स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता। तात्पर्य यह है कि कपिल आदि विद्वान् होने के कारण 'परमर्षि' नाम से अभिहित किये जाते हैं और उनके द्वारा प्रणीत सांख्यशास्त्र स्मृति तथा तन्त्र इन दोनों अभिधानों के द्वारा पुकारा गया है[२] (शाङ्करभाष्य ब्रह्मसूत्र २।१।१।)। यह तो हुआ 'तन्त्र' का व्यापक अर्थ। परन्तु इस शब्द का एक संकुचित अर्थ ही लोक-व्यवहार में अभीष्ट है। तन्त्र से अभिप्राय उस शास्त्र से है जो मन्त्र, कील, कवच आदि से समन्वित एक विशिष्ट साधनामार्ग का उपदेश देता है।

तन्त्र का दूसरा प्रख्यात नाम आगम है[३]। वाचस्पति मिश्रने योगभाष्य की अपनी तत्त्ववैशारदी व्याख्या में 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः; अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आते हैं वह 'आगम' कहलाता है, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र ही आगम है। 'आगम' की यह व्युत्पत्ति उसका निगम से पार्थक्य दिखलाने के लिए भी पर्याप्त है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान का स्वरूप बतलाता है निगम (वेद), और इनके साधनभूत उपायों का रूप समझाता है आगम (तन्त्र)। फलतः ये दोनों परस्पर उपकारी शास्त्र हैं। उदाहरण के लिए शाक्त आगम को लीजिये। अद्वैत वेदान्त नाना युक्तियों के सहारे अद्वैत तत्त्व की उपपत्ति करता है। यह तो हुआ सिद्धान्त-पक्ष। शाक्त आगम उसी अद्वैत तत्त्व की साधना का प्रकार बतलाता है, यह हुआ व्यवहार-पक्ष। फलतः तन्त्र अथवा आगम में व्यवहार-पक्ष का ही प्राबल्य रहता है। तन्त्र का मुख्य रूप है—साधना का उपदेश[४]। क्रिया तथा अनुष्ठान पर ही यह प्रधान बल देता है। शास्त्रों में दिये गये आगम के लक्षणों से भी यह बात सिद्ध होती है। वाराही तन्त्र के अनुसार आगम के सात लक्षण होते हैं[५]—

(१) सृष्टि—विश्वका प्रपञ्च किस प्रकार उदित हुआ।

(२) प्रलय—विश्व का तिरोभाव किस प्रकार होता है।

(३) देवार्चन—देवताओं की सर्वाङ्गपूर्ण पूजा का विधान।

(४) सर्वसाधन—सब सिद्धियों की प्राप्ति के उपाय।

(५) पुरश्चरण—मारण, मोहन, उच्चाटन, आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना।

(६) षट्कर्म—शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण का साधन।

(७) ध्यानयोग—अभीष्ट देवता के स्वरूप का एकाग्र मन से चिन्तन, जिससे देवता का प्राकट्य सम्पन्न होता है।

ये सातों लक्षण व्यापक रूप से आगम के विषयों का संकेत करते हैं। तन्त्र के स्वरूप भी भली-भाँति पहिचाने जा सकते हैं। इसमें प्रथमतः देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का चिन्तन किया जाता है, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया जाता है, तब उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता के ध्यान और उपासना का वर्णन किया जाता है। यह उपासना पाँचों अङ्गों से समन्वित होने पर पुष्ट मानी जाती है—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र। इस प्रकार 'तन्त्र' के स्वरूप के विषय में बिलकुल भ्रान्ति नहीं हो सकती। इतना तो निश्चित है कि तन्त्रों का वैशिष्ट्य 'क्रिया' है, जिस प्रकार वेद का वैशिष्ट्य 'ज्ञान' है। आशय यह है कि वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार ही आगमों का मुख्य विषय है। तन्त्र का मुख्य लक्ष्य इस छोटे से वाक्य में निविष्ट है—ज्ञानं भारः क्रियां विना–बिना क्रिया के ज्ञान भार है। ज्ञान से सम्पन्न साधक यदि उस ज्ञान को अपने जीवन में परिणत कर उसे क्रियात्मक नहीं बनाता तो वह अपने लक्ष्य को किसी तरह प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो सचमुच चन्दनवाही गर्दभ के समान होता है, 'भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' की उक्ति के अनुसार जो केवल भार को ही जानता है उस अनमोल सुगन्धिदायक चन्दन का ज्ञाता नहीं होता। तन्त्र का यह लक्ष्य कथमपि नहीं होता, वह तो ठीक इसके विपरीत है।

कलियुग में तन्त्र का प्राधान्य

साधन की दृष्टि से चतुर्युगों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। कलियुग की महत्ता मानने के लिए 'विष्णुपुराण' (अंश ६, अ० २) में एक रोचक कथानक का उपक्रम दिया गया है। जिज्ञासु ऋषियों की एक टोली व्यासजी के पास जब

पहुँची, तब वे गंगा जी में स्नान कर रहे थे। स्नान करते ही करते उन्होंने तीन बार पुकारा—शूद्र साधुः, कलिः साधुः तथा योषित् साधुः। ऋषियों को जब इन सिद्धान्तों की सत्यतापर आश्चर्य हुआ, तब व्यास जी ने उनके संशय तथा विस्मय का प्रशमन करते हुए फल की सिद्धि का चतुर्युगीन अनुपात इस प्रकार बतलाया—

१० वर्ष (सत्ययुग) = एक वर्ष (त्रेता) = एक मास (द्वापर) = एक दिन (कलियुग)।

इस अनुपात का तात्पर्य यह है कि जप, तप आदि की सिद्धि के लिए सत्ययुग में जहाँ ३६०० (तीन हजार छह सौ) दिन लगते हैं, वहाँ कलियुग में एक ही अहोरात्र पर्याप्त है। साधन की सरलता कलि की विशिष्टता है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैः
त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति
कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णुपुराण ६।२।१७)

पुराण के इसी स्वर में तन्त्र भी कलियुग की महिमा का प्रतिपादन करता है। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार देववाणी में निबद्ध चार प्रकार के साहित्यों की मान्यता चारों युग में होती है—

कृते श्रुत्युक्त आचारः त्रेतायां स्मृति-सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥

सत्ययुग में श्रुति—वेद के द्वारा प्रतिपादित आचारकी प्रधानता होती है, त्रेता में स्मृति की, द्वापर में पुराण की और कलियुग में आगम तथा तत्प्रतिपादित आचारकी प्रधानता रहती है। इस तथ्य के लिए युक्ति भी है।

कलियुग में मानवों की आध्यात्मिक शक्ति में क्षीणता दृष्टिगोचर होती है। जितना त्याग, तितिक्षा तथा धैर्य प्राचीन काल में था, उतना आज कहाँ दिखलायी पड़ता है? बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि की भी यही दशा है। वैदिक कर्मों का अनुष्ठान जिस त्याग-तपस्या पर आश्रित था, उसका नाम भी तो आजकल नहीं दिखाता। अतः उनका यथेष्ट आचरण कलियुग में सम्भव

नहीं है। तन्त्र में इसकी आवश्यकता इतने दर्जे तक नहीं होती। एक सुभीता और भी है। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में शूद्र तथा स्त्री—दोनोंका अधिकार नहीं है परन्तु तन्त्रों में इनके लिए छूट है। इनका भी पूरा अधिकार है। निगम जहाँ अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को केवल त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के लिए सीमित रखता है, वहाँ आगमने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए शूद्र और स्त्री जनोंतक के लिये उन्मुक्त कर रखा है। यहाँ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं, जाति-पाँति की विभिन्नता नहीं। इसीलिए तन्त्र का यह सर्वभौम तथा सार्ववर्णिक रूप उसकी लोक-प्रियता का प्रधान हेतु है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि तन्त्र में अधिकारी का विचार नहीं है। अधिकारी का विचार है और बड़ी गम्भीरता से विचार है। विशिष्ट योग्यता के अभाव में साधक इसमें आ नहीं सकता। यह काम गुरु का है कि वह योग्यता के अनुसार शिष्य की परीक्षा करे और उसके अनुसार विभिन्न तन्त्रों की दीक्षा देकर उसको अग्रिम गति तथा उत्थान की व्यवस्था करे।

तन्त्र विज्ञान है

सच पूछिये तो 'तन्त्र' की तुलना विज्ञान से की जा सकती है। विज्ञानका मार्ग सिद्धान्ततः प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है, किसी के लिए रुकावट नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐरा-गैरा कोई भी इसमें जा सकता है। नहीं, कभी नहीं। इसके लिए भी योग्यता उपेक्षित होती है। वैज्ञानिक यन्त्र सामने भले ही पड़े रहें, परन्तु जबतक उसका ज्ञाता शिक्षा नहीं देता, उन्हें छूने तथा प्रयोग में लाने की विद्या नहीं सिखलाता, तबतक उन्हें छूना नितान्त हानिकारक होता है। किस स्विच को दबाने से कौन बल्ब जल उठेगा यह गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा करता है। अशिक्षित इसे नहीं जान सकता। बिजली की विद्या के गुरु-द्वारा शिक्षित छात्र ही उसे प्रयोग में ला सकता है। तन्त्र की भी ठीक यही दशा है। तन्त्र ठहरा आध्यात्मिक जगत् का व्यावहारिक विज्ञान। बिना योग्य गुरु के सिखलाये न तो कोई साधक इस विद्या में निपुण हो सकता और न अपने तात्पर्य को ही सिद्ध कर सकता है। इसीलिए तन्त्र-विद्या में गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती है। जिस प्रकार आज व्यवहार-जगत् में विज्ञान का युग है उसी प्रकार आज धार्मिक जगत् में तन्त्र का युग है। क्या ग्रन्थ के सहारे किसी विज्ञान का ज्ञान व्यापक हो सकता है ? नहीं कभी नहीं ? उसके लिए तो प्रयोगशाला चाहिए जिसमें सुयोग्य वैज्ञानिक सुयोग्य अधिकारी छात्रों को उस विषय की शिक्षा देता है और प्रयोग के

द्वारा उसकी सत्यता प्रमाणित करता है। ठीक यह दशा तन्त्र की है। तान्त्रिक गुरु प्रयोग के द्वारा अधिकारी शिष्य को शास्त्र की सत्यता का प्रमाण देकर उसे तन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा देता है। इसी में तन्त्र विद्या की चरितार्थता है। फलतः तन्त्र का मार्ग सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त होने पर भी अधिकारी की अपेक्षा रखता है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि योग्य गुरु की शिक्षा का उचित परिशीलन किया जाय तो फल की सिद्धि में विलम्ब नहीं होता और इस विषय में तन्त्र आधुनिक विज्ञान के समकक्ष है। दोनों की इस समय आवश्यकता है। व्यवहार में विज्ञान की और अध्यात्म में तन्त्र की। 'बिना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये'—महानिर्वाण-तन्त्र की इस गम्भीर घोषणा का यही स्वारस्य है और इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं है।

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। भारतीय धर्म निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगम (वेद) पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम (तन्त्र) पर भी आश्रित है। आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना बड़ी विषम समस्या है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तन्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया है। शाक्त आगम की वेदमूलकता के विषय में जनसाधारण को विशेष सदेह है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से केवल एक ही आचार—वामाचार—की घृणित पूजा-पद्धति के बल पर पूरे शाक्त आगम को लोग अवैदिक ठहराते हैं, परन्तु शाक्तों के सिद्धान्त और आचार के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है। वेदबाह्य तन्त्रों की भी कमी नहीं है जिनके आचार और पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

आगम-निगम

शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद प्राप्ति है। तांत्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे (देवो भूत्वा यजेद् देवम्)। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग

है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है कि मैं ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मुझमें शोक नहीं, मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ, मैं स्वभाव से ही मुक्त हूँ। यह पूर्ण अद्वैत धारणा है[६]।

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयंज्योतिः, आद्यन्त-विरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द-स्वरूप है (कुलार्णव १।६—१०)। जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है—तन्त्रों के ये सिद्धान्त निःसंशय उपनिषन्मूलक हैं। तन्त्रों में परम तत्त्व मातृरूप से स्वीकृत किया जाता है। तन्त्रों में शक्ति की कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के ही आधार पर है। ऋग्वेद के वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन है, 'शक्तितन्त्र' उसी के भाष्य माने जा सकते हैं। अतः आगमों के सिद्धान्तों में निगमों के सिद्धान्तों से किसी प्रकार का मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। शाक्त आचार का भी विचार आगे किया जा रहा है। सिद्धान्ततः अनेक शाक्ताचार भी नितान्त वैदिक हैं। निगम तथा आगम में यही पार्थक्य दृष्टिगत होता है कि जहाँ निगम अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य—(त्रिवर्ण) के लिए सीमित करता है, वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनों के लिए भी उन्मुक्त कर रखा है। निगम जहाँ विशेषतः ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतः क्रिया-प्रधान है।

प्राचीनता

तान्त्रिक आचार नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिकी पूजा-पद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है। वैदिक काल में वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का भी प्रचार कम न था। उपनिषदों में वर्णित अभिन्न विद्याओं की आधारभित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक (६।२) तथा छान्दोग्य (५।८) में वर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में 'योषा वाव गौतमाग्निः' आदि का रूपक का क्या स्वारस्य है? छान्दोग्य (३।१-१०) में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाडियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, 'साध्य' नामक देवता उससे निकलने वाले अमृत को उपभोग करते है; इस पञ्चम

अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ?. अतः वैदिकी पूजा के साथ गुह्य तान्त्रिक पद्धति की कल्पना करना निराधार नहीं है।

२

तान्त्रिक आचार

शाक्तमत में पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव नामक तीन भाव हैं। तथा वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार नामक सात आचार होते हैं। ये सात आचार पूर्वोक्त तीनों भावों से सम्बद्ध हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के न हटने से अद्वैत-ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, उनकी मानसिक अवस्था 'पशुभाव' कहलाती है। पशु के समान ये भी अज्ञानरज्जु के द्वारा संसार से दृढरूप में बंधे रहते हैं। संसार मोह में पड़नेवाला जीव 'अधम' पशु और सत्कर्मपरायण भगवद्भक्त 'उत्तम' पशु कहलाता है। जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतह्रद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञानरज्जु के काटने में यदि कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं वे 'वीर' कहलाते हैं। जो साधक वीरभाव को पुष्टि से द्वैतभाव के दूरीकरण में सर्वथा समर्थ होते हैं तथा उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को डुबो कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे 'दिव्य' कहलाते हैं तथा उनकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। पूर्वोक्त आचारों में प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीरभाव के लिए तथा आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार पूर्ण अद्वैत की भावना से भावित दिव्य साधक के लिए है। कौलाचार का रहस्य नितान्त निगूढ है।

भास्करराय ने 'कुल' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। जिस साधक की अद्वैतभावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपदवाच्य है[७]। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती[८]। यह कौलसाधना वेदागम महोदधि का सार बतलाई गई है। इस नितान्त दुष्कर साधना के रहस्य को न जानने के कारण लोगों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। कौल वह साधक है जो अद्वैतनिष्ठा में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका है और उसी निष्ठा के अनुसार वह अपना आचरण भी रखता है, परन्तु लोगों के नेत्रों से

यह अपने को बचाये रहता है। कौलों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे हृदय से तो शक्ति के उपासक होते हैं, बाहर शैव प्रतीत होते हैं और सभा के भीतर वैष्णव जान पड़ते हैं। इस प्रकार वे नाना रूप धारण कर पृथ्वी पर विचरण करते हैं। यह प्रसिद्धि निन्दा-जनक न होकर वस्तुतः यथार्थ कथन है[९]।

समयाचार

कौलाचार के अतिरिक्त 'श्रीविद्या' के उपासकों का एक अन्य ही आचार है, जो 'समयाचार' के नाम से विख्यात है। आचार्य शंकर इसी आचार के अनुयायी थे। 'लक्ष्मीधर' ने सौन्दर्यलहरी (४१ श्लोक) की टीका में और 'भास्करराय' ने 'समयान्तस्था' और 'समयाचारतत्परा' आदि शब्दों के भाष्य में (ललितासहस्रनाम पृ० ५४) इस मत के अनेक रहस्यमय तत्त्वों का वर्णन किया है। समयमार्ग में अन्तर्याग का ही प्राधान्य है। 'समय' का अर्थ है—हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजाविधान[१०] या शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पञ्च प्रकार के साम्य को धारण करने वाले शिव (शिवशक्ति का सामरस्य)। समयाचार में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग कर देना प्रधान आचार है। समयाचार का तत्त्व नितरां गूढ तथा गुरुमुखैकवेद्य है। समयमार्गी लक्ष्मीधर ने कौलमार्ग की बड़ी निन्दा की है, परन्तु साधना के रहस्यवेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्गों में अन्तर होने पर भी अन्ततः दोनों में नितान्त घनिष्ठता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयमार्गी है। यही मन्त्र-शास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धान्त है।

कौलाचार

तान्त्रिक आचार के रहस्यों से अनभिज्ञ शिक्षित समाज का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को आश्रय दिया गया है। इस आक्षेप की मीमांसा भी आवश्यक है। तन्त्रों की भाषा सांकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा प्रकार का यथार्थ निरूपण करना दुरूह व्यापार है। तान्त्रिक आचार-मार्ग भी अनेक हैं, जिनमें समयाचार तथा कौलाचार दो प्रधान तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम भाष्य के आरम्भ में ही[११] 'कुल' शब्द का अर्थ दिया है—मूलाधारचक्र। लक्ष्मीधर के कथनानुसार आधार-चक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करनेवाले तान्त्रिक 'कौल' तथा उसकी भावना करनेवाले उपासक 'समयमार्गी' कहे जाते हैं। इन तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्चतत्त्व साधन' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पञ्चतत्त्वों में मकारादि पञ्च

वस्तुओं की गणना है— मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, और मैथुन। समय मार्ग में अन्तर्याग (आन्तरिक उपासना) को महत्त्व दिया जाता है। अतः इन पाँचों के 'अनुकल्प' का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् इन पदार्थों का प्रत्यक्ष उपयोग न कर इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है[१२], परन्तु कौल मत में ऐसा नहीं होता। लक्ष्मीधर ने कौलों के दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल 'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दरी तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक होते हैं। वे अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तान्त्रिक विधि-विधानों को कुत्सापूर्ण बतलाने की कल्पना का मूल कारण यही उत्तरकौलों का वामाचार है।

तन्त्र के अनुशीलनकर्ता कतिपय विद्वानों की सम्मति है कि शाक्तमार्ग इन पञ्चतत्त्वों के लिए भी वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वामदेव्यादि अनेक विधानों में परयोषा आदि का प्रयोग मान्य था[१]। बहुत सम्भव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य—विशेषतः तिब्बती, तन्त्रों का प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि कौलों के प्रधान तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है[२]। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है, जो भारतवर्ष के बिलकुल पूरबी प्रान्त आसाम में स्थित है। सम्भवतः यहीं तिब्बती तन्त्रों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। गान्धर्वतन्त्र, तारातन्त्र (१।२), रुद्रयामल (१७ पटल), विष्णुयामल (१—२ पटल) के आधार पर महाचीन (तिब्बत) से पञ्चमकारविशिष्ट पूजा का प्रचार वशिष्ठ के द्वारा किया गया माना जाता है। इस उल्लेख से पूर्वोक्त मत को कुछ आधार मिल सकता है[१२]।

तन्त्र की प्रामाणिकता

तन्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं। भास्करराय तथा राघवभट्ट की सम्मति में श्रुत्यनुगत होने से तन्त्रों का परतः प्रामाण्य है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य तन्त्रों को श्रुति के समान स्वतःप्रमाण मानते हैं। कुलार्णवतन्त्र (२।१४०) का स्पष्ट कथन है कि कौल आगम नितान्त वैदिक शास्त्र है जिससे दोनों की एकता की ओर संकेत मिलता है। कुल्लूक भट्ट ने भी मनुस्मृति (२।१) की टीका मे हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य यह है

१. द्रष्टव्य उडरफ—शक्ति ऐण्ड शाक्त (अं०) पृ० ४४०—४४८।

२. द्रष्टव्य कुलार्णवतन्त्र, २, उल्लास श्लोक १,११७—१३६।

कि श्रुति दो प्रकार की होती है—वैदिकी और तान्त्रिकी, अर्थात् हारीत की दृष्टि में तन्त्र भी वेद के समान ही श्रुति कहलाने की योग्यता रखता है। इन मतों के अनुसार तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समान है और वह वेद के समान ही स्वतः प्रमाण है। प्रसिद्ध शाक्त दार्शनिक भास्करराय ने तन्त्रशास्त्र को स्मृति-शास्त्र के अन्तर्भूत मानकर उसका प्रामाण्य अंगीकार किया है[१४]। मान्वादि स्मृतियों से तन्त्रों की विशेषता यही है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड-के अन्तर्गत हैं और तन्त्र ज्ञानकाण्ड के। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृतिशास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीय काण्ड—उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य माना है, क्योंकि वेद तथा तन्त्र शिव के द्वारा निर्मित होने के कारण समभावेन प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेद केवल त्रैवर्णिक– ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्णों के लिए है, परन्तु तन्त्र सबके लिए माननीय हैं; लेकिन हैं दोनों आदरणीय[१५]। इस भाष्य की 'शिवार्कमणि-दीपिका' व्याख्या में अप्पय दीक्षित ने आगम दो प्रकार का माना है—वैदिक और अवैदिक। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए और अवैदिक तन्त्र वेद के अनधिकारियों के वास्ते हैं। अतः अधिकारी-भेद से व्यवस्था होने के कारण आगम का प्रामाण्य सर्वथा सुव्यवस्थित है।

३

तान्त्रिक संस्कृति

इस विशाल भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि इसके विभिन्न अंश हैं और अंगप्रत्यंग रूपमें विभिन्न विभाग। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें वैदिक साधना ही प्रधान है, किन्तु इनका भी ध्यान रखना चाहिये कि भिन्न-भिन्न समयों में इस धारा में भी नये नये विवर्तन हो चुके हैं। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास पुराणादि के आलोचन से तथा भारतीय समाज के आन्तरिक जीवन का परिचय मिलने से उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टतया ज्ञान होगा। वैदिक धाराका प्राधान्य होने पर भी, इसमें सन्देह नहीं कि इसमें विभिन्न धाराओं का सम्मिश्रण है। इन सब धाराओं के भीतर यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि तन्त्र की धारा ही प्रथम एवं प्रधान है। इस धारा की भी बहुत-सी दिशाएँ हैं, जिनमें एक वैदिक धारा के अनुकूल थी। अगली पीढ़ियों के गवेषक इस तथ्य का निरूपण करेंगे कि वैदिक धारा की जो उपासना की दिशा है, वह अविभाज्य रूप से बहुत अंशों में तांत्रिक धारा से

मिली हुई है और बहुत से तान्त्रिक विषय अति प्राचीन समय से परम्पराक्रम से चले आ रहे थे। उपनिषद् आदि में संवर्ग, उद्गीथ, उपकोशल, भूमा, दहर, आदि जिन विद्याओं का परिचय मिलता है ये सभी गुप्तविद्याएँ इसीके अन्तर्गत हैं'। वेद के रहस्य अंश में भी इन सब रहस्य-विद्याओं के परिज्ञान का आभास मिलता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि वैदिक क्रियाकाण्ड भी अध्यात्म-विद्याका ही बाह्य रूप है, जो निम्न अधिकारियों के लिए उपयोगी माना जाता था। यदि इन सब अध्यात्मविद्याओं का रहस्य-ज्ञान कभी हो जाय तो पता चलेगा कि मूलभूत वैदिक तथा तान्त्रिक या आगम ज्ञानों में विशेष भेद नहीं रहा।

यहाँ प्रसङ्गतः एक बातका उल्लेख आवश्यक है। साधारण दृष्टि से सम्भव है यह समझ में न आवे फिर भी यह सत्य है कि वेद और तन्त्र का निगूढ रूप एक ही प्रकार का है। दोनों ही अक्षरात्मक हैं, अर्थात् शब्दात्मक ज्ञान विशेष हैं। ये शब्द लौकिक नहीं—दिव्य हैं और अपौरुषेय हैं। मन्त्र-दर्शीगण इसे ही प्राप्त कर सर्वज्ञत्व लाभ किया करते थे, वे मन्त्र में आत्म-साक्षात्कार द्वारा अपना जीवन सफल करते थे। पुराकल्प में लिखा है—

यां सूक्ष्मां विद्याम् अतीन्द्रियां वाचं ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणः मन्त्रदृशः पश्यन्ति तां असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति, स्वप्नदृष्टमिव दृष्टश्रुतानुभूतं आचिख्यासन्ते।

निरुक्त-प्रभृति ग्रन्थों के आलोचन से प्रतीत होता है कि ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा थे और वे उन सामान्य लोगों को उपदेश-द्वारा मन्त्र दिया करते थे, जो असाक्षात्कृतधर्मी थे। साक्षात्कृतधर्मा होने के कारण ऋषिगण वस्तुतः शक्तिशाली थे, अतः वे किसीसे उपदेश श्रवण करके ऋषित्वलाभ नहीं करते थे, प्रत्युत वे स्वयं वेदार्थ-दर्शन करते थे। इसी अभिप्राय से उन्हें 'मन्त्रद्रष्टा' कहा जाता है। मन्त्रार्थ ज्ञानका मुख्य उपाय है प्रतिभान, इसे ही प्रातिभ या अनौपदेशिक ज्ञान कहते हैं। इसीके विषय में कहा जाता है—

'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।' गुरु शब्द से यहाँ अन्तर्गुरु या अन्तर्यामी समझना चाहिये। ऐसे उत्तम अधिकारियों को 'दृष्टर्षि' भी कहा जाता है। शक्ति की मन्दता के कारण मध्यम अधिकारी इनसे अवर समझे जाते थे। इनका परिचय 'श्रुतर्षि' नाम से मिलता है। उत्तम अधिकारी को दर्शन मिलता था उपदेश निरपेक्ष होकर और मध्यम अधिकारी को श्रवण-प्राप्त

होता था उपदेश-सापेक्ष। प्रथम ज्ञानका नाम आर्षज्ञान और द्वितीय का नाम औपदेशिक ज्ञान है। मनुसंहिता में लिखा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

किन्तु साधारण अधिकारी को जो ज्ञान होता है, वह सत्तर्क के द्वारा। सत्-तर्क से अभिप्रेत है वेदशास्त्र के अविरोधी तर्कके द्वारा अनुसन्धान। आगमशास्त्र (त्रिपुर तथा त्रिक दार्शनिक साहित्य) में सत् तर्कका विशेष रूपसे मण्डन किया गया है। वैदिक साहित्य में भी यह लिखित मिलता है कि ऋषिगण जब अन्तर्हित होने लगे तो तर्कपर ही ज्ञान का भार दिया गया। सभी साधारण जिज्ञासु लोग अवरकोटि में हैं। हम सभी इसी कोटि के हैं। इस प्रकार के लिए सत्तर्क ही अवलम्बनीय है।

तन्त्र-शास्त्रोंके अनुसार तन्त्रका मूल आधार कोई पुस्तक नहीं है, वह अपौरुषेय ज्ञान-विशेष है। ऐसे ज्ञान का नाम ही आगम है। यह ज्ञानात्मक आगम शब्दरूप में अवतरित होता है। तन्त्र-मत में परा वाक् ही अखण्ड आगम है। पश्यन्ती अवस्था में वह स्वयंवेद्य रूप में प्रकाशित होती है और अपना प्रकाश अपने साथ रखती है। यही साक्षात्कार की अवस्था है, यहाँ द्वितीय या अपर में ज्ञान का संचार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वही ज्ञान मध्यमा में अवतीर्ण होकर शब्द का आकार धारण करता है। यह शब्द चित्तात्मक है। इसी भूमि में गुरु-शिष्य भाव का उदय होता है, फलतः ज्ञान एक आधार से अपर आधार में संचरित होता है। विभिन्न शास्त्रों एवं गुरु परम्पराओं का प्राकट्य मध्यमा-भूमि में ही होता है। वैखरी में वह ज्ञानरूप शब्द जब स्थूल रूप धारण करता है, तब वह दूसरों की इन्द्रिय का विषय बनता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से प्रतीत होगा कि वेद और तन्त्रों की मौलिक दृष्टि एक ही है। यद्यपि वेद एक है किन्तु विभक्त होकर त्रयी या चतुर्विध होता है, अन्ततः वह अनन्त है। वेदा अनन्ताः। यह भी वेद की ही वाणी है। अवश्य ही तन्त्र की एक और भी दिशा है, जिससे उसका वैदिक आदर्शों से किसी-किसी अंश में पार्थक्य प्रतीत होता है। उस कारण से तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य भी समक्ष में आता है। कुछ भी हो, ये सभी मिलाकर

भारतीय संस्कृति के अंगीभूत हो चुके हैं। जैसे बुद्बुद् जलधाराएँ मिलकर नदी का रूप धारण करती है और अन्त में महासमुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही वैदिक, तान्त्रिक आदि सांस्कृतिक धाराएँ भारतीय संस्कृति में आश्रय लाभ करती है और उसे विशाल से विशालतम बनाती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतीय संस्कृति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही वैदिक तथा तान्त्रिक साधन धाराओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह बात जैसे सत्य है, वैसे ही यह भी सत्य है कि दोनों में अंशतः वैलक्षण्य भी है। अतिप्राचीन काल से ही शिष्टजनों द्वारा तन्त्रों के समादर के असंख्य प्रमाण उपलब्ध हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि बहुसंख्यक देवता भी तान्त्रिक साधना के द्वारा सिद्धि लाभ करते थे। तान्त्रिक साधना का परम आदर्श था शक्ति-साधना, जिसका लक्ष्य था महाशक्ति जगदम्बाकी मातृ-रूप में उपासना अथवा शिवोपासना। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र, स्कन्द, वीरभद्र, लक्ष्मीश्वर, महाकाल, काम या मन्मथ ये सभी श्रीमाता के उपासक थे। प्रसिद्ध ऋषियों में कोई-कोई तान्त्रिक मार्ग के उपासक थे और कोई-कोई तान्त्रिक उपासना के प्रवर्तक भी थे। ब्रह्मयामल में बहुसंख्यक ऋषियों का नामोल्लेख है, जो शिवज्ञान के प्रवर्तक थे। उनमें उशना, बृहस्पति, दधीचि, सनत्कुमार, नकुलीश आदि उल्लेख्य हैं। जयद्रथयामल के मंगलाष्टक प्रकरण में तन्त्र-प्रवर्तक बहुत से ऋषियों के नाम है, जैसे दुर्वासा, सनक, विष्णु, कश्यप, संवर्त, विश्वामित्र, गालव, गौतम, याज्ञवल्क्य, शातातप, आपस्तम्ब, कात्यायन, भृगु आदि।

तान्त्रिक संस्कृति में मूलतः साम्य रहने पर भी देश, काल और क्षेत्र के भेद से उसमें विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार का भेद साधकों के प्रकृतिगत भेद के अनुरोध से स्वभावतः ही होता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों में आपाततः वैषम्य प्रतिभासित हो रहा है, फिर भी उनमें निगूढ रूप से मार्मिक साम्य है। संख्या में तान्त्रिक सम्प्रदाय कितने आविर्भूत हुए और पश्चात्काल में कितने विलुप्त हुए; यह कहना कठिन है। उपास्यभेद के कारण उपासना-प्रक्रिया में भेद तथा आचरणादि भेद होते हैं। साधारणतया पार्थक्य का यही कारण है। शैव, शाक्त, गाणपत्य ये तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध हैं। इन सम्प्रदायों के भी अनेकानेक अवान्तर भेद हैं। शैव तथा शैव-शाक्त मिश्र सम्प्रदायों में कुछ के निम्नलिखित उल्लेखनीय नाम हैं—सिद्धान्त-शैव, वीर

अथवा जंगम शैव, रौद्र, पाशुपत, कापालिक अथवा सोम, वाम, भैरव आदि। अद्वैत दृष्टि से शैव सम्प्रदाय में त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द प्रभृति विभाग हैं—अद्वैत मत में भी शक्ति की प्रधानता मानने पर स्पन्द, महार्थक्रम इत्यादि भेद अनुभूत होते हैं। दश शिवागम और अष्टादश रुद्रागम तो सर्वप्रसिद्ध ही हैं। इनमें भी परस्पर किंचित् किंचित् भेद नहीं है; यह नहीं कहा जा सकता। द्वैत मत में कोई कट्टर द्वैत, कोई द्वैताद्वैत और कोई शुद्धाद्वैतवादी हैं। इनमें किसी सम्प्रदाय को भेदवादी, किसी को शिव-साम्यवादी और किसी को शिवा-संक्रांतिवादी कहते हैं। काश्मीर का त्रिक या शिवाद्वैतवाद अद्वैत स्वरूप से आविष्ट हैं। शाक्तों में उत्तर कौल प्रभृति भी ऐसे ही हैं। किसी समय भारतवर्ष में पाशुपत संस्कृतिका व्यापक विस्तार हुआ था।

किसी समय भारतवर्ष के एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक और देश से बाहर भी तन्त्रों का व्यापक विस्तार हुआ था। कुछ देशों में प्रचलित तन्त्रों के कादि और हादि मत थे। इन दोनों मतों की स्थान-सूचियों को परस्पर मिलाने पर पर पता चलता है कि किसी-किसी प्रदेश में कादि, हादि दोनों मत प्रचलित थे। ये सब देश भारतवर्ष के चारों ओर और मध्यभाग में अवस्थित हैं; यथा, पूर्व में अंग, बंग, कलिंग, विदेह, कामरूप, उत्कल, मगध, गौड़, सिलहट्ट, कैकट आदि; दक्षिण में केरल, द्रविड तैलङ्ग, मलयाद्रि, चोल, सिंहल आदि; पश्चिम में सौराष्ट्र, आभीर, कोंकण, लाट, मत्स्य, सैन्धव आदि; उत्तर में कश्मीर, शौरसेन, किरात, कोशल आदि; मध्य में—महाराष्ट्र, विदर्भ, मालव, आवन्त आदि। भारत के बाहर हैं—वाह्लीक, कम्बोज, भोट, चीन, महाचीन, नेपाल, हूण, कैकय, मद्र, यवन आदि। कादि तथा हादि दोनों मतों में नाना प्रकार के अवान्तर विभाग भी थे।

तन्त्रविस्तार का जो यत्किंचित् परिचय दिया गया है, उससे ज्ञात होता कि भारतवर्ष के प्रायः सभी क्षेत्रों में वैदिक संस्कृति के समानान्तर तान्त्रिक संस्कृति का विस्तार था। कभी-कभी इनकी स्वतंत्र पृथक् सत्ता थी, कभी तटस्थ रूप में और कभी अंगीभूत रूप में। कभी कभी तो प्रतिकूल रूप में भी इस संस्कृतिका प्रचार हुआ, किन्तु सदा और सर्वत्र यह भारतीय संस्कृति के अंश में ही परिगणित होता था। भारतवर्ष के बाहर पूर्व तथा पश्चिम में भारतीय संस्कृति का प्रभाव फैला हुआ था, वह केवल बौद्ध संस्कृति के स्रोत से ही नहीं, ब्राह्मण्य संस्कृति की धाराओं से भी। प्रायः १२ सौ वर्ष पूर्व जयवर्मा

द्वितीय के राज्य काल में कम्बोज अथवा कम्बोडिया में भारतवर्ष से तन्त्र ग्रन्थ पहुँचे थे। ये तन्त्र बौद्ध तन्त्र नहीं थे, अपि तु ब्राह्मण तन्त्र थे। इन्हें शिवागम कहा जा सकता है। इन ग्रंथों के नाम हैं—(१) नयोत्तर, (२) शिरश्छेद, (३) विनाशिख और (४) सम्मोहन। ऐतिहासिकों ने प्रमाणित किया है कि नयोत्तर सम्भवतः निश्वास-संहिता के अन्तर्गत नय और उत्तर सूत्र के साथ अभिन्न है। अष्टम शतक का लिखा निःश्वास-तत्त्वसंहिता गुप्त लिपि में दरबार पुस्तकालय नेपाल में अभी भी उपलब्ध है। ये ग्रन्थ प्रायः षष्ठ या सप्तम शतक के माने जाते हैं। प्रतीत होता है कि शिरश्छेद तन्त्र जयद्रथ-यामल का ही नामान्तर है। जयद्रथ-यामल की एक प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में है। विनाशिखको कोई-कोई जयद्रथ-यामल का परिशिष्ट मानते हैं। सम्मोहन त त्र भी इसी प्रकार से परिशिष्ट ही माना जाता है। यह प्रचलित सम्मोहन तन्त्र का प्राचीन रूप है।

जैसे तन्त्र या तान्त्रिक संस्कृति के बाहर भारत से जाने की बात कही गयी है, उसी प्रकार बाहर से भी किन्हीं तन्त्रों का भारत में आने का विवरण सुना जाता है। इस विषय में कुब्जिका तन्त्र का नाम लिया जाता है। वशिष्ठ के उपाख्यान के प्रसंग में चीन अथवा महाचीन से भारत में उग्रतारा के उपासना-क्रम के आने की किंवदन्ती सुनी जाती है। पहले जो बात कम्बोज के लिए कही गयी है, वह केवल कम्बोज ही नहीं, निकटवर्ती प्रदेशों में सर्वत्र लागू है। शिव और शक्ति की विविध उपासनायें उमा, पार्वती, महाकाली, पाशुपत, भैरव आदि के रूप में चीन आदि देशों में भारतवर्ष से जाकर प्रचलित हुईं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह तान्त्रिक संस्कृति का बाह्य पक्ष है, किन्तु संस्कृति का महत्त्व उसके बाह्य अवयवों की चमक और आडम्बर पर निर्भर नहीं है। मानव आत्मा की महनीयता का आदर्श उपस्थित करना ही संस्कृति के महत्त्व का परिचायक है। तान्त्रिक संस्कृति के महत्त्व को आँकने का मानदण्ड भी यही है। आत्मा की स्वरूपगत और सामर्थ्यगत पूर्णता के आदर्श पर ही इसका महत्त्व निरूपण करना पड़ेगा। आगम-शास्त्र में निर्देश है कि आत्मा के नित्य शुद्ध होने पर भी उसकी अप्रबुद्ध अवस्था से प्रबुद्ध अवस्था श्रेष्ठ है। अतएव उदात्त स्वर से तान्त्रिक संस्कृति घोषणा करती है कि सुप्त रहने से मनुष्य का काम नहीं चलेगा, उसे जागना चाहिए। मानव-जीवन का लक्ष्य जिस पूर्णत्व को माना जाता है, उसकी सम्यक् उपलब्धि के लिए सबसे पहले

आवश्यक है अनादि अविद्या से जागना, अर्थात् पूर्ण प्रबोधन। 'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्।'[1]

तन्त्र-भेद—तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मण-तन्त्र; बौद्ध तन्त्र[2] और जैन तन्त्र। ब्राह्मण-तन्त्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैष्णवागम (पाञ्चरात्र या भागवत), (२) शैवागम, (३) शाक्तागम। जिसमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवता रूप से उपासना विहित है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद से आगम भी द्वैत-प्रधान, अद्वैत-प्रधान तथा द्वैताद्वैत-प्रधान हैं। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है; शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि होती है, परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इन्हीं तन्त्रों का क्रमशः वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज के एक लेख के आधार पर यह अंश आश्रित है।

२. द्रष्टव्य लेखक-रचित बौद्धदर्शन पृ० ४२५—४६०।

वैष्णव तन्त्र

आजकल 'पाञ्चरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वैखानस आगम भी वैष्णवागमों के ही अन्तर्भुक्त है। पाञ्च रात्र का प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है, परन्तु वैखानस आगम आजकल लुप्तप्राय सा हो गया है किन्तु किसी समय में वैखानसों का भी बोलबाला था। पाञ्चरात्र तन्त्र कितना प्राचीन है? आवश्यक साधनों के अभाव में इस प्रश्न का यथार्थ निर्धारण असम्भव सा है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्ति पर्व अध्याय ३३५-३४६) में पहले-पहल इस तन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। जब महर्षि नारद को इसके तत्वों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में जाकर उनका प्रथम प्रचार किया। इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है[१६]। छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है पर इसके विवेच्य विषयों की ओर संकेत नहीं है। यहाँ भी 'एकायन' का सम्बन्ध नारद से ही है, जिन्होंने समस्त वेदों के साथ-साथ 'एकायन' का भी अध्ययन किया था। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व-शाखा का ही दूसरा नाम 'एकायन-शाखा' है[१७]। जयाख्यसंहिता (पृ० १५) पाञ्चरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन, औपगायन और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभीतक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता।

उत्पल (१० म शताब्दी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' में पाञ्चरात्र श्रुति तथा पाञ्चरात्र उपनिषद् से अनेक उद्धरण दिये हैं। सम्भवतः ये उद्धरण इसी शाखा के हैं। उत्पलकृत निर्देशों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक 'पाञ्चरात्र श्रुति', 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' तथा 'पाञ्चरात्र संहिता'[१८]—इस प्रकार इस तन्त्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त थे। यामुनाचार्य (११ वीं शताब्दी) ने अपने 'आगमप्रामाण्य' में पाञ्चरात्र संहिताओं का नामोल्लेख किया है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि यह तन्त्र उपनिषत्काल में विद्यमान था। कम से कम महाभारत से प्राचीन तो अवश्यमेव है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह हुए जीव भगवान् को नहीं पा सकता। भगवान् की 'शरणागति' ही केवल उपाय है। इस शरणागति-तत्त्व पर आग्रह दिखलाने कारण इस तन्त्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है।[१९] पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम 'भागवत धर्म' और 'सात्त्वतधर्म' था। भागवत धर्म का उल्लेख विक्रम-पूर्व के शिलालेखों में मिलता है। विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में बेसनगर के शिलालेख में यूनानी हेलिओदोरस द्वारा भागवत उपाधि धारण करने तथा गरुडस्तम्भ की स्थापना करने का वर्णन मिलता है[२०]। महाभारत में 'सात्वतविधि' का उल्लेख किया गया है[२१]। इतना ही नहीं, 'सात्वत' शब्द ऐतेरयब्राह्मण में भी आता है[२२]। यदि इसका प्रयोग इसी प्रसङ्ग में हो तो सात्वत तन्त्र की प्राचीनता निःसंदिग्ध है।

पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त श्रुति में प्रतिपादित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच

पाञ्चरात्र और वेद

दिनों तक किया था। इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्यों का पता नहीं चलता, पर इतना तो निश्चित है कि विष्णुभक्तों के यज्ञ हिंसात्मक नहीं होते थे, पशु के स्थान पर यज्ञ में घृत की ही आहुति दी जाती थी। नारायणीयोपाख्यान के आधार पर नारायण-भक्त राजा उपरिचर ने सप्तर्षियों के उपदेश से सर्वप्रथम इस प्रकार का यज्ञ किया। पाञ्चरात्र के वैदिकत्व को लेकर श्रीवैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत की है। पाञ्चरात्रों के 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहङ्कार) की। शङ्कराचार्य ने शारीरकभाष्य (२.२.४२-४५) में इस मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक घोषित किया है, परन्तु रामानुज के मत में बादरायण ने उक्त अधिकरण में पाञ्चरात्र का मण्डन ही किया है, खण्डन नहीं। महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्यों को उद्धृत कर रामानुज ने पाञ्चरात्रागम को भी वेदों के समान ही प्रमाणभूत माना है[२३]। रामानुज से पहले श्रीयामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' में प्रबल युक्तियों के आधार पर पाञ्चरात्र-तन्त्र की प्रामाणिकता को सिद्ध किया। रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र-रक्षा' ग्रन्थ में और भट्टारक वेदोत्तम ने

'तन्त्रकूट' ग्रन्थ में मीमांसा-पद्धति से इस विषय पर विचार कर पाञ्चरात्र को वेद-सम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है।

पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत या सात्वत' है। सात्वत' शब्द का प्रयोग यादव क्षत्रियों के लिए होता था। अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसका विपुल प्रचार होने के कारण यह संज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी, परन्तु पाराशर की सम्मति में सात्वत भागवत का पर्यायवाची है[२४]। भगवान् विष्णु के परमाराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता स्पष्ट ही है, तथापि 'पाञ्चरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र थी। ईश्वर-संहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे, अतः पाञ्चरात्र नामकरण हुआ। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की संख्या है। 'रात्र' का अर्थ होता है—ज्ञान[२५]। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)—पंच विषयों का निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है।

पाञ्चरात्र तन्त्रविषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है।

साहित्य

कपिञ्जलसंहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट सूचना के अनुसार अगस्त्य-संहिता, काश्यप-संहिता, नारदीय संहिता, महासनत्कुमार-संहिता, वासिष्ठ-संहिता, वासुदेव-संहिता, विश्वामित्र-संहिता, विष्णुरहस्य-संहिता आदि पाञ्चरात्र-संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है[1], परन्तु निम्नलिखित १३ संहितायें ही अब तक प्रकाशित हो सकी हैं:— (१) अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास), (२) ईश्वर-संहिता (सुदर्शन प्रेस, काञ्ची), (३) कपिञ्जल-संहिता, (४) जयाख्य-संहिता (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज नं० ५४), (५) पाराशर-संहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहद्-ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला), (८), भारद्वाज संहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्रीप्रश्न-संहिता, (१२) विष्णु-संहिता, (अनन्तशयन ग्रन्थमाला) तथा

---

[1] द्रष्टव्य डा० श्रोदर : इन्ट्रोडक्शन टु दी पाञ्चरात्र, पृ० ६-१२।

(१३) सात्वत संहिता (काञ्ची)। इन तेरहों में भी केवल वे ही ६ संहितायें नागराक्षर में छपी हैं जिनके प्रकाश-स्थान का यहाँ निर्देश है। अन्य सात संहितायें तेलुगु-लिपि में हैं। अन्य संहितायें भी विषयगौरव के कारण प्रकाशन-योग्य होने पर भी हस्तलिपिरूप में ही मिलती हैं। समस्त पाञ्चरात्र-संहिताओं में 'पौष्कर', 'सात्त्व' तथा 'जयाख्य' संहितायें प्राचीनतम मानी जाती हैं। जयाख्य-संहिता ३३ पटलों में समाप्त है; पर षष्टि-अध्यायात्मक अहिर्बुध्न्य-संहिता जयाख्य संहिता से लगभग दुगुनी है। बृहद् ब्रह्मसंहिता परिमाण में कम है। जयाख्य संहिता में दार्शनिक तत्त्व का संक्षिप्त विवेचन है, परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता का विवेचन बहुत विस्तृत है। इन्हीं संहिताओं के आधार पर इन तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा।

पाञ्चरात्र-संहिताओं के विषय चार हैं—(१) 'ज्ञान'—ब्रह्म, जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टितत्त्व का विशेष निरूपण। (२) 'योग'—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन। (३) 'क्रिया'—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार प्रकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन। (४) 'चर्या'—आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, वर्णाश्रम का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमें चर्या का वर्णन आधे से अधिक है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अतः चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पाञ्चरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयों की मीमांसा गौण तथा प्रासंगिक है। तन्त्रों की शैली के अनुसार सृष्टि और अध्यात्मतत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप से मिलता है।

पाञ्चरात्र की तत्त्वमीमांसा

पाञ्चरात्र-मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःख-रहित, निःसीम सुखानुभव रूप, अनादि, अनन्त, सब प्राणियों में निवास करनेवाला, समस्त जगत् में व्याप्त होकर स्थिर होनेवाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। इस विषय में उसकी समता उस महासागर से दी जाती है जो तरङ्गरहित होने से नितान्त प्रशान्त है (अतरङ्गार्णवोपम)। वह प्राकृतगुणस्पर्शहीन तथा अप्राकृत गुणों का आस्पद है। वह आकार, देश तथा काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, नित्य तथा व्यापक है। वह हेय-उपादेय-विवर्जित है तथा इदन्ता (स्वरूप), ईदृत्ता

और इयत्ता (परिमाण) इन तीनों से अनवच्छिन्न है। षाड्गुण्य-योग से 'भगवान्' है। समस्त भूतवासी होने से वही 'वासुदेव' है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण वही 'परमात्मा' है। इसी प्रकार गुणों की विशेषता के कारण वह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा शिव आदि नामों से विख्यात है। पाञ्चरात्र में परब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुण-भाव स्वीकृत हैं। परमात्मा त्रिविध परिच्छेद-शून्य है—वह न भूत है, न वर्तमान और न भविष्य; न ह्रस्व है, न दीर्घ; न स्थूल है, न अणु; न आदि है, न मध्य और न अन्त। इस प्रकार वह सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित, सब कारणों का कारण षाड्गुण्य-रूप परब्रह्म है[१]।

नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण निर्गुण तथा षड्गुण युक्त होने से सगुण हैं। जगद् व्यापार के लिए कल्पित इन

षाड्गुण्य

छह गुणों के नाम—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज हैं। अजड, स्वात्म-सम्बोधी (स्वप्रकाश), नित्य, सर्वावगाही गुण को 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है तथा उसका गुण भी है। 'शक्ति' से अभिप्राय है जगत् का उपादान कारण तथा ऐश्वर्य का अर्थ है—स्वातन्त्र्यपरिबृंहित जगत्-कर्तृत्व। जगत् के निर्माण करने में भगवान् को तनिक भी परिश्रम नहीं होता। इस श्रमाभाव को 'बल' कहते हैं। जगत् के उपादान होने पर भी विकार-राहित्य की शास्त्रीय संज्ञा "वीर्य' है। कार्यावस्था में जगत् के समस्त उपादान कारणों में विविध विकार दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निर्विकार भगवान् में जगदुपादान होने पर भी किसी प्रकार के विकार का उदय नहीं होता। जगत्-सृष्टि में सहकारी की अपेक्षा न होने (अनावश्यकता) को 'तेज' कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की उभयविध कारणता—उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता है। ब्रह्म बिना किसी सहायता के स्वतन्त्रतापूर्वक अपने से ही इस सृष्टि का उत्पादक है। 'सर्वकारणकारणम्' विशेषण इसी सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतन्त्रता को द्योतित करता है[१]। वासुदेव का ज्ञान ही उत्कृष्ट रूप है, शक्त्यादि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण होने से सर्वदा तत्सम्बद्ध रहते हैं।

भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। भगवान् शक्तिमान् है, तथा लक्ष्मी उनकी शक्ति है। भगवान् तथा लक्ष्मी का पारस्परिक सम्बन्ध

---

१. अहि० सं०, अध्याय २।१५-६२।

भगवान् की शक्तियाँ

आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में अद्वैत नहीं है। प्रलय दशा में जब प्रपञ्च का लय निष्पन्न हो जाता है, तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता। उस समय भी नारायण तथा नारायणी शक्ति 'मानो' एकत्व धारण करते हैं[२७]। धर्म तथा धर्मी, अहन्ता तथा अहं, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति तथा शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है, पर मूल में भेद रहता ही है[२८]।

भगवान् की आत्मभूता शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण के वश कहीं उन्मेष प्राप्त करती है : जगद्रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है[२९]। विष्णु की स्वातन्त्र्यरूपी शक्ति भिन्न-भिन्न गुणों के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। आनन्दा, स्वतन्त्रा, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि उसी के नामान्तर हैं। उसी लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप हो जाते हैं—(१) 'क्रियाशक्ति' तथा (२) 'भूतशक्ति'। भगवान् की जगत्-सिसृक्षा (जगत् उत्पन्न करने के संकल्प) को 'क्रियाशक्ति' कहते हैं[३०] और जगत् की परिणति (भवनं भूतिः) की संज्ञा 'भूतिशक्ति' है। अहिर्बुध्न्य संहिता में ही लक्ष्मी को इच्छाशक्ति तथा सुदर्शन को क्रियाशक्ति कहा गया है[१]। इन दोनों शक्तियों के अभाव में भगवान् स्वयं अकिञ्चित्कर हैं। शक्तिद्वय के सद्भाव में ही भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति व्यापार के उत्पादक हैं। लक्ष्मी-शक्ति के उस प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध-सृष्टि' या गुणोन्मेष कहते हैं जब तरङ्ग-रहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद्बुद के समान परब्रह्म में ज्ञानादि षड् गुणों का प्रथम उदय होता है। इसी शक्ति के विकास से जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती है। सृष्टि शुद्ध और शुद्धेतर भेद से दो प्रकार की होती है। इसी के भीतर जयाख्य-संहितानुसार शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग का अन्तर्भाव किया जाता है।

भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार (४) अन्तर्यामी

शुद्धसृष्टि

अवतार। पूर्वकथित षड्गुणों में से दो दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है–'संकर्षण' में ज्ञान तथा बल गुण का प्राधान्य रहता है, 'प्रद्युम्न' में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का आधिक्य रहता है तथा 'अनिरुद्ध' में शक्ति तथा

---

१. अहिर्बुध्न्य संहिता ३।४।५५।

तेज का उद्रेक विद्यमान रहता है। इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते हैं[1]। संकर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकान्तिक मार्ग (पाञ्चरात्र तत्त्व) का उपदेश देना है, प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देना है तथा अनिरुद्ध का काम क्रियाफल (मोक्ष) तत्त्व का शिक्षण है। वैषम्य दशा में गुण-प्रधान भाव से षड्गुणों की व्यवस्था की जाती है। षाड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यतः विद्यमान रहता है, परन्तु प्रति व्यूह में दो ही गुणों का प्राधान्य रहता है। वासुदेव को मिलाकर इन्हें 'चतुर्व्यूह' कहते हैं। चतुर्व्यूह भगवद्रूप ही है, परन्तु शंकराचार्य के उल्लेख[2] के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की। यही 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत नहीं मिलता, परन्तु नारायणीयोपाख्यान[3] और लक्ष्मी-तन्त्र (५।६-१४) में निर्दिष्ट होने से यह पाञ्चरात्र का एकदेशीय मत जान पड़ता है।

(२) विभव—विभव का अर्थ अवतार है, जो संख्या में ३९ माने जाते हैं। विभव दो प्रकार के होते हैं—(क) 'मुख्य', जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण', जिनकी पूजा भुक्ति के वास्ते की जाती है। (अहि० सं० ५।५०)। पद्मनाभ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना विभव में की जाती है।

(३) अर्चावतार—पाञ्चरात्र विधि से पवित्रित किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तियाँ भी भगवान् का अवतार मानी जाती हैं। सर्वसाधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है। इनका नाम है—'अर्चावतार'

(४) अन्तर्यामी—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए उनके समस्त व्यापारों के नियामक हैं। इस रूप का नाम अंतर्यामी रूप है। यह कल्पना उपनिषदों के आधार पर ही है[11]।

शुद्धेतर सृष्टि—शुद्ध सृष्टि के आधार पर शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है। इस सृष्टि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

प्रद्युम्न-> कूटस्थ पुरुष-> मायाशक्ति-> नियति-> काल-> सत्त्वगुण-> रजोगुण-> तमोगुण-> बुद्धि->

---

१. वही ५।१७-६० ।

२. ब्रह्मसूत्र का शांकरभाष्य २।२।४२-४५ ।

३. शान्तिपर्व, अ० ३३९, श्लोक ४०-४२ ।
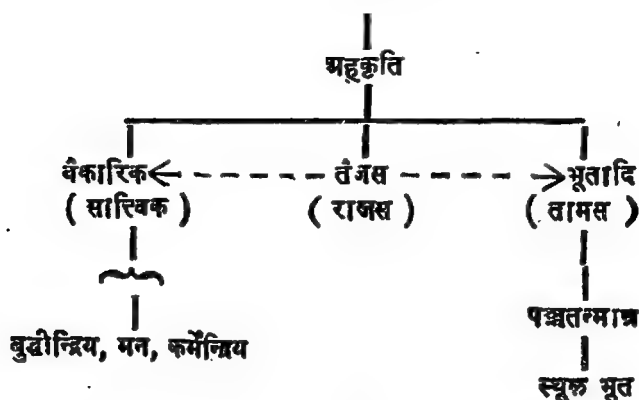
यह क्रम अहिर्बुध्न्य संहिता (६।५।१८) के अनुसार है। जयाख्य संहिता का क्रम इससे भिन्न है। सांख्य से सादृश्य होने पर भी यह क्रम उससे अनेक सिद्धान्तों में भिन्न है। पाञ्चरात्र के अनुसार प्रकृति पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि करती है। सांख्य प्रकृति को स्वतः प्रवृत्त मानता है, पर इस तन्त्र में चुम्बक के सान्निध्य से लोहे की गति की भाँति आत्मच्छुरता से यह प्रकृति कार्य में प्रवृत्त होती है। पाञ्चरात्रमत में तीनों गुणों की सृष्टि क्रमशः एक से दूसरे की होती है, परन्तु सांख्य में इस मत का कहीं उल्लेख नहीं है।

इस जगत् के अधिपति नारायण का स्वातन्त्र्य अलौकिक होता है। समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेने पर भी वही वासुदेव राजा के समान लीलापूर्वक क्रीडा किया करते हैं। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के 'संकल्प' या इच्छाशक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्तरूप होने पर भी प्रधानतया पाँच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशकारिणी शक्तियाँ, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान-शक्ति) तथा अनुग्रह-शक्ति[1]।

जीवतत्त्व

जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान-शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव क्रमशः अणु, किञ्चित्कर तथा किञ्चिज्ज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणुत्वादिकों को 'मल' कहते हैं। इन्हीं से जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भवचक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशोंको

१, अहिर्बुध्न्य संहिता १४।१२।१४।

देखकर भगवान् के हृदय में 'कृपा' का स्वतः आविर्भाव होता है, इसी का नाम है—'अनुग्रहात्मिका शक्ति'—जिसे आगम में 'शक्तिपात' कहते हैं। जीवों की दीन हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। जब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं, तब जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है।[1]

पाञ्चरात्र का साधनमार्ग

साधनमार्ग का प्रतिपादन करना ही पाञ्चरात्र ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है। यथाशास्त्र मन्दिर की रचना कर इष्टदेवता की विधिवत् स्थापना करना चाहिये, तदनन्तर उनकी सात्वत-विधि से अर्चना करनी चाहिए। योग का अभ्यास भी इसमें सहायक होता है परन्तु भक्ति ही इस दुःखद संसार से जीव को मुक्त करने का मुख्य साधन है। भक्त-वत्सल करुणा-निकेतन भगवान् की अनुग्रह शक्ति ही भवपंक से जीवों का उद्धार कर सकती है। शरणागति (पारिभाषिकी संज्ञा 'न्यास') ही अनुग्रह-शक्ति को प्रोद्बुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है। भगवान् से निष्कपट रूप से यह प्रार्थना करना कि 'मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिञ्चन तथा निराश्रय हूँ, ऐसी स्थिति में आप ही केवल मात्र उपाय बनिये' 'शरणागति' कहा जाता है[12]।

यह शरणागति छह प्रकार की होती है—(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः, (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् (भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प और प्रतिकूलता को छोड़ना), (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः ('भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें विश्वास), (४) गोप्तृत्ववरणम् (भगवान् को रक्षक मानना), (५) आत्मनिक्षेपः (आत्मसमर्पण) और (६) कार्पण्यम् (नितान्त दीनता)। वैष्णव भक्त को 'पञ्चकालज्ञ' कहते हैं, क्योंकि वह अपने समय को पाँच विभागों में बाँटकर भगवत्पूजा में निरन्तर लगा रहता है। पञ्चकालों के नाम हैं— (क) अभिगमन—कर्मणा मनसा वाचा (जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना), (ख) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह, (ग) इज्या—पूजा, (घ) स्वाध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण, मनन तथा उपदेश; और (ङ) योग—अष्टांगयोग का अनुष्ठान।

---

१. वही १४।१४–२०।

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्ति का नाम 'ब्रह्मभावापत्ति' है, क्योंकि इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। वह पुनः लौटकर इस संसार में नहीं आता। उस दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जयाख्य-संहिता का कहना है कि यह भगवत्-सम्पत्ति नदियों की समुद्र-प्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रूप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति होने पर योगियों की भी दशा हो जाती है[३२]। जिस प्रकार अग्नि में क्षिप्त काष्ठ के टुकड़े दग्ध होने पर लक्षित नहीं होते उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति में भक्तों की भी दशा होती है। उस काल में जीव भगवान् के 'पर' रूप के साथ परमव्योम में (शुद्ध-सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में) आनन्द से विहार किया करता है। यह 'पर वासुदेव' 'व्यूह वासुदेव' से भिन्न है। वैकुण्ठ में अनन्त, गरुड तथा विष्वक्सेन आदि नित्य जीव भी निवास करते हैं। त्रसरेणु के परिमाणवाला मुक्त जीव कोटि-कोटि रश्मि से विभूषित होकर यहाँ अपने इष्ट देवता का दर्शन करता है, तथा काल-चक्र से रहित होकर भगवान् की निरन्तर सेवा तथा भजन में निरत रहता है। वह काल-कल्लोल-संकुल-जगत्-मार्ग में फिर अवतीर्ण नहीं होता। यही है पांचरात्रों की मुक्ति की कल्पना[१]। पांचरात्र सिद्धान्त जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मानकर परिणामवाद का पक्षपाती है।

मोक्ष

वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो पांचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी उतना प्रख्यात नहीं है। किसी समय में इनका बोलबाला था परन्तु किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता का ह्रास हो गया और आज तो इसका नाम भी सुनने को नहीं मिलता। मन्दिर और मूर्ति के निर्माण विषय को लेकर पांचरात्रों तथा वैखानसों में प्राचीन समय में कभी मतभेद था और इसी प्रसंग में इनके मत पांचरात्र ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। वैखानस कृष्णयजुर्वेद की स्वतन्त्र पृथक् शाखा थी। चरणव्यूह में वर्णित कृष्णयजुर्वेद की

परिचय

---

१. अहि० सं० ६।२७-३०।

चार प्रधान शाखाओं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ-हिरण्यकेशी तथा औखेय—में 'औखेय' अन्तिम शाखा है[२४]। 'वैखानस श्रौतसूत्र' के भाष्यकार वेंकटेश के कथनानुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी 'औखेय' शाखा के साथ था।

गौतम-धर्मसूत्र (३।२), बौधायन-धर्मसूत्र (२।६।१७), वसिष्ठ-धर्मसूत्र (९।१०) में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' का प्रयोग किया गया है। मनु ने भी वानप्रस्थों को 'वैखानस शास्त्र का अनुयायी' बतलाया है (वैखानसमते स्थितः ६।२१)। इसका मुख्य कारण यह है कि 'वैखानसधर्मप्रश्न' (१।६-७) में वानप्रस्थों के आचार-विधान का सांगोपांग वर्णन किया गया है, जिनका अक्षरशः पालन करना तृतीय आश्रम के वनस्थ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य था।

इस शाखा के केवल चार ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हुए हैं—(क) वैखानसीय मन्त्रसंहिता, (ख) गृह्यसूत्र (सात प्रश्नों में या अध्यायों में विभक्त), (ग) धर्मसूत्र (या धर्मप्रश्न, तीन प्रश्नों में विभक्त), (घ) श्रौतसूत्र; मन्त्रपाठ आठ अध्यायों में विभक्त है जिसके प्रथम चार अध्यायों में गृह्य तथा धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट मन्त्रों का संग्रह है और अन्तिम चार अध्यायों में विशिष्ट विष्णुपूजा का विधान है। अतः इन्हें 'अर्चनाकाण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

वैखानसों की विशिष्टता का परिचय उनके गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ही हमें मिल जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम, एकादश तथा द्वादश खण्ड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा और अर्चना का विशेष वर्णन है। नित्य प्रातःकाल एवं सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अंगुल से कम परिमाण की नहीं होती थी। घर में विशेष विधि से उसकी प्रतिष्ठा की जाती थी तथा विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उसकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों के जप का विधान था। नारायण-बलि का उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत नारायण की सब देवताओं में प्रधानता स्पष्टाक्षरों में मानी गई है[१]। पाञ्चरात्रों की वैदिकता सिद्ध करने के लिए अनेक उद्योग किये गये हैं, परन्तु वैखानसों की वैदिकता में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

हाल में ही मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० १२१) में प्रकाशित हुआ है। इस विस्तृत ग्रन्थ में ७० पटल हैं। इसके

---

१. वैखानस धर्मप्रश्न ३।११।

सिद्धान्त

अनुशीलन करने से वैखानसों के लुप्तप्राय प्राचीन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है। किसी माधवाचार्य के पुत्र वाजपेय-याजी श्री नरसिंह यज्वा - विरचित 'प्रतिष्ठाविधिदर्पण' में नारायण, विखनस मुनि, कश्यप, मरीचि इस क्रम से वैखानस आचार्य-परम्परा का उल्लेख किया गया है। वैखानसागम का विषय क्रिया तथा चर्या है। मन्दिर के विभिन्न अंगों का निर्माण, विविध मूर्तियों की रचना रामकृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का इतना सांगोपांग विवेचन एकत्र मिलना कठिन है। आध्यात्मिक बातें बहुत कम हैं। परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति ठीक उपनिषत्क्रम से होती है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—विष्णु, महाविष्णु, सदाविष्णु तथा सर्वव्यापी। भगवान् की इन्हीं चारों मूर्तियों के अंश से चार अन्य मूर्तियों की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मक 'सत्य', सदाविष्णु के अंश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मिक 'अच्युत' (श्रीपति) तथा सर्वव्यापी के अंश से 'अनिरुद्ध' की उत्पत्ति होती है, जिसमें वैराग्य या संहार की प्रधानता रहती है (७० वाँ पटल)। इन चारों मूर्तियों से युक्त होने के कारण नारायण पञ्चमूर्तिरूप माने जाते हैं। भगवान् की माया से ही जीव-बन्धन में पड़ता है और उसी की कृपा से वह मुक्त भी होता है। जीव का मुख्य कर्तव्य भगवान विष्णु का अर्चन है। विष्णु के समाराधन के चार प्रकार हैं—(१) जप—भगवान् का ध्यान करते हुए अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्र का जपना, (२) हुत—अग्नि होत्रादि हवन, (३) 'ध्यान'—अष्टांग योगमार्ग से परमात्मा का चिंतन; (४) अर्चना–प्रतिमा-पूजन। इन साधनों में 'अर्चना' ही मुख्य मानी जाती है। अर्चना विधिपूर्वक विशुद्ध होनी चाहिए। श्रीदेवी और भूमिदेवी के साथ विष्णु की मूर्ति मन्दिर के मध्य में स्थापित की जाती है। उनके दक्षिण ओर 'पुरुष' तथा 'सत्य' मूर्तियों की और वाम ओर 'अच्युत' एवं 'अनिरुद्ध' मूर्तियों की स्थापना की जाती है। पूजा वैदिक मन्त्रों से होती है। सम्यक् आराधना के अनुष्ठान से जीव आमोद नामक विष्णुलोक में सालोक्य मुक्ति, प्रभास (महाविष्णुलोक) में सामीप्य, सम्मोद (सदाविष्णुलोक) में सारूप्य और अन्ततोगत्वा सर्वश्रेष्ठ वैकुण्ठ (सर्वव्यापी नारायण के लोक) में सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। वही जीव इष्टदेवता से अभिन्नरूपत्वेन सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वैखानसों की दृष्टि में सायुज्यरूपा मुक्ति सर्वश्रेष्ठ है।[1]

---

१. आनन्दगिरि के शंकर-विजय में भी इस मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है (प्रकरण ६, पृ० ५५–६४)

१
श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का अमृतमय स्वयंगलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं, अर्थात् भगवत तत्वों का वर्णन व्यास ने समाधि दशा में अनुभव कर के किया था। भागवत का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण अपनी-अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विद्वत्ता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्यायें लिखी हैं, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप'; वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी', सबसे अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्रीहरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम स्कन्ध का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्र श्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

साध्यतत्त्व

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है[३५]:—

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—केवल मैं था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्-कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँतक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपंच मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही

एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण; जीव जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[१६]। वह जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकार रूप से रहते हैं तब निर्गुण कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है[१७]। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही 'निर्गुण' ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्म', तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार-व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्या व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध रहित होते हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है—उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है[१८]।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ किया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं (भाग ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं (३।६।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है[१९]—

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान राहु भी नक्षत्रमण्डल में नहीं दीख

पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्ति से समन्वित हैं। वह एक समय में एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारिका पुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग

भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाला वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्यपुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है[४७]।

परम भक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते; वे तो निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति के बिना अन्य साधन उपहास-मात्र हैं[४१]।

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान-कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः वे परम्परया साधक हैं, साक्षाद्-रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जबतक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम-विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को ही समर्पण कर देना उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक होता है जिस प्रकार भूसा कूटनेवालों का यत्न[४२]। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्ति के विषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति और साध्य-रूपा भक्ति'। साधनभक्ति नव प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्संगति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है, जिसके सामने अनन्य भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्म

का पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करनेवाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं[४३]।

भक्त का हृदय भगवान् के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है[४४]।

इस प्रेमाभक्ति के प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत का कथन यथार्थ है[४५]।

पञ्चदश परिच्छेद

शैव-शाक्त तन्त्र

(इतिहास तथा साहित्य)

शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस भारत भूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बतलाया गया है। श्वेताश्वतर (३।११) में भगवान् शिव सर्वाननशिरोग्रीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। सर्वप्रथम अथर्वशिरस् उपनिषद् में पशुपतव्रत, पशु, पाश आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि होती है। इससे पाशुपत-मत की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत में शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण (६।८६-९१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (२।२।३७) के भाष्य में माहेश्वरों का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक-सिद्धान्ती', भास्कर ने 'काठक-सिद्धान्ती', यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है (आगम-प्रामाण्य पृ० ४८-४९)। इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्हीं धार्मिक मतों के मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्नःस्तोत्र तथा ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२।३७) में पाशुपत मत वेदबाह्य माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्पयदीक्षित 'शिवार्कमणिदीपिका' (२ १।२८) में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए तथा

अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए हैं। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायसंगत है।

दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण माहेश्वर तन्त्रों के तीन प्रधान भेद हैं—द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैतपरक (भैरवतन्त्र)। पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपत मत का केन्द्र गुजरात और राजपूताना था, शैव सिद्धान्त का प्रचार तमिल देश में और वीरशैव मत का प्रचार कर्णाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञामत का केन्द्रस्थल काश्मीर देश है। इन्हीं शैवमतों का वर्णन क्रमशः आगे किया जायगा।

(१) पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापकों का नाम नकुलीश या लकुलीश है। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण माहात्म्य' से इनका जन्म भड़ोच के पास 'कारवन' नामक स्थान में होना प्रतीत होता है। राजपूताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम 'लगुडेश' या 'लकुलीश' होना प्रतीत होता है। भगवान् शंकर के इन १८ अवतारों में नकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं—लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपरकुशिक अत्रि, पिंगलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु (अपना आचार्य)। विक्रम द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा से मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा गुरु-मन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है। लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है और यह वही समय है जब कुषाणनरेश हुविष्क के सिक्कों पर लगुडधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं। पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिकों से नितान्त घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' की उपाधि से अपना परिचय दिया है। कभी इस मत का पश्चिमी भारत में विशेष प्रचार तथा समधिक ख्याति थी।

पाशुपत-साहित्य

पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राजशेखरसूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में 'योगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायसार के रचयिता काश्मीर-भासर्वज्ञ (८००) की 'गणकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' व्याख्या वास्तव में रत्नरूपा है जिसके अज्ञातनामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वररचित 'पाशुपतसूत्र' अनन्त-शयन ग्रन्थमाला (नं० १४३) में कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्थीभाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है। सर्वदर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट राशीकर-विरचित भाष्य यही है। इस पञ्चाध्यायी (१६८ सूत्र) में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों की विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचना है।

(२) शैव सिद्धान्तमत

शैव सिद्धान्त का प्रचार दक्षिण देश के तमिल प्रदेश में है। यह प्रदेश शैवधर्म का प्रधान दुर्ग है। यहाँ के शैव भक्तों ने भगवान् भूतभावन शङ्कर की आराधना कर भक्तिरसपूरित अग्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों की रचना अपनी मातृभाषा तमिल में की है, जो श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। इन ८४ शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य—सन्त अप्पार, सन्त ज्ञानसम्बन्ध, सन्त सुन्दर तथा सन्त मणिक्कवाचक हुए, जो तमिल देश में शैवधर्म के चार प्रमुख मार्ग—चर्या (दासमार्ग), क्रिया (सत्पुत्रमार्ग), योग (सहमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग) के संस्थापक हैं। इन सन्तों का आविर्भावकाल सप्तम तथा अष्टम शताब्दी है। इनसे पहले सन्त नक्कीर (प्रथम शतक), सन्त कण्णप्प (द्वितीय-शतक) और तिरुमूलर ने शैवमत का विपुल प्रचार किया था। इनकी तमिल रचनायें 'सिद्धान्त' की मूलभित्ति हैं[1]। इन भक्तों ने जिन शैवतन्त्रों के तत्त्वों का प्रचार किया वे संस्कृत में धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इन आगमों को 'शैवसिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् शङ्कर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिए अपने पाँचों मुखों से २८ तंत्रों का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक

---

१. जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य कल्याण-सन्ताङ्क, पृ० ४४०—४४२।

मुख से उत्पन्न आगम हैं—१ कामिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित; वामदेवमुख से—६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद; अघोरमुख से—११ विजय, १२ निःश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल, १५ वीर; तत्पुरुष मुख से—१६ रौरव, १७ मुकुट, १८ विमल, १९ चन्द्रज्ञान, २० बिम्ब। ईशान मुख से—२१ प्रोद्‌गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ संतान, २५ सर्वोत्तर, २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल। जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में इन तन्त्रों का नाम दिया है। दोनों में कहीं कहीं अन्तर है। इनमें १० द्वैतमूलक (शैव) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने प्रणवादि दश शिवों को पढ़ाया तथा १८ द्वैताद्वैत प्रधान (रुद्र) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने अघोरादि १८ रुद्रों को पढ़ाया। यही उपदेश 'महौघक्रम' तथा 'प्रतिसंहिताक्रम' से दो प्रकार के हैं। अनेक उपागमों से युक्त होकर इन आगमों की संहिताओं की संख्या २०८ है। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर-ज्ञानरूप वेद केवल मुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञानरूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में 'मृगेन्द्र' तन्त्र नारायण-कण्ठ की वृत्ति और अघोरशिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित हुआ है।

शैवाचार्य

अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शैवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य 'सद्योज्योति' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। सद्योज्योति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका। हरदत्त शिवाचार्य (११ शतक)—एक विशिष्ट आचार्य थे जिनकी 'श्रुतिसूक्तमाला' या 'चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह' में वेदवेदान्त का तात्पर्य शिवमहिमाके प्रतिपादन में बतलाया गया है। 'शिवलिंग भूप' (१५ श०) ने इसकी रमणीय टीका लिखी है। श्रीकण्ठ तथा अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। बृहस्पति, शंकरनन्दन, विद्यापति, देवबल द्वैताचार्यों की स्थिति अभिनवगुप्त से पहले थी, क्योंकि तन्त्रालोक में इनका उल्लेख मिलता है। नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ (११ श० का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यायें तथा मौलिक ग्रन्थ लिखा है, जिनमें—(१) प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षाटीका), (२) मातङ्गवृत्ति, (३) नादकारिका, (४) मोक्षकारिकावृत्ति,

(५) परमोक्षनिरासकारिकावृत्ति प्रकाशित हो गई हैं। रामकण्ठ के अन्तेवासी श्रीकण्ठसूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उत्तुङ्गशिवाचार्य के शिष्य भोजराज-रचित 'तत्त्वप्रकाशिका' माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'सूतसंहिता' की टीका में अमात्य माधव ने किया है। रामकण्ठ के शिष्य अघोरशिवाचार्य (१२ श० का मध्यकाल) ने तत्त्वप्रकाशिका तथा नादकारिका पर वृत्तियाँ लिखकर इन ग्रन्थों को बोधगम्य बनाया है। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के नाम से विख्यात हैं। दक्षिण का 'शैवागमसंघ' इन 'सिद्धान्त' ग्रन्थों को नागराक्षर में प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार कर रहा है।

(३) वीर शैवमत

वीरशैवमत के अनुयायियों का नाम लिंगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शंकर की लिंगात्मक मूर्ति को गले में हर समय लटकाये हुये रहते हैं। कर्णाटक देश में वीरशैव धर्म का बहुत प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'बसव' (१२ श०) था, जो कलचुरि-नरेश विज्जल के मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश किया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं, जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिवलिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास ऊखी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन को काशी (जंगमबाड़ी—विश्वाराध्य-महासस्थान) में स्थापित किया। सिद्धान्त के २८ आगम इन्हें भी मान्य हैं। श्रीपति (१०६० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है। श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त-शिखामणि' वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है।

(४) प्रत्यभिज्ञा दर्शन

काश्मीर में पनपनेवाला अद्वैतवादी दर्शन अनेक नामों से प्रख्यात है। यह प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द, षडर्धशास्त्र तथा त्र्यर्धक्रम-विज्ञान के नामों से प्रसिद्ध

है। ये सब अभिधान इस दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर विद्वानों द्वारा प्रदत्त हैं। इस दर्शन का अन्यतम सिद्धान्त है—प्रत्यभिज्ञा। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर गुरुवचन से जीव को ज्यों ही यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ', त्यों ही उसे तुरन्त आत्मस्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। भारतीय दर्शन में इसी महत्त्वशाली 'प्रत्यभिज्ञा' तथ्य के कारण यह दर्शन इस नाम से प्रख्यात है। इसके अनुसार परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपा शक्ति से सर्वदा अविमुक्त रहता है। स्पन्दरूपा शक्ति ही उसका नित्य स्वभाव है। इसीलिए यह 'स्पन्द' नाम्ना अभिहित होता है। इसका 'त्रिक' अभिधान तन्त्रत्रय की सर्वाधिक प्रधानता के कारण है। सिद्धातन्त्र, नामक तन्त्र तथा मालिनीतन्त्र—ये तीन तन्त्र इस दर्शन के आधारभूत शास्त्र हैं। इस मत में पर, अपर तथा परापर रूप तीन त्रिक माने जाते हैं। शिव, शक्ति तथा उनका संघट्ट 'परत्रिक'; शिव, शक्ति तथा नर 'अपर त्रिक'; तथा परा, परापरा, अपरा—ये तीन अधिष्ठात्री देवियाँ 'परापरत्रिक' के नाम से प्रख्यात हैं। इन तीनों त्रिकों के आधार पर प्रतिष्ठित होना त्रिक संज्ञा का हेतु है।

'षडर्धशास्त्र' नामकरण इस मत के मुख्य सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। इस दर्शन के अनुसार लिपि के प्रथम छह स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ—उसी उन्मेषक्रम का प्रतिनिधित्व करते हैं जिस क्रम से अनुत्तर, आनन्द, इच्छा' ईशाना, उन्मेष तथा ऊर्मि शक्तियों का परम तत्त्व से उल्लासन होता है। इन में से आनन्दशक्ति, ईशनाशक्ति तथा ऊर्मिशक्ति क्रमशः अनुत्तर, इच्छा तथा उन्मेष पर आधारित होती हैं और उन्हीं की किञ्चित् विकासोन्मुख अवस्थायें हैं। इस प्रकार प्रधान हैं ह्रस्वत्रय ही—अनुत्तर, इच्छा तथा उन्मेष, जो क्रमशः चित्, इच्छा और ज्ञान कहलाती हैं। 'षडर्धशासन' नाम इसी तत्त्व की ओर संकेत करता है।

कहा जाता है कि परमशिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिए इस मत का आविर्भाव किया तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैव शासन के प्रचार करने का आदेश दिया। दुर्वासा ने 'त्र्यम्बकादित्य' नामक मानस पुत्र उत्पन्न किया और उन्हीं के द्वारा इसका प्रचार कराया। अपने इस प्रवर्तक के नाम से यह शैवशासन 'त्र्यम्बकशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। त्र्यम्बकादित्य की परम्परा में १६ वाँ पुरुष संगमादित्य काश्मीर में आकर बस गया। उन्हीं के शिष्य-

प्रशिष्यों द्वारा यह मत काश्मीर में विकसित हुआ। संगमादित्य की चौथी पीढ़ी में सोमानन्द नामक प्रख्यात तान्त्रिक विद्वान् हुये जिन्होंने 'शिवदृष्टि' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह परम्परा इस प्रकार है— संगमादित्य-> वर्षादित्य-> अरुणादित्य-> आनन्द->सोमानन्द[1]।

सोमानन्द की शिष्य-परम्परा की अवगति से उनका ही समय नहीं, अपि तु काश्मीर में त्रिक-दर्शन की स्थापना का समय पूर्णतया ज्ञात हो सकता है। राजानक रामकण्ठ नामक विद्वान् ने स्पन्दकारिका की विवृति तथा भगवद्गीता का विवरण प्रस्तुत किया है। विवरण के अन्त में वे अपने को 'मुक्ताकण' का अनुज[2] तथा विवृति के उपसंहार में वे अपने को उत्पलदेव का शिष्य बतलाते हैं[3]। ये तथ्य ऐतिहासिक मूल्य रखते हैं। काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५ ई०— ८८८ ई०) के साथ 'मुक्ताकण' की समकालीनता की सूचना राजतरङ्गिणी देती है। मूलतः रामकण्ठ का भी यही आविर्भावकाल था नवम शती का मध्यकाल। उनके गुरु उत्पलदेव ८२५ ई० के आसपास के विद्वान् हैं और उनके गुरु सोमानन्द का समय उनसे लगभग २५ वर्ष पूर्व होना चाहिए (८०० ई०)। इनके २० वें पूर्वज त्र्यम्बकादित्य का समय, जिन्होंने काश्मीर में त्रिकमत की स्थापना की, पाँच सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए (एक पीढ़ी के लिए पच्चीस साल मानकर)। फलतः तृतीय शती में शैव मत का उदय काश्मीर में सम्पन्न हुआ—इस तथ्य पर हम भली-भाँति पहुँच सकते हैं।

इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है और अधिकांश काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है। शैवदर्शन के आधारभूत उपलब्ध साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आगम-

---

१. यह विवरण शिवदृष्टि में दिया गया है (७।११४ १२०)

२. यो नारायण इत्यभूच्छ्रुतनिधिः श्री कान्यकुब्जे द्विजः
तद्वंशे स्वगुणप्रकर्षखचितो मुक्ताकणाख्योऽभूत्।
तस्यैषा सहजानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन—
श्लाघ्यत्वात् सफलश्रमेण भगवद्गीता-पदार्थप्रपा॥

३. कृतिस्तत्रभवतो महामहेश्वराचार्यशिरोमणि-राजानक-श्रीमदुत्पलदेव-पादपद्मानुजीविनो राजानकश्रीरामकण्ठस्य।

शास्त्र, स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। 'आगमशास्त्र' से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जिनके आदि-प्रवर्तक भगवान् शिव बतलाये जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों में मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र, विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र तथा रुद्रयामल की गणना की जाती है जिनमें 'मालिनी-विजय' ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इन तन्त्र-ग्रन्थों में से अनेक की व्याख्या प्रख्यात शिवाचार्यों ने की है।

स्पन्दशास्त्र

स्पन्दशास्त्र इस दर्शन के साधनापक्ष से सम्बन्ध रखता है। 'स्पन्द' इस दर्शन का महनीय तत्त्व है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति ही किञ्चित् चलनात्मक होने के कारण 'स्पन्द' नाम से अभिहित की जाती है। स्पन्द परमशिव का नित्य स्वभाव है। स्पन्दकारिका इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। ५१ कारिकाओं में निबद्ध इस रहस्यात्मक ग्रन्थ के तीन निस्यन्द (= अध्याय) हैं। साधनापक्ष से सम्बन्धित यह ग्रन्थ केवल सिद्धान्तनिरूपण करता है; न वह परमत के खण्डन में और न स्वमत के मण्डन में प्रवृत्त दार्शनिक शैली का अनुसरण करता है। वसुगुप्त इस स्पन्दकारिका के निःसंदिग्ध प्रणेता हैं। शिवसूत्र के प्रणयन का भी श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। यों सम्प्रदायानुसार क्षेमराज (शिवसूत्रविमर्शिणी के आरम्भ में) का कथन है कि शिवसूत्र के लिए भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वप्न में वसुगुप्त को आदेश दिया था कि महादेव-गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर उट्टंकित शिवसूत्रों का उद्धार कर प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टंकित मिले थे, उसे आज भी 'शिवपल्' (= शिवोपल, शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। बहुत सम्भव है कि इन सूत्रों को (संख्या में ७७) सातिशय पवित्रता से मण्डित करने की दृष्टि से कालान्तर में इस दैवी आख्यान का उदय हुआ हो। कल्लट के गुरु होने से वसुगुप्त का समय निर्धारित किया जाता है। राजतरंगिणी के अनुसार अवन्तिवर्मा (८५५ ई०—८८० ई०) के राज्यकाल में कल्लट-जैसे सिद्धों का भूतल पर अवतरण सम्पन्न हुआ[1]। फलतः कल्लट अवन्तिवर्मा के समकालीन सिद्ध पुरुष थे और उनके गुरु वसुगुप्त का समय नवम शती का आरम्भिक काल

---

१. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥
—राजतरंगिणी ५।६६

अर्थात् ८१० ई०—८३५ ई० मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है। वसुगुप्त के प्रधान शिष्य कल्लट ने स्पन्द सिद्धान्त को अग्रसर किया। वसुगुप्त सोमानन्द के के कनिष्ठ समसामयिक हैं। एक स्पन्दशास्त्र के प्रतिष्ठापक हैं, तो दूसरे प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के। इन दोनों शास्त्रों का प्रतिष्ठापन तथा व्यवस्थापन एक ही समय में हुआ—नवम शती के आरम्भ में, परन्तु दोनों को अभिन्नमत-प्रतिप दक मानना उचित नहीं है।'

'प्रत्यभिज्ञा' मार्ग की अभिनवता का कारण वसुगुप्त के द्वारा अप्रकटा-करण ही है, शैवागम के ऊपर अनाश्रयण नहीं। क्योंकि सोमानन्द ने स्वयं 'शिवदृष्टि' में प्रतिपादित तत्त्वों का वक्तृत्व शिव के ऊपर ही आरोपित किया है। अर्थात् 'शिवदृष्टि' में अभिव्यक्त प्रत्यभिज्ञामार्ग शैवागम के ऊपर पूर्णतया आश्रित है। उनकी स्पष्ट उक्ति है—

प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम्।
न स्वबुद्ध्या शिवो दाता शिवो भोक्तेति शाश्वतः॥

यह तथ्य भी विस्मरणीय नहीं है कि शिवसूत्र भी शैवागम के ऊपर आश्रित है। उसके द्वारा प्रतिपादित तीनों मार्ग शिवागम के द्वारा प्रतिपादित हैं। इसीलिए क्षेमराज ने स्वीय 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' में शिवसूत्र को रहस्यागम-सार-संग्रह-रूप बतलाया है (रहस्यागमसारसंग्रहरूपत्वात् शिवसूत्राणाम्—शि० सू० वि० ५५)।

प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्दशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। साधारणतया स्पन्दशास्त्र प्रत्यभिज्ञा का ही प्रतिपादक माना जाता है; परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। वसुगुप्त के द्वारा महादेवगिरि पर उपलब्ध तथा प्रकाशित शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादक नहीं हैं, क्योंकि उनमें प्रत्यभिज्ञा नामक उपाय का नाम भी उपलब्ध नहीं होता। शाम्भव, शाक्त तथा आणव—नामक तीन ही मार्गों का उसके तीनों अध्यायों में क्रमशः व्याख्यान किया गया है। स्पन्दकारिका शिवसूत्रों का संग्रह उपस्थित करती है—इस तथ्य का प्रतिपादन क्षेमराज ने अपनी व्याख्या 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' में स्पष्टतः किया है[1]। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में इन तीन

---

१. एतानि च सम्यगधीत्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु प्रकाशितवान् स्पन्द-कारिकाभिः संगृहीतवान्।

उपायों से श्रेष्ठ 'प्रत्यभिज्ञा' नामक उपाय का विशद वर्णन किया गया है। फलतः स्पन्दशास्त्र को प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से भिन्न ही मानना उपयुक्त है। कारण, स्पन्द का अन्तिम लक्ष्य शाक्तोपाय का प्रकाशन है और प्रत्यभिज्ञा का चरम उद्देश्य प्रत्यभिज्ञोपाय का आविष्करण है (जो अनुपाय' नाम से भी प्रख्यात है)। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' के इस कथन की सुसंगति तभी ठीक बैठती है—

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवः।
गुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा ॥

'स्पन्दकारिका' के गूढ अर्थ के प्रकटन के निमित्त कालान्तर में अनेक व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें से भट्टकल्लट (८५० ई०) की 'स्पन्द सर्वस्व-वृत्ति', रामकण्ठ (८५० ई०–८७० ई०) की 'स्पन्द-विवृति', उत्पल-वैष्णव (दशम शती का आरम्भ) की 'स्पन्द-प्रदीपिका तथा क्षेमराज (१०२५ ई०-१०५० ई०) का 'स्पन्द-सन्दोह (जो 'स्पन्दकारिका' की प्रथम कारिका की सुविस्तृत टीका है) और 'स्पन्दनिर्णयवृत्ति' (समग्र ग्रन्थ पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्या) मुख्य मानी जाती हैं।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

इस शास्त्र का मूलस्थानीय ग्रन्थ सोमानन्द की शिवदृष्टि' है। सोमानन्द के पूर्वजों का वर्णन ऊपर किया गया है। इनको वसुगुप्त का शिष्य मानना कथमपि प्रमाणसिद्ध नहीं है। रामकण्ठ के प्रगुरु होने के कारण इनका समय नवम शती का आरम्भकाल मानना सर्वथा उपयुक्त है (८०० ई० लगभग)।[1] शिवदृष्टि दार्शनिक शैली में निबद्ध तर्कबहुल ग्रन्थ है। इसमें सात सौ श्लोक हैं जो विषयानुसार सात आह्निकों में विभक्त हैं। इसमें शब्दाद्वैत का स्वरूप-कथन तथा उसका निराकरण कर शाक्तों, द्वैतवादी शैवों तथा पातञ्जलों के सिद्धान्तों का खण्डन क्रमशः द्वितीय तथा तृतीय आह्निक में हैं। चतुर्थ में अन्य दार्शनिकों की शंका का समाधान कर शिवाद्वैत का तर्कपूर्ण विवेचन है। अन्य आह्निकों में इस प्रकार परमत-खण्डन तथा स्वमत-मण्डन है। सोमानन्द अपने व्याख्यात सिद्धान्तों को भगवान् शिव की प्रेरणा का फल मानते हैं। 'शिवदृष्टि' पर उत्पलकृत वृत्ति ४।७४ तक ही उपलब्ध है।

---

१. द्रष्टव्य डॉ० भँवरलाल जोशी : काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, चौखम्भा प्रकाशन, काशी १९६८ पृ० २७-२९।

उत्पलदेव—इस शास्त्र को प्रौढि प्रदान करने का श्रेय सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव को है। इनके पिता का नाम उदयाकर और पुत्र का नाम विभ्रमाकर था। रामकण्ठ के गुरु होने से इनका समय ८२५ ई०–८५० ई० तक मानना सर्वथा समुचित है। इनकी प्रतिभा का प्रकाशक ग्रन्थरत्न है—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका चार अध्यायों में विभक्त छन्दोमयी रचना, जिसके पद्य 'सूत्र' कहे गये हैं। उत्पल ने इस पर दो टीकायें लिखीं जिनमें से वृत्ति नाम्नी एक ही टीका अपूर्णतः उपलब्ध है। इस पर अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी नामक महत्त्वपूर्णवृत्ति लिखी जो लध्वी वृत्ति कहलाती है। उत्पलदेव प्रौढ तार्किक होने के अतिरिक्त सरस भक्त कवि थे जिनकी पुष्टि उनके स्तोत्र-संग्रह से की जा सकती है जो शिवस्तोत्रावली के नाम से प्रकाशित है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा त्रिक सम्प्रदाय का मनन शास्त्र है—परपक्ष का खण्डनात्मक ग्रन्थ, जिसके नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' के अभिधान से प्रख्यात हुआ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की दो वृत्तियों की रचना कर अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सिद्धान्तों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। प्रथम उत्पलवृत्ति की व्याख्या होने से लघ्वी और दूसरी उत्पलरचित विवृति की व्याख्या होने से बृहती के नाम से प्रख्यात है। दोनों विमर्शिनी कही जाती हैं। ये ही पाँचों ग्रन्थ इस दर्शन के मूल शास्त्र हैं—

सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥

(सर्वदर्शनसंग्रह)

'सूत्र' से तात्पर्य ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका से है। वृत्ति तथा विवृति उत्पलदेव की ही कृतियाँ हैं जिनमें प्रथम अधूरी प्राप्त है तथा द्वितीय अप्राप्त है। अन्य दोनों अभिनवगुप्त की रचनायें हैं। शिवदृष्टि इन सब का आधारस्थानीय प्रकरण-ग्रन्थ है। 'सिद्धित्रयी' में अजडप्रमातृ सिद्धि, ईश्वर-सिद्धि तथा सम्बन्ध-सिद्धि की गणना है। 'शिवस्तोत्रावली' भक्ति-रस से पूरित बड़ा ही सुन्दर स्तोत्र-संग्रह है।

अभिनवगुप्त—(९५०—१००० ई०)—उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मणगुप्त के शिष्य अभिनव का नाम दर्शन तथा साहित्य संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जिस प्रकार 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य-जगत् में अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी,

तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन के इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है। इनके विपुलकाय 'तन्त्रालोक' को तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहना चाहिए। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्ताचार्य को है। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये अलौकिक सिद्ध पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध कौल थे।

क्षेमराज (९७५–१०२५)—अभिनव-जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) शिवसूत्र-विमर्शिनी, (२-४) स्वच्छन्द-तन्त्र, विज्ञान-भैरव तथा नेत्र-तन्त्र पर उद्योत टीका, (५) प्रत्यभिज्ञाहृदय, (६) स्पन्द-सन्दोह, (७) शिवस्तोत्रावली की टीका आदि।

इनके अतिरिक्त इस मत के मान्य ग्रन्थ हैं—योगराज (१०६० ई०) कृत परमार्थसार-टीका, जयरथ (११८० ई०) लिखित तन्त्रालोक-टीका, भास्करकण्ठ (१७८० ई०)-रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-टीका (जो ग्रन्थकार के नाम पर 'भास्करी' कहलाती है), गोरक्ष (महेश्वरानन्द) रचित 'परिमल'-सहित 'महार्थमञ्जरी'।

(५) शाक्त तन्त्र

शाक्ततन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। शाक्त पूजा-पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। इसलिए शाक्ततन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है; तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपुल साहित्यिक सम्पत्ति तथा उदात्त सिद्धान्तों का भलीभाँति परिचय मिलता है। आगमों के गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं।

भगवान् शंकर के मुखपञ्चकों से उत्पन्न होने के कारण आगमोंके प्रधानतया पांच 'आम्नाय' होते हैं[1]—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय

---

१. परशुराम कल्पसूत्र १।२।

तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुप्तमुख से उत्पन्न अधःआम्नाय छठा आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टि रूप तथा मन्त्रयोग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्तियोग है, पश्चिमाम्नाय संहाररूप तथा कर्मयोग है, उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णव में बड़ी प्रशंसा की गई है[1]। यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह आम्नाय समय-मत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है—भारत का उत्तर-पूर्वी प्रदेश, विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है; उत्तरपश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें विन्ध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं; तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्रपर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्धिसार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकार के तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं।

शाक्त पूजा के केन्द्र

शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, काञ्ची और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे। कामाख्या तो आज भी कौलमत का मुख्य स्थान है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों का विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्चतत्त्वों का प्रचार उग्र रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्यबिन्दु काशी है जिसमें इन तीनों सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषद् भी उपलब्ध हैं। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषदों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं—कौल, त्रिपुरामहोपनिषद्, भावना, बह्वृच, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्करराय ने लिखा है तथा त्रिपुरा और भावना का अप्पय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेक्स्ट ग्रन्थमाला (नं० ११) में प्रकाशित हुए हैं।

---

१. कुलार्णव तन्त्र ३।१६-१७।

शाक्त तन्त्र के आचार्य

श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध हैं। श्री दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व के उद्‌घाटन के लिए अष्टादशसाहस्री 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्बोध होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप ५० खण्डों और ६ हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन सुमेधा ने दशखण्डात्मक परशुराम कल्पसूत्र' में किया है। यह अपूर्व ग्रन्थ गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। कविराजजी को अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र' मिले हैं। उन्होंने इन्हें सरस्वती भवन स्टडीज (१०म भाग) में प्रकाशित किया है। 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथम सूत्र है। इन निगूढ ११३ सूत्रों की एक अल्पाक्षरा वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। दुर्वासा के सूत्र नहीं मिलते। 'शक्तिमहिम्नः स्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में गौडपाद 'श्रीविद्या' के बड़े भारी उपासक थे, जिनका 'सुभगोदय' ('स्तोत्र) तथा श्रीविद्यारत्नसूत्र' (शंकरारण्य की विस्तृत व्याख्या संवलित) एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गौडपाद के प्रशिष्य शंकराचार्य श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे, जिनकी 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'ललितात्रिशतीभाष्य' रहस्यपूर्ण रचनायें है। 'सौन्दर्यलहरी'में कविता तथा तान्त्रिकत्व का अनुपम सम्मिलन है। इसकी ३५ टीकायें उपलब्ध हैं, जिनमें कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरसूरि की महत्त्वशालिनी टीकाओं में से कतिपय मद्रास से प्रकाशित हैं। लक्ष्मीधर (१२६८–१३७९ ई०) की प्रकाशित प्रसिद्ध टीका समयमार्ग के रहस्यों को जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। पुण्यानन्दनाथ का 'कामकलाविलास' नटनानन्द की 'चिद्वल्ली' व्याख्या के साथ शाक्ततत्त्व का प्रकाशक है। इन्हीं के शिष्य अमृतानन्दनाथ की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वर-तन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्तदार्शनिक श्री भास्करराय (१८ वें शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्त-सम्प्रदाय के इतिहास मे सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शक्तिविद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्‌घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वीरवस्यारहस्य, सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका), गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या) तथा कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्सव' नामक पद्धति-ग्रन्थ की रचना १७५५ ई० में तथा प्रशिष्य रामेश्वरसूरि ने 'परशुराम कल्पसूत्र'

की टीका 'सौभाग्यसुधोदय' का निर्माण १८३१ ई० में किया। ये ग्रन्थ बड़ोदा से प्रकाशित हैं। लक्ष्मण रानडे की परशुराम-कल्पसूत्र की टीका (सूत्रतत्त्वविमर्शिनी) अभी तक अप्रकाशित ही है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक है। कौलमत के आचार्यों में पूर्णानन्द (जगदानन्द, १४४८–१५२६ ई०) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'षट्चक्रनिरूपण' इनके विस्तृत 'श्रीतत्त्व-चिन्तामणि' का एक प्रकरणमात्र है। ये ब्रह्मानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहनेवाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामा-रहस्य, शाक्ति-क्रम, तत्त्वानन्दतरङ्गिणी प्रसिद्ध हैं। कौलाचार्य सदानन्द का ईशावास्य-उपनिषद् का भाष्य और सर्वानन्द का 'सर्वोल्लास' तन्त्र प्रसिद्ध हैं।

शैवतन्त्र-सिद्धान्त

(१) पाशुपत मत

पशुपतों के मतानुसार पाँच पदार्थ हैं[1]—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। (१) कार्य उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य-शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है–विद्या, कला और पशु। जीव और जड़ दोनों का अन्तर्भाव कार्य में होता है, क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वर के अधीन हैं। जीवों को गुणरूपा विद्या दो प्रकार की होती है—बोध और अबोध। बोधस्वभावा विद्या का ही नाम चित्त है; पशुत्व की प्राप्ति करनेवाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध-रूप है। चेतन के अधीन, स्वयं अचेतन पदार्थ 'कला' कहलाता है (चेतनपरतन्त्रत्वे सति अचेतना कला)। कार्यरूपा कला में पृथिवी आदि पाँचों भूत तथा उनके गुणों का और कारणरूपा कला में त्रयोदश इन्द्रियों का अन्तर्भाव होता है। पशु का अर्थ है—जीव[2]। कार्यकारणरूपी कला से बद्ध होकर शब्दादि विषयों में सदा परवश होने से जीव 'पशु' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शरीरेन्द्रिय से सम्बद्ध जीव 'साञ्जन' तथा शरीरेन्द्रिय-विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है।

(२) कारण—महेश्वर ही जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु 'कारण' पद वाच्य हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है (आति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति—कौण्डिन्य भाष्य)। महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरिमित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति के आश्रय होने से सर्व-शक्तिमान् महेश्वर 'पति' पदवाच्य हैं। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य, एक तथा कर्ता है। वह अनुग्रह-शक्ति का भी आश्रय है। इसकी इच्छा से जीवों को इष्ट अनिष्ट स्थान-शरीर-

विषयेन्द्रियों की प्राप्ति होती है। 'स्वतन्त्रः कर्ता[२]'। शिव में ज्ञानशक्ति के निवास होने से वह परमेश्वर कहलाता है। समस्त जगत् का उत्पादक होने के कारण वह 'कारण' पदवाच्य है। वह क्रीडा के लिए जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव करता है। इसी कारण 'देव' और निरपेक्ष होने से 'सार्वकामिक' कहा जाता है।

(३) योग—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं (पाशुपतसूत्र ५।२)। यह दो प्रकार का होता है—क्रियात्मक, जिनमें जप, ध्यानादि की गणना है तथा क्रियोपरम—क्रिया की निवृत्ति अर्थात् भगवान् में ऐकान्तिकी भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति। पातञ्जल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होता है, परन्तु पाशुपतयोग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ साथ परमैश्वर्य का लाभ है।

(४) विधि—महेश्वर की प्राप्ति करानेवाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्य विधि की संज्ञा 'चर्या' है, जो व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की होती है। हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार तथा जप्य भेद से उपहार (नियम) ६ प्रकार का है साधक को महेश्वर की पूजा के समय हँसने, गाने, नाचने, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज के समान हुडुहुड़ शब्द करने तथा नमस्कार आदि का अभ्यास करना चाहिए। इसी उपहार के साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप तथा प्रदक्षिणा को पंचविध व्रत कहते हैं (पाशुपत सूत्र १।८)। भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए इनका पालन आवश्यक है। द्वार के प्रकार ये हैं:—(१) 'क्राथन'—असुप्त पुरुष का सुप्त पुरुष के समान चिह्न धारण करना, (२) 'स्पन्दन'—वातव्याधि से ग्रस्त पुरुष के समान शरीर के अगों का कम्पन, (३) 'मन्दन' लँगड़ाते हुए के समान चलना, (४) 'शृङ्गारण'—रूपयौवनसम्पन्न सुन्दरी का निरीक्षण कर कामीजन के सदृश चेष्टा करना, (५) 'अवितत्करण'—अविवेकी के समान निन्दित कर्मों का करना, (६) 'अवितद्भाषण—ऊटपटाँग बोलना (पाशुपतसूत्र ३।१२—१७)। अनुस्नान, निर्माल्य धारण आदि को 'गौण' विधि कहते हैं।

(५) दुःखान्त—अन्तिम पदार्थ का नाम दुःखान्त—दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति या मोक्ष—है। पशु पाँच प्रकार के दोषों से बन्धन में पड़ा हुआ है। ये दोष 'मल' कहे जाते हैं, जिनके नाम—मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु (विषयासक्ति के कारणभूत विषयसम्पर्क), च्युति (रुद्रतत्त्व से चित्त का तनिक भी च्युत होना) तथा पशुत्व (अल्पज्ञत्वादि पशुत्वोत्पादक) धर्म हैं[४]। ऊपर

वर्णित योग तथा विधि के अनुष्ठान से मलों का सर्वथा नाश हो जाता है। गण-कारिका में वर्णित मोक्ष लाभ करने के लिए पञ्चविध उपायों में 'प्रपत्ति' अन्तिम उपाय है। भगवान् पशुपति के शरणागत होने पर जब उनके नैसर्गिक प्रसाद का उदय होता है तब जीव इस क्लेशबहुल संसार से सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ करता है।

दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक दुःखान्त दुःखों की केवल आत्यन्तिकी निवृत्ति है, परन्तु सात्मक में पारमैश्वर्य का लाभ होता है; और दृक्-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का उदय होता है। मुक्तात्मा सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है (दर्शन), उसे अशेष शब्दों का ज्ञान होता है (श्रवण), चिन्तित विषयों की सिद्धि हो जाती है (मनन), समस्त शास्त्रों का ग्रन्थतः तथा अर्थतः परिज्ञान हो जाता है (विज्ञान), सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि होती है (सर्वज्ञत्व)। इस प्रकार दृक्शक्ति पञ्चविधा है।

क्रियाशक्ति—तीन प्रकार की है:—(१) मनोजवित्व—किसी कार्य को अत्यन्त शीघ्र करने का सामर्थ्य; (२) कामरूपित्व—कर्मादि के बिना ईप्सित रूप का धारण करना, (३) विकरणधर्मित्व—इन्द्रिय की सहायता के बिना सब पदार्थों का जानना और करना, अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्य का लाभ। इन पाँचों पदार्थों की विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्य दर्शनों में कार्य उत्पत्ति-विनाशशील तथा कारण अन्यसापेक्ष रहता है, परन्तु पाशुपत मत में पश्वादि कार्य नित्य हैं, कारण-निरपेक्ष केवल भगवान् ही है। पातञ्जल योग का फल कैवल्य का लाभ है, पाशुपतयोग का फल पारमैश्वर्य तथा दुःखान्त का लाभ है। अन्यत्र विधि का फल पुनरावृत्ति-सहित स्वर्ग है, परन्तु पाशुपतविधि का फल पुनरावृत्ति-रहित सामीप्यादि है। इसी प्रकार अन्यत्र मोक्ष दुःखात्यन्तिक-निवृत्ति रूप है, परन्तु पाशुपत मोक्ष परमैश्वर्यप्राप्तिरूप है।

कापालिक और कालामुख

इन सम्प्रदायों का इस समय नितान्त उच्छेद प्रतीत होता है, परन्तु कभी भारत में इन सम्प्रदायों का बोलबाला था। यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' (पृ० ४८) में इनका संक्षिप्त वर्णन किया है। कापालिकों के मत में निम्नलिखित छह मुद्राओं के धारण करने से ही अपवर्ग की उपलब्धि होती है—कणिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत। इनके साथ अनेक गुप्त क्रियाओं का

विधान किया जाता था। कालामुख सम्प्रदाय में कपाल-पात्र-भोजन, शव-भस्म-स्नान, तत्प्राशन, लगुडधारण, सुराकुम्भस्थापन—आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता था। गुप्त रखने के कारण धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों की लोकप्रियता जाती रही और अब तो इनके अनुष्ठानों का रहस्य समझना कठिन कार्य है।

(२) रसेश्वर दर्शन

शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय रसेश्वर दर्शन का अनुयायी है। इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का उपाय दिव्य शरीर का पाना है। जिस शरीर को नाना व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधारण काम करने के लिए असमर्थ बना देती हैं, भला उस शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी हो सकता है? जिस शरीर को ज्वर कभी कष्ट दे रहा है और श्वास-कास का प्रपञ्च जिसे दुःख में डाले हुए है, उस देह से कभी भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए इस शरीर को दृढ बनाने की नितान्त आवश्यकता है। इसका नाम है—पिण्डस्थैर्य (= शरीर की स्थिरता)। जगत् के समग्र पदार्थ—धन, दारा, सुत, भोग आदि—अनित्य हैं। अतः मुक्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है। यह मुक्ति ज्ञान से ही प्राप्य है। यह ज्ञान अभ्यास से होता है और यह तभी सम्भव है, जब स्थिर देह प्राप्त हो[५]।

शरीर को स्थिर बनाने के लिए लौकिक उपाय विद्यमान है। पारद (पारा) भस्म के सेवन से यह शरीर स्वाभाविक क्लेशों को दूर हटा कर स्थिर, नित्य तथा दिव्य बनाया जा सकता है। पारे का नाम ही है—पारद। इस नाम की सार्थकता इस बात में है कि वह संसार के दुःखों से मुक्त कर उस पार पहुँचा देता है[६]। पारद की शक्ति बड़ी अलौकिक है। यह भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है और गन्धक पार्वती का रज समझा जाता है। इन दोनों के मिलने से जो भस्म तैयार होता है वह प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ है। वैद्यक शास्त्र में रस-भस्म की इसी उपयोगिता के कारण ही इसका इतना महत्त्व है।

शरीर के भीतर प्राण वायु तथा बाहर पारद—इन दोनों के उचित प्रयोग से नीरोग तथा दिव्य शरीर बनाया जा सकता है। प्राण का नियमन प्राणायाम से होता है और पारद का उपयोग उसका भस्म बना कर करने से है। प्रत्येक साधक को इन दोनों उपायों का उपयोग अपने शरीर को दिव्य बनाने के लिए अवश्य करना चाहिए। पारद की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) मूर्च्छित, (२) मृत और (३) बद्ध। जिस पारद में घनता और चंचलता नहीं होती, वह मूर्च्छित

कहलाता है। जिसमें आर्द्रता (तेज, चमकीलापन), गौरव (भारीपन) और चपलता विद्यमान नहीं रहती, उसे 'मृत' पारद कहते हैं। इसी प्रकार पारद की एक बद्ध दशा होती है। इन तीनों दशाओं में पारद का उपयोग मानव के परम कल्याण का साधन माना जाता है[७]।

पारद का ही नाम 'रस' है और यही 'रस' ईश्वर है। इस रस को सिद्ध करना होता है स्वेदन, मर्दन आदि अठारह संस्कारों के द्वारा। रससिद्ध कवीश्वरों का शरीर जरा और मरण दोनों विकृतियों से रहित होकर दिव्य बन जाता है। इस अनुभव का समर्थन सर्वत्र शास्त्र में तथा लोक में भी होता है।[८]

पारद का वही सच्चा भस्म होता है जिसे रगड़ने से लोहा भी सुवर्ण बन जाता है। यह बाहरी परीक्षा है। ऐसे ही भस्म से शरीर के भीतरी अनित्य परमाणुओं को बदल कर नित्य बनाया जाता है। असली बात यह है कि बिना योगाभ्यास के आत्म-साक्षात्कार नहीं जनमता और यह अभ्यास साधारण शरीर से साध्य नहीं है। इसीलिए पारद-भस्म के प्रयोग करने से दिव्य शरीर बनाना, योगाभ्यास करना तथा आत्मा का दर्शन करना—साधना का क्रमिक मार्ग है।

इस उपयोगिता के कारण 'रस' को ईश्वर कहा जाता है। 'रसेश्वर' दर्शन का यही सिद्धान्त है। इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे पा लेने पर साधक वस्तुतः आनन्द का अधिकारी बनता है[९]।

भारतवर्ष में रसेश्वर दर्शन के अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने 'रसरत्नाकर' लिखकर विमल कीर्ति अर्जन की। उन्हें रस सिद्ध था। इसलिए वे 'सिद्ध नागार्जुन' के नाम से विख्यात हैं। गोविन्द भगवत्पाद ने 'रसहृदय' में इस शास्त्र का हृदय खोल कर रख दिया है। विष्णु स्वामी की 'साकार सिद्धि' तो उपलब्ध नहीं है, पर जान पड़ता है कि वे निःसन्देह नरसिंह की दिव्य देह माननेवाले थे। सायण माधव ने इस ग्रन्थ को 'रसेश्वर दर्शन' के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत किया है। इस दर्शन का विशिष्ट साहित्य है, जो धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहा है।

(३) व्याकरण-दर्शन

पाणिनि का व्याकरण शैव आगम के ही अन्तर्गत माना जाता है। यह साधन मार्ग है जिसका अनुसरण करने से साधक इस प्रपञ्च से विमुक्त होकर परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। व्याकरण के दार्शनिक रूप का परिचय हमें पतञ्जलि

के महाभाष्य से चलता है, परन्तु इसका विकसित रूप भर्तृहरि (षष्ठशतक) के 'वाक्यपदीय' में उपलब्ध होता है। नागेश भट्ट (१८ शतक) ने 'लघुमंजूषा' में अन्य मतों का खण्डन कर पाणिनि के सिद्धान्तों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है, परन्तु इस विषय में 'वाक्यपदीय' ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

भर्तृहरि के अनुसार शब्दाद्वैत का तात्पर्य यह है कि स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। यह समस्त जगत् इसी स्फोट का एक विवर्तमात्र है। वाक् चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें 'पश्यन्ती' वाक् ही परब्रह्मस्वरूपिणी है। अक्षर, शब्द-ब्रह्म, परावाक् इसी के नामान्तर हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द ब्रह्म और परब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है। पश्यन्ती वाक् चैतन्यरूपा है। वह अखण्ड, अभिन्न तथा अद्वयतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें इसीसे देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी उपलब्ध नहीं होता। इस लिए इसे कहीं पर 'अक्रमा' और कहीं पर 'प्रतिसहृतक्रमा' शब्दों से अभिहित किया गया है। यही पश्यन्ती शब्दतत्त्व की विवक्षा से अर्थात् अर्थ के प्रतिपादन करने की वाञ्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करती है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। जिस समय इन्द्रियों के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है उसी समय वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। बाहरी अर्थ की वासना से प्रेरित होकर, अविद्या के प्रभाव से यही घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर होती है। इस प्रकार शब्दब्रह्म ही अनादि अविद्यारूपी वासना के कारणभेद को प्राप्त होकर अर्थ के रूप में परिवर्तित होता है, परन्तु वास्तव में वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं; जो कुछ विद्यमान है वह केवल वाचक (अर्थात् शब्द) ही है। ज्ञानमात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परम तत्त्व है[१०]। इस प्रकार व्याकरणसिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवादी ही माने जाते थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वाक् के त्रिविध प्रकार के वर्णन में भर्तृहरि ने भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक स्तर को ही क्रमशः ऊपर उठता हुआ दिखलाया है। वैखरी सभी तरह की व्यक्त ध्वनियों का प्रतीक है। व्यक्त वर्ण और अव्यक्त वर्ण, साधु शब्द (संस्कृत) तथा असाधु शब्द (अपभ्रंश) तथा इसी प्रकार अन्य शब्दों का द्योतन वैखरी करती है। मध्यमा अंतःसंनिवेशवाली होती है तथा वैखरी की अपेक्षा वह सूक्ष्म

होती है और उसका व्यापार भीतरी होता है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के द्वारा परिचालित होती है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रमरूप से प्रतिभासित होते हुए प्रतीत होते हैं। संक्षेप में 'चिन्तन' का कार्य मध्यमा वाक् करती है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द की त्रिविध वृत्तियाँ होती हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। पुनः इन तीनों में शब्द के पाँच औपाधिक भेद होते हैं—उच्च, मंद, उपांशु, परमोपांशु तथा संहृतक्रम। इन पाँचों में उच्च तथा मंद का सम्बन्ध वैखरी से है और उपांशु का सम्बन्ध मध्यमा से है। 'उपांशु' का अर्थ है—मौन भाषण, अर्थात् बोलने की वह दशा जिसमें शब्द भीतर ही भीतर होते हैं, उन्हें कोई सुन नहीं सकता। 'परमोपांशु' इससे सूक्ष्मतर उस दशा का संकेत है जब शब्द बुद्धिस्थ होते हैं और उनका उच्चारण कथमपि नहीं होता। उपांशु में प्राणवृत्ति का संचार होता है, परमोपांशु में बुद्धि वृत्ति का, मध्यमा में शब्द की विवक्षाजन्य मानसिक क्रिया होती है, अर्थात् वक्ता बोलना चाहता है और बोलने के लिए वह शब्दों को ढूँढ़कर प्रकट करना चाहता है। यही 'मध्यमा' वाक् का क्षेत्र है। वैखरी का सम्बन्ध व्यक्त ध्वनि के साथ है।

पश्यन्ती मध्यमा से भी सूक्ष्मतर होती है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्ववृत्ति में इसके रूप को प्रकट किया है। पश्यन्ती का प्रधान लक्षण है कि वह 'प्रतिसंहृतक्रमा' होती है अर्थात् उस समय वर्णों में किसी प्रकार के क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। वह चला और अचला दोनों हैं। वह चला इसलिए कहलाती है कि शब्द की अभिव्यक्ति में गति होती है। अपने विशुद्ध रूप में वह अचला अर्थात् निःस्पंद रहती है। इस प्रकार पश्यन्ती के अनेक भेद होते हैं, परन्तु अपने मूलरूप में वह क्रमरहित, स्वप्रकाश तथा संवित्-रूप है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नागेश आदि नव्य वैयाकरण परा वाक् में जो लक्षण उपस्थित मानते हैं वे सब भर्तृहरि की दृष्टि में पश्यन्ती में ही विद्यमान रहते हैं। तथ्य यह है कि भर्तृहरि परा वाक् को मानते ही नहीं, वे पश्यन्ती को ही शब्द-ब्रह्म के रूप में स्वीकृत करते हैं।[११]

व्याकरण की पदार्थमीमांसा न्याय-वैशेषिक के समान ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि की कल्पना दोनों दर्शनों में एक समान ही है। वैयाकरण लोग शक्ति को एक विशिष्ट पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं। इस विषय में ये 'मीमांसा' से सहमत हैं। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में व्याकरण का अपना विशिष्ट स्थान है। इसीलिए भर्तृहरि ने इसे सब विद्याओं में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार बतलाया है।[१२]

(४) वीरशैवसिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत तथा अचिंत्य भेदाभेद आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार से वीर शैव अथवा शक्ति-विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय भी शैव मे अपना विशेष स्थान रखता है। यह भी वेदान्त का एक प्रधान सम्प्रदाय है, जिसके माननेवालों की संख्या कुछ कम नहीं है। इस सम्प्रदाय को शिवाद्वैत, द्वैताद्वैत, वीरशैव, विशेषाद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय का प्रधान नाम वीरशैव या शक्तिविशिष्टाद्वैत ही है। श्री शङ्कराचार्य का अद्वैत मार्ग त्याग-प्रधान है। वह कर्म से उपरत बनाकर ब्रह्मवाद की स्थापना करता है, परन्तु यह शक्ति-विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कर्म-प्रधान है। यह निष्काम कर्म का मार्ग प्रदर्शित करता है, इसीलिए इसे वीरधर्म या वीरमार्ग भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रधान देवता शिव होने के कारण इस मत का वीरशैव नाम पड़ा। शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना[१३]। स्थूल चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदाचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है। अतः इस नामकरण का कारण स्पष्ट है।

शक्ति

शक्ति का अर्थ होता है—परम शिव, ब्रह्म में अपृथक् सिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' मत में जो 'शक्ति' है, उसके 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' नामक ये दो भेद हैं। इनमें पहली शक्ति से 'पर शिव' का ग्रहण होता है तथा दूसरी से 'जीव' का। 'शक्ति-विशिष्टाद्वैत' पद के विग्रह से शक्तिविशिष्ट परमात्मा और जीवात्माओं के ऐक्य का ही बोध होता है। परमात्मा से भिन्न शक्ति और शक्ति से भिन्न परमात्मा नहीं हैं। यह चराचरात्मक जगत् परमात्मा का शक्तिरूप ही है। इस शक्ति से समुत्पन्न ही परमात्मा है। अग्नि और तद्गत दाहजनक शक्ति की भाँति परमात्मा और शक्ति का सर्वथा अभेद है।

धर्मरूप शक्ति धर्मीरूप शिव से भिन्न नहीं है। शक्तितत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्वपर्यन्त यह सारा संसार शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शिव और शक्ति में अभिन्न सम्बन्ध है। शक्ति परशिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। इस विषय का बोध करते हुए शक्ति के नित्यत्व को उद्घोषित किया गया है[१४]।

वीरशैवसिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) कहा गया है। जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवाय-सम्बन्ध कहते हैं, जैसे सूर्य में प्रभा का और चन्द्र में चन्द्रिका का। इसीलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति से नित्य सम्बन्ध माना गया है। परब्रह्मस्थित विमर्शशक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है। जो परब्रह्मनिष्ठ चिच्छक्ति है, वह सर्वज्ञत्वरूप है और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, वह सर्वकर्तृत्व-रूप है। इन दोनों शक्तियों की साम्यरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्तिरूप कही जाती है। यह चराचरात्मक विमर्शशक्ति सत्व, रज और तमोगुण से युक्त रहती है। तमोगुण शक्ति ही जड माया कहलाती है। सूर्य की किरण जैसे सूर्य-कान्तमणि का सम्पर्क होते ही अग्निकण का रूप धारण कर रुई में लगकर अग्नि हो जाती है, वैसे ही शिव की विमर्शशक्ति जड मायाशक्ति में प्रतिस्फुरण गति से प्रवेश करके सुख, दुःख तथा मोह को पैदा करनेवाली त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' कही जाती है। इस प्रकृति को वीरशैवाचार्यों ने 'चित्त' कहा है। यह चित्तशक्ति-विशिष्ट शिवप्रकाशरूप शिवांश ही 'जीव' कहलाता है। संक्षेप में वीरशैव मत के अनुसार शक्ति का यही स्वरूप है।

जगत्

वीरशैवमत के अनुसार यह जगत् सत्य है। इन लोगों का कहना है कि शक्तिविशिष्ट परशिव (ब्रह्म) से समुत्पन्न हुआ यह चराचरात्मक सकल जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है। 'तैत्तिरीय श्रुति भी इसी विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है। श्रीरेणुकाचार्य ने भी अगस्त्य महर्षि को उपदेश देते हुए जगत् की नित्यता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है[१४]। उनके कथन का सारांश यह है—जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से भिन्न नहीं है, वैसे ही शिव से उत्पन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है, अर्थात् नित्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ शंकर का अद्वैतमत 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उपदेश देता है, वहाँ वीरशैवमत ब्रह्म (शिव) के साथ ही साथ जगत् को भी सत्य बतलाता है।

सृष्टि

संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं, जिनको प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला परिणामवाद और दूसरा विवर्तवाद है। जब भगवान् अपने स्वरूप को जगत् के रूप में निर्माण करता है, उसे विवर्त्तवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार

जगत् की सत्ता मिथ्या है, क्योंकि वह ब्रह्म से पृथक् अपनी स्थिति नहीं रखता। परन्तु परिणामवाद इससे पृथक् है। जैसे दूध में विकार पैदा हो जाने से उस विकार के परिणामस्वरूप दधि नामक ऐसा अन्य पदार्थ पैदा हो जाता है जिसकी सत्ता दूध से पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र होती है, वैसे ही परब्रह्म (शिव) की शक्तियों के द्वारा जिस जगत् की सृष्टि होती है वह सत्य है। तथा परिणामजन्य होने के कारण इसे परिणामवाद कहते हैं। वीरशैवमतवाले थोड़े अन्तर के साथ इसी मत को मानते हैं। उनका मत है कि जैसे कछुआ एक समय में अपने परों को बाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव अपने में नित्य सम्बन्ध से रहनेवाले जगत् का एक समय में विकास करता है और दूसरे समय में संकोच करता है। कछुआ जब अपने पैरों को बाहर निकालता है, तब उन पैरों की उत्पत्ति कहना, फिर जब भीतर छिपाता है, तब उन पैरों का नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यास्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है। अतएव उत्पत्ति और नाश शब्दों की जगह 'शक्ति-विकास' और शक्ति-संकोच' कहना अधिक उपयुक्त होगा[१६]।

जीव

वीरशैव मत जीव को शिवांश रूप ही मानता है[१७]। इस मत में शिव और जीवों का पारमार्थिक भेदाभेद बतलाया गया है, अर्थात् एक दृष्टि से भेद है तथा दूसरी दृष्टि से अभेद। जैसे अग्नि और उससे उत्पन्न कणों में न अत्यन्त भेद ही है और न अभेद ही, वैसे ही शिवसे आविर्भूत शिवांश-रूप जीवों में तथा शिव में न तो आत्यन्तिक भेद है और न अभेद ही। इसीलिए इस मत को 'भेदाभेद' मत कहते हैं। यदि अंश और अंशी में अभेद मानेंगे, तो अग्नि की भाँति अग्निकणों से भी पाकादि क्रिया की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि आत्यन्तिक भेद मानेंगे, तो वह्नि से भिन्न जलादिकों की तरह वह्नि-कणों में शीतता होने लगेगी। इसी तरह यदि शिव तथा शिवांश रूप जीवों में अभेद मानेंगे, तो शिव की तरह इन जीवों में भी सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण मानने पड़ेंगे। यदि दोनों में भेद कहते हैं, तो शिव से भिन्न घटपटादि अचेतन वस्तुओं की तरह जीवों में भी सकल वस्तु-ज्ञान का अभाव आ जाता है, परन्तु जीवों का घटादि-विषयक ज्ञान प्रसिद्ध है। इसीलिए वीर शैवाचार्यों ने शिव तथा जीव में पारमार्थिक भेदाभेद को स्वीकार किया है। अतएव इसे 'द्वैताद्वैत' मत भी कहते हैं।

शिवतत्त्व

सच्चिदानन्द-स्वरूप, सत्य, नित्य आद्यन्तरहित और सर्वशक्ति-समन्वित उस परशिव ब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्वरूप से परिणत होता है। ये तत्त्व छत्तीस प्रकार के होते हैं, जिनमें से मुख्य तत्त्वों के नाम शिव शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहङ्कार आदि हैं। वीरशैव मत के ये छत्तीस तत्त्व सांख्यों के छब्बीस तत्त्वों के प्रायः समान ही हैं। जब परशिव ज्ञानशक्ति से एकाकार होकर 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'शिवतत्त्व' कहते हैं। परशिव जब क्रिया शक्ति में लीन होकर 'मैं सर्वकर्ता हूँ' ऐसे अभिमान से युक्त हो जाता है, तब वह 'शक्ति' कहलाता है। इसी प्रकार परशिव में भिन्न-भिन्न शक्तियों के योग से भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

वीरशैव सिद्धान्त में परशिव ब्रह्म 'स्थल' नाम से निर्देश किया गया है[१८]। यह चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से पुकारा जाता है। स्थलरूपी यह परशिव अपनी लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है। इसी तरह लिङ्ग और अंग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। यद्यपि इन विभिन्न अंग और लिंगों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है, परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अंग नामक जीव का लिङ्ग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिंगांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्ति-विशिष्टाद्वैत मत का सार[१] है।

सारांश—इस मत की दार्शनिक दृष्टि 'भेदाभेद-विशिष्टाद्वैत' या 'शक्ति-विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारी जाती है। इस शब्द का अर्थ है स्थूल चिदचित् शक्ति-विशिष्ट जीव और सूक्ष्म-चिदचित्-शक्ति विशिष्ट शिव का अद्वैत—एकाकारता या सामरस्य। परम तत्त्व एकमात्र परमशिव है, जो पूर्णाहन्तारूप तथा पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप हैं। उनकी पारिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है[१९]। जब इन्हें उपास्य और उपासकरूप से क्रीडा करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परमशिव में शान्त समुद्र के वक्षःस्थल पर विपुलाकर तरंगों के उठने से पहले क्षुद्र कम्पन के समान लीलार्थ कम्पन उत्पन्न होता है जिससे सामरस्य का विभेद होकर

---

१. इस मत के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—काशीनाथशास्त्री-कृत 'शक्तिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त' (काशी)।

'स्थल' के द्विविध रूप हो जाते हैं:—चैतन्यात्मक रूप का नाम है शिव और तदितर अंश का नाम है जीव। शक्ति परम-शिव में अपृथक् सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण है। न तो शक्ति से शिव भिन्न है और न शिव से शक्ति पृथक् है; दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है। शक्ति दो प्रकार की होती है—सूक्ष्म तथा स्थूल। शक्ति के क्षोभमात्र से स्थल (परम शिव) के ही दो रूप उत्पन्न होते हैं—उपास्यरूप जिनका नाम है—'लिंग' (शिव), तथा उपासक रूप, जिसका नाम है—'अंग' (जीव)। परमशिव की द्विरूपता के समान शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं। 'लिंग' की शक्ति का नाम 'कला' है, जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है तथा अंग की शक्ति है 'भक्ति', जो निवृत्ति को पैदा करती है। कला शक्ति से जगत् परमशिव मूर्त होता है[२०], तथा भक्ति के द्वारा यह जगत् परमशिव के साथ एकीभूत हो जाता है। लिंग (शिव) तीन प्रकार का होता है—भावलिंग, प्राणलिंग तथा इष्टलिंग। इसी प्रकार अंग (जीव) भी तीन प्रकार का होता है—योगांग (कारणरूप-प्राज्ञ), भोगांग (सूक्ष्मरूप-तैजस), त्यागांग (स्थूल शरीररूप-विश्व)। जीव को अपनी स्वाभाविक भक्तिशक्ति से परमशिव के साथ जो एकभावापत्ति है वही मुक्ति कहलाती है[२१]। यह संसार तथा जीव शिवरूप ही हैं, अतः नितान्त सत्य हैं। शक्ति से इस जगत् का परशिव से 'परिणाम' होता है। अंग के मलापनयन के लिए आवश्यक साधन 'भक्ति' ही है। परमशिव के अनुग्रह से अंग भक्ति प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा की भक्ति में बड़ी आवश्यकता रहती है। वेधात्मिका, मन्त्रात्मिका तथा क्रियात्मिका रूप से दीक्षा तीन प्रकार की होती है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर ही जीव शिवत्व प्राप्त करता है।[२२]

(५) शैव 'सिद्धान्त' मत

शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि भेद-प्रधान है। इसके अनुसार शिव, शक्ति और बिंदु—ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादानरूप से प्रकाशमान होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता शिव, करण शक्ति तथा बिन्दु है। पाञ्चरात्र आगम में 'विशुद्ध-सत्त्व' शब्द से जो समझा जाता है वही 'बिन्दु' है। इसी का नाम 'महामाया' है। यही बिन्दु शब्दब्रह्म कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम, इन विचित्र भुवन तथा भोग्यरूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। क्षुब्ध होने पर इस बिन्दु से एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रियभोग और भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा), दूसरी ओर

रत्नत्रय

शब्द का भी उदय होता है[५३]। सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है। इनका कारणभूत बिन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है। शिव के साथ इस महामाया का सम्बन्ध विचारणीय विषय है।

शिव की दो शक्तियाँ होती हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। (क) समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है, जिसे शक्तितत्त्व कहते हैं। यह परमशिव में नित्य समवेतभाव से रहती है। शिव-शक्ति का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव की स्वरूपशक्ति है। (ख) परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणामशालिनी है। यही बिन्दु कहलाती है जिसके शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो रूप होते हैं। शुद्ध बिन्दु का नाम महामाया और अशुद्ध का नाम माया है। दोनों में अन्तर यही है कि महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान है। जड़ तथा परिणामशाली बिन्दु का चिदात्मक शिव से समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा शिव को भी अचेतन मानने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा[५४]। जब परमेश्वर अपनी समवायिनी शक्ति से बिन्दु का आघात करते हैं, तब उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और शुद्ध जगत् की सृष्टि होती है। माया के क्षोभ होने से अशुद्ध, प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। शिव की पारिभाषिकी संज्ञा 'पति' है।

(क) पति

'शैवसिद्धान्त' के अनुसार तीन पदार्थ होते हैं—पति (शिव), पशु (जीव), पाश (मल कर्म आदि अर्थपञ्चक)। पति से अभिप्राय परमेश्वर परशिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व पति के असाधारण गुण हैं। मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में शिवत्व का निवास रहता है, तथापि ये परमेश्वर के परतन्त्र रहते हैं। पशुओं की अपेक्षा उनमें अधिक स्वतन्त्रता रहती अवश्य है, परन्तु परमेश्वर के प्रसाद से ही वे मुक्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं। अतः वे शिव के परतन्त्र हैं। शिव नित्यमुक्त हैं अर्थात् स्वभाव-सिद्ध, नित्य, निर्मल, निरतिशय, सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति-समन्वित हैं। शिव पञ्चमन्त्रतनु हैं। ईशानमन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, घोर उनका हृदय है, वामदेव उनका गुह्य अङ्ग है, सद्योजात उनका पाद है। इस प्रकार पशुओं के पाशक्षेपण के लिए तथा ध्यान योग के हेतु शिव शरीर धारण करते हैं। ईशानादि शक्ति-निर्मित यह शरीर 'शाक्त' कहलाता है[५५]।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रहकरण—इन कृत्यपञ्चक के कर्ता साक्षात् शिव हैं[1]। शुद्धाध्व-विषयक इन पञ्चकृत्यों के सम्पादक परमशिव हैं, परन्तु कृच्छ्राध्व (या अशुद्धाध्व) विषयक इन कृत्यों का विधान अनन्तादि विद्येश्वरों के द्वारा होता है। शिव की दो अवस्थायें होती हैं—लयावस्था और 'भोगावस्था'। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर रूपमात्र में अवस्थान करती है, तब शिव शक्तिमान् कहा जाता है और यही लयावस्था है। शक्ति जिस समय उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए अभिमुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है: वह शिव की भोगावस्था है।

(ख) पशु

अणु, परिच्छिन्नरूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित क्षेत्रज्ञ जीव पशु कहलाता है। वह न तो चार्वाक के समान देह रूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैनियों के समान अव्यापक है, अपितु व्यापक, प्रकाशरूप और अनेक है। वह सांख्य पुरुष के समान अकर्ता नहीं है, क्योंकि पाशों के दूरीकरण के अनन्तर शिवत्व प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। अतः जीव 'सिद्धान्त' मत में कर्ता माना जाता है। पाशों के तारतम्य के कारण पशु तीन प्रकार का होता है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल और (३) सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा संन्यास से या भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीरबन्ध का उदय नहीं होता, उन्हें 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल मल (आणव) अवशिष्ट रहता है। दूसरे प्रकार के जीव में प्रलय दशा में शरीरपात होने से मायीय मल तो नहीं रहता, परन्तु आणव तथा कार्मण मल की सत्ता बनी रहती है, परन्तु 'सकल' पशुओं में पूर्वोक्त तीनों मल विद्यमान रहते हैं।

विज्ञानाकल पशु भी समाप्त-कलुष तथा असमाप्त-कलुष भेद से दो प्रकार का होता हैं। जब इन जीवों का मल पक्व हो जाता है, वह परमशिव अपने अनुग्रह से उन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं। तन्त्रशास्त्र में विद्येश्वरों की संख्या आठ मानी जाती है—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी। ये भी पञ्चकृत्य के अधिकारी हैं, शुद्धाध्व के अधिष्ठाता

---

१. भोजराज—तत्त्व-प्रकाशिका, कारिका ७।

तथा ईश्वर-तत्त्व के निवासी हैं। अपक्व मलवाले विज्ञानाकल जीवों को शिव दया से 'मन्त्र' का स्वरूप प्रदान करते हैं, जो संख्या में सात कोटि हैं और विद्यातत्त्व के निवासी हैं।

प्रलयाकल जीव भी पक्वमल तथा अपक्वमल भेद से दो प्रकार होते हैं। ये जीव प्रलयकाल में माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में मायीय तथा कार्मण मलों के नितान्त पक्व होनेवाले जीवों को तो शिव मुक्ति प्रदान करते हैं परन्तु अपक्व मलवाले जीव पुर्यष्टक से युक्त होकर इस संसार की नाना योनियों में कर्मानुसार भ्रमण किया करते हैं 'पुर्यष्टक' प्रतिपुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं, जो पृथिवी से आरम्भ कर कला पर्यन्त तीस तत्त्वों का होता है और सृष्टि से लेकर कल्प या मोक्ष तक बना रहता है। 'सकल' पशुओं के भी ये ही दो भेद होते हैं। पक्व मलवाले इन पशुओं को भगवान् शङ्कर अपने 'शक्तिपात' से मन्त्रेश्वर-पद प्रदान करते हैं, जो संख्या में एक सौ अठारह होते हैं। अपक्वमलवाले पशु अपने कर्मानुसार इस संसार में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के विषयों का उपभोग किया करते हैं।

(ग) पाश

पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व-प्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के हैं:—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोधशक्ति। जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान-क्रिया-शक्ति का तिरोभाव हो जाने से वह परिच्छिन्न बन जाता है उसका नाम है—मल (या आणव मल = अणुता या परिच्छिन्नता)। मल की उपमा तण्डुल के तुष (छिलके) और ताम्रस्थित कालिमा से दी जाती है। तुष धान के अंकुरित होने के कारण होता है, उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु है। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रसशक्ति से निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह मल शिवशक्ति से निवृत्त होता है[१६]।

फलार्थी जीवों से किये गये, धर्माधर्मरूप, बीजांकुर न्याय से अनादि कार्य-कलाप को 'कर्म' कहते हैं। प्रलयकाल में जीव जिसमें लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा है 'माया'। माया शब्द 'मा' और 'या' दो शब्दों से बना है—'मा' का अर्थ है प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टि में व्यक्त होने वाला पदार्थ। अतः जगत् की मूल प्रकृति का नाम है। तन्त्र में माया वस्तुरूपा है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीयरूपा नहीं माया एक और नित्य है। जिस प्रकार बिन्दु

(महामाया) शुद्ध सृष्टि (शुद्धाध्वा) का उपादान कारण है, उसी प्रकार यह माया अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है। यही दोनों में अन्तर है[२७]। चतुर्थ पाश का नाम रोध शक्ति है। परमेश्वर की यह वह शक्ति है जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है। इसलिए इसमें पाशत्व औपचारिक है।

साधन मार्ग

मुक्ति तथा मुक्ति-साधन की कल्पना तान्त्रिक मत में अन्य मतों से विलक्षण है। यह तो निश्चित है कि अनादि काल से प्रवृत्त मलावरणों से संयुक्त होने के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशों का भाजन है। इस मल के आवरण को दूर करने का क्या उपाय है ? तन्त्रों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह न तो ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, अपितु 'क्रिया' के द्वारा ही सर्वदा के लिए हटाया जा सकता है। मल का पाक धीरे-धीरे होता है और जबतक मल पूरे रूप से पक नहीं हो जाता, तबतक उसका अपसारण नहीं हो सकता है। मल एक सत्तात्मक द्रव्य है। जिस प्रकार नेत्र में जाली पड़ जाने पर उसे शल्य-क्रिया के द्वारा ऑपरेशन कर हटाया जाता है, ठीक वही दशा मल की भी है। परिपक्वता दोनों में अपेक्षित है। जीव में स्वतः कोई भी सामर्थ्य नहीं है जिससे यह मल हटाया जाय। ज्ञान, तप आदि तीव्रतर उपाय भी असमर्थ हैं, क्योंकि सुतीक्ष्ण असिधारा भी अपने आप को नहीं काट सकती[२८]।

मलापनयन का एक ही साधन है—परमशिव की अनुग्रह-शक्ति। इसे तान्त्रिक भाषा में 'शक्तिपात' कहते हैं। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से विमुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह-शक्ति का नाम 'दीक्षा' है[२९]। आचार्यमूर्ति भगवान् ही इस दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं और उसे भवबन्धन से उन्मुक्त कर स्वरूपापत्ति करा देते हैं[३०]। 'दीक्षा' का तत्त्व तथा प्रकार, बड़े विस्तार के साथ आगम-ग्रन्थों में दिया गया है। दीक्षातत्त्व तन्त्र का एक नितान्त निगूढ रहस्य है। त्रिक दर्शन में भी इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए दीक्षा की आवश्यकता बनी रहती है[३१]।

तान्त्रिकी मुक्ति की कल्पना के प्रसङ्ग में याद रखना चाहिए कि तन्त्रों के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अभिन्न रूप हैं। क्रिया के साथ ही ज्ञान, चैतन्य का उदय करता है। अतः जीव में कैवल्य-ज्ञान के उदय होने से ही मुक्ति नहीं होती, जबतक क्रियाशक्ति का उदय न हो जाता। अभिन्न रूप होने से विशुद्ध ज्ञान के होते ही क्रियाशक्ति स्वतः आविर्भूत हो जाती है। तान्त्रिकों की

दृष्टि में कैवल्यज्ञान मोक्षप्रद नहीं है; क्योंकि न तो इससे मुक्त पुरुष में ऐश्वर्य का संचार होता है, न क्रियाशक्ति का। बद्ध जीव दीक्षा के द्वारा शिवत्व लाभ कर लेता है, अर्थात् उसमें सर्वविषया दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति की नैसर्गिकी उत्पत्ति हो जाती है[२२]।

देहादिकों में आत्माभिमान-लक्षण मोह ही पूर्ण स्वरूप में संकोच उत्पन्न कर देने से 'ग्रन्थि' रूप है। इस ग्रन्थि के विदारण करने से जीव की अपनी स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव होना ही मोक्ष है। अज्ञानबन्धन के प्रक्षीण होने पर भी यद्यपि जीव शरीर धारण करता है तथापि वह (जीवन) मुक्त हो है[२३]। शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद की ही है। अतः साधना का जो प्रकार वर्णित है वह भी द्वैतवाद को ही दृष्टि में रखकर किया गया है।

(६) प्रत्यभिज्ञादर्शन

त्रिक दर्शन तथा शाक्त दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है। दोनों के मत में एक ही अद्वैत परमेश्वर परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का, सामरस्य-रूप है। यह आत्मा चैतन्यरूप है तथा स्वयं निर्विकार रूप से जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य परा संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर तथा परमशिव है। परमेश्वर के दो भाव हैं— 'विश्वात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण'। विश्वात्मक-रूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक रहता है, परन्तु व्यापक होते हुए भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों को अतिक्रमण करता है। यह नानाविचित्रता-संवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न है तथा उसका स्फुरणमात्र है[२४]। परम शिव ही स्वयं इस विश्व का उन्मीलन करते हैं। इसमें न तो किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। परम स्वातन्त्र्य-शक्तिसम्पन्न परमेश्वर स्वेच्छया स्वभित्ति में अपने ही आधार में, जगत् का उन्मीलन करते हैं[२५]। जगत् पहले भी विद्यमान था, केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है। आचार्य वसुगुप्त का भगवान् शङ्कर को विलक्षण कलाकार कहना नितान्त यथार्थ है।

परमतत्त्व

चित्रकार जब कोई चित्र बनाता है तब उसे दो वस्तुओं की आवश्यकता बनी रहती है। आधार तथा सामग्री उसे हमेशा आवश्यक होती है। किसी पदार्थ के ऊपर ही चित्र बनाया जाता है (आधार) तथा उसे बनाने में रंग आदि चीजों की सहायता होती है (सामग्री), परन्तु जगत्-रूपी चित्र बनानेवाले कलाकार शङ्कर की लीला विचित्र होती है। जगत्-चित्र के लिए न तो कोई

आधार है और न कोई सामग्री। बिना इनकी सहायता से वे स्वयं अपनी इच्छा-शक्ति से अपने आप में ही इस जगत् का आविर्भाव करते हैं। इसीलिए वे अन्य भौतिक कलाकारों से नितान्त विलक्षण होने के हेतु 'कलानाथ' या 'कलाश्लाघ्य' विशेषण से संकेतित किये जाते हैं[२६]।

परमेश्वर के अनन्त शक्ति-सम्पन्न होने पर भी उसकी पाँच शक्ति यहाँ विशेष रूप से विख्यात हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। चित्-शक्ति प्रकाश-रूपा है, जिसके द्वारा परमशिव प्रकाश्य वस्तु के अभाव में भी स्वतः प्रकाशित होते हैं। वह शक्ति जिसके द्वारा परमेश्वर निरतिशय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किये, स्वयं अनुभव करता है स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है[३०]। अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविघात इच्छा-सम्पन्न समझना 'इच्छा शक्ति' है। ज्ञान-शक्ति आमर्शरूपा है। आमर्श का अर्थ है—वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान[३८]। सर्व आकार धारण करने की योग्यता का नाम 'क्रिया-शक्ति' है[३१]। पञ्चशक्तियों के द्वारा परम शिव अपने को, स्वभित्ति पर जगत् रूप से परिणत करते हैं।

"यह चित् शक्ति मनुष्य की देह में अत्यन्त आन्तरिक शक्ति के रूप में विराजमान है। आनन्द चित् का ही अपने अभिमुख विश्रान्ति है। चित् शक्ति जैसे स्वातन्त्र्य से आनन्द रूप में परिणत होती है, उसी प्रकार आनन्द शक्ति बहिर्मुख होने पर इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के रूप में परिणत होती है। अन्य-निरपेक्षता ही परमशिव की आनन्द शक्ति है। एक अर्थ में चित् तथा आनन्द दोनों मिलकर परमशिव के स्वरूपाधायक होते हैं। इसीलिए वह 'चिदानन्द' कहलाता है। अन्य तीनों उसकी शक्तियाँ हैं। हमारी वर्णमातृका इन शक्तियों की शाब्दिक अभिव्यञ्जना मात्र है। 'अ' अनुत्तर या चित्-शक्ति का नाम, 'आ' आनन्द शक्ति का, 'इ' इच्छा शक्ति का, 'उ' उन्मेष शक्ति या ज्ञान-शक्ति का द्योतक है। ए, ऐ, ओ, तथा औ—ये चार वर्ण अस्फुट तथा स्फुट रूप में विभक्त अवस्थापन्न क्रियाशक्ति के वाचक हैं। वर्णों में आदिम वर्ण 'अकार' परमशिव के प्रकाश का द्योतक है और अन्तिम वर्ण 'हकार' विमर्श का प्रतीक है—

> अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
> हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शः कथितः प्रिये॥

श्लोक का तात्पर्य यह है कि 'अ' (प्रकाशात्मक) तथा 'ह' (विमर्शात्मक) अपने मध्यवर्ती समग्र वर्णों के द्योतक हैं। यह सब वर्णमाला भगवान् की

रश्मि या शक्तियों के प्रतीक हैं। हकार प्राण-शक्ति का वाचक है। चित्शक्ति प्राणशक्ति के रूपमें परिणत होकर फिर विलोम-क्रमसे मूल स्थान में लौट जाती है। इसमें फिर क्रिया का आविर्भाव होने पर यह 'अ' (या अनुत्तर) के साथ युक्त हो जाती है। इसी का नाम है—अहं जो परमात्मा के स्वभावसिद्ध प्रकाश-विमर्शात्मक स्वरूप का परिचायक है[1]।" परम शिव की पञ्चशक्तियों का यही शास्त्रीय परिचय है।

ईश्वराद्वयवाद

त्रिकदर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इसका नाम 'ईश्वराद्वयवाद' है। एक परमेश्वर ही केवल तत्त्व है। अज्ञान, माया या जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्य-मूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है, अपने रूप को ढकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है अज्ञान उसकी स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भणमात्र है। अद्वैतवादी होने पर भी ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वय-वाद में अन्तर है। जहाँ ब्रह्मवाद में विश्वोत्तीर्ण, सत्य, निर्मल, निर्विकार ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है, वहाँ ईश्वराद्वयव द में परमेश्वर में स्वातन्त्र्यशक्ति-सम्पन्नता, अत-एव कर्तृता है। आत्मा ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलयन—इन पञ्च कृत्यों का सम्पादक है, परन्तु शङ्कर मत में ब्रह्म इस प्रकार का स्वभाव-वाला नहीं है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में पर्याप्त सिद्धान्तगत पार्थक्य है।

परमेश्वर तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का है ? अभिनवगुप्त का कहना है—दर्पणबिम्बवत्। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्षादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण में तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं; इसी प्रकार पूर्ण-संवित्-रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है। एक बात ध्यान देने योग्य है। लोक में प्रतिबिम्बित की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित है, परन्तु त्रिकदर्शन में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण, बिना बिम्ब के ही, जगद्रूप का प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है। अतः अद्वैतभावना वास्तविक है। इस आभास या प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त को मानने

---

१. म० म० गोपीनाथ कविराज—'भारतीय संस्कृति और साधना', प्रथम भाग, पृ० ३१७ (पटना, १९६३)

के कारण त्रिकदर्शन की दार्शनिक दृष्टि 'आभासवाद' के नाम से पुकारी जाती है[४०]।

'आभास' का शिवशास्त्र में तात्पर्य अद्वैत वेदान्त में गृहीत अर्थ से भिन्न ही समझना चाहिए। वेदान्त मिथ्या प्रतीति के अर्थ में 'आभास' शब्द का संकेत मानता है। 'जगत् आभासमात्र है'— अभिप्राय यही है कि जगत् प्रतीतिमात्र है, वास्तव सत्य नहीं। परन्तु त्रिकदर्शन की दृष्टि मे जगत् मिथ्या न होकर यथार्थ है। परमशिव दर्पण के समान अपने में समस्त विश्व को अवभासित करता है। परमशिव अपने स्वातन्त्र्य-माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विचित्र विश्व को भिन्नवत् अवभासित करता है[१]। यह शिव के प्रकाश-विमर्शात्मा होने से स्वतः सिद्ध होता है। इस अवभासन के लिए उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से ही यह अवभासन करता है।

आभास का हेतु क्या है? परिपूर्णकाम परमशिव जगत् का आभास करता ही किस लिए है? किस अभिलाषा की पूर्ति के लिए वह विचित्र विश्व का प्रकाशन करता है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि यह उसका स्वभाव है। अग्नि के प्रज्वलित होने के लिए जैसे कोई कारण खोजना व्यर्थ है, उसी प्रकार की दशा यहाँ भी है। जलना अग्नि का स्वभाव है। उसी प्रकार विश्व का आभासन परमशिव का स्वभाव है। 'शिवदृष्टि' में सोमानन्द ने इस विषय में एक बड़ी हृदयंगम कल्पना उपस्थित की है किसी सार्वभौम नरेश के पैदल चलने की। सार्वभौम राजा के पास वाहनों की कमी न होने पर भी वह स्वतन्त्रेच्छावशात् लीला के लिए पैदल चलता है। ठीक यही दशा परमशिव की भी है। वह ठहरा स्वतन्त्र इच्छा का स्वामी; इच्छा नटी के समान उसके सामने सर्वदा नाचा करती है। अतः इस इच्छा या लीला के वशीभूत होकर

---

१. निर्मले मुकुटे यद्वत् भान्ति भूमिजलादयः।
अभिन्नास्तद्वदेकस्मिन् चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥

—तन्त्रालोक भाग २, आ० ३।४

२. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः।
क्रीडन् करोति पादातधर्मान् तद्धर्मधर्मतः॥
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा।

—शिवदृष्टि, आ० १।३७-३८

यह विश्व-वैचित्र्य का आभासन करता है[1], विश्व की सृष्टि करता है और उसका तिरोधान भी करता है। फलतः परमशिव की लीला का विलास ही है विश्व की सृष्टि और विश्व का संहार। प्रकाशमय शिव की विमर्शशक्ति का ही यह स्फुरण है। शैवाचार्य इस तथ्य को 'स्वातन्त्र्यवाद' नाम से पुकारते हैं।

यह विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है, अतः कथमपि असत्य नहीं हो सकता। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता है। प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अन्धा हो जायगा। अतः न तो विवर्तवाद हृदयंगम प्रतीत होता है, न परिणाम-वाद, प्रत्युत स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद ही बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है।[४१]

छत्तीस तत्त्व

तन्त्रशास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है। स्वकीय कार्य में धर्म-समुदाय में या स्वसमान गुणवाली वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते हैं[४२]। शाक्त तथा शैव उभय आगमों में तत्त्वों की संख्या समान ही है। इन्हें तीन भागों में विभक्त करते हैं—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व = (१) शिवतत्त्व और (२) शक्ति तत्त्व। विद्या तत्त्व में तीन तत्त्व गृहीत हैं—(३) सदाशिव, (४) ईश्वर और (५) शुद्ध विद्या। आत्मतत्त्व में ३१ तत्त्व अन्तर्भूत हैं—६ माया, ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल, ११ नियति, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहङ्कार, १६ मन, १७–२१ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय) २२–२६ वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पञ्च कर्मेन्द्रिय), २७–३१ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्च विषय), ३२–३६ आकाश, वायु, वह्नि, सलिल, भूमि (पञ्च भूत)।

परमेश्वर के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिव-रूप तथा शक्ति-रूप। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्श-

---

१. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद् विभुः॥
—बोधपंचदशिका

रूपिणी है। 'विमर्श' का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टि काल में विश्वाकार स्थिति में विश्व-प्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है[४१]। इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि अनेक संज्ञायें हैं। प्रमा के दो रूप होते हैं—अहमंश तथा इदमंश। अहमंश ग्राहक शिव है तथा इदमंश ग्राह्य शक्ति है। विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना न्याय्य है। जिस प्रकार दर्पण के बिना मुख के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश का स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। शिव चिद्रूप हैं, परन्तु अचेतन हैं। मधु में मिठास है, परन्तु वह स्वयं अपने मिठास का स्वाद नहीं ले सकता। शराब में मादकता है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार बिना शक्ति के शिव को अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं होता। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है, शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है[४४]।

पुण्यानन्द ने 'कामकलाविलास' में आद्या शक्ति को 'शिव-रूप-विमर्श-निर्मलादर्श' कह कर उसके स्वरूप का सुन्दर परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण अहन्तामय और प्रकाशमय स्वरूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है, अथ च विमर्श प्रकाशात्मक है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित रहती है। अतः शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। शिव-शक्ति के सामञ्जस्य के विषय में आगम का यही स्पष्ट कथन है।[४५]

शिव तथा शक्ति की अभेद कल्पना यहाँ मान्य है। इन दोनों का अभेद उसी भाँति बनता है जिस भाँति चन्द्रमा तथा चन्द्रिका का नित्य योग। चन्द्रमा न तो अपनी चाँदनी को छोड़कर एक क्षण टिक सकता है और न चाँदनी चन्द्रमा के बिना रह सकती है। दोनों अद्वैत रूप में सदा एक संग रहते हैं। शिव तथा शक्ति का भी यही नियम है। तन्त्रों का यह सिद्धान्त सोमानन्द को अक्षरशः पूर्णतया मान्य है। आचार्य सोमानन्द का कथन है कि शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थों का निर्माण करता है। शक्ति तथा शिव में भेद की कल्पना कथमपि नहीं की जा सकती[४६]। विमर्श के ही दूसरे नाम स्फुरत्ता, स्पन्द, महासत्ता, परा वाक् आदि हैं।

परम तत्त्व का स्वरूप

चित् अथवा परासंवित् नाम से परम तत्त्व व्यवहृत होता है। 'चित्' की कल्पना बड़ी विलक्षण है। यह निरपेक्ष सत्ता है जो किसी प्रमेय के ज्ञान पर कभी आश्रित नहीं रहती। यह परिवर्तनशील अनुभूति का अपरिवर्तनशील तत्त्व है। शैवागम इस परमतत्त्व को प्रकाश-विमर्शात्मक बतलाता है। 'प्रकाश' का अर्थ आलोक है। जैसे आलोक प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित कर दृष्टिगोचर बनाता है, वैसे ही उस तत्त्व की स्थिति रहने पर ही अन्य समस्त वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। कठोपनिषद् के शब्दों में—तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—उस परमतत्त्व के प्रकाशित होने के बाद सब प्रकाशित होता है और उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। इतना तो वेदान्त को भी अभीष्ट है, परन्तु शैवागम प्रकाश के साथ विमर्श को भी उसका स्वभाव मानता है। 'विमर्श' तन्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—पूर्ण अहं की प्रतीति। "मैं स्वयं पूर्ण हूँ," "स्वतन्त्र हूँ," "कर्तुम-कर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थ हूँ—" इसकी प्रतीति ही विमर्शपद वाच्य है। प्रकाश तथा विमर्श के सामरस्य होने पर ही परमशिव का स्वरूप उल्लसित होता है। मधु में माधुर्य का निवास है, परन्तु उसे इसका ज्ञान होता नहीं। होगा किसी आस्वादक की अन्तः स्थित शक्ति के द्वारा ही। इसी प्रकार विमर्शात्मिका शक्ति के द्वारा ही शिव को अपने शिवतत्त्व का, अपने प्रकाश का, अपने पूर्ण अहं भाव का, परिचय मिलता है। क्षेमराज ने अपनी 'परा प्रवेशिका' (पृ० २) में इसे "अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम्" बतलाया है। यह है स्वाभाविक अहंभाव की विस्फूर्ति। यदि परमशिव केवल प्रकाश होता, तो वह ऐश्वर्यहीन और जड़ ही होता (यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत—परा-प्रवेशिका)। शैवागम में शिव ईश्वर है तथा चेतन है, फलतः वह केवल प्रकाशात्मा न होकर प्रकाश-विमर्शात्मक है। विमर्श का ही अपर नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है— शिव की निरपेक्ष पूर्णतम शक्ति, जिसके द्वारा वह विश्व के सर्जन, पोषण तथा संहार का कार्य सम्पन्न करता है। चिति प्रत्यवमर्श स्वरूप है; वही परा वाक् है। परमेष्ठी का स्वातन्त्र्य ही उसका मुख्य ऐश्वर्य-भाव है।[1]

---

१. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तत् ऐश्वर्यं परमेष्ठिनः॥
—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी १।२०४

प्रत्यवमर्श रूप ही स्वातन्त्र्यशक्ति है परमशिव की [१]। इस विमर्श की भिन्न-भिन्न संज्ञायें हैं—पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द (पराप्रवेशिका)।

इसी शिवशक्ति के आन्तर निमेष को (३) सदाशिव तथा बाह्य उन्मेष को (४) ईश्वर कहते हैं[४७]। सदाशिव अचलरूप परमेश्वर में किञ्चित् चलनात्मकरूप स्फुरण होता है। प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर विद्यमान रहता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है[४८]।

विकासोन्मुख ज्ञान की तीसरी अवस्था को (४) ईश्वर तत्त्व कहते हैं, जो सदाशिव का बाह्यरूप है। यहाँ 'अहं' इदं (जगत्) का स्पष्ट, किन्तु एक आत्मा के अंशरूप में, आत्मा के अभिन्न रूप में, अनुभव करता है। पिछले विमर्श में 'अहं' की प्रधानता थी; इस विमर्श में 'इद' की प्रधानता रहती है। पञ्चमतत्त्व को (५) विद्या, सद्विद्या या शुद्धविद्या कहते हैं। ज्ञान की इस दशा में 'अहं' तथा 'इदं' का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है, अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती है[४९]। इस दशा में शिव समस्त जगत् को अपना विभव समझने लगता है। सारांश यह है कि परा संविद् का शिव शक्त्यात्मकरूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमिदं' विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथम पद की प्रधानता रहती है। 'सद्विद्या' में 'अहं, और 'इदं' दोनों की सममावेन प्रधानता रहती है।

अब (६) माया-शक्ति का कार्य आरम्भ होता है, जो 'अह' और 'इदं' को पृथक् पृथक् कर देती है[५०]। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति, परन्तु शिव को पुरुषरूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों—कला, विद्या, राग, काल, नियति—की सृष्टि करती है, जिनका पारिभाषिक नाम 'कञ्चुक' (शक्ति को परिच्छिन्न बनानेवाला आवरण) है। जीव की सर्वकर्तृत्वशक्ति को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'कला' है जिसके कारण जीव किञ्चित्-कर्तृत्व-शक्तियुक्त बन जाता है। 'सर्वज्ञता' का संकोच करनेवाला तत्त्व 'विद्या' कहलाता है, जिसके कारण जीव किञ्चिज्ज्ञ होता है। नित्यतृप्तित्व गुण के संकोच का कर्ता 'राग' तत्त्व कहलाता है जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता

---

१. वस्तुतस्तु पुनरप्यहं प्रत्यवमर्शात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्तीति। तन्त्रालोक टीका १।१०८

है। नित्यत्व को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'काल' है, जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति का तिरस्कार करनेवाला तत्त्व 'नियति' (नियमन-हेतु) कहलाता है, जिसके कारण वह नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। इन्हीं पाँचों कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप के आवरण करने के कारण 'कञ्चुक' कहते हैं। इस मायाजनित कञ्चुकों के द्वारा आवृतशक्ति जीव 'पुरुष' पदवाच्य है। त्रिगुणमय महत्-तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों का मूल कारण 'प्रकृति' है। प्रकृति से महदादि पृथ्वीपर्यंत तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं। षट्त्रिंशत् तत्त्वों का यही सामान्य परिचय है।

साधनमार्ग

त्रिकदर्शन का साधनमार्ग अपनी विशिष्टता धारण किये हुए है। यह न तो शुष्क ज्ञान का ही पक्षपाती है, और न शुष्क भक्ति का। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, परन्तु यह साधनरूप अज्ञान-मूलक भक्ति है। अद्वैत ज्ञान के उदय होने पर जिस साध्यरूपा भक्ति का आविर्भाव होता है वह वस्तुतः नित्य है। साधारणतया जिसे मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान भक्ति का ही आवरणभंगजनित समुन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्दलाभ' कहते हैं। इस प्रसङ्ग में 'प्रत्यभिज्ञा' की कल्पना को भली-भाँति समझ लेना चाहिये, जिसके कारण यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है—ज्ञात वस्तु को फिर से जानना या पहचानना। प्रत्यभिज्ञा की उपयोगिता दिखलाते समय उत्पलाचार्य ने कामिनी का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिखलाया है। जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख या दूतीप्रेरणा आदि अनेक उपायों के द्वारा आये हुए और समीप में खड़े होनेवाले मनोवाञ्छित प्रियतम को पाकर भी आनन्दित नहीं होती, परन्तु दूती के वचन से या उसके लक्षणों के अभिज्ञान से प्रियतम को पहचान कर पूर्णता प्राप्त करती है और अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायों के द्वारा आत्म-चैतन्य के स्फुरण होने पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान से वह उन्हें पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' वास्तव मोक्ष—शिवत्वलाभ—में प्रधान साधन[51] है।

ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद

आचार्य शंकर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा अभिनवगुप्त आदि के द्वारा व्याख्यात ईश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त में माया की जो मीमांसा की गई है, उससे प्रत्यभिज्ञा को सन्तोष नहीं होता। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है ? इसका कोई उत्तर नहीं। इस अज्ञान का प्रथम अविर्भाव ही क्यों कर होता है, जिसके वश में होकर ब्रह्म जीव रूप में आविर्भूत होता है, अथवा मायीश्वर होकर ईश्वर बनता है ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर वेदान्त नहीं देता, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन देता है। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है और माया है, किन्तु इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है; वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अपनी इच्छा से परिगृहीत, रूप है। जिस प्रकार नट जान-बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, ठीक उसी तरह परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है—अपने स्वरूप को ढकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है, परन्तु जब वह अपने रूप को ढक लेता है, तब भी उसका आवरणहीन रूप उसी प्रकार अच्युत रूप से विद्यमान रहता है—ठीक सूर्य के समान। सूर्य अपने ही द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढक लेता है, और ढकने के समय भी वह अनाच्छादित ही रहता है, अन्यथा मेघों को प्रकाशित कौन करता ? ठीक यही दशा परमेश्वर की भी है। अज्ञान या माया उनकी स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण भगवान् की लीला ही मुख्य कारण है। ईश्वरवादी कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्यरूप तथा कर्तृत्वरूप है; ब्रह्मवादी कहते हैं—वह शुद्ध साक्षी है, अर्थात् अधिष्ठान चैतन्यात्मक है। यही दोनों का अन्तर है। शांकर-वेदान्त में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टिस्थिति-लय का कारण, भाव-अभाव-विहीन है, उसमें कर्तृत्व नहीं है; परन्तु आगमानुसारी अद्वैतवाद में यह कमी नहीं है; ज्ञान और क्रिया उसके लिये एक-समान है, उसकी क्रिया ही ज्ञान है, कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस प्रकार इच्छा आदि शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर स्वातन्त्र्यमय है[१२]।

आत्मा—आगम-सम्मत आत्मा सदा पञ्चकृत्यकारी है। इन पञ्चकृत्यों के नाम हैं– सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय। परन्तु शांकर मत में आत्मा का यही स्वभाव नहीं है। इस तरह ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उतना नहीं है, जितना आगमों में। अतः वह सत्य होते हुए असत्कल्प है।

अद्वैतवाद मानने पर कुछ द्वैताभास सा बना हुआ है; आगम की मीमांसा पर विचार करने से यही प्रतीत होता है।

इस अद्वयवाद की यह महती विशेषता है कि यह न तो शुद्ध ज्ञानमार्ग है, न ज्ञानविहीन भक्तिमार्ग है; प्रत्युत यहाँ ज्ञान और भक्ति का मंजुल सामञ्जस्य है। शांकर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है। अतः ज्ञान के उदय होने पर उसकी स्थिति नहीं होती है। यह मत ठीक है, क्योंकि यह भक्ति साधन-रूपा अज्ञानमूलक होती है, परन्तु जो अद्वैत भक्तिरूप पदार्थ है, वह नित्य सिद्ध है। उसकी सत्ता का पता शास्त्र के वचन तथा महात्माओं के अनुभव से चलता है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः नित्य सिद्ध ज्ञानभक्ति का ही आवरण-भंग से उत्पन्न, उन्मेष-मात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्द-लाभ' कहते हैं। अद्वैत ज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है वह निर्व्याज अहेतुकी भक्ति वास्तविक भक्ति है[५२]।

ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य

ज्ञान होने के पहले द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। सामञ्जस्य हो जाने पर वह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पती मिलने के समान होता है। लौकिक जगत् में स्त्री पुरुष का संयोग उस अलौकिक दशा का यत्किञ्चित परिचायक होता है। यही 'सामरस्य' तन्त्र का सर्वस्व है। अद्वैत वेदान्त में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मा के स्वरूपभेद होने के कारण ही यह साधन-भेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में त्रिक-दर्शन की विशिष्टता नितान्त स्पष्ट है।

बन्धन और मोक्ष

त्रिक दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान से यहाँ तात्पर्य ज्ञान के अभाव से न होकर उस परिमित ज्ञान से है जो जगत् के जीवों में पाया जाता है। इस अज्ञान की ही यहाँ पारिभाषिकी संज्ञा मल है। मल तीन प्रकार का होता है—आणव मल, मायीय मल तथा कार्मण मल। आणव मल से तात्पर्य अणुत्व से है अर्थात् जिसके द्वारा विभु शिव अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से संकुचित होकर अपने को 'अणु' समझने लगता है वही होता

है आणवमल। यह शिवकी स्वात्मप्रच्छादन की इच्छारूप क्रिया है। वस्तुतः शिव स्वतन्त्र, चिद्रूप, स्वभाव से प्रकाशात्मा तथा एक होता है, परन्तु वही स्वरूपके प्रच्छादन-रूपी अपनी क्रिया के योग से अणु होता है और अनेक रूप धारण करता है। अभिनवगुप्त का यह कथन इस तथ्य का प्रमाण है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूप-प्रच्छादन-क्रीडा-योगादणुरनेककः ॥

(तन्त्रालोक भाग ८, १३।१०३)

मायीय मल का अर्थ है भिन्न-वेद्यप्रथा अथवा भेदबुद्धि। साधक जब अपने को संकुचित प्रमाता समझता हुआ चिन्मय वेद्यों को अपने से सर्वथा भिन्न अर्थात् अचिन्मय वेद्य समझने लगता है, तब यह भेद-बुद्धि मायीय मल के नाम से प्रख्यात होती है। शास्त्र में 'शुभाशुभ वासना' को कार्मण मल की संज्ञा दी जाती है। मायीय मल के द्वारा पुरुष-संज्ञक मितात्मा जब किन्हीं वेद्यों को शुभ समझ कर उनके सम्पादन की ओर अग्रसर होता है और किन्हीं वेद्यों को अशुभ मान कर उनसे वह हट जाता है, तब इस शुभाशुभ-विकल्प को काममल के नाम से अभिहित करते हैं। फलतः इन मलों का प्रकाशन भी शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। अज्ञानरूपी मल तो एक ही प्रकार का है—अपने चित् स्वरूप को न जानना, परन्तु तारतम्य से वही त्रिविध रूपों में विलसित होता है।

यह तो हुआ बन्धन का रूप। इस बन्धन का अपहरण करनेवाली विद्या मुक्ति कही जाती है जिसका स्वभाव ही है सम्यक् ज्ञान, शिवत्व का पूर्ण ज्ञान अथवा शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का पूर्ण परिज्ञान। इसलिए अभिनवगुप्त का कथन है—

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।

अर्थात् स्वरूप-प्रथन ही मोक्ष कहलाता है। 'स्वरूप-प्रथन' का अर्थ है कि शिव के यथार्थ रूप, स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न रूप की प्रतीति। सम्यक् ज्ञान की प्रकाशिका विद्या ही साक्षात् विमोचिका होती है ('सम्यग् ज्ञान-स्वभावा हि विद्या साक्षाद् विमोचिका'—तन्त्रालोक)। इस स्वरूप-प्रथन की दशा में प्रमाता अपने को शरीर, मन, बुद्धि, प्राण से उत्तीर्ण शुद्ध प्रकाश-विमर्शरूप संवित् अनुभव करता है। उसे शुद्ध 'अहं' की पूर्ण अनुभूति होती

है जिसमें 'इदन्ता' का लेश भी नहीं रहता। इसीलिए 'परमार्थसार' का यह मार्मिक कथन है कि मोक्ष का न कोई धाम है और न कहीं अन्यत्र गमन होता है, प्रत्युत अज्ञान-ग्रन्थि का भेदन तथा स्वशक्ति का प्रकाशन ही मोक्ष कहलाता है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञान - ग्रन्थि - भिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥

(कारिका ६०)

शिव के शिवत्व की साधना के लिए कोई उपाय नहीं होता, क्योंकि उपाय तो माया-जगत् से सम्बद्ध होने के कारण उसके प्रकाश-द्वारा ही तो प्रकाशित होते हैं। फलतः ये शिव के प्रकाश को प्रकाशित ही क्यों कर सकते हैं? सूर्य का प्रकाश क्या घट के द्वारा कभी सम्भव होता है? सूर्यलोक से प्रकाशित होनेवाला घट क्या कभी सूर्य को प्रकाशित कर सकता है? नहीं, कभी नहीं। तब मोक्ष के उपाय हैं ही क्या? ये हैं मल-प्रक्षालन के वस्तुतः उपाय, जो व्यवहार में मुक्ति के उपाय माने जाते हैं। इस प्रसंग में त्रिकशास्त्र समावेश तत्त्व का प्रकाशन करता है। 'समावेश' से तात्पर्य है परिमित का परमोच्च में, लघु का परम महान् में, डुबो देना। 'समावेशक्रम' आभास-क्रम से सर्वथा विपरीत होता है। यह सर्वथा उचित ही है। 'आभास' का अर्थ है अन्तः रहनेवाली वस्तु का बहिःस्फुरण। आभास का क्रम है—आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति का इसी क्रम से उन्मीलन। समावेश का क्रम ठीक इससे विपरीत होता है—

(१) क्रियोपाय = आणवोपाय; (२) ज्ञानोपाय = शाक्तोपाय; (३) इच्छोपाय = शाम्भवोपाय तथा (४) आनन्दोपाय = अनुपाय।

आणवोपाय[1] में साधक प्राण, व्यापार, रूप आदि बाह्य वस्तुओं के ऊपर अपने आपकी भावना करता है। इस भावना के दृढ होने पर वह समस्त विश्व में शक्ति के प्रसार तथा व्यापन का पूर्ण ज्ञान कर लेता है। इस उपाय में

---

१. उच्चार-करण-ध्यान-वर्ण-स्थान-प्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यग् आणव उच्यते॥

—मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र २।२१

मन्त्र के जप द्वारा मोक्ष की सिद्धि की जाती है। ये उपाय ध्यानादि मानस क्रिया के द्वारा साध्य होते हैं। अत एव इन्हें 'क्रियोपाय' के नाम से पुकारते हैं। इससे ऊँचा 'शाक्तोपाय' होता है। इसमें साधक बाह्य वस्तु के ध्यान से पराङ्मुख होकर अपने आप में शिवत्व की भावना करता है। 'मैं ही सब कुछ हूँ'–शिवत्व-भावना की यही परिनिष्ठा इस उपाय में होती है। फलतः द्वैतज्ञान का तिरस्कार कर पूर्ण अद्वैतज्ञान पर पहुँच जाना, इस प्रकार के ध्यान की प्रधानता से यह उपाय मण्डित रहता है। अद्वैत ज्ञान की पूर्णता के कारण ही यह ज्ञानोपाय के नाम से विख्यात है[1]। इस उपाय से ऊर्ध्व उपाय इच्छोपाय (शाम्भवोपाय) कहलाता है। इस समावेश में अविकल्प स्वरूप का परिशीलन ही प्रधान होता है[2]। इसमें इच्छाशक्ति के द्वारा ही साधक शिवत्व की उपलब्धि करता है। फलतः यहाँ इच्छा ही उपाय है। जैसे मणि का पारखी जौहरी मणि या सुवर्ण को देखकर उसे तुरन्त पहिचान लेता है, उसी प्रकार साधक अपनी इच्छा से शिवत्व को पहिचान कर तद्रूप बन जाता है। शाम्भव उपाय ही अन्तिम उपाय है। 'अनुपाय' तो वस्तुतः शाम्भवोपाय की ही पराकाष्ठा है[3]। इसमें भावना की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत गुरु का एक शब्द ही प्रत्यभिज्ञा के लिए वैसे ही पर्याप्त होता है जैसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य के श्रवणमात्र से अपरोक्षानुभूति हो जाती है, उसके लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। अनुपाय की भी ठीक यही दशा है।

(६) क्रमदर्शन

प्रत्यभिज्ञा तथा कुल दर्शन से पृथक् काश्मीर में यह अद्वैतवादी सम्प्रदाय उपलब्ध होता है। इसकी पृथक् स्थिति का प्रमाण स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने ग्रन्थों में दिया है। यह एक बड़े महत्त्व का विषय है कि इन्होंने इन तीनों अद्वैतवादी सम्प्रदायों पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की और विशेष

---

१. सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पावमर्शरूपः शाक्तः—विज्ञान - भैरव-विवृति पृष्ठ १६।

२. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। वही

३. साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानाप्तौ निमित्तम्। स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इति कथ्यते—तन्त्रालोक-टीका भाग१, १८२ पृ०।

कर 'तन्त्रालोक' में इन्होंने इन तीनों के सिद्धान्तों का समावेश तथा विवरण स्थान-स्थान पर विभिन्न आह्निकों में विस्तार से दिया।

इस दर्शन के अनेक अभिधान उपलब्ध होते हैं जिनमें मुख्य हैं—

(१) क्रम, (२) कालीनय, (३) देवीनय, (४) औत्तराम्नाय। इन अभिधानों के हेतु का संकेत शास्त्रों में उपलब्ध है। (१) इस दर्शन के अनुसार निर्विकल्प रूप परतत्त्व के ज्ञानरूपी मुक्ति का उपाय 'विकल्प संस्कार' है और यह क्रमशः ही उत्पन्न होता है, सहसा नहीं। इसीलिए इसकी 'क्रम' संज्ञा नितान्त सार्थक है। (२) कालीनय—क्रमदर्शन के अनुसार परमतत्त्व की संज्ञा 'काली' है जिसकी उपासना पर यहाँ विशेष बल दिया गया है। काली क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति तथा नाद नामक पञ्च कृत्यों का सम्पादन करती है। यह काली भगवान् शिव की देवी मानी जाती है। इसलिए इस दर्शन का (३) देवीनय नाम भी सार्थक बनता है। पञ्चवक्त्र शिव के उत्तर मुख से उत्पन्न होने के हेतु यह (४) औत्तराम्नाय कहलाता है। दक्षिण से विरोधी होने से उत्तर मुख वाममुख होता है। इसलिए क्रम-प्रवर्तित मार्ग वाममार्ग नाम्ना अभिहित होता है। जयरथ की मीमांसा के अनुसार काश्मीर 'उत्तरपीठ' के नाम से तन्त्रों में अभिहित किया गया है। अतः वहाँ प्रचलित होने के कारण भी इसकी 'औत्तराम्नाय' संज्ञा सर्वथा सार्थक है।

साहित्य

क्रमदर्शन का साहित्य विस्तृत था, परन्तु यह अधिकांशतः विस्मृत हो गया है। उद्धरणों से ही इसका यत् किञ्चित् परिचय प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक में, विशेषतः चतुर्थ आह्निक में, कुल तथा त्रिक दर्शन के समकक्ष सम्प्रदाय के रूपमें क्रमदर्शन का विशद विवरण दिया है जिसकी टीका में जयरथ ने भी अतीव उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने क्रमस्तोत्र नाम से एक स्वतन्त्र प्रमेयबहुल स्तोत्र का निर्माण किया और क्रमकेलि नाम से किसी अज्ञातनामा प्राचीन आचार्य-रचित क्रमस्तोत्र की टीका भी लिखी। क्रमस्तोत्र में अभिनव ने अनाख्य चक्र में उपास्य द्वादश देवियों का वर्णन दिया है। 'महार्थमञ्जरी' में उपलब्ध निर्देश से पता चलता है कि अभिनव के पट्टशिष्य क्षेमराज ने इस पर टीका भी लिखी थी। फलतः वे भी अपने आदरणीय गुरु के समान ही क्रमदर्शन के भी मर्मज्ञ आचार्य प्रतीत होते हैं। चोलदेशीय तान्त्रिक विद्वान् गोरक्ष (अपर नाम महेश्वरानन्द)

की 'महार्थमञ्जरी' ('परिमल' व्याख्या से समन्वित) क्रमदर्शन का बहुमूल्य ग्रन्थ है। ये अभिनवगुप्त के अनुयायी थे (समय १२वीं शती)। क्रमदर्शन के सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए महार्थमञ्जरी महत्त्वशील निर्मिति है।

इन उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीन क्रममार्गीय ग्रन्थों के नाम बहुश: उपलब्ध होते हैं।[1] इनके नाम हैं—क्रमसद्भाव, क्रमसिद्धि, ब्रह्मयामल। प्राचीन आचार्यों जैसे शिवानन्दनाथ, एरक, ह्रस्वनाथ, सोमराज के मतों का उल्लेख भी मिलता है। क्रमसूत्र, पञ्चशतिक, महानयप्रकाश आदि भी इस दर्शन के बहुचर्चित ग्रन्थ हैं। फलतः यह दर्शन की ग्रन्थ-सम्पत्ति कभी विशाल रही, परन्तु आज इसका स्वल्प ही भाग अवशिष्ट है और प्राचीन ग्रन्थ तो उद्धरण से ही जाने जाते हैं।

सिद्धान्त

कर्मदर्शन के सिद्धान्त पञ्चक के रूप में उपलब्ध है—पाँच प्रकार से विभक्त। फलत: मुख्य पञ्चक तो वही है जिन पाँच रूपों में परमेश्वर अपने आपको स्फुरित करता है। स्फुरण के ये आधार 'पञ्चवाह' नाम्ना प्रख्यात है जिसके अन्तर्गत व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी तथा भूचरी सम्मिलित हैं। परमेश्वर की कार्य-शक्तियाँ भी पाँच प्रकार की मानी गई हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्य (अवर्णनीय) तथा भासा (स्वातन्त्र्य)। वाक् के प्रकार वैयाकरण भर्तृहरि ने केवल तीन, त्रिकमतानुयायी सोमानन्द ने चार और क्रमदर्शन ने उसमें एक प्रकार को जोड़ कर पाँच माना है—परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। इसी प्रकार ध्यान के लिए निर्दिष्ट पञ्चक के नाम हैं—श्रीपीठ, पञ्चवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र तथा गुरु-पंक्ति। परमेश्वर की स्वीय शक्तियाँ भी पाँच ही हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन विभिन्न पञ्चकों की कल्पना का हेतु यह है कि क्रमदर्शन के अनुसार मूल तत्त्व, जो काली नाम से अभिहित किया जाता है, पंच कृत्यों का सम्पादन करता है जिनके नाम हैं—क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति तथा नाद। ऊपर जिन पंचकों का नाम निर्दिष्ट किया गया है वे इन्हीं पंच कृत्यों के साथ मूलतः सम्बन्ध धारण करते हैं। अतः पंचकों की कल्पना सहेतुक है, निर्हेतुक नहीं।

---

१. द्रष्टव्य डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय—अभिनवगुप्त (द्वितीय सं० चौखम्भा, काशी, १९६३) पृष्ठ ४६७–४८१।

परतत्त्व

पर तत्त्व को क्रमदर्शन 'काली' नाम से अभिहित करता है, जैसे कौल दर्शन उसे 'कुल' संज्ञा से पुकारता है। क्रमदर्शन शक्ति के परमैश्वर्य का द्योतक शाक्त दर्शन है। फलतः इसे 'कालीमत' या 'कालीदर्शन' के नाम से पुकारना अनुचित नहीं है। कौल दर्शन से शक्ति की परसत्ता मानने के कारण यह साम्य रखता है, जहाँ परतत्त्व 'त्रिपुरा' नाम्ना प्रख्यात है। फलतः कौलदर्शन का अपर नाम त्रिपुरा दर्शन है। क्रम तथा कुल—दोनों ही विचारधारा अद्वैत शाक्त मतानुयायिनी हैं। परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में अनेक दृष्टि से भेद तथा पार्थक्य है।

क्रम-दर्शन परतत्त्व को 'काली' संज्ञा द्वारा अभिहित करता है। 'काली' शब्द की व्युत्पत्ति से उसके स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। काली शब्द कल् धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) पाणिनीय सूत्रानुसार घञ् प्रत्यय करने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय से सिद्ध होता है। व्याकरण के अनुसार बह्वर्थक कामधेनु के समान सकलार्थ-प्रबोधक कल् धातु के (कलयतिः कामधेनुः) चार अर्थ मुख्य हैं। (१) कल् विक्षेपे; (२) कल् गतौ (गतिः ज्ञानं प्राप्तिश्च); (३) कल् संख्याने तथा (४) कल् शब्दे। यहाँ गति के द्वयर्थक होने से अर्थपंचक का संकेत उपलब्ध होता है। और इसीलिए काली के पंचात्मक स्वरूप की व्याख्या व्युत्पत्ति-सम्मत होने से साधार है।

(क) काली वह तत्त्व है जो अपने भीतर विद्यमान समग्र पदार्थों को अपने से बाहर उल्लसित करता है (स्वात्मनो भेदनं क्षेपः)।

(ख) काली वह तत्त्व है जो बाहर उल्लसित पदार्थों को अपने से अभेद रूप में ग्रहण करता है (भेदितस्याविकल्पनम्। ज्ञानं विकल्पः)।

(ग) काली वह तत्त्व है जो अभिव्यक्त पदार्थों को परस्पर एक दूसरे से पृथक् करता है—"यह पदार्थ यह है और अन्यथा नहीं है" (संख्यानम् अन्यतो व्यतिभेदनात्)।

(घ) काली वह तत्त्व है जो पदार्थों को अपने से सम्बद्ध रूप से प्रकट करता है प्रतिबिम्ब के समान। जैसे कोई प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब (मुकुर आदि) के साथ सम्बन्ध रखता है, वैसे ही काली अभिव्यक्त पदार्थों को अपने साथ सम्बद्ध रखती है (गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्)।

(ङ) काली वह तत्त्व है जो अभिव्यक्त पदार्थों को अपने में विलीन कर देता है और अपने मूल स्वरूप आत्म-चैतन्य के रूपमें स्फुरित होता है (नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्[1])।

निष्कर्ष यह है कि काली को इसीलिए यह दर्शन परतत्त्व मानता है कि वह क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति तथा नाद नामक पाँच कृत्यों का सम्पादन पूर्वोक्त-रीत्या करती है। फलतः काली वह परतत्त्व है जो स्वात्मस्थित समस्त पदार्थों को अपने से बाहर उल्लसित करता है, उल्लसित पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् करता है, उनको अपने में प्रतिबिम्ब रूप से धारण करता है, उनको अपने से अभेद रूप से ग्रहण करता है और उन्हें अपने में विलीन कर स्वात्मविमर्शात्मना प्रकाशित होता है।

काली, जो इस विश्व का मूल तत्त्व है, तीन नामों से अभिहित की जाती हैं—मातृसद्भाव, व्योमवामेश्वरी तथा कालकर्षिणी। काली स्वातन्त्र्य शक्ति है जो अपने को द्वादश रूपों में क्रमशः प्रकट करती है। इस क्रमशः अभिव्यक्त द्वादश रूपों के ज्ञान से जीव मोक्ष प्राप्त करता है। इस हेतु 'मातृसद्भाव' नाम्ना व्यवहृत होती है। इन अभिधानों के द्वारा काली के विभिन्न तात्त्विक आधारों का परिज्ञान किया जा सकता है। काल के प्रभाव से कोई भी मुक्त नहीं है, परन्तु काली काल के द्वारा कथमपि अवच्छिन्न नहीं की जा सकती। इसलिए 'कालकर्षिणी' के नाम से अभिहित की जाती है। काली वह शक्ति है जो अनुभव के समग्र पदार्थों को अपने में धारण करती हैं और स्वेच्छया अवसर आने पर उन्हें अपने से बाहर ठीक उसी प्रकार 'वमन' कर लेती हैं—जैसे हैजे का रोगी अपने भीतर विद्यमान दूषित पदार्थों को वमन द्वारा बाहर निकाल फेंकता है। 'वामेश्वरी' नामकरण का यही स्वारस्य है (वाम = वमन)।

काली के १२ प्रकारों का वर्णन शास्त्र में किया गया है। प्रत्येक का अपना विशिष्ट स्वरूप तथा स्वभाव है। १२ प्रकारों के नाम हैं—(१) सृष्टि-काली, (२) रक्त-काली, (३) स्थितिनाश-काली, (४) यमकाली, (५) संहारकाली, (६) मृत्युकाली, (७) रुद्रकाली (या भद्रकाली), (८) मार्तण्ड-काली (९) परमार्क काली, (१०) कालानल रुद्रकाली, (११) महाकाल काली, तथा (१२) महाभैरवचण्डोग्रघोर काली।

---

१. द्रष्टव्य तन्त्रालोक, ३ आ०, २०४–२०५।

काली-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए क्रमदर्शन में राजयोग तथा मन्त्र के अनुष्ठान पर आग्रह है। ध्यातव्य है कि अभिनवगुप्त तथा महेश्वरानन्द काली-साक्षात्कार के लिए पूजा का विधान आवश्यक बतलाते हैं, परन्तु यह पूजा पुष्प, नैवेद्य आदि बाह्य उपचारों-द्वारा किसी मूर्ति के सामने सम्पन्न नहीं होती, प्रत्युत आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ग्रहण ही वास्तविक पूजा है। महार्थमञ्जरी की स्पष्ट उक्ति है—

तस्मात् स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजा।

अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'संविदैकात्म्येनावस्थानं पूजा (तन्त्रालोक ३।२११) अर्थात् परा संविद्रूपा भगवती के साथ ऐकात्म्येन अवस्थिति धारण करना ही पूजा है। फलत यह पूजा अन्तर्याग से सम्बन्ध रखती है, बहिर्याग से नहीं। महाकाली के परतत्त्व की द्योतना अभिनवगुप्त ने बड़ी सुन्दरता से इस पद्य में की है—

प्रकाशाख्या संवित् क्रमविरहिता शून्यपदतो,
बहिर्लीनात्यन्तं प्रसरति समाच्छादकतया।
ततोऽप्यन्तःसारे गलितरभसादक्रमतया
महाकाली सेयं मम कलयतां कालमखिलम्॥

क्रमस्तोत्र, श्लोक २६

—————

(७) कौल दर्शन (=शाक्त दर्शन)

कौलमत का भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौल धर्म तथा कौल दर्शन दोनों दिशाओं में यह मत अपनी विशिष्टता धारण किये हुये है। कौल आचार तथा कौल विचार दोनों की अमिट छाप भारतीय संस्कृति के ऊपर अत्यन्त प्राचीन काल से हैं। इसके उदय का इतिहास अभी तक दीर्घ गवेषणा का विषय है, परन्तु इसके मूल आगम का अध्ययन हमें बतलाता है कि यह मत चारों युगों में अपनी विशिष्ट सत्ता बनाये हुआ प्रतिष्ठित था। खगेन्द्र नामक आचार्य सत्ययुग में कौल धर्म के व्याख्याता थे; कूर्म नामक आचार्य त्रेता में व्याख्याता थे; द्वापर में मेष ने इसका प्रवचन किया और कलियुग में मच्छन्द या मत्स्येन्द्र (अपर नाम मीननाथ) इस कौलमत के प्रतिष्ठापक थे। फलतः ऐतिहासिक पण्डित मत्स्येन्द्र को ही इस मत के प्रतिष्ठापक होने का श्रेय प्रदान करते हैं। अभिनव के ग्रन्थ में से इनके विषय में एक गम्भीर रहस्य का पता चलता है। यह तो सर्वत्र प्रख्यात है कि श्रीकण्ठ ने त्र्यम्बक, मर्दक तथा श्रीनाथ नामक सिद्धों को शैव मत के अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत रूप को क्रमशः प्रवर्तित करने का आदेश दिया। त्र्यम्बक ने अपनी पुत्र-परम्परा के द्वारा अद्वैत-मूलक शैवमत त्रिक का प्रचलन किया। त्र्यम्बक के दौहित्र (पुत्री के पुत्र) मच्छन्द या मीननाथ ने इस चतुर्थ तान्त्रिक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और इसीलिए यह मत 'अर्धत्र्यम्बक मठिका' के नाम से प्रख्यात हुआ। 'मठिका' का अभिप्राय सम्प्रदाय है। 'मच्छन्द' के पुत्र राजपुत्र बतलाये गये हैं। फलतः मच्छन्द किसी देश के राजा अवश्य प्रतीत होते हैं। परन्तु किस देश के? इस प्रश्न का उत्तर यथार्थतः नहीं दिया जा सकता, तथापि मत्स्येन्द्र का सम्बन्ध आसाम प्रान्त से बतलाया जाता है। जान पड़ता है आसाम के अन्तर्गत कामरूप (कामाख्या देवी का सिद्धपीठ) इसीलिए प्राचीन काल से शक्ति-पूजा के प्रधान केन्द्र के रूप में सर्वत्र विख्यात है।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के आह्निक में अपने गुरुओं की चर्चा करते समय अपने कौल मत के गुरु का नाम शम्भुनाथ उल्लिखित किया है। शम्भुनाथ के गुरु का नाम था सोमदेव और इनके गुरु का नाम था सुमतिनाथ। फलतः काश्मीर में भी कौलमत की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। यह भी ज्ञात होता है कि ठेठ काश्मीर में खोजने पर भी योग्यतम गुरु के अभाव के कारण अभिनव गुप्त ने जालन्धर की यात्रा की थी और वहीं पर शम्भुनाथ से इस तान्त्रिक विद्या के रहस्यों का अवगमन किया था। अभिनवगुप्त के दादा-गुरु उत्पलदेव के गुरु सोमानन्द ने इस मत के प्रतिपादक परात्रिंशिका के ऊपर अपनी टीका का प्रणयन कर काश्मीर में कौल मत के प्रचलन की ओर स्वतः प्रमाण उपस्थित किया है।

प्रत्यभिज्ञामत से कौलतन्त्र की तुलना करने पर यह इससे सर्वथा भिन्न तथा प्राचीनतर प्रतीत होता है। अभिनव की स्पष्ट उक्ति है कि प्रत्यभिज्ञामत में प्रत्यभिज्ञा-द्वारा (जो 'अनुपाय' नाम्ना शास्त्र में प्रख्यात है) मुक्ति साध्य है, परन्तु कौलमत में शाम्भव उपाय के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। प्रत्यभिज्ञा-मत से कौलमत की प्राचीनता की पुष्टि इस घटना से होती है कि सोमानन्द ने अपनी मौलिक रचना 'शिवदृष्टि' के द्वारा प्रत्यभिज्ञामत का प्रवर्तन किया, परन्तु अपने से प्राचीनतर कौलमतानुयायी 'परात्रिंशिका' पर उन्होंने व्याख्या का निर्माण किया। यह इस मत की प्राचीनता का स्पष्ट संकेत है।

मत्स्येन्द्रनाथ का समय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अनुमानतः दिया जा सकता है। उनके मातामह त्र्यम्बकनाथ का समय पूर्व प्रसंग में तृतीय शती निश्चित किया गया है। उनका समय भी प्रायः वही होना चाहिए। अतः हम स्थूल रूप से कह सकते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ का समय तृतीय शतक है और उसी युग में उत्तर भारत में कौलतन्त्र का उदय सम्पन्न हुआ।

'कुल' शब्द का अर्थ

'कुल' की उपासना के कारण ही यह तन्त्र कौल तन्त्र के नाम से प्रख्यात है। 'कुल' तन्त्र का एक रहस्यमय पारिभाषिक अभिधान है जिसके नाना अर्थ शास्त्रों में उल्लिखित हैं।

(१) परमेश्वर की सर्वोर्ध्ववर्तिनी स्वातन्त्र्यशक्ति कुल शब्द के द्वारा द्योतित की जाती है—

कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता।
स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम् ॥

—तन्त्रालोक आह्निक २९

(२) शिव तथा शक्ति का सामरस्यरूप संयोग भी इसका अभिधेय अर्थ है ('कुले शिवशक्त्यात्मनि' परात्रिंशिका ३६)।

(३) नित्या नामक शक्ति के लिए भी इसका व्यवहार होता है—

कुलं शक्तिः समाख्याता सा च नित्या प्रकीर्तिता।

—तन्त्रालोक आ० २०, पृ० ५१

(४) इन सबसे पृथक् 'कुल' उस परतत्त्व का द्योतक है जो शिवशक्ति आदि समग्र पदार्थों को आभासित करता है, जिसमें यह विश्व अवस्थिति रखता है और अन्त में जिसमें यह लीन हो जाता है—

यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥

—वही, भाग २ टी० ७५

मेरी दृष्टि में इसी अन्तिम अर्थ को लक्ष्य कर अर्थात् शिवशक्ति से ऊर्ध्वतम 'कुल' नामक परतत्त्व की उपासना तथा मान्यता के कारण यह तान्त्रिक मत 'कौल' नाम से प्रख्यात है। कौलतन्त्र तन्त्रों में आचार-विचार का पर्यवसान माना जाता है। इसीलिए तन्त्रालोक का यह वचन इसे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है—

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं नहि ॥

शास्त्रों का प्राण ही कुल मार्ग है। पुष्प में गन्ध, तिल में तैल, देह में जीव, जल में रस के समान कुलमार्ग शास्त्रों के भीतर प्रतिष्ठित है—

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥

—तन्त्रालोक, आह्निक ३५, ३७३-४।

यह कुलमार्ग' ऊर्ध्वाम्नाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाम अपने लिए अनेक हेतु रखता है। पञ्चमुख शिव के ऊर्ध्वमुख से उत्पन्न होनेवाले तन्त्र पर यह आश्रित है तथा नियति की मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण भी यह ऊर्ध्वाम्नाय कहलाता है—

ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते ।
ऊर्ध्वं नयत्यधःस्थं चेत्यूर्ध्वाम्नाय इति स्मृतः ॥
—कुलार्णवतन्त्र ३।१८

आगम साहित्य

कौलतन्त्र अपने सिद्धान्तों के लिए प्राचीन आगमों के ऊपर आश्रित है। इन ग्रन्थों की प्राचीनता तथा महत्त्वशालिता में दो मत नहीं हो सकते। इन्हीं का आश्रय लेकर कालान्तर में आचार्यों ने मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनकी व्याख्या लिखकर अन्य विद्वानों ने तन्त्र के रहस्यों का पूर्णतया उद्घाटन किया। इस बृहत् साहित्य के मुख्य ग्रन्थों का ही यहाँ संक्षिप्त उल्लेख सम्भव है।

(१) सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र (अपर नाम सिद्ध योगीश्वरी मत) प्रधानतः दार्शनिक प्रमेय बहुल है, अप्रधानतः मन्त्र, मुद्रा, मण्डल का विवरणात्मक है। परिमाण में यह 'शतकोटिप्रविस्तर' बतलाया जाता है। मानवों के कल्याण के लिए समय-समय पर इस तन्त्र के तीन संक्षिप्तीकरण किये गये। 'मालिनी-विजय' नाम से प्रथम संक्षेप तीन करोड़ श्लोकों का तथा द्वितीय संक्षेप बारह हजार श्लोकों का कभी किया गया था; परन्तु ये दोनों उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध है तृतीय संक्षेप 'मालिनी-विजयोत्तर' नामक, जिस पर अभिनवगुप्त ने 'मालिनी श्लोकवार्तिक' नाम से वार्तिक (अंशतः मुद्रित) तथा 'पूर्वपञ्चिका' नामक बृहती व्याख्या (उद्धरणों से ज्ञात) लिखी। यही तन्त्र 'श्रीपूर्वशास्त्र' नाम्ना प्रख्यात है जो इसे आद्य तन्त्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

(२) रुद्रयामल—इस तन्त्र में कुलाचार-विधि, कौलतर्पण, कौलसन्ध्या, कुलद्रव्य आदि के विवरण होने से यह स्पष्टतः कुल-मार्ग से ही सम्बन्ध रखता है। (३) कुलार्णव तन्त्र—अपने अभिधान से ही अपनी कुल-मार्गानुयायिता की द्योतना करता है। कुलाचार के विषय में इस तन्त्र का स्पष्ट कथन है कि राज-योग के अभ्यास से विहीन, अजितेन्द्रिय तथा अवशीकृत-मानस साधकों के लिए पञ्च मकार की उपासना घोर नरक में डालनेवाली होती है। पञ्च-मकारी साधना उच्च साधकों के लिए है जो विषय के प्रपञ्चों से नितांत दूर तथा प्रलोभनों से कथमपि अभिभूत नहीं होते। वामाचार के समर्थकों ने अपनी ओर से अनेक वचन तथा सिद्धान्त मिला कर वर्तमान ग्रन्थ को दूषित कर रखा है।

(४) ज्ञानार्णव तन्त्र—भगवती त्रिपुरा के स्वरूप का प्रतिपादक यह महनीय तन्त्र कौलमार्ग के रहस्यों को विवृत करता है। इसके ऊपर शंकरानन्दन ने एक टीका लिखी थी जिसका उल्लेख भास्करराय ने अपने टीकाग्रन्थ सेतुबन्ध में किया है।

(५] नित्या षोडशिकार्णव[1]—वामकेश्वर तन्त्र के अन्तर्गत प्रख्यात यह ग्रन्थ त्रिपुरा शास्त्र का रहस्योद्घाटक माना जाता है। जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका में (३।२०७) वामेश्वरी तन्त्र को कौलिकी विद्या के नाम से निर्दिष्ट किया है जिससे इसके कुलमार्गीय ग्रन्थ होने में सन्देह नहीं किया जा सकता—

एषा तु कौलिकी विद्या सर्वसिद्धिप्रदायिका।
वामेश्वर्यंवतारे तु प्रकाशत्वमुपागता॥

'सौन्दर्यलहरी' से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ आचार्य शंकर को पूर्णतया ज्ञात था, क्योंकि इसके अनेक तथ्यों की छाया उनके श्लोकों में उपलब्ध होती है।[2] इतना ही नहीं, भास्करराय का तो यहाँ तक कहना है कि 'चतुःषष्ट्या तन्त्रः' (सौन्दर्यलहरी, पद्य ३१) पद्य में आचार्य के 'स्वतन्त्र तन्त्र' शब्दों-द्वारा निर्दिष्ट तन्त्र यही है।

विपुल व्याख्या सम्पत्ति इस तन्त्र के महत्त्व तथा प्रसार की विशद द्योतिका है। इस पर प्रकाशित टीकायें हैं—(१) जयरथ—विवरण (काश्मीर सीरीज में मुद्रित), (२) भास्करराय—सेतुबन्ध (आनन्दाश्रम, पूना), (३) शिवानन्द-ऋजुविमर्शिनी, तथा (४) विद्यानन्द—अर्थरत्नावली (अन्तिम दोनों सरस्वती भवन सीरीज में मुद्रित)। शिवानन्द को महेश्वरानन्द (अपरनाम गोरक्ष) अपनी 'महार्थ मञ्जरी' में अपने गुरु महाप्रकाश का गुरु मानते हैं। फलतः शिवानन्द

---

१. इसका एक विशिष्ट संस्करण ऋजुविमर्शिनी-तथा अर्थ-रत्नावली व्याख्याओं के साथ संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९६६, वाराणसी) इसके विद्वान् सम्पादक व्रजवल्लभ द्विवेदीने इसकी प्रमेय-बहुल प्रस्तावना लिखकर जिज्ञासकों का बड़ा उपकार किया है।

२. मिलाइये नित्यां ४।६ = सौन्दर्य १ पद्य तथा नित्यां ४।६७ = सौन्दर्य ५ पद्य।

का समय ११ वीं शती मानना सर्वथा उचित है। विद्यानन्द उनके समकालीन होने से उसी युग के ग्रन्थकार हैं। इन दोनों व्याख्याकारों का देश दक्षिण-भारत, विशेषतः केरल, प्रतीत होता है।

इन्हीं मुख्य आगम ग्रन्थों को आधार मानकर अवान्तर-कालीन विद्वानों ने मौलिक ग्रन्थों तथा टीका-ग्रन्थों का प्रणयन किया। कौल मत की दो परम्पराएँ मुख्य रही हैं—काश्मीर की तथा केरल की। काशी में भी कौलमतानुयायी विद्वानों की परम्परा १८ वीं शतक से आजतक उपलब्ध है। काश्मीर में कौल मत के प्रचार का श्रेय जयरथ के कथनानुसार[1] 'शंकरराशि' नामक कौलाचार्य के साथ ईश्वरशिव नामक आचार्य को दिया जाना चाहिए जो प्रख्यात काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के मन्त्री 'सूर' द्वारा संस्थापित सूरमठ के अधिपति महन्त थे। अवन्तिवर्मा की समकालीनता के कारण दोनों का आविर्भाव काल नवम शती का मध्य भाग है। जयरथ के साक्ष्य पर विश्वावर्त, दीपिकानाथ, कल्याणवर्मा, अल्लट तथा कल्लट कौलमत के व्याख्याता काश्मीरी आचार्य सिद्ध होते हैं। अभिनवगुप्त ने कौलमत के रहस्य का तथा विपुल ऐतिहासिक सामग्री का उद्‍घाटन अपने तन्त्रालोक में किया है। उनके जालन्धर के निवासी कौल गुरु शम्भुनाथ सुमतिनाथ के प्रशिष्य तथा सोमदेव के शिष्य थे। तन्त्रा-लोक (आ० ३०, ११४) उन्हें 'तन्त्र-सद्भाव-शासन' का रचयिता बतलाता है। दक्षिण भारतीय परम्परा में महेश्वरानन्द (गोरक्ष), विद्यानन्द आदि मुख्य आचार्य हैं। काशी में कौलमत के प्रवेश का समय यथार्थतः उपलब्ध नहीं परन्तु भास्करराय के गुरु नरसिंह यज्वा के समय (१८ वीं शती) से कौल मत के काशी में प्रचार का अनुमान हम लगा सकते हैं।

भास्करराय (लगभग १७०० ई०–१७६० ई०) की विपुल रचना-सम्पत्ति का और उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख पूर्व ही किया गया है। अतः इसके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। भास्करराय के पिता गम्भीरराय फारसी के ही विद्वान् न थे प्रत्युत भगवती के मान्य उपासक भी थे। भास्करराय की जन्मतिथि का पता नहीं, परन्तु उनके आविर्भाव-काल का पूरा परिचय उनके दो ग्रन्थों की रचना-तिथि से भली भाँति मिलता है। ललिता-सहस्र-नामभाष्य की रचना १७७५ विक्रमी (= १७२८ ई०) में तथा सेतुबन्ध का निर्माण १६५५

---

१. अस्य दर्शनस्य एतदेवाचार्यद्वयं काश्मीरेष्ववतारकम् ॥

जयरथ—वामकेश्वरतन्त्र।

शक सं० (= १७३३ ई०) में करने का उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है। इनके शिष्य उमानन्दनाथ ने अपने ग्रन्थ नित्योत्सव का निर्माण सं० ४८७६ कलि-संवत् निर्दिष्ट किया है (= १७७५ ई०) फलतः भास्करराय का आविर्भाव १८ वीं शती के पूर्वार्ध में काशी में मानना सर्वथा समुचित है।

कुलाचार

कुलाचार के विषय में विरुद्ध मत फैलने का प्रधान कारण अधिकारिभेद के स्वरूप को यथार्थतः न जानना है। पञ्च मकार से विशिष्ट यह तान्त्रिक आचार प्राचीन काल से ही आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय रहा है। अभिनवगुप्त के समय में भी इस कौलाचार के विदूषकों और आलोचकों की कमी नहीं थी अन्यथा उन्हें इसके समर्थन में युक्ति देने की आवश्यकता ही न पड़ती। उन्होंने अधिकारी-भेद का आश्रय लेकर अपना सत्तर्क उपस्थित किया है।

इस आचार का अधिकारी साधारण जन नहीं होता, प्रत्युत निर्विकल्प दशा की पराकाष्ठा को प्राप्त होनेवाला साधक होता है। राजयोग में निपुण व्यक्ति ही इसके लिए अधिकारी माना जाता है। राजयोग हठयोग से भिन्न होता है। हठयोग के अनुसार मन प्राण के अधीन रहता है, तो राजयोग के अनुसार प्राण मन के अधीन होता है। मध्यनाडी में मन के प्रवेश करने पर प्राण स्वतः उसका अनुगमन करते हैं। ऐसा ही राजयोगी इस आचार के करने का अधिकारी होता है। तथ्य तो यह है कि कौलमत साधारण पन्थ न होकर विशिष्ट पन्थ है। यह उसी साधक के लिए निर्दिष्ट है जो पर-तत्त्व का ज्ञाता है, जिसने आगमशास्त्रों का अध्ययन किया है और जो भौतिक प्रलोभनों से नितान्त अनाकृष्ट है अर्थात् क्रोध, लोभ, मोह, मद, रागद्वेष, माया—जिसके चित्त को कथमपि वशीभूत नहीं करतीं। अभिनव गुप्त ने इस विशिष्ट अधिकारी का संकेत स्पष्टतः किया है—

> परब्रह्मण्यवेत्तारोऽगमागमविवर्जिताः ।
> लोभमोहमदक्रोध - राग - मायावृताश्च ये ।
> तैः साकं न च कर्तव्यमेतच्छ्रेयोऽर्थिनात्मनि ॥
>
> (तन्त्रालोक, आ० २९, श्लो० २८९–९०)

कौलमार्ग वैदिकमार्ग से आचार-दृष्टि से विरुद्ध नहीं है। कौलमार्ग का प्रधान प्रतिपादक 'कुलार्णव तन्त्र' धार्मिक कृत्यों से बाहर मद्यपान का निषेध

ही नहीं करता, प्रत्युत उसके घ्राण तथा दर्शन को भी निषिद्ध मानता है और इसके लिए प्रायश्चित्त बतलाता है। इसी प्रकार वह पशुहनन का अनुमोदन करनेवाले को, मांस के क्रेता और विक्रेता दोनों को, संस्कार करनेवाले तथा खानेवाले दोनों को पातकी बतलाता है। इतना होने पर भी वह विशेष अवस्थाओं में मद्यपान को विहित मानता है। ऐसी दशाएँ अनेक हैं। मनकी स्थिरता के हेतु, मन्त्रार्थ के स्फुरण के लिए तथा भवपाश की निवृत्ति के निमित्त इसका पान कथमपि दुष्ट नहीं है—

सेवते मधुमांसानि तृष्णया चेत् स पातकी।
मन्त्रार्थस्फुरणार्थं च मनःस्थैर्याय हेतवे।
भवपाशनिवृत्त्यर्थं मद्यपानं समाचरेत्॥

—कुलार्णव, ५।८२–८३

निष्कर्ष यह है कि यह आचार उस विशिष्ट राजयोगी के लिए है जो वैषयिक प्रलोभनों के द्वारा कथमपि आकृष्ट नहीं होता, प्रत्युत विषयों से उत्पन्न आनन्द से उल्लसित होकर वह अपने मनमें सुषुम्ना में प्रविष्ट करने की योग्यतासे संवलित होता है। परन्तु यह मार्ग है यथार्थतः कठिन, नितान्त दुरूह और इसीलिए इसे गोपनीय रखने का आदेश आगम देता है—

कृपाणधारागमनात् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्गधारणान्नूनम् अशक्यं कुल-सेवनम्॥

—वही २।१२१

दार्शनिक विचार

कौल दर्शन 'संवित्' को परतत्त्व के रूपमें अंगीकार करता है। यह तत्त्व ३७वां तत्त्व माना जाता है, क्योंकि यह विश्व के ३६ तत्त्वों के ही प्रसरण का कारण नहीं है, अपितु प्रकाशविमर्शात्मक आद्य तत्त्वद्वय रूपमें स्वीकृत शिवशक्ति के प्रसरण का भी हेतु होता है। अन्य दर्शनों में 'संवित्' ज्ञान सामान्य के लिए व्यवहृत होता है जैसे 'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' (प्रभाकर मत में), परन्तु यह सच्चिदानन्दाभिन्न ब्रह्मज्ञान के रूप में ही विशेषतः स्वीकृत किया गया है। पञ्चदशी में विद्यारण्य स्वामी 'संवित्' को स्वयंप्रभा, उदय-अस्त से हीन ज्योतिरूप मानते हैं[1]। वस्तुतः यह सच्चिदानन्द ब्रह्म से अभिन्न ही तत्त्व है।

---

१. नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा।

—पञ्चदशी १।७

कौल मत में यह संवित् भगवती 'महात्रिपुरसुन्दरी' के नाम से व्यवहृत होकर समग्र दर्शन को शाक्तागमानुसारी घोषित कर रही है। फलतः यह परासंवित् ही परब्रह्मरूपिणी है। 'त्रिपुरा' नामकरण के लिए अनेक हेतु आगमों में दिये गये हैं। वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार[१] त्रिमूर्ति की सृष्टि से प्राग्भव होने से, त्रयीमयी होने से, त्रिलोकी के पूरण तथा लय करने के कारण अम्बिका 'त्रिपुरा' से प्रख्यात होती हैं। शिवशक्ति के सामरस्य होने से, तत्त्वत्रयी के पूरण करने से त्रिलोक जननी देवी 'त्रिपुरा' नाम धारण करती है:—

> शिवशक्त्यात्म - संज्ञेयं तत्त्वत्रितयपूरणात्।
> त्रिलोकजननी चाथ तेन सा त्रिपुरा स्मृता॥

यह परमा शक्ति तो वस्तुतः एकरूपा होने पर भी बीज की उच्छून दशा में ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा नामक बिन्दुत्रितय में बहिः प्रकट होने के कारण 'त्रिपुरा' कहलाती है। इस प्रकार की अनेक निरुक्तियाँ तान्त्रिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं।

त्रिपुरा के स्वरूप का विवरण नित्याषोडशिकार्णव के चतुर्थ पटल (श्लोक ४–१५) में विशेषरूपेण किया गया है। "त्रिपुरा परमा शक्ति है जो विश्व के आदि में प्रथमोन्मेष रूपमें व्यक्ति प्राप्त करती है। महाप्रकाश-रूप अनुत्तर शिवकी स्वरूपभूता विमर्शशक्ति है। यही स्फुरत्तारूपिणी अनुभवैकगम्या इच्छाशक्ति है। कलातत्त्व-भुवन नामक स्थूल अर्थत्रिकों को तथा वर्ण-पदमन्त्राभिधान रूप शब्दत्रिकों को उत्पन्न करने के कारण त्रैलोक्य की उत्पत्ति की मातृका (कारण) कही जाती है। शक्ति-रहित होने पर परशिव कुछ भी करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। शक्ति से युक्त होने पर ही वे सामर्थ्यवान् होते हैं।[२] इकार बीजरूपिणी शक्ति के संग में ही शिव में शिवत्व है,

---

१. त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात्
त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोका अपि पूरकत्वात्
प्रायोऽम्बिकायाः त्रिपुरेति नाम॥

२. परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत्॥४।६
तुलना कीजिये—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितमपि॥

अन्यथा वे वस्तुतः शव रूप ही हैं। शक्ति तथा शक्तिमत् रूप से किसी प्रकार व्यतिरेक नहीं है। इन दोनों में उसी प्रकार ऐकात्म्य रहता है, जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति में।

प्रत्यभिज्ञा-सम्मत आभासवाद यहाँ भी स्वीकृत है। परिणाम तथा विवर्त इन दोनों प्रख्यात दृष्टि-प्रकारों से आभास सर्वथा भिन्न होता है। आभास स्वातन्त्र्य का ही अपर नाम है। अभिनवगुप्त ने इसे प्रतिबिम्बवाद की भी संज्ञा दी है। इस तथ्य का विशेष प्रतिपादन उन्होंने तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में किया है।

श्रीचक्र

त्रिपुरा की उपासना का मुख्य यन्त्र 'श्रीचक्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह त्रिपुरा का ही प्रतिनिधि माना जाता है। त्रिपुरा ही ललिता के नाम से भी विख्यात है। ब्रह्माण्डपुराण के 'ललितोपाख्यान' में ललिता के स्वरूप, प्रभाव, मन्त्र तथा कवच आदि का विशेष विवरण दिया गया है। वहाँ 'श्रीपुर' के नाम से ललिता के धाम का विशद विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है (चतुर्थ खण्ड; अध्याय ३०—३८)। इसके मध्य में 'चिन्तामणि गृह' है जो भगवती ललिता का प्रासाद है। यह पचीस शालाओं से युक्त है जिसमें देवी-देवताओं का निवास है। इसके सोलह आवरण हैं जिससे यह गृह कमल के सदृश प्रतीत होता है। इस प्रासाद के मध्य में है बिन्दु-पीठ अर्थात् ललिता का सिंहासन। यही आपीठ, महापीठ, विद्यापीठ तथा आनन्दपीठ के नामों से विख्यात है जहाँ एक दिव्य पर्यंक है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और ईश्वर ये चारों देव पाद का काम करते हैं। शय्या का फलक स्वयं 'सदाशिव' हैं। इसी पर्यङ्क के ऊपर कामेश्वरी (ललिता) के साथ कामेश्वर गाढालिङ्गन में शयन करते हैं। श्रीचक्र इसी 'श्रीपुर' का यान्त्रिक प्रतिनिधित्व करता है। श्रीचक्र के रूप तथा पूजन के विषय में आगमशास्त्रों में सूक्ष्म विवरण उपलब्ध होता है[1]।

---

१. द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी के ८वें श्लोक की लक्ष्मीधरकृत व्याख्या (मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, मैसूर, १९५३) पृष्ठ १२—१७।

अनुत्तरतत्त्व

कुल दर्शन में 'अनुत्तर' नामक तत्त्व का अभ्युपगम इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन से पृथक् सिद्ध करता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में छत्तीस तत्त्व ही स्वीकृत किये जाते हैं। भास्करकण्ठ के मन्तव्यानुसार उत्पलदेव ने शिव तथा परमशिव का अथवा शिव तथा महेश्वर का ऐक्य स्वीकार किया है[1]। वस्तुतः 'अनुत्तर' की सत्ता कुलदर्शन में है, परन्तु अभिनवगुप्त ने 'परात्रिंशिका' का अनुसरण कर प्रत्यभिज्ञादर्शन के व्याख्यान के अवसर पर ३७ वाँ तत्त्व 'अनुत्तर' नाम से स्वीकारा है। 'अनुत्तर' के अनेक अर्थ शास्त्रों में दिये गये हैं[2]। परन्तु प्रधान अर्थ है—'न विद्यते उत्तरम् अधिकं यतः' अर्थात् जिससे उत्तर 'अधिक' किसी तत्त्व की सत्ता नहीं है, वही परमोच्च तत्त्व 'अनुत्तर' नाम्ना व्यवहृत होता है। 'अनुत्तरा' अनुत्तर की शक्ति है जो उसमें अविभागेन विद्यमान रहती है। उसमें वाच्यवाचकात्मक समस्त विश्व वैसे ही वर्तमान रहता है जैसे मयूराण्ड रस में भिन्न-भिन्न रंग विद्यमान रहते हैं। जैसे समुद्र से तरंग उच्छलित होते हैं, वैसे ही इस शक्ति से समस्त विश्व उच्छलित होता है। इसे ही 'कौलिकी' शक्ति के नाम से पुकारते हैं।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणियों की मूलरूपिणी 'परावाक्' यही शक्ति है। ध्यातव्य है कि वैयाकरण गण वाणी के तीन ही प्रकार स्वीकार करते हैं—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। भर्तृहरि के मत में वाक् के ये ही तीन रूप होते हैं। (वाक्यपदीय १।१४४)—

> वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
> अनेक—तीर्थभेदायाः त्रय्याः वाचः परं पदम्॥

हेलाराज ने इस विषय की विशद मीमांसा करते समय पश्यन्ती-रूपा वाक् को ही परावाक् माना है। उनका स्पष्ट कथन है—'पश्यन्तीरूपा संवित् परावाक् शब्द-ब्रह्ममयी ब्रह्मतत्त्व है। यह पारमार्थिक शब्द से कथमपि भिन्न

---

१. तत्त्वतः शिवपरमशिवयोरैक्यमेव। तथापि स्वरूपनिर्देशाभिप्रायेण अनाश्रित-शिवत्वेन कथनम्; व्यापकत्वाभिप्रायेण परशिवत्वकथनम्।
—भास्करभाष्य भाग २, पृष्ठ २११

२. द्रष्टव्य डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय—शैवदर्शनबिन्दुः, पृ० १५०–१५२।

नहीं है। विवर्त दशा में यही वैखरी रूप से प्रकट होती है[1]"। अतः वाक् के प्राचीन विवेचकों की दृष्टि में वाक् तीन ही प्रकार की होती है; परन्तु कौल-दर्शन का यह वैशिष्ट्य ही अंगीकृत होना चाहिए कि उसने पश्यन्ती से भी आगे सूक्ष्मतर वाक् का विश्लेषण कर 'परावाक्' को स्वीकारा। कुलमतानुयायी ग्रन्थ के 'परात्रिंशिका' अभिधान से भी इस मत की स्पष्ट पुष्टि होती है। नागेश ने 'लघुमञ्जूषा' में व्याकरण-दृष्टि से भी वाक् के चार रूप मानकर 'परा वाक्' की स्वीकृति मानी है। नागेश के वैयाकरण तथ्यों के ऊपर कौल-मत का प्रभाव गवेषणीय है। काशी में १८ वें शतक में कौल मत के विशिष्ट आचार्य भास्करराय की स्थिति इतिहास-सम्मत है, जिन्होंने अनेक तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रणयन कर कौल मत को अग्रसर किया था। बहुत सम्भव है कि नागेश के विचारों पर भास्करराय का प्रभाव पड़ा हो और उन्होंने भर्तृहरि की प्राचीन परम्परा से बहिर्मुख होकर कौल मत के तथ्यों को अंगीकार किया हो। जो कुछ हो, वाक् के सूक्ष्मतम स्वरूप को 'परा वाक्' नाम्ना विश्लेषण करने का श्रेय कौल मत को देना चाहिए।

अनुत्तरशक्ति ही देवनागरी के 'अ' वर्ण के द्वारा बोध्य है। इस पराशक्ति का नाम है सप्तदशी कला। यह नित्योदिता होती है—इसका कभी तिरोधान नहीं होता। यही अमृतकला है। भवभूति ने इसी अमृता कला की उपलब्धि के लिए प्रार्थना की है—

विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।

(उत्तररामचरित)

इसीसे अन्तःकरणादि षोडश कलाओं का उदय होता है। उचित अनुष्ठानों की सिद्धि-द्वारा इसकी उपलब्धि साधना का चरम लक्ष्य है। कौल इसी शक्ति से तादात्म्य लाभ करने के लिए नाना प्रकार के अनुष्ठानों तथा प्रयोगों का उपचार करता है। अनुत्तर के साथ ऐक्यभावापन्ना यही अनुत्तरा शक्ति भगवती त्रिपुरा के नाम से अभिहित की गई है।

---

१. संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते, विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः।

—हेलाराज; वाक्यपदीय ३, द्रव्य समुद्देश ११।

त्रिपुरा-सिद्धान्त

त्रिक-दर्शन तथा शाक्त-दर्शन दार्शनिक दृष्टि में समभावेन पूर्ण अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। पूर्ववर्णित छत्तीस तत्त्व दोनों को माननीय हैं। इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है, जो विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से पृथक् है। अतः वह एक साथ विश्वात्मक भी है तथा विश्वोत्तीर्ण भी है। सदाशिव से लेकर क्षितिपर्यन्त चौंतीस तत्त्व 'विश्व' कहलाता है। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तमुँख तथा बहिर्मुँख दोनों भाव सनातन हैं। शिव-तत्त्व में शक्ति भाव गौण और शिव-भाव प्रधान है; शक्ति-तत्त्व में शिव-भाव गौण और शक्ति-भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है और न शक्ति की; प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। वही शिव शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग 'परमशिव' के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्त लोग उसे 'पराशक्ति' के नाम से अभिहित करते हैं[५४]।

शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं; प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के नाम से अभिहित हैं, वे ही त्रिपुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य रूप को त्रिपुरा मत में 'सुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' कहते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्स्वरूपा, समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्री ललिताम्बिका हैं। ये ही 'सर्ववेदान्ततात्पर्य-भूमि' हैं। इस प्रकार निरतिशय-सौंदर्य-मूर्ति को मातृरूप से कल्पना करना साधनाराज्य का एक निगूढ तत्त्व है। शंकराचार्य ने इसी ललितामूर्ति के सौन्दर्य का कवित्वमय चामत्कारिक वर्णन अपनी 'सौन्दर्य-लहरी' में किया है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिये सामूहिक रूप से इन्हें 'नित्या षोडशिका' कहते हैं। परन्तु पहली से पन्द्रह तक की कलाओं का उदय-अस्त होता रहता है, किन्तु षोडशी कला सर्वदा नित्य है। इसी का नाम 'अमृता' कला है। वैयाकरण लोग इसी को 'पश्यन्ती' वाणी कहते हैं। महाकवि भवभूति ने उत्तर-रामचरित की नान्दी में इसी वाग्देवतारूपिणी अमृताकला के लाभ के लिए प्रार्थना की है। यही षोडशी महात्रिपुरसुन्दरी

ललिता है, यही सौन्दर्य और आनन्द का परम धाम है। इसी ललिता की अद्वैतभावना से उपासना करना 'श्रीविद्या' के उपासकों का प्रधान लक्ष्य है। साधकों के निकट यह सुन्दरी ललिता सदा षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय वैष्णव मत में निखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के सन्तत कुमार अर्थात् षोडशवर्षीय होने का भी रहस्य यही है। 'ललिता' ही पुंरूप-धारण करने पर श्रीकृष्णरूप से प्रकट होती हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परमशिव, त्रिपुरामत की षोडशी तथा वैष्णव मत के श्रीकृष्ण—एक ही आनन्दनिकेतन सच्चिदानन्दविग्रह परतत्व के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। साधन-साम्राज्य का यही मञ्जुल सामञ्जस्य है।

साधना-जगत् में प्रवेश करने के लिये तन्त्रों के रहस्यों को जानना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु इस माया-लोकके ऊपर महामाया के साम्राज्य का तात्त्विक विवेचन तन्त्रों में किया गया है। वहाँ बैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों और जीवों की सत्ता है, जिसका रहस्य-ज्ञान साधन पन्थ के लिए एक उपादेय पाथेय है। तन्त्रों में शक्ति के जडत्व को दूर कर वास्तविक चित्स्वरूपता को प्रकट किया गया है। शाक्त तन्त्रों में पूर्ण अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोरम समन्वय उपस्थित करना साधना-जगत् के लिए एक विशिष्ट घटना है। तान्त्रिक साधना के अन्तिम फल का वर्णन कुलार्णवतन्त्र में सुन्दर शब्दों में दिया गया है—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

षोडश परिच्छेद

उपसंहार

१

भारतीय दर्शनों में समन्वय

भारतीय तत्त्वज्ञान के उदय और अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। दार्शनिक सम्प्रदायों के विवेचन प्रस्तुत करने में उनके विशिष्ट अंशों पर ध्यान देना स्वाभाविक है। अतः इस विवरण में प्रत्येक दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त पृथक् रूप से दिखलाये गये हैं जिनके अनुशीलन करने से पाठकों के हृदय में इनके पारस्परिक विरोध की बात अवश्यमेव उठती है, परन्तु यह विरोध आपाततः ही दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विरोध का परिहार दो प्रकार से किया जाता है। एक प्रकार से दृष्टिभेद के कारण यह भेद है। दूसरे प्रकार से इनमें क्रमशः सिद्धान्तगत विकास है। नैयायिक दृष्टिकोण से जितने तत्त्वों की सम्भावना हो सकती है, उतने तत्त्वों का परिनिष्ठित विवेचन न्याय-वैशेषिक में किया गया है। इस दशा में अधिक तत्त्वों को मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यदि कई खण्डवाले मकान के प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र हों, तो प्रथम खण्ड में रहनेवाले व्यक्ति न तो ऊपरवाले खण्ड की बात जान सकते हैं, न जानने की उन्हें जरूरत ही है। यही दशा न्याय-वैशेषिक की भी है। यह दार्शनिक मत विकासकी जिस सीढ़ी पर खड़ा है, वहाँ वह स्वयं पूर्ण है। उसका विवेचन नितान्त सत्य है। यही दशा सांख्ययोग तथा वेदान्त की है, जो अपनी दृष्टि में परिपूर्ण हैं। विरोध-परिहार का दूसरा प्रकार है इन दर्शनों में क्रमिक विकास मानना। भारतीय दर्शन सोपान-परम्परा के अनुरूप क्रमशः विकसित हुए हैं। अतः न्याय-वैशेषिक से अधिक विकास सांख्ययोग में है और सांख्ययोग से अधिक अद्वैत वेदान्त में। अद्वैत तत्त्व ही भारतीय तात्त्विक चिन्तनों का पर्यवसान प्रतीत होता है।

प्रथमतः शास्त्र के उद्देश्य पर ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य लोकसिद्ध अर्थ के व्युत्पादन में नहीं है, क्योंकि जो वस्तु सर्वजनों में प्रसिद्ध है,

उसे सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय युक्तियों की व्यूह-रचना करने से क्या लाभ ? लौकिक व्यवहारों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भेद लोकसिद्ध है। मैं-तुम, मेरा-तेरा आदि भेद को लेकर ही जगत् का समग्र व्यापार चलता है। अतः लोकसुलभ भेद का निराकरण कर अभेद का प्रतिपादन ही शास्त्र का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि शास्त्रों में लोकसिद्ध वस्तुओं या सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है तो वह अनुवादमात्र है, विधेय कथमपि नहीं है[१]। यदि अभेद का व्युत्पादन शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, तो भेद-प्रतिपादक न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों की संगति क्यों कर सिद्ध होगी ? इसके उत्तर में शास्त्र का स्पष्ट कथन है[२] कि अधिकारिभेद से शास्त्रों की भेदकल्पना है। वस्तुतः समस्त दर्शनों का लक्ष्य एक ही अद्वैत तत्त्व के विवेचन में है।

दर्शनों का विकास

षड्दर्शनों के सिद्धान्तों का विकास सोपानपरम्परा न्याय के अनुरूप है। एक सीढ़ीपर खड़ा कर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है, उससे कहीं अधिक भूभाग उसके आगे की सीढ़ियों पर चढ़ने में दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विकास की भी ठीक यही व्यवस्था है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि से जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्ययोग की दृष्टि में आते हैं और वेदान्त दृष्टि में उससे भी कहीं अधिक[३]। यही कारण है कि वेदान्त की पर्यालोचना करने से हम विश्वव्यापिनी एक अखण्ड सत्ता के अस्तित्व पर पहुँच जाते हैं। कार्य-कारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीय दर्शन में तीन प्रस्थानों को मुख्यतया पाते हैं[४]—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत कार्य की उत्पत्ति एक नवीन घटना है। आरम्भवाद न्याय-वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। परिणामवाद में कार्य और कारण में अन्तर नहीं होता, कार्य सदा कारण में व्यक्त रूप से या कार्य में कारण अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह दृष्टि सांख्य-योग की, अद्वैतवेदान्ती भर्तृप्रपञ्च की और वैष्णव दार्शनिकों की है। विवर्तवाद कारण की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करता है। कार्य सत् और असत् से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। यह दृष्टि शाङ्कर अद्वैत वेदान्तियों की है। इन तीनों दृष्टियों में क्रमिक विकास निश्चय रूप से दृष्टिगोचर होता है[५]।

सूक्ष्म तत्त्वों पर पहुँचने के लिए स्थूल पदार्थों का प्रथमतः अनुशीलन नितान्त नैसर्गिक है। अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म और कुशलबुद्धिगम्य है कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयंगम नहीं हो सकता। अतः स्थूल विषयग्राही मानवों के उपकारार्थ मुनियों ने न्यायादि शास्त्रों की रचना की है जिससे मनुष्य स्थूल से प्रारम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रमपूर्वक सुभीते के साथ कर सकें। आरम्भवाद का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक इस स्थूल जगत् के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है[६]। लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है, उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में किया जाता है। सांख्ययोग की पदार्थ-कल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है, क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा भी साक्षात्कृत पदार्थ मान्य माने जाते हैं। अद्वैत वेदान्त की कल्पना सूक्ष्मतम है। एक उदाहरण के द्वारा इस क्रमिक विकास की सत्यता प्रदर्शित की जाती है। 'आत्मा' के विषय में दर्शनों के विवेचन में स्पष्ट पार्थक्य दीख पड़ता है, परन्तु इन विवेचनों में विरोध न होकर अविरोधिता ही विचार करने पर निश्चित-रूपेण प्रतीत होती है। चार्वाक शरीर से पृथक् आत्मा की स्थिति मानता ही नहीं है; बौद्धमत स्कन्धपञ्चकरूप आत्मा को शरीर से भिन्न मानकर भी उसे 'क्षणिक' बतलाता है; न्याय-वैशेषिक का प्रधान उद्देश्य इन मतों का युक्तियों के सहारे खण्डन कर आत्मा को देह, प्राण, मन और इन्द्रियों से भिन्न तथा नित्य सिद्ध करना है। अतः न्याय आत्मा के 'सत्' रूप को युक्तिबल पर निःसंशय सिद्ध करता है। वह अवश्यमेव आत्मा को जड और मनःसंयोग उत्पन्न होने पर चैतन्यगुणविशिष्ट मानता है, परन्तु यह गुणाश्रयिता लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद-मात्र है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के कथनानुसार आत्मा में व्यापक-अव्यापक किसी भी रूप से गुणों की सत्ता युक्तिबल पर सिद्ध नहीं की जा सकती। इस अंश के अग्राह्य होने पर भी न्यायसम्मत आत्मनित्यता भारतीय दार्शनिकों को अभीष्ट है। विज्ञानभिक्षु ने न्याय-वैशेषिक को इसीलिए दर्शन की 'प्रथम भूमिका' माना है[७]।

सांख्ययोग की दृष्टि में आत्मा गुणों का अधिष्ठान कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। गुणों की गुणी में स्थिति दो प्रकार से होती है—कतिपय गुण स्वाश्रय द्रव्य-व्यापी होते हैं, जैसे घट में रूप, स्पर्श आदि घट के प्रत्येक अंश को व्याप्त कर विद्यमान रहते हैं। कोई-कोई गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी नहीं होते, जैसे संयोग। दो वस्तुओं का संयोग एक अंशविशेष को लेकर ही सिद्ध होता है, परन्तु आत्मा में ज्ञान चैतन्यादि गुणों की उभयथा स्थिति दोषयुक्त है। अतः

सांख्य-योग आत्मा को निर्लेप, असङ्ग, निर्गुण तथा चैतन्यरूप मानता है। जिस प्रकार न्याय ने आत्मा को 'सत्' सिद्ध किया है, उसी प्रकार सांख्य-योग उसे 'चित्' सिद्ध करता है। परन्तु सांख्य मत के अनुसार आनन्द पुरुष में विद्यमान नहीं रहता; गुणत्रयात्मिका प्रकृति की विकाररूपा बुद्धि में ही सुख-दुःखादियों की कल्पना वास्तव है। पुरुष बुद्धि के सम्पर्क में आने से सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः वह निरानन्द है। सांख्य सूत्र में पुरुष अवश्यमेव नाना माना गया है, परन्तु यह लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद-मात्र है। सांख्य का वास्तव प्रयोजन तो व्यावहारिक आत्मा (जीव) का अनात्मा से विवेक होने पर मोक्ष प्रतिपादन है। अतः विवेक ज्ञान के प्रधान लक्ष्य होने से सांख्य अप्रमाण नहीं है[७]। इसके आगे वेदान्त की दृष्टि आरम्भ होती है। वेदान्त-दृष्टि में जो पदार्थ चैतन्य-रूप है, वही आनन्द-रूप भी है। अतः आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध करने में वेदान्त की सबसे अधिक महनीयता है। पूर्व दृष्टियों के द्वारा सिद्ध तत्त्वों का समन्वय देकर वेदान्त प्रतिपादित करता है कि आत्मा 'सत्, चित्' आनन्द' रूप है। इस प्रकार आत्मा की सच्चिदानन्द-रूपता की कल्पना में तीनों दृष्टियों का विकाश-क्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन न्यायाचार्य की उक्ति है[८] कि प्रमाण की मीमांसा करने वाले न्याय का काम तो वैदिक धर्म तथा तत्त्व-ज्ञान को कुतार्किकों के कुत्सित तर्कों तथा अनुचित युक्तियों से बचाने मात्र में है। इस प्रकार न्याय वेदवाटिका का कण्टकमय आवरण है, तत्त्व तो बादरायण से ही प्राप्य है। 'आत्मतत्त्वविवेक' के अन्त में उदयनाचार्य ने विभिन्न दर्शनों की अविरोधिता दिखाई है। वह उनकी समन्वयदृष्टि का पर्याप्त सूचक है। स्थूल जगत् के दृश्यमान वस्तुओं से आरम्भ कर अद्वैत तत्त्व तक पहुँचना भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। इस दीर्घ मार्ग में अनेक कोटियाँ हैं, जिनको पार करना आवश्यक है। पहली कोटि में बाह्य अर्थों की स्फुटतया पृथग्रूपेण प्रतीति होती है। इस स्थिति में चार्वाक दर्शन का समुत्थान है और कर्ममीमांसा का उपसंहार। दूसरी कोटि आत्मा के अर्थाकार प्रतिभासित होने में है, जिसमें योगाचार का समुत्थान है और त्रिदण्डी वैष्णव मत (रामानुज) का उपसंहार है। तृतीय कोटि में स्वरूपतः और आकारतः अर्थ का अभाव प्रतिभासित होता है। इस दशा में शून्यवाद का समुत्थान और वेदान्त का द्वारमात्र उपसंहार है। इसके आगे आत्मा तथा

अनात्मा के परस्पर पार्थक्य ज्ञान से 'विवेक' उदय होता है। जिसमें शक्ति-सत्त्व का समुत्थान तथा सांख्य मत का उपसंहार है। इस अवस्था में त्रिगुणमयी प्रकृति की सत्ता पुरुष से पृथक् और स्वतन्त्र माननी ही पड़ती है, परन्तु यह भी कोटि हेय है, क्योंकि जड़ प्रकृति भी स्वप्रवृत्ति के लिए चेतन रूप आत्मा के अधिष्ठान की नित्य-कांक्षिणी है। इससे आगे केवल आत्मा की एकमात्र स्फूर्ति होती है। यही अद्वैत वेदान्त की स्थिति है। यही वेदान्त की अद्वैतावस्था है जिसका वर्णन बृहदारण्यक (४।४२) में 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' इत्यादि मन्त्र में बड़े सुन्दररूप से किया गया है, परन्तु यह भी अवस्था हेय है, क्योंकि मूलतत्त्व न तो द्वैत है, न अद्वैत। द्वैताद्वैत की कल्पना भी विकल्प-सापेक्ष है। परमार्थ इन दोनों कोटियों से पृथक् और द्वैताद्वैत से वर्जित है[९]।

यही निर्विकल्पावस्था चरम वेदान्त का उपसंहार है। इस दशा में सर्वविकल्पशून्य अवाङ्मनसगोचर आत्मा ही ब्रह्मरूप है। आत्मा की यही परम अवस्था है। यह कथमपि हेय नहीं है। निर्वाण इस दशा में स्वतः सिद्ध है[१०]। उदयनाचार्य का स्पष्ट कथन है—अन्य मार्ग केवल अपद्वार हैं, परन्तु वेदान्तमार्ग मोक्षनगर का गोपुर है—पुरद्वार है, जिसमें प्रवेश कर साधक सुगमतया मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस दशा में सब दर्शनों का एकान्त समन्वय समुपस्थित है। भारतीय दर्शनों का यही परम लक्ष्य है।

जैन तथा बौद्ध तत्त्व-ज्ञान भी भारतीय आध्यात्मिकता के मानसरोवररूप उपनिषदों से ही प्रवाहित होते हैं। श्रुति के तिरस्कार करने से ब्राह्मण दार्शनिकों को इनके सिद्धान्तों में आस्था नहीं है, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैन धर्म की कर्तव्यमीमांसा बड़ी सुन्दर है और बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा बड़ी सूक्ष्म कोटि की है। हम उस दार्शनिक की समन्वय बुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते जिसके उदात्त विचार में बौद्ध तथा जैन, वैदिक तथा तान्त्रिक, समस्त दार्शनिक चिन्तनों का मंजुल सामञ्जस्य इस श्लोक में प्रदर्शित किया गया है।—

> श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
> वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

बुद्ध के धर्म का श्रवण करना चाहिए, जैन धर्म को करना चाहिए, वैदिक धर्म को व्यवहार में लाना चाहिए तथा परमशिव का ध्यान करना चाहिए, क्योंकि वह अद्वैत-रूप अन्तिम सत्ता के रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है।

२

भारतीय दर्शन का भविष्य

भारत में दर्शन तथा धर्म का परस्पर सहयोग जितनी सुन्दर रीति से सम्पन्न किया गया है वस्तुतः वह नितान्त श्लाघनीय है। भारतीय दर्शन केवल तत्त्ववेत्ता पुरुषों की कल्पना का विजृम्भणमात्र होकर पठित समाज में ही आदर और श्रद्धा का भाजन नहीं है; प्रत्युत जनसाधारण के लिए भी वह उसी प्रकार उपादेय और ग्रहणीय है। तत्त्वशास्त्र के द्वारा उद्भावित तत्त्व मनोविनोद के साधनमात्र नहीं हैं, बल्कि प्रतिदिन धार्मिक व्यवहार के निष्पादक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, वे भारतीय तत्त्वज्ञान को अविदित नहीं है, प्रत्युत भारत के दार्शनिकों ने उन सिद्धान्तों का क्रमबद्ध तथा सुसंगत रूप अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान अपनी व्यावहारिकता, व्यापकता तथा विविधरूपता के लिए नितान्त मननीय तथा माननीय है। इसका भविष्य इसके भूत के समान ही गौरवशाली प्रतीत होता है। पाश्चात्य जगत् को अपनी जिस वैज्ञानिक सभ्यता पर इतना अभिमान है उसका ध्वंस तो अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा है। वर्तमान प्रलयंकारी युद्ध पाश्चात्य सभ्यता को भूमिसात् बिना किये नहीं रहते। दो यूरोपीय युद्ध के अनन्तर जो भयङ्कर उच्छृङ्खलता फैल गई है, मानवसमाज को लील जानेवाला जो गाढ़ आध्यात्मिक अन्धकार उत्पन्न हो गया है उसका दूरीकरण भारतीय तत्त्व के प्रकाशमान किरणों से ही हो सकेगा, इतना कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है।

भारतीय महर्षियों ने बाह्य भिन्नता के भीतर विद्यमान आन्तर अभिन्नता को भलीभाँति पहचाना। जितना धार्मिक झगड़ा है, सामाजिक कलह है, वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है। यदि इनके भीतर विद्यमान समानता की ओर तनिक भी मनुष्यों का ध्यान जाय, तो न तो संसार में इतना वैमनस्य हो और न गृहकलह और रक्तपात हो। अनेकता के भीतर इसी एकत्व को खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है। बाहरी कपड़ों की भिन्नता होने से क्या प्रियतम का अभिराम रूप छिपाया जा सकता है? प्रियतम के पहचानने के लिए क्या प्रेमी जन को बाहरी वेषभूषा की आवश्यकता होती है? कपड़े लत्ते बाहरी चीज हैं, स्नेह भीतरी वस्तु है। बरतनों के रूपरंग भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार के हों, परन्तु उनमें रखा गया जल एक ही रूप का होता है। दीपक भिन्न-भिन्न धातुओं का

तथा भिन्न-भिन्न आकारों का भले ही बना हो, परन्तु उसकी प्रभा एक ही रूप की होती है। गायों के अनेक वर्ण की होने पर भी उनका दूध एक वर्ण का ही रहता है[१], इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों तथा धर्मों के आचारों के भिन्न प्रतीत होने पर भी उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय एकता को धारा बहती रहती है। इस रहस्य को भारत ने पहचाना। इस तत्त्व का उपदेश भारतीय महर्षियों ने दिया। तुमुल कलह तथा संग्राम से छिन्न-भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता, एक दूसरे के बाह्यरूप के भीतर आन्तरिक एकता के पहचानने का सुन्दर उपदेश भारतीय तत्त्वज्ञान ही दे सकता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट शब्दों में मानवों के विचार तथा हृदय के समान बनाये रखने का उपदेश दिया है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसी सिद्धान्त का निरूपण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रूत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

शास्त्र के अभ्यास करने वाले विद्वान् लोग अपनी बुद्धियों के द्वारा समीक्षा कर जिस तत्त्व का वर्णन करते हैं, वह सब तत्त्व भगवान् ही स्वयं है। भगवान् को छोड़कर इस जगत् में और कुछ भी नहीं है। विद्वानों का झगड़ा केवल संज्ञा के विषय में है, नामों को ही लेकर विद्वानों में विवाद है; तत्व तो वस्तुतः एक ही है। दार्शनिक इसी एक तत्त्व को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। विवाद नामों का ही है, तत्त्व का नहीं। इस प्रकार महनीय सामरस्य स्थापित किया जा सकता है।

भगवान् करे उस दिन मंगल प्रभात शीघ्र हों जब मानव परस्पर कलह भुलाकर मानवता का मूल्य समझें और शान्ति का पाठ सीखकर अपने जीवन को तथा दूसरे के जीवन को आनन्दमय बनावें :—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

परिशिष्ट खण्ड

(१)

टिप्पणियाँ

[इस परिशिष्ट की टिप्पणियाँ दो प्रकारकी हैं—

१. एक तो मूल संस्कृत ग्रन्थों से उद्धरण देती है जिससे ग्रन्थस्थ विषय पुष्ट किया जाता है।

२. दूसरी टिप्पणियाँ नवीन विषयों का विवरण देती हैं जो ग्रन्थ में दिये गये विवरण को आगे बढ़ाता है तथा उससे सम्बद्ध नये तथ्यों का भी प्रतिपादन करता है। यह टिप्पणी-खण्ड भारतीय दर्शन के प्रौढ़ जिज्ञासुओं के निमित्त है जो अपने ज्ञान में प्रौढ़ि लाना चाहते हैं तथा उसे व्यापक बनाने में आग्रह रखते हैं।]

प्रथम परिच्छेद

उपोद्घात

पृष्ठ १२

भारतीय दर्शन की व्यापक दृष्टि

सदा सत्यान्वेषण के प्रति नितान्त श्रद्धालुता इस विशाल हृदयता की कुञ्जी है। भारतीय दार्शनिकों में पारस्परिक दृष्टिकोण में कितना भी अन्तर हो, पर वे प्रतिपक्षी के मत का समुचित उत्तर दिये बिना स्वमत के स्थापन में उद्यत नहीं होते। सामान्य रीति से प्रतिपक्षी के मत का प्रतिपादन पहले किया जाता है— इसे कहते हैं पूर्वपक्ष। अनन्तर प्रबल युक्तियों का प्रयोग कर उसका निराकरण करने खण्डन का प्रयत्न किया जाता है—इसके बाद इन युक्तियों के आधार पर अपने मत का प्रमाणपुरःसर उपपादन किया जाता है, जिसे कहते हैं उत्तर-पक्ष (पिछला मत) अथवा सिद्धान्त। प्रतिपक्षी के प्रति इस श्रद्धालुभाव के कारण भारतीय दर्शन के भिन्न सम्प्रदायों में चमत्कारिणी सर्वाङ्गीणता का दर्शन हमें होता है। वेदान्त के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ को ले लीजिए। उसमें अन्य मतों—बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्यादि के—सिद्धान्तों की चर्चा पूर्वपक्षत्वेन अवश्य की गई उपलब्ध होगी। किसी उच्चकोटि के जैन या बौद्ध ग्रन्थ में भी इसी प्रकार ब्राह्मणमतों की समीक्षा तत्तद् दृष्टिकोण से अवश्य की गई होगी। पाश्चात्य दर्शनों में विवेचित सिद्धान्तों का भी विवेचन भारतीय दर्शन में कहीं न कहीं अवश्य किया गया मिलता है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि को हम एक दूसरे प्रकार से प्रमाणित करना चाहते हैं। 'सत्' की व्याख्या करने में यहाँ के दार्शनिकों ने अनुभवगम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अनुभव के कर्ता विषयी की

ओर। तर्क-बुद्धि का अनुसरण कर आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था। इस प्रकार "आत्मनं विद्धि"—आत्मा को जानो—भारतीय दर्शनों का मूलमन्त्र रहा है। किन्तु तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष ही न होकर अपरोक्ष होना चाहिए। इसके लिए

अनुभव की पूर्ण व्याख्या

भारतीय मनोविज्ञान ने मानस प्रक्रिया का यथार्थ निरूपण किया है। जिस प्रकार इस दृश्यमान विविधता के अंतस्तल में विद्यमान एकता के परखने की शिक्षा देनेवाला वेदान्त सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है, उसी प्रकार विभिन्न मानस वृत्तियों का सर्वाङ्गीण निरूपण कर योग तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। भारतीय दर्शन की आलोचना करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं—पहला है नानात्मक प्रपञ्च की पारमार्थिक एकता, यह है तार्किक सिद्धान्त = वेदान्त; दूसरा है ध्यान-धारण समाधि द्वारा इस अनुस्यूत एकता के मूलतत्त्व आत्मा का साक्षात् अनुभव। यह व्यावहारिक सिद्धान्त (योग) है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में भी इन सिद्धान्तों की मान्यता आंशिक रूपेण या पूर्णरूपेण स्वीकृत की गई है। मनोवैज्ञानिक आधार के ऊपर ही तत्त्वज्ञान का विशाल दुर्ग खड़ा किया जाता है। मनोविज्ञान- बतलाता है कि अवस्थायें तीन होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तथा इन्हीं का आश्रय लेने से चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है। पाश्चात्य दर्शन जाग्रत अवस्था को ही समझाने में व्यस्त है। जाग्रत दशा की व्याख्या रहने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लूरलीजम) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्नदशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन की जननी है और सुषुप्ति का मार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिज़म) का जनक होता है। पाश्चात्य दर्शन इस त्रिविध अनुभव के एक अंशमात्र की व्याख्या करने में संलग्न है, परन्तु भारतीय दर्शन ही इस अनुभव के प्रत्येक अंश को ग्रहण कर उसका यथार्थ निरूपण करने में समर्थ हुआ है। अतः इसकी व्यापकता, विविधरूपता, समन्वय-क्षमता तथा उदारहृदयता सर्वतोभावेन प्रमाण-प्रतिपन्न है। यह विशेषता अन्य संकीर्ण सिद्धान्तवाले दर्शनों से इसका पार्थक्य दिखलाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्राचीनता तथा स्वतन्त्रता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता को देखकर भारतीय सभ्यता तथा धर्म का अभिमानी कौन ऐसा पुरुष होगा जिसका हृदय आनन्द से गद्गद न हो जायेगा, जिसका मस्तक अभिमान से उन्नत न हो जायेगा और जिसकी वाणी प्रशंसा से मुखरित न हो जायेगी ?

पृष्ठ १५

भारतीय दर्शन पर मिथ्या आरोप

हमारे देश की वर्तमान अवनत दशा पर चार आँसू बहाने वाले आलोचकों का सर्वमान्य निश्चय हो गया है कि भारतीय दर्शन के सार्वत्रिक प्रचार तथा लोकप्रिय होने के कारण ही भारत में अकर्मण्यता का राज्य छाया हुआ है; भारत के अधिवासी मधुमय स्वप्नों में ही इतने व्यस्त हैं कि ठोस जाग्रत जगत् की वस्तुओं तथा जीवित घटनाओं के प्रति नितान्त उदासीन बने रहते हैं और भारत की विद्यमान हीनावस्था इसी विचार-परम्पराजन्य अकर्मण्यता का उज्ज्वल परिणाम है। भारतीय दर्शन के ऊपर नैराश्यवाद (पेसिमिज्म) के प्रचारक होने का लांछन लगाया जाता है, परन्तु दर्शन की तात्त्विक समीक्षा करने पर यह आरोप क्षणमात्र के लिए भी टिक नहीं सकता। वर्तमान से असन्तोष हुए बिना मनोरम भविष्य की कल्पना ही मानव-हृदय में कभी जाग्रत नहीं हो सकती। यदि वर्तमान से असन्तुष्ट होने से भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का मिथ्यारोप लगाया जाता है, तो दर्शनमात्र निराशावादी सिद्ध होने लगेगा। जीव भवसागर के क्लेशों से बचने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचता है। इस दुःखत्रय के विघात के कारण उत्पन्न 'जिज्ञासा' भारतीय दर्शन की उद्गम भूमि है[1]। भारत का तत्त्वज्ञान इस दुःख-बहुल वर्तमान जगत् के वास्तविक स्वरूप के समझने तथा इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपण में अपनी सारी शक्तियों को खर्च कर देता है, जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होने लगता है, क्लेश का स्रोत आनन्द के प्रवाह में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे आदर्श को मानने वाले दर्शन को निराशावादी कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

नैराश्यवाद

अकर्मण्यता का दोषारोपण उसी प्रकार निःसार, भ्रान्त तथा अज्ञान-मूलक है। भारतीय-दर्शन कर्मवाद के सिद्धान्त को मानने वाला है। प्राणियों के जीवन पर उनके किये गये कर्मों का प्रभाव पड़ता है; शुभ कार्यों का फल शुभ-परिणाम का दायक होता है तथा अशुभ कर्मों का अन्त क्लेश तथा दुःख में होता है। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर दुःखद वर्तमान को सुखमय भविष्य में परिवर्तन करने

अकर्मण्यता

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ—सां० का० १।

की आशा रखनेवाला भारतीय तत्त्वज्ञान प्राणियों को अकर्मण्यता की कुशिक्षा क्योंकर देगा ? इसका कारण समझ में नहीं आता । शिक्षित समाज में भी यह धारणा बद्धमूल सी हो गई है कि मायावादी वेदान्त इस जगत् को मायिक तथा असत्य बतलाता है तथा इससे भाग खड़ा होने में ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझता है, परन्तु यह धारणा ठीक नहीं । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस श्लोकांश का अर्थ यही है कि ब्रह्म के साथ तुलना करने पर ही जगत् की सत्यता से विरोध प्रतीत होता है । अतः परमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानने पर भी व्यावहारिक दशा में उसकी सत्यता है । जिस जगत् में प्राणी जनमते हैं, प्रकृति के अनुसार भिन्न प्रकार के कर्मों को करते हैं और अन्त में मरते हैं, व्यवहार के लिए उस ठोस संसार की सत्यता को कौन दार्शनिक नहीं मानेगा ? मायावादी शङ्कराचार्य का जीवनचरित ही इस आरोप के निराकरण करने के लिए पर्याप्त साधन है । बत्तीस वर्ष के छोटे काल में इस परम मेधावी दार्शनिक-शिरोमणि ने वह कार्य कर दिखाया है जो उनसे चौगुनी आयुवाले विद्वानों की शक्ति के मान का नहीं है । सोलह वर्ष की उम्र में विचार-प्रधान अमर भाष्य-ग्रन्थों की रचना करना, उनकी सहायता से इस विशाल भारत के कोने कोने में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए मठों की स्थापना करना, धर्म को जाग्रत रखने के लिए निवृत्तिप्रधान संन्यासियों के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करना तथा वेदबाह्य बौद्धों को परास्त कर इस भूभाग से अनेकांश में निकाल बाहर कर देना—कोई हँसी खेल का काम नहीं था । इन्हें वही समुचित रीति से सम्पन्न कर सकता था जो नितान्त कर्मपरायण हो । अतः श्रीशङ्कराचार्य की यह अलौकिक कार्यकुशलता उनकी शिक्षा के ऊपर भाष्यरूप है ।

पृष्ठ १७

श्रुति और तर्क

भारतीय तत्त्वज्ञान अपने सिद्धान्तों को श्रुति की कसौटी पर कस कर ही उन्हें विशुद्ध, सत्य तथा प्रामाणिक मानता है । श्रुति के प्रति इस समधिक आदर-बुद्धि से आलोचक भारतीय दर्शन को अन्धविश्वासी, युक्तिहीन (डौग्मेटिक) बतला सकता है; पर यह कल्पना भी सारहीन है । तर्क का कोई अन्त नहीं है । वह स्वयं अप्रतिष्ठित है; तर्क से निश्चित सिद्धान्तों का खण्डन अन्य प्रबलतर तर्कों के द्वारा किया जा सकता है । अतः केवल तर्क के आश्रय पर किसी तथ्य का

निश्चय करना नितान्त भ्रमात्मक है[1]। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के ज्ञान चक्षु द्वारा देखे गये तथ्यों की राशि का ही दूसरा नाम श्रुति या वेद है[2]। वेद के सामने परम मेधावी शङ्कर और रामानुज जैसे विचारकों के भी मस्तक नत हो जाते हैं। अतः वेद का आश्रय लेना भारतीय तत्त्वज्ञान के अन्धविश्वास का सूचक नहीं है; अपितु ऋषियों के द्वारा अनुभूत अपरोक्ष ज्ञान का सहारा लेना है। इसीलिए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने आगम की प्रकृष्ट प्रशंसा की है। उनका कहना है[3] कि विभिन्न आगमदर्शनों की सहायता से प्रज्ञा विवेकको प्राप्त करती है। अपने ही तर्क के अनुसरण करने से किन तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है? पुराण तथा आगम की सहायता के बिना जिस किसी तत्त्व की उत्प्रेक्षा करनेवाले तथा वृद्धों के अनुपासक पुरुषों की विद्या कथमपि प्रसन्न नहीं हो सकती। यदि वेद के आश्रय लेने से तर्क में किसी प्रकार की रुकावट होती, तो उसे हम अमान्य बतलाते, परन्तु यहाँ तो बात दूसरी है। विशुद्ध तर्क-प्रणाली के सहारे निश्चित किये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए दार्शनिक लोग श्रुति का ही आश्रय लिया करते हैं। क्योंकि जैसे ऊपर दिखलाया गया है, श्रुति योगज अनुभव के द्वारा उद्भावित सिद्धान्तों की रमणीय राशि है। अतः श्रुति के ऊपर दार्शनिकों का यह पक्षपात उन्हें अन्धविश्वासी नहीं बना सकता।

भारतीय दर्शन पर प्रगतिशील न होने का आरोप भी उसी प्रकार भ्रान्त है। दार्शनिक विचारकों की मीमांसा के गहन विषय (जैसे आत्मा, जगत्,

---

१. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

(वाक्यपदीय १।३४)

२. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥
(सायणाचार्य—तैत्ति० भाष्यभूमिका)

३. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥
(वाक्यपदीय)

ईश्वर आदि) प्राचीन भले हों, परन्तु दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से उनके विवेचन करने में पर्याप्त मौलिकता दिखलाई है। ये परम-गहन विषय प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं, क्योंकि इनकी गहनता सदा इन्हें नवीन बनाये हुए हैं। टीकाकारों ने व्याख्या लिखते समय अपने स्वतन्त्र अथवा प्रगल्भ विचारों को प्रकट करने में अपनी निर्भीकता तथा विचारस्वतन्त्रता प्रकट की है। अतः भारतीय दर्शन नितान्त प्रगतिशील है। उसने जीवन के नवीन विषयों की विवेचना करने में कभी अक्षमता नहीं दिखाई है। अतः यह आरोप भी सिद्ध नहीं होता।

पृष्ठ २०

भारतीय दर्शनों का विकास।

वैदिक युग में द्विविध प्रवृत्तियाँ— प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक

सत्यान्वेषण के प्रति भारतीय विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। 'सत्' की उपलब्धि के विविध विभिन्न मार्गों को जिस सूक्ष्मता से तथा पुंखानुपुंखरूप से इन्होंने खोज निकाला है वह वास्तव में विचारशील पण्डित-मण्डली के आदर का विषय है। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा-मूलक या प्रज्ञामूलक (इनट्यूशनिस्टिक) है, जो प्रातिभ चक्षु के द्वारा तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है। दूसरी प्रवृत्ति तर्कमूलक (रैशनलिस्टिक) है, जो तत्त्वों की समीक्षा के लिए तर्क या तार्किक बुद्धि के प्रयोग को नितान्त समर्थ मानती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार। यदि ऋग्वेद के एक महर्षि प्रातिभ ज्ञान के बल पर जगत् के मूलतत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण करने में समर्थ होते हैं—आनीदवातं स्वधया तदेकम्—[1] (उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी, जीवित थी), तो दूसरे महर्षि की यह प्रोत्साहना तर्कमूलक प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाई जा सकती है—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्[2] (आपस में मिलो, किसी विषय का विवेचन

---

१. ऋग्वेद—१०।१२९।२।

२. ऋग्वेद—१०।१९१।२।

करो तथा एक दूसरे के मन को जानो)—इन्हीं उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव वैदिक युग में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना के लिए तर्क-मूलक प्रवृत्ति का उपयोग करने पर मीमांसा की उत्पत्ति हुई। वेद के यज्ञयागादिकों में आपाततः उपलभ्यमान विरोधों के परिहार के लिए तार्किक बुद्धि के उपयोग करने से मीमांसा के मूल रूप का आविर्भाव हुआ। प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद-तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध मानने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ ही साथ उपनिषत् काल में शुद्ध तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह होता था, जिससे प्रकृति-पुरुष के द्वैत को स्वीकृत करनेवाले सांख्य, व्यावहारिक योग, बहुत्ववादी वैशेषिक तथा न्याय की उत्पत्ति कालान्तर में हुई। कुछ दार्शनिकों ने वेद से सम्बन्ध-विच्छेद कर निरपेक्ष भाव से अपनी स्वतन्त्र तार्किक बुद्धि से तत्त्वों की समीक्षा की, जिसका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्-वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाक का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ है।

षड्दर्शनों का विकास-क्रम

उपनिषदों के अन्दर भारतीय तत्त्वज्ञान के विविध सम्प्रदायों की उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरम है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत्त्वमसि' मन्त्र में था। इस मन्त्र के द्वारा उपनिषद् के ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं (जीव) तथा तत् (ब्रह्म) पदार्थों में नितान्त एकता है, परन्तु उपनिषत्-पश्चात् युग की विषम समस्या थी कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय? कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले पुरुष तथा प्रकृति—जीव तथा भौतिक जगत्—के परस्पर गुणों के ठीक-ठीक न जानने (अनात्मख्याति) से ही यह संसार है और प्रकृति-पुरुष् के यथार्थ रूप को जान लेने पर तत्-त्वं की एकता सिद्ध होती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति = सांख्य; परन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चलता देख उसे व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करने वाले योग से हुई। इस प्रकार सांख्य-योग एक ही तत्त्वज्ञान के दो पक्ष हैं—बौद्धिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष की संज्ञा है योग। अनन्तर

जीव-जगत् के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों (विशेषों) की छानबीन करना नितान्त आवश्यक हुआ। इस आत्मा तथा अनात्मा के गुणविवेचन के लिए वैशेषिक की उत्पत्ति हुई; वस्तु के रूप का विवेचन ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय का जन्म हुआ, परन्तु न्याय के शुद्ध तर्क पर अवलम्बित होने से यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। 'वेद को लौट जाओ"—इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के कर्मकाण्ड की विवेचना करना आरम्भ कर कर दिया और इस विवेचना का फल हुआ मीमांसा का उद्गम परन्तु मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ केवल कर्म की उपासना से तृप्त नहीं हो सकीं। अतः अगत्या ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी, जिसका पर्यवसान 'वेदान्त' में हुआ। इस प्रकार औपनिषद् 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए ही पूर्वोक्त क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई।

बौद्धदर्शन का उदय

अब जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए। इन्हें औपनिषद परम्परा से बहिर्भूत मानना नितान्त अनुचित है; ये उस परम्परा तथा विचारधारा को रोकने वाले स्वतन्त्र दर्शन या धर्म न थे प्रत्युत परिस्थिति तथा परिवर्तन के वश उस परम्परा में उत्पन्न होनेवाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करनेवाले सुधारक सम्प्रदाय थे। उपनिषत्-पश्चात् युग की समस्या—ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया जाय? के उत्तर में गौतम बुद्ध का कहना था—इस विषम संसार के आवागमन की जननी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थपरायणता एवं जनन-मरण के प्रधान कारण भूत आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने तथा सुन्दर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने से। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती—यह सिद्धान्त बुद्ध को भी मान्य था; पर आचार की सहायता से शरीर की शुद्धि किये बिना मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नहीं होता। अतः बुद्ध ने आचार-मार्ग पर ही विशेष जोर दिया है और जगत् के मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान को समय का दुरुपयोग बतलाया है।

जैन धर्म के आचार्य तीर्थङ्करों के सामने भी वही आचार-विषयक व्यावहारिक समस्या थी, जिसके सुलझाने के लिए उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान का अन्वेषण कर

निकाला। जैनदर्शन सत्य की सापेक्षता का पक्षपाती है। उसका निश्चय है कि सत्य की खोज में लगनेवाले समग्र दर्शन 'आंशिक सत्य' की ही प्राप्ति में कृतकार्य हुए हैं; अतः वे 'विकलादेश' हैं, केवल जैन दर्शन नय (वस्तु का एक दृष्टिकोण) तथा स्याद्वाद (वस्तु किञ्चित है या नहीं है, या अव्यक्त है—आदि सिद्धान्त) के पक्षपाती होने से सत्य के समस्त स्वरूप का विवेचक है। अतः वह 'सकलादेश' है। इस प्रकार वस्तु-तत्त्व के नानात्मक होने से इस सिद्धान्त को 'अनेकान्तवाद' के नाम से पुकारते हैं। इस अनेकान्तवाद के ऊपर जैनधर्म का समस्त आचार मार्ग अवलम्बित है।

जैनदर्शन की उत्पत्ति

इस प्रकार श्रुति से विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ऊपर निर्दिष्ट विकासक्रम ऐतिहासिक न होकर तार्किक है। उपनिषदों से किन शताब्दियों में भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास सम्पन्न हुआ, इसे हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते। हम इतना ही कह सकते हैं कि इन सम्प्रदायों का विकास समानान्तर रूप से होता रहा। उपनिषदों के पश्चात् इन सिद्धान्तों का ऊहापोह विशेष मात्रा में होता रहा। अनन्तर इन्हें सूत्र रूप में एकत्र करके प्रत्येक दर्शन के मूलभूत ग्रन्थ की रचना की गई। इन सूत्रों में अपने मत के वर्णन के साथ-साथ परमत का खण्डन भी सूक्ष्म रीति से किया गया मिलता है। न्यायसूत्रों की रचना महर्षि गौतम ने की, वैशेषिकसूत्रों की कणाद ने, सांख्य-सूत्रों की कपिल ने, योग-सूत्रों की पतञ्जलि ने, कर्ममीमांसा-सूत्रों की जैमिनि ने। तथा वेदान्त सूत्रों का निर्माण किया बादरायण व्यास ने। ये महर्षिगण तत्तत् दर्शनों के सिद्धान्तों के केवल सूत्रकार हैं, मूल प्रवर्तक नहीं। इन दर्शन-सूत्रों की रचना के बहुत पहिले ही इन दर्शनों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हो चुकी थी। सूत्र अत्यन्त सूक्ष्मरूप में लिखे गये हैं। आरम्भ में मौखिक व्याख्या की सहायता से ये बोधगम्य होते थे। बिना व्याख्या के सहारे इनका समझना नितान्त कठिन है। अतः कालान्तर में इनके ऊपर व्याख्यान-ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिन्हें 'भाष्य' कहते हैं। भाष्य के ऊपर 'वार्त्तिक' तथा व्याख्या-ग्रन्थों की परम्परा मूल सूत्रों को सुबोध बनाने तथा विपक्षियों के द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण के उद्देश्य से लिखी गई है। इस प्रकार दार्शनिक साहित्य की महती श्रीवृद्धि सम्पन्न हुई है।

दार्शनिक साहित्य का विकास

कभी कभी एक ही सूत्र-ग्रन्थ पर आपस में विरोधी भाष्य-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, जिससे मूल सूत्रों का तात्पर्य समझना नितान्त कठिन कार्य हो

जाता है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर ऐसे ही परस्पर विरोधी भाष्य-ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनमें शाङ्करभाष्य अद्वैत का, रामानुजभाष्य विशिष्टाद्वैत का, मध्वभाष्य द्वैत का, निम्बार्कभाष्य द्वैताद्वैत का तथा वल्लभभाष्य शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक है। इन विभिन्न भाष्यों पर भी कालान्तर में सिद्धान्तानुकूल वृत्ति-ग्रन्थों की रचना होती रही है, जिसके कारण वेदान्त दर्शन का साहित्य भारतीय-दर्शन-साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा, विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त के अनन्तर ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय का नम्बर आता है।

———

द्वितीय परिच्छेद

श्रौत दर्शन

पृष्ठ ३२

टिप्पणी १—वैदिक देवता

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बनाने वाला अग्नि-पुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल रजत-रश्मियों को बिखेर कर जगन्मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगवाने वाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय को उत्पन्न नहीं करते? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजली की चमक तथा कर्ण-कुहरों को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्यमात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते। वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमता से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीडा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृत घटनाएँ उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उत्पत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में अनेक देवताओं की सत्ता मानी जाती थी, जिसे विद्वान् पोलीथीज़म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ, तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता-विशेष की कल्पना की।

इसी का नाम है—मोनोथीज़म (एकेश्वरवाद)। अतः बहुदेववाद के बहुत पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीजम) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है, जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी (ऋग्वेद) के मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवता-तत्त्व की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है, देवतातत्त्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी, जितनी वे लोग बतलाते हैं।

यास्क ने निरुक्त के दैवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्व-

देवता तत्त्व

शालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' कहलाती है। वह एक और अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है[1]।

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्ति के कथन का अनुमोदन करती है,[2] परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं। ऋग्वेद के ही अध्ययन से देवतातत्त्व का रहस्य हम भली भाँति समझ सकते हैं।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता, एक ही नियन्ता, एक ही देवता विद्यमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने स्पष्ट शब्दों में

---

१. महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ (७।५।८, ९)

२. बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१—६५।

प्रतिपादित किया है[1]—'एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसी की यजुर्वेदी लोग 'याज्ञिक अग्नि' के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग भी 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना किया करते हैं।' शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मन्त्र का उल्लेख किया है।

ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है। देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[2]। 'असुर' का अर्थ है—असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमान हैं। वे आवस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः, विश्वतस्परि कहे गये हैं (५।४७।२)। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थिर रहते हैं। उनके लिए सत्य, ध्रुव, नित्य प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५ वाँ सूक्त) में देवताओं का 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानामसुरत्वमेकम् = देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति का विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं; प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। 'जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है[3]।'

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है—सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

---

१. एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः—(ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२)।

२. तद्देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः—(४।५३।३१)।
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः—(५।८३६)।
महद् विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नाम—(३।३८।४)।

३. ऋग्वेद ३।५५।५।

ऋत

सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ[1]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है ? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम आदि भी ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत-रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८)। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[2] (ऋ० वे० १।१०५।१२)। सकल देवताओं के भीतर, सकल कार्यों अन्तर के यही ऋत या कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो दृश्य रूप और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ रूप। उनका जो रूप नेत्रों के सामने

देवताओं के द्विविध रूप—स्थूल तथा सूक्ष्म

आता है, वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, वह है उनका गूढ रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक-रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिये। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है[3], परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परमपद' है, जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृतपान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है।[4] उस परमपद को ज्ञान-

---

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋ० वे० १०।१९०।१)।
२. ऋतमर्पन्ति सिन्धवः।
३. ऋ० वे० १।१५४।१
४. ऋ० वे० १।१५४।५ ।

सम्पन्न जागरणशील विप्र लोग—विद्वज्जन—ही जानते हैं ।[1] विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है । इसलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है (स हि बन्धुरित्था) ।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है । ऋषि अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत्तर (उत् + तर) उत्तम, (उत् + तम) जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर हैं । सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है, जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है । देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है । अतः ये तीनों शब्द क्रमशः सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत रूप अवस्था के द्योतक हैं । अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है[2] । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मन्त्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है ? आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परम-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है ।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है । ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि । तिरोहित शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है । अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त तथा पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है । 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् (अभिव्यक्त, पार्थिव) अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[3] ।

---

१. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ ऋ० वे० २।२२।२१ ।

२. उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥—ऋ० वे० १।२०।१० ।

३. देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिए देखिये कोकिलेश्वर शास्त्री रचित अद्वैतवाद (बंगला) पञ्चम अध्याय ।

पृष्ठ ३६

टि० २—'ग्रात्मन्' की व्युत्पत्ति

'ग्रात्मन्' की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय मिलता है। अनेक कारणों से यह नामकरण किया गया है। शङ्कराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति), समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते), स्थितिकाल में वह विषयों को खाता है, अर्थात् अनुभव करता है (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भावः)। इन्हीं कारणों से आत्मा का 'आत्मत्व' है[1]। कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए अधिष्ठान की सत्ता अवश्य मानी जाती है। कल्पित सर्प की सत्ता के लिए तदधिष्ठानभूत रज्जु की सत्ता निरन्तर रहती है। उसी प्रकार कल्पित जगत् की सत्ता मानने के लिए आत्मा का निरन्तर, सन्तत भाव (नित्यता) स्वीकृत किया गया है। आत्मा की सत्ता के कारण प्राणीमात्र जीवन धारण करता है। 'कोई भी मर्त्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से जीवित रहता है; प्रत्युत यह उस तत्त्व के सहारे जीवित रहता है जिसमें ये दोनों प्राण तथा अपान आश्रित रहते हैं'। और वह तत्त्व कौन है ? आत्मा (कठ उप० २। २,५)।

शुद्ध ग्रात्मा की चैतन्य-स्वरूपता

ग्रात्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये हैं। तीन निम्न कोटि के चैतन्यों में आत्मा का निवास नहीं रहता, परन्तु सबसे उच्च कोटि के चैतन्य में ग्रात्मरूप की तात्त्विक उपलब्धि होती है। शरीर-चैतन्य, स्वप्न-चैतन्य तथा सुषुप्ति-चैतन्य

---

१. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।

(कठ० उप०; २।१ १ शांकरभाष्य)।

द्रष्टव्य विद्यारण्य ऐतरेयदीपिका, पृ० ६६-६४।

से सर्वथा पृथक् होकर आत्मचैतन्य अपने शुद्ध अमिश्रित रूप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में (८।७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित की गई है। देवता तथा असुरों ने आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर सिखलाया कि आँख में, जल में तथा आदर्श में जो पुरुष दीख पड़ता है वही आत्मा है। विरोचन को इस शिक्षा से संतोष हो गया, परन्तु इन्द्र के मन में शङ्का का उदय हुआ कि सुन्दर अलंकारों से शरीर को भूषित करने पर आत्मा भूषित प्रतीत होता है, किन्तु क्या शरीर ही आत्मा है ? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य है, तो शरीर में अन्धत्व, काणत्व आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों को मानना पड़ेगा। इस शङ्का का निरास करने के लिए प्रजापति ने स्वप्न-चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु दोष का निरास न हो सका; क्योंकि स्वप्न में हम दुःख का अनुभव करते हैं, आँखों से अश्रुधारा बहाते हैं. परन्तु आनन्द-रूप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकृत किया जा सकता है ? इन्द्र के पुनः आने पर प्रजापति ने सुषुप्ति-काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु विचार करने पर इन्द्र के मन में शङ्का का पुनः उदय हुआ—सुषुप्ति-काल में न तो अपनी सत्ता का ज्ञान रहता है और न बाह्य वस्तुओं का। उस समय तो जीव काठ के कुन्दे की तरह चैतन्यहीन प्रतीत होता है। इतनी शङ्का करने पर अन्त में प्रजापति ने वास्तविक तत्त्व को समझाया कि इन तीनों चैतन्यों से पृथग्-भूत जो उपाधिविरहित शुद्ध चैतन्य है, आत्मा तद्रूप ही है। आत्मा स्वचैतन्यरूप है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने इनमें से भिन्न-भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परन्तु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्यरूप है।

पृ० ४२

टि०३—ब्रह्म के द्विविध लक्षण

स्वरूप-लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है (सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म—तैत्ति० उप०) तथा वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—बृह० उप० ३।९।२८। उपनिषदों में ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है—ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति।

स्वरूप लक्षण

सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण छान्दोग्य-उपनिषद् में केवल एक शब्द में किया गया है। वह शब्द है—तज्जलान्[1]। तज्ज, तल्ल तथा तदन्—इन तीन शब्दों का संक्षेप इस शब्द से किया गया। यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) तथा उसी के कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है (तदन्)। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है[2]। ब्रह्मसूत्र के "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) सूत्र में ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण उपस्थित किया है। वह सबका अधिपति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है, वह सबका कारण है, उसी से सब जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं' (माण्डूक्य उप०)। सगुण ब्रह्म इस संसार के शासक हैं, वे इस जगत् के समस्त निवासियों के भाग्य के विधाता हैं। शुभ कार्य करनेवाले जीवों का वह कल्याण साधन करते हैं और भुक्ति या मुक्ति का विधान करते हैं, परन्तु अशुभ-कर्म वाले जीवों को वे सर्वथा दण्ड देते हैं। ये ही ईश्वर, विराट् या हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं। इस विश्व के समस्त प्राणी उन्हीं के शरीर हैं—सब पैरों से वह चलते हैं, सब हाथों से काम करते हैं, सब आँखों से देखते हैं और सब कानों से सुनते हैं। ब्रह्म अखण्ड शक्तियों के ऊपर शासन करता है। उसी की शक्ति से देवताओं में शक्ति का संचार होता है। केनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में उमा हैमवती का रोचक आख्यान वर्णित है, जिसका तात्पर्य यही है कि न तो अग्नि में स्वतः दाहिका शक्ति है और न वायु में तृण को भी उड़ा देने का स्वतः सामर्थ्य है। यदि ये प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रबल सामर्थ्य के ऊपर गर्व करें, तो यह नितान्त अनुचित है। ब्रह्म की शक्तिमत्ता के बल पर ही जगत् के पदार्थों में शक्ति का परिचय मिलता है। नम्रता ब्रह्मज्ञान की सहायिका है और अभिमान उस ज्ञान का नितान्त बाधक है। इन्द्र के नम्रता प्रदर्शित करने पर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्म का परिचय देने के लिये आविर्भूत हुई, जिसकी कृपा से इन्द्र देवताओं के अधिपति हुए।

तटस्थ लक्षण

---

१. तज्जलानिति शान्त उपासीत (छा० उप० ३।१४।१)।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति० उप० ।३।१)।

पृ० ४६

टि० ४—द्विविध यान

इस ब्रह्माण्ड के भीतर अनेक लोक हैं, जिनमें सबसे उच्च लोक ब्रह्मलोक कहलाता है। उपनिषदों ने (छा० उप० ४।१५; बृह० ६।२, कौषी० १।२, ३) बड़े विस्तार के साथ मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी के विभिन्न मार्गों का वर्णन किया है जिनके द्वारा वे अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। ऐसी यात्रा के दो प्रधान मार्ग हैं—देवयान तथा पितृयान। ज्ञान कर्म-समुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा, तपस्या आदि शोभन कार्य करनेवाले पुरुष देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्म का आनन्दमय लोक प्राप्त कर लेने पर भी वे अपनी उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं और अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते है। इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी पुरुष पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं, और कर्मानुसार सुख भोग कर वे पुनः इस लोक में आते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म ग्रहण करते हैं; यदि अशोभन का फल अवशिष्ट रहता है तो बुरे कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान-पन्था का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। इसे क्रममुक्ति कहते हैं। इन दोनों यानों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग है, जिसे 'यान' न कहकर 'गति' कहते हैं। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा 'जायस्व म्रियस्व'—उत्पन्न होना तथा मरना है। पशुपक्षी के समान जो जीव कर्म के अधिकारी है, तथा अधिकारी होकर भी जो अशुभ कर्मों के सम्पादक हैं, उनकी यह तीसरी गति होती है (छा० उप० ५।१०।८), परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें इस क्रममुक्ति से नितान्त असन्तोष होता है और जो सद्योमुक्ति (साक्षात् विना विलम्ब मुक्ति) के इच्छुक होते हैं। उपनिषद् ने उनके लिये भी व्यवस्था की है। आत्म-ज्ञान न होना ही बन्धन का कारण है। वह पुरुष मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता जाता है, जो इस जगत् में अनेकत्व को देखता है। अतः इस जगत् में व्याप्त एकता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर सद्यो-मुक्ति को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है[1] कि जिस पुरुष की हृदयस्थित सब कामनाएँ

---

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(४।४।७)

छूट जाती हैं, वह पुरुष मरणशील होने पर भी अमृत होता है—अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, तथा इसी लोक में ब्रह्म को पा लेता है। उस समय उसके अंग, प्राण उसके शरीर से विमुक्त नहीं होते। ब्रह्म-रूप होकर वह पुरुष को प्राप्त कर लेता है[1]। एकत्व ज्ञान का यह अमृत फल है। अतः मनुष्य-मात्र का यह उच्च उद्देश्य होना चाहिए कि अपना बहुमूल्य जीवन साधारण वस्तुओं की प्राप्ति में न लगाकर आत्मोपलब्धि में लगावे, क्योंकि "उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु और आवागमन को पार करता है; जाने के लिए आत्मसाक्षात्कार को छोड़कर अन्य मार्ग है ही नहीं[2]"। अतः तीव्र ज्ञान की प्राप्ति होने पर सद्योमुक्ति हो जाती है। ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के भोग करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए गीता में सुसमिद्ध ज्ञान सब कर्मों का (प्रारब्ध कर्मों का भी) नाश करनेवाला बतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि विशुद्ध ज्ञान से सद्यो-मुक्ति, ज्ञान-कर्म के समुच्चय से देवयान, केवल शोभन कर्म के आश्रय से पितृयान यथा अशोभन कर्मों के अनुष्ठान से तृतीया गति की प्राप्ति होती है।

पृ० ७७

४—चार्वाक दर्शन

टिप्पणी १—'वैतण्डिक' का अर्थ

बुद्धघोष ने 'लोकायत' का 'वितण्ड-सत्थ' अर्थ किया है। न्यायमञ्जरी में भी इसी की पुष्टि मिलती है—

> नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
> वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः॥

टिप्पणी २—रामायण में लोकायत मत

> कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
> अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥

---

१. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृह० उप० ४।४।७)

२. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेता० उप० ३।८)

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥
(रामायण, अयोध्याकाण्ड, अ० १०२, श्लो० ३८-३९)

पृष्ठ ७८

टिप्पणी ३—'चार्वाक' का अर्थ

चार्वाक मत के 'चार्वी' नामक आचार्य का उल्लेख काशिकावृत्ति में मिलता है—नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिस्तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते (१।३।३६ सूत्र)।

टिप्पणी ४—चार्वाक के विषय में गुणरत्न

गुणरत्न—षड्दर्शन समुच्चय की टीका पृ० ३०१।

पृष्ठ ७९

टिप्पणी ५—द्रष्टव्य—महाभाष्य (७।३।४५) वर्णिका भागुरी लोकायतस्य।

'वर्णिका व्याख्यात्री भागुरी टीकाविशेषः'—कैयट। काशिका में भी यही प्रत्युदाहरण दिया गया है।

टिप्पणी ६—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ बड़ोदा से प्रकाशित।

पृष्ठ ८०

टिप्पणी ७—'अनुमान' ः चार्वाक दृष्टि में

लिंग (हेतु) को देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान कहा जाता है (तल्लिंग-लिंगिपूर्वकम्)—सां० का० ५। उदाहरण के लिए ज्वालामुखी पर्वत को लीजिए। इसमें पर्वत के शिखर से सतत निकलनेवाली धूमरेखा को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसमें अग्नि का सद्भाव होगा। यहाँ दृष्ट धूम से अदृष्ट वह्नि के ज्ञान की कल्पना की जाती है, पर दृष्ट वस्तु से अदृष्ट की कल्पना करने में हमारे पास क्या कोई साधन है? अनुमानवादी इसके उत्तर में धूम तथा वह्नि के सतत विद्यमान साहचर्य-नियम को प्रधान साधन बतलाते हैं। पाकशाला आदि के देखने से हमारी यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि जहाँ-जहाँ धूम का सद्भाव होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि की स्थिति अवश्यम्भावी है। इसी अनुपाधिक साहचर्य-नियम को 'व्याप्ति' के नाम से पुकारते

हैं। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होगा—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य विद्यमान है; इस पर्वत में धूम विद्यमान है; अत एव इसमें अग्नि भी अवश्य विद्यमान होगा। व्याप्ति-ज्ञान के ऊपर ही अनुमान की सत्यता अवलम्बित है।

इस पर चार्वाकों की आपत्ति है कि इस अनुमान की सत्यता को हम स्वयं स्वीकार करते, यदि व्याप्ति-सूचक वाक्य की सत्यता प्रमाणसिद्ध होती। पर क्या यह सम्भव है कि जिन-जिन स्थानों में धूम तथा अग्नि विद्यमान हो उन सब का निरीक्षण किया जा सके? प्रत्यक्ष के सीमित होने से वर्तमान काल के ही धूम-वह्नि-विशिष्ट स्थलों का निरीक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, भूत तथा भविष्य के स्थलों के परीक्षण की बात ही न्यारी है। ऐसी दशा में व्याप्ति-वाक्य की सत्यता कैसे मानी जाय? प्रत्यक्ष के द्वारा हमें केवल 'व्यक्ति' का सम्बन्ध ज्ञात होता है। प्रत्यक्ष की सहायता से हमें इतना ही ज्ञान होता है कि एक 'क' का सम्बन्ध एक 'ख' के साथ विद्यमान है, पर इसी सीमित ज्ञान के आधार पर सब 'क' का सम्बन्ध सब 'ख' के साथ बतला कर व्याप्ति करना कितने बड़े दुःसाहस का काम है!!! पाकशाला में एक विशिष्ट धूम का सम्बन्ध एक विशिष्ट वह्नि के साथ देखकर समग्र धूम का सम्बन्ध समग्र वह्नि के साथ होगा ही, क्या हम ऐसे नियम बनाने के अधिकारी हैं? यदि नहीं; तो व्याप्ति सत्य नहीं मानी जा सकती और व्याप्ति की असत्यता सिद्ध होते ही अनुमान का किला बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि व्याप्ति 'विशेष' में नहीं होती; प्रत्युत 'सामान्य' (जाति) में होती है, तो भी दोष बने ही रहते हैं। 'सब मनुष्य मरणशील हैं', इस वाक्य में यदि व्याप्ति 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' के साहचर्य पर अवलम्बित मान ली जाय, तो नये अनुमानकी गुंजाइश हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' को धारण करनेवाले समग्र पदार्थों का ज्ञान हमें व्याप्तिसूचक वाक्य से पहिले ही हो चुका है। ऐसी दशा में देवदत्त में मनुष्यता हेतु से मरणशीलता के अनुमान करने की क्या आवश्यकता है? वह तो व्याप्ति में ही गतार्थ हो चुका है। इसे कहते हैं सिद्धसाधन दोष—सिद्ध वस्तु को साधन करने की गलती[1]। सामान्यतगत व्याप्ति मानने से चार्वाकों का कहना है

---

१. विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धिसाध्यता।
अनुमापङ्कभगेऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः॥
(शास्त्रदीपिका, पृ० ६३ में उद्धृत)

कि कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। एक विशिष्ट मरणशील के अनुमान के लिए एक विशिष्ट मनुष्य को जानना नितान्त आवश्यक है, पर हमें केवल मरणशीलता तथा मनुष्यता का सम्बन्ध ज्ञान होता है। ऐसी दशा में अनुमान के लिए कोई अवकाश ही नहीं। इस प्रकार सामान्य ज्ञान में विशेष का अनुमान न्यायसंगत नहीं है। इस अवस्था में भी अनुमान में दोषों का निराकरण नहीं हो सकता।

पृष्ठ ८१

टि० ८—शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥
(स० सि० सं २१५)

टि० ९—अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः। स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति।
(भट्टोत्पल—बृहत्संहिता १।७ की टीका)।

टि० १०—चार्वाक की इन युक्तियों का मार्मिक खण्डन उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में किया है। 'अकस्मात् भवति' वाक्य में पाँच विभिन्न विकल्पों की सम्भावना मानी जा सकती है और प्रत्येक सम्भावना का खण्डन उदयन ने इस कारिका में संक्षेप रीति से किया है—

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः॥
(न्या० कु० १।५)

कार्य की स्थिति नियतकाल तक ही रहनेवाली है। अतः अवधि की नियतता के कारण कार्य कभी कभी होने वाला ही माना जाता है। ऐसी दशा में उसके कारण की कल्पना न करना तर्कविरुद्ध है।

पृष्ठ ८२

टि० ११—त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥
(स० द० सं०, पृ० ४)

पृष्ठ ८४

टि० १२—द्रष्टव्य वेदांतसार, पृ० २६-२७। इन मतों के खण्डन के लिए देखिये न्यायमञ्जरी, द्वितीय भाग, पृ० १३-१४ तथा न्यायकुसुमाञ्जलि (१:५)–

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकभूतमपक्रमात् ।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥

पृष्ठ ८५

टि० १३—षड्दर्शनसमुच्चय में वृकपद का उदाहरण देकर असत्य बात को परम्परागत सत्य मानने की घटना की पुष्टि की गई है—

भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

इसकी विशद व्याख्या के लिए गुणरत्न की टीका देखनी चाहिए, जिसमें एक प्राचीन साम्प्रदायिक आख्यायिका का रोचक वर्णन किया गया है।

पृष्ठ ८६

टि० १४—नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते (कामसूत्र १।२।४८)।

टि० १५—त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसा
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४)

पृष्ठ ८८

टि० १६—पाश्चात्य दर्शन और चार्वाक मत

दार्शनिक जगत् में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार बृहस्पति तथा चार्वाक भौतिकवाद के समर्थक हैं, उसी प्रकार प्राचीन ग्रीस दर्शन के इतिहास में देयोक्रितस (४६० ई० पू०), एपिकुरस (३४१ ई० पू०) तथा लुक्रेतियस (६५ ई० पू०) भौतिकवाद के संस्थापक तथा प्रचारक हैं। इस मत के अनुसार हाथ-पाँव के समान आत्मा भी मनुष्य के शरीर का अंशमात्र है। वह चतुर्विध परमाणुओं के समुच्चय का फल है। अतः शरीरपात के साथ आत्मा का भी उच्छेद होने के कारण आत्मा अमर नहीं है। इस जगत् की रचना में न तो कोई उद्देश्य है और न इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर दूसरा कोई रचयिता ही है। साधारण जन

देवताओं पर इस विश्व के निर्माण का उत्तरदायित्व रखते हैं, पर यह सिद्धान्त निःसार है। अनन्त परमाणुओं में से किन्हीं परमाणुओं के अहेतुक यादृच्छिक संघात की ही संज्ञा 'जगत्' है। कतिपय परमाणु बिना किसी कारण के आप से आप मिल जाते हैं और तब यह संसार उत्पन्न हो जाता है। जगद्रचयिता के अभाव में उपवास, व्रत, प्रार्थना आदि उपचारों से सन्तुष्ट करने को विधान बतलानेवाला धर्म नितान्त असिद्ध है। एपिकुरिअस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति बतलाया है, परन्तु कैसा आनन्द? इन्द्रिय-वृत्तियों को चरितार्थ करनेवाला भौतिक सुख नहीं; प्रत्युत समानशीलव्यसनवाले मित्रों की मण्डली में होनेवाला मानसिक आनन्द, जिसे मानते हुए सादगी का जीवन बिताना ही इस मानव-जीवन का उद्देश्य है। ल्युक्रेशियस ने इस विषय में अपने गुरु का अनुसरण किया है। वे शान्ति, सात्त्विक जीवन, सत्यपालन, कर्तव्यनिर्वाह के पवित्र उद्देश्य को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार एपिक्यूरस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा चार्वाक के सिद्धान्त में आश्चर्यजनक सादृश्य है। हेडोनिज्म के सिद्धान्त को जनसाधारण ने जिस प्रकार पीछे के समय में अत्यन्त निकृष्ट रूप में परिवर्तित कर दिया, चार्वाक मतमें भी उसी प्रकार का परिवर्तन दीख पड़ता है। स्टोइक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता, जगत् की उद्देश्य-सम्पन्नता आदि सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की। उन्नीसवीं शताब्दी में पॉजिटिविज्म आदि अनेक दार्शनिक मतों पर चार्वाकता की छाप स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है, परन्तु चार्वाक मत की तुलना एपिक्यूरिअनिज्म के साथ ही समुचित रीति से की जा सकती है।

द्रष्टव्य मेटीरिअलिज्म (Materialism) तथा ल्यूक्रेशियस (Lucretius) शीर्षक लेख—एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड इथिक्स, भाग ८।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध दर्शन

पृष्ठ १२८

टि० १—बौद्ध धर्म का धार्मिक विकास

बुद्ध के निर्वाणानन्तर इस धर्म का बहुमुखी विकास इतना विस्तृत है कि इस परिच्छेद में उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता। दार्शनिक विकास की धारा को समझने के लिए थोड़ी मोटी बातें पाठकों के

धार्मिक सम्प्रदाय

सामने रक्खी जाती हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के पीछे वैशाली की द्वितीय संगीति (३२६ वि० पू०) में वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्तीय) भिक्खुओं ने आचार तथा अध्यात्म-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊँचा किया। उसी समय से बौद्ध संघ में फूट पैदा होकर दो वादों का जन्म हुआ—स्थविरवाद (जो प्राचीन विनयों में रंचकमात्र भी संशोधन करने के प्रतिकूल था) तथा महासंघिक (संशोधनवादी)। इसी संगीति के सौ वर्ष के भीतर ही १८ विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिन्हें 'निकाय' कहते हैं। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' में इन निकायों का विशद वर्णन किया है, परन्तु वसुमित्र का वर्णन आचार्य भव्य, दीपवंस तथा कथावत्थु की अट्ठकथा के निर्देशों से भिन्न प्रकार का है। अट्ठकथा के अनुसार महासांघिकों के भिन्न निकायों के नाम ये थे—गोकुलिक, एकव्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी। स्थविरवाद के निकायों की संज्ञा थी—महीशासक (अवान्तर निकाय = सर्वास्तिवादी, काश्यपिक, सांक्रान्तिक, सौत्रान्तिक, धर्मगुप्तिक) तथा वृजिपुत्रक या वात्सीपुत्रीय (अवान्तर निकाय—धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, षाण्णागारिक तथा सम्मितीय)। यह स्थिति अशोकवर्धन के समय थी, पर पीछे की शताब्दियों में इन निकायों के सिद्धान्तों में अवान्तर भेद होते गये। चैत्यवादी निकाय के ५ भेद पीछे हुए—पूर्वशैलीय, अपर शैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थिक तथा वैपुल्यक (वेपुल्लवादी)। इनमें प्राचीनता के पक्षपाती थेरवाद (स्थविरवाद) को ही 'हीनयान' कहते हैं।

महासंघिक निकाय से ही अनेक अवान्तर परिवर्तनों के अन्तर 'महायान' का उदय हुआ।

इन निकायों के सिद्धान्त किसी समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण दार्शनिकों ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है, परन्तु आज ये सिद्धान्त विस्मृतप्राय हो गये हैं। 'कथावत्थु' ही इन निकायों के रहस्योद्घाटन करने के लिए एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। कतिपय निकायों के संक्षिप्त वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ता है, जिनका दार्शनिक जगत् में विशेष आदर है। (१) महासंघिक 'लोकोत्तर बुद्ध' के सिद्धान्त को मानते थे। उनकी दृष्टि में बुद्ध सर्वशक्ति सम्पन्न अलौकिक पुरुष थे; सास्रव (सांसारिक) धर्म का लेशमात्र भी सम्पर्क उन्हें न था, तथा वे ऋद्धि (शक्ति-विशेष) के द्वारा नैसर्गिक नियमों का भी विरोध कर सकते थे। ये लोग अवतारवाद के पक्षपाती थे। शाक्य मुनि इसी लोकोत्तर बुद्ध के लोकानुवर्तन के निमित्त अवतार थे। भिक्षु जीवन का चरम लक्ष्य 'अर्हत्' न होकर 'बोधिसत्त्व' की उपलब्धि था। (२) सर्वास्तिवाद जगत् के भूतात्मक तथा चित्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को त्रिकाल सत्य मानता है। ये लोग बुद्ध को दैवी-शक्ति से सम्पन्न मानवमात्र मानते हैं। इनके मत में बुद्ध की सत्ता काल्पनिक और मायिक न होकर वास्तविक है। सर्वास्तिवादियों के मतों का खण्डन शंकराचार्य ने शारीरक-भाष्य (२।२।१८-२७) में किया है। (३) सम्मतीयों का एक समय बोलबाला था। इनके मत का उल्लेख विशेषतः उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ३४२) में किया है। ये लोग स्कन्ध-पञ्चक से अतिरिक्त एक विशिष्ट पुद्गल' पदार्थ की सत्ता मानते थे, जो पञ्चस्कन्धों के साथ ही उत्पादविनाशवाली था, तथा उन्हें धारण किये रहता था। अन्तराभाव देह (जीव की मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच में विद्यमान शरीर) की सत्ता इन लोगों को मान्य था और इसी की पुष्टि में पुद्गल की कल्पना भी आदरणीय थी। (४) वैपुल्यवाद के सिद्धान्त भयंकर विप्लव मचानेवाले थे। इनके सिद्धान्तों में महायान की ही सूचना नहीं मिलती, प्रत्युत तान्त्रिक वज्रयान के भी बीज अन्तर्निहित हैं। इनका एक विलक्षण सिद्धान्त मैथुन के विषय में था कि किसी खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) पति-पत्नी में स्वाभाविक अनुरक्ति रहने पर या भविष्यलोकों में साहचर्य के लिए मैथुन का आचरण किया जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी यह नियम मान्य था। बुद्ध की ऐतिहासिकता का स्पष्ट निषेध तथा मैथुन की अवस्था-विशेष में अनुज्ञा एकदम घोर परिवर्तन के सूचक सिद्धान्त थे।

वैपुल्यवादियों के सबसे बड़े प्रचारक आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। अतः ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि महासंघिकों का ही अन्धक सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवाद के रूप में विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है।

पृष्ठ १३१

टि० २—बोधिसत्त्व की क्रमिक शिक्षा

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त का ग्रहण करना पड़ता है। सब जीवों के उद्धार के लिए सम्यक् सम्बोधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिए वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषण, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इस सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। षट्-पारमिताओं का अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्व को। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्व प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। आत्मभाव का त्याग तथा निःस्वार्थ बुद्धि की प्रकृष्टता दानपारमिता है। प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यों से चित्त की विरति का नाम शील है। दूसरों के द्वारा अपकार किये जाने पर भी चित्त की अकोपनता क्षान्ति है। वीर्य का फलरूप ध्यान चित्त की नितान्त एकाग्रता है। दानादि पञ्च पारमिताओं का उद्देश्य प्रज्ञापारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता) की प्राप्ति शून्यता में प्रतिष्ठित होनेवाले व्यक्ति को होती है। उस समय यही ज्ञान होता है कि भावों की उत्पत्ति न तो स्वतः होती है, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः (कारण बिना)। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्यता है, परमार्थ दशा में सब भाव धर्मशून्य हैं। जगत् की सत्ता सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। वास्तव में सब भावों की शून्यता ही परमार्थ ज्ञान है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करनेवाले बोधिसत्त्व के लिए इस जगत् के समस्त व्यवहार मायिक, स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं। 'नैरात्म्यपरिपृच्छा सूत्र' (श्लोक १२) में बोधि-चित्त का विशद वर्णन है। बोधि-चित्त (संबोधिनिष्ठ चित्त) निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है। देवी-रूप से प्रज्ञापारमिता की उपासना बौद्धों का प्रधान आचार है। बोधिसत्त्व में ही उपदेश के द्वारा प्राणियों को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है।

टि० ३—बोधिचित्त का लक्षण—

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम् ॥
(नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र; श्लोक १२)

टि० ४—प्रज्ञापारमिता का देवीरूप—

सर्वेषामपि वीराणां परार्थ-नियतात्मनाम्।
बोधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥
बुद्धैः प्रत्येक-बुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥
(प्रज्ञापारमितासूत्र)

पृष्ठ १४०

टि० ५—'संस्कृत' शब्द का अर्थ

'संस्कृत' शब्द का प्रयोग वैभाषिक मत में एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। 'संस्कृत' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है–'हेतुप्रत्ययजनित'। 'सम्भूय = अन्योन्यमपेक्ष्य, कृताः = जनिताः इति संस्कृताः'।

(अभिधर्मकोश, कारिका १।७)

पृष्ठ १४४

टि० ६—'कुमारलात' का नाम

द्रष्टव्य वाटर्स सम्पादित 'युआनच्वांग का भारतीय यात्रा-विवरण' भाग २, पृष्ठ ३२५। सौत्रान्तिक मत के संस्थापक इस आचार्य का यथार्थ नाम 'कुमारलात' ही था। 'कुमारलाभ' या 'कुमारलब्ध' इनका नाम चीनी नाम के अशुद्ध संस्कृतीकरण के कारण नितान्त त्याज्य है।

पृ० १४५

टिप्पणी ७—नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३; आनन्दाश्रम)

पृष्ठ १५२

टिप्पणी ८—

विज्ञान के त्रिविध परिणाम के लिए द्रष्टव्य—त्रिंशिका कारिका १ और २।

टिप्पणी ९—'आलय-विज्ञान' के विषय में मतभेद।

आलय विज्ञान का सिद्धान्त योगाचार के आदि आचार्य असंग तथा वसुबन्धु के द्वारा उद्भावित किया गया है, पर दिङ्नाग इसे आत्मा का ही निगूढ रूप बतला कर इसे स्वीकृत नहीं करते। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने प्रबल युक्तियों का प्रदर्शन किया है। इस कारण योगाचारों में आगमानुसारी तथा न्यायवादी दो मतों की स्थिति मानी जाती है। अद्वयवज्र ने अपनी 'तत्त्वरत्नावली' में योगाचार के साकार ज्ञानवादी तथा निराकार ज्ञानवादी दो मतभेदों का वर्णन किया है। साकार-ज्ञानवादियों के मत से ज्ञान बाह्य पदार्थों के स्वरूप को ग्रहण करता है, पर निराकार ज्ञानवादियों के मत से ज्ञान आकारहीन होता है, उसका सत्य-स्वरूप स्वसंवेदनरूप होता है। बाह्य अर्थों की सत्ता मानना मूर्खता-विजृम्भित है। बाह्यार्थ के मायिक होने से स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। कहना न होगा कि इस ज्ञान के स्वरूप का अनुभव सिद्ध योगियों को ही होता है। अतः सिद्धान्ततः विज्ञानवादी होने पर योग तथा आचार को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ये योगाचार के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

पृष्ठ १५३

टिप्पणी १०—आलय विज्ञान का स्वरूप—

> तरङ्गा उदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
> नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥
> आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
> चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते॥
>
> (लङ्कावतारसूत्र २।९९-१००)

टिप्पणी ११—चेतना का रूप—

चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा। यस्यां सत्याम् आलम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति, अयस्कान्तवशाद् अयःप्रस्यन्दवत्। (विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि पृ० २०)।

पृष्ठ १५६

टिप्पणी १२—परम-तत्त्व का रूप—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

(माध्यमिककारिका १।७)

टिप्पणी १३—मध्यममार्ग का ग्रहण—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता,
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा,
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥

(समाधिराजसूत्र)

पृष्ठ १५७

टिप्पणी १४—'शून्यता' का अर्थ—

अतो भावाभावान्तद्वयरहितत्वात् सत्स्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता मध्यमा प्रतिपत्, मध्यमो मार्ग इत्युच्यते। (चन्द्रकीर्ति—प्रसन्नपदा)।

टिप्पणी १५—दो प्रकार के सत्य—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

(माध्यमिककारिका २४।८)

टिप्पणी १६—'संवृति' की व्युत्पत्ति—

संवृति की व्युत्पत्ति चन्द्रकीर्ति ने इस प्रकार की है—समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।

(माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० ४९२)

पृष्ठ १६२

टिप्पणी १७—'क्षणभंग' के विषय में हेमचन्द्र—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते॥

(स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १८)

टिप्पणी १८—'क्षणिकवाद' का खण्डन—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥
(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

पृष्ठ १६३

टिप्पणी १९—'वासना' का खण्डन—

आचार्य शङ्कर का यह कथन (२।२।३० शारीरक भाष्य) यथार्थ है—अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः; संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते एवं लोके दृष्टत्वात्। 'वासना' के विस्तृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक (पृ० २२४–२६७) तथा स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९।

पृष्ठ १६४

टिप्पणी २०—'शून्यवाद' का खण्डन—

शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते।
(२।२।३१ शां० भा०)।

पृष्ठ १६१

टिप्पणी २१—निर्वाण का स्वरूप—

निर्वाण और निरोध की एकता

हीनयान के विविध संप्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशाभाव रूप है। जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। इसे सुखरूप भी बतलाया गया है; परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानते हैं। 'मिलिंदप्रश्न' में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है। इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में लगे रहने के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं, परन्तु ज्ञानी आर्य श्रावक इन्द्रियों

और विषयों के उपभोग में न कभी लगा रहता है और न उसमें आनन्द ही लेता है। फलतः उसकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का (भव का) निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रुक जाते हैं। इस प्रकार तृष्णादिक क्लेशों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखाया नहीं जा सकता[1] क्योंकि उसके व्यक्तित्व को बनाए रखने के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

निर्वाण की निर्गुणता

संसार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की यह विशेष है कि उनमें से कुछ तो कर्म के कारण उत्पन्न होती हैं, कुछ हेतु के कारण और कुछ ऋतु के कारण; परन्तु निर्वाण ही आकाश के साथ ऐसा पदार्थ है जो न तो कर्म के कारण उत्पन्न होता है, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण। वह तो हेतु से रहित त्रिकालातीत, इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय पदार्थ है, जिसे विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अर्हत् जान सकता है। निर्वाण के साक्षात् करने के उपाय हैं, परन्तु उसे उत्पन्न करने का कोई उपाय नहीं है। साक्षात् करना तथा उत्पन्न करना दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। कोई भी मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्ति के बल पर हिमालय तक जा सकता है, परन्तु वह लाखों कोशिशें करने पर भी उसे इस स्थान पर नहीं ला सकता, कोई भी मनुष्य साधारण शक्ति के सहारे भी नाव पर चढ़कर समुद्र के इस पार से उस पार तक जा सकता है, परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता; ठीक यही दशा निर्वाण की भी है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बताया जा सकता है परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखा सकता[2]। इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह भूत वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियों द्वारा गोचर न किए जाने पर भी, उसकी सत्ता है। अर्हत् पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु और

---

१. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ६२।

२. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ३२६–३३३।

आवरणों तथा सांसारिक कर्मों से रहित मन द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता, परन्तु निर्गुण होने पर वह उत्पादरहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है, परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

निर्वाण की सुखरूपता

नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है[1]। महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य ही विद्यमान रहता है, क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले नाना प्रकार के संयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते हैं। ये संसार से नाता तोड़कर और इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते हैं, जिससे शरीर को भी कष्ट होता है और मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की दृष्टि से निर्वाण भी दुःख से सना होता है। उसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेश में नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममता, त्याग, इन्द्रिय, जप आदि निर्वाण के उपायों में क्लेश है, परन्तु स्वयं निर्वाण में क्लेश कहाँ ? वह तो महासमुद्र के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है। काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव तृष्णा की प्यास को बुझा देता है। वह आकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है और न आवागमन प्राप्त करता है। वह दुर्जेय, स्वच्छंद तथा अनन्त है। अच्छी राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य दुःख तथा अनात्म रूप से देखता हुआ कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिये किसी दिशा का निर्देश नहीं किया जा सकता। महाकवि अश्वघोष का कहना है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी पर जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में; प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कहीं नहीं जाता है—

---

१. मिलिंदप्रश्न (हिंदी अनुवाद), पृष्ठ ३८४–४०२।

न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में और न किसी दिशा में—केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्[1] ॥

(क) हीनयान मत में निर्वाण

निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के पाश स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तब अर्हत् की उसी अवस्था का नाम निर्वाण है। यही चरम लक्ष्य है, जिसके लिये भगवान् तथागत ने अपने धर्म की शिक्षा दी। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में जीवन्मुक्त पुरुष की जो कल्पना है वही कल्पना निर्वाण-प्राप्त अर्हत् की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान संप्रदाय के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभावमात्र मानता है, परन्तु महायान उसे आनन्दरूप बतलाता है। किञ्च, हीनयान संप्रदायों के भीतर भी भी इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

(१) स्थविरवादियों का निर्माण

स्थविरवादियों की दृष्टि से निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ ही है—बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तब तक जलता रहता है जब तक उसमें बत्ती और तेल विद्यमान रहते हैं, उनके नष्ट होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों के विराम ले लेने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुँच जाता है, तब वह निर्वाण कहलाता है।

(२) वैभाषिक मत में निर्वाण

वैभाषिकों के मत इस विषय में स्थविरवादियों के मत के समान ही हैं। वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं। निर्वाण प्रतिसंख्यानिरोध है, अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक सास्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो

---

१. सौन्दरनन्द, १६।२८, २९।

जाता है, तब वही निर्वाण कहलाता है[1]। निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव = वस्तु), पृथग्-भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्) है[2]। निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का ? इस प्रश्न के विषय में वैभाषिकों में ऐकमत्य नहीं दिखाई पड़ता। तिब्बतीय परम्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक लोग निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे, जो क्लेशोत्पादक (साश्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि आश्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होनेवाली कोई चेतना अवश्य है, जो निर्वाण की प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एकांगी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे, यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। भव्यभद्र की 'तर्कज्वाला' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मध्य भारत में वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह 'तथता' वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिये ही अभाव के चारों भेदों—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव-की कल्पना की गई थी। यह 'तथता' महायान संप्रदाय में परमार्थ सत्य के लिये प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप माना जाता है, परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी वैशेषिकों के समान 'अभाव' पदार्थ मानते थे। दोनों की दृष्टि में भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

(२) सौत्रान्त्रिक मत में निर्वाण

ये लोग निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाला, भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसलिये यह उस सत्ता का अभाव माना गया है, परन्तु इस विषय में वैभाषिकों से इनका मत भिन्न है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः

---

१. प्रतिसंख्यानमनास्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते, तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोध इति प्रतिसंख्यानिरोधः—यशोमित्रकृत अभिधर्मकोश-व्याख्या, पृष्ठ १६।

२. द्रव्यः सन् प्रतिसंख्यानिरोधः, सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात्; मार्गसत्यवदिति वैभाषिकाः—वही, पृष्ठ १७।

सत्तावान् पदार्थ, अर्थात् वस्तु मानते हैं। परन्तु सौत्रान्तिक लोग निर्वाण को वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है, जो परम शान्ति में डूबी रहती है। भोट देश (तिब्बत) की परम्परा से पता चलता है कि सौत्रान्तिकों की एक ऐसी उपशाखा थी, जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपशम मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त करने वाले अर्हत् की भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता; प्रत्युत चेतना का भी विनाश हो जाता है। इस शाखा के मतानुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बाकी रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

नैयायिक मुक्ति से हीनयानी निर्वाण की तुलना

निर्वाण की यह हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्शनिकों में से न्याय और वैशेषिक की मुक्ति कल्पना से बिलकुल मिलती जुलती है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं[1]। अत्यन्त का अर्थ है—चरम अवसान, अर्थात् जिससे उपात्त वर्तमान जन्म का परिहार हो जाय, तथा भविष्य में अन्य जन्म की उत्पत्ति न हो। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, साथ ही भविष्य जन्म की अनुत्पत्ति भी आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेती है। जब तक वासना आदि आत्मगुणों का उच्छेद नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा के नवों विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार-का मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है और अखिल गुणों से विरहित रहती है। वह छह प्रकार की ऊर्मियों से भी रहित हो जाती है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख-प्यास प्राण को, लोभ-मोह चित्त को और शीत-आतप शरीर को क्लेशदायक होने से ये छहों ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छहों ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और सुख-दुःख आदि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाती है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्त भट्ट[2] ने बहुत विस्तारपूर्वक भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्यायसूत्र १।१।२२)।

२. न्यायमञ्जरी, भाग २ (चौखंभा संस्करण), पृष्ठ ७५—८१।

मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है और यह राग ही बन्धन का कारण है। ऐसी अवस्था में मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इसीलिये नैयायिक लोग मुक्ति को सुखात्मक न मानकर दुःख का अभाव रूप ही मानते हैं।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैयायिकों की बहुत खिल्ली उड़ाई है। उनका कहना है कि जिन सूत्रकारों ने सचेत प्राणियों के लिये ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बताकर उपदेश किया है उनका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है; अपितु अर्थतः भी यथार्थ है। वे केवल गो न होकर गोतम (अतिशयेन गौरिति गोतमः = बड़ा बैल)[1] हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

(ख) महायानी निर्वाण

हीनयान संप्रदाय के अनुसार निर्वाण का जो रूप बताया गया है, महायान संप्रदाय वाले इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है, ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती है। हीनयान संप्रदाय की दृष्टि में राग द्वेष की सत्ता पञ्चस्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के ऊपर अवलम्बित है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ यागादिक में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है। परलोक में आत्मा को सुख पहुँचाने के लिए ही मनुष्य नाना प्रकार के अकुशल कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिए समस्त क्लेश और दोष इसी आत्म-दृष्टि (सत्काय दृष्टि) के विषम परिणाम हैं। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है[2]। इसी को कहते हैं

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
(नैषधचरित, १७।७५)।

२. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥
(चन्द्रकीर्तिकृत 'मध्यमकावतार'—६।१२०। माध्यमिकवृत्ति, पृ० ६४० में उद्धृत)।

पुद्गल नैरात्म्य। हीनयान इसी नैरात्म्य को मानता है, परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरणका ही क्षय होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है, जिसे ज्ञेयावरण कहते हैं। 'विज्ञप्तिसिद्धि' में इन दोनों आवरणों का भेद बड़ी कुशलता से दिखाया गया है। नैरात्म्य दो प्रकार का है—(क) पुद्गल नैरात्म्य और (ख) धर्म-नैरात्म्य। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं, अतः पुद्गल नैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सब क्लेशों को छोड़ देता है।

जगत् के पदार्थों के अभाव या उनकी शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाता है। मोक्ष और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण) का हटना नितान्त आवश्यक है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरण का काम करते हैं—मुक्ति को रोकते हैं। अतः इस आवरण को दूर हटाने से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञेया-वरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है[1]।

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। महायान संप्रदाय के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहले आवरण (अर्थात् क्लेशा-वरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता तब तक वास्तविक निर्वाण हो ही नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर

---

१. पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्म-दृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशा पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कामदृष्टेः प्रति-पक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वाद् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति; अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्ति-प्रतिबन्धभूतमक्लिष्टज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते॥ (स्थिरमतिकृत और डा० सिल्वन लेवी द्वारा संपादित 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य'—पृष्ट १५)।

अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है; परन्तु महायान संप्रदाय की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान संप्रदाय के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। किन्तु महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उद्देश्य की इसी भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भी भेद है ।

नागार्जुन का मत

नागार्जुन ने निर्वाण की बहुत विशद परीक्षा 'माध्यमिकारिका' के पचीसवें परिच्छेद में की है। उनके मतानुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जाता है। यह न तो उच्छिन्न होने वाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। यह न तो निरुद्ध है और न उत्पन्न। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है, यह दोनों से भिन्न है—

अप्रहाणम् असंप्राप्तं अनुच्छिन्नम् अशाश्वतम् ।
अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते ॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही सम्भव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाशरहित है और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जब तक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और संसार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना-जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है। नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ मानने वाले तथा अभाव पदार्थ मानने वाले दार्शनिकों के मत की आलोचना की है। उनके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनों से अतिरिक्त पदार्थ है। यह अनिर्वचनीय है यह परम तत्त्व है। इसी का नाम भूतकोटि या धर्मधातु है।

(ग) दोनों मतों में निर्वाण की तुलना

हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अनुशीलन से निर्वाण विषयक सामान्य कल्पना का रूप इस प्रकार का स्थिर होता है—(१) यह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता (निष्प्रपञ्च)। यह असंस्कृत धर्म

है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न इसका विनाश है और न परिवर्तन है। (२) इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी को योगाचारी लोग प्रत्यात्मवेद्य कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्बं' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। (३) यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिये एक है और सम है। (४) अष्टांगिक मार्ग द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। (५) निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। (६) दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्न कोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इसे हीनयानी लोग भी स्वीकार करते हैं।

दोनों सम्प्रदायों में निर्वाण की कल्पना में पार्थक्य

हीनयान	महायान
(१) निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	(१) महायानी इसको स्वीकार करता है, केवल दुःखाभाव न मानकर इसे सुखरूप मानता है। वस्तुतः माध्यमिक और योगाचार नित्य, अनित्य, सुख और असुख की कल्पना निर्वाण में नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में निर्वाण अनिर्वचनीय है।
(२) निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है (प्राप्यम्)।	(२) निर्वाण अप्राप्य है।
(३) निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिये आरम्मण (आलम्बन) है।	(३) ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, भिक्षु और निर्वाण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।
(४) निर्वाण लोकोत्तर दशा है। प्राणिमात्र के लिये यह सबसे उन्नत ऐसी दशा है जिसकी कल्पना की जा सकती है।	(४) लोकोत्तर से भी बढ़कर एक दशा होती है जिसे 'लंकावतार सूत्र' में 'लोकोत्तरतम' कहा गया है। यही निर्वाण है, जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय

(मोक्ष) को प्राप्त करते हैं और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते हैं।

(५) निर्वाण के केवल दो रूप हैं—सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष या प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध।

(५) योगाचार के अनुसार निर्वाण के दो भेद और होते हैं—प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित[1] निर्वाण।

(६) हीनयानी निर्वाण और संसार की धर्म-समता नहीं मानता।

(६) माध्यमिकों के मतानुसार निर्वाण ही निराकार परमार्थ भूत है। यही एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ चित्त के केवल विकल्पमात्र हैं। इस प्रकार निर्वाण और संसार में धर्म-समता रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहरी के समान है।

(७) हीनयानी जगत् के पदार्थों की भी सत्ता मानता है। जगत् उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार निर्वाण।

(७) माध्यमिक और योगाचार दोनों की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है, अर्थात् उसमें ज्ञाता, ज्ञेय; विषय, विषयी; विधि, निषेध का द्वैत किसी प्रकार भी विद्यमान नहीं रहता। यही एक तत्त्व

---

१. 'सूत्रालङ्कार' (पृष्ठ १२६-१२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध मैत्री से हीन होने के कारण अपना चित्त निर्वाण की प्राप्ति में ही लगाते हैं, परन्तु बोधिसत्व मैत्री से युक्त होने के कारण निर्वाण में अपना चित्त कभी नहीं लगता। इसीलिये उसकी सत्ता 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' में मानी जाती है। यह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अवस्था अर्हत् से बढ़कर है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार इस दशा में बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों की कल्पना से बहुत ऊंचे रहते हैं।

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः॥

निःस्नेहानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणप्रतिष्ठितं मनः, बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वाद् निर्वाणेऽपि मनो न प्रतिष्ठितम्।

है। जगत् का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।

(८) हीनयानी को द्विविध आवरण की कल्पना मान्य नहीं है। उसकी संमति में क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरणहीन रहता है।

(८) महायान-सम्प्रदाय में निर्वाण की प्राप्ति को रोकनेवाले दो प्रकार के आवरण माने गये हैं—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। उनकी सम्मति में हीनयानी केवल क्लेशावरण से मुक्त हो सकता है। और वे ही स्वयं दोनों आवरणों से मुक्त हो सकते हैं[1]।

निर्वाण का परिनिष्ठित रूप

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में जब भिक्षु अर्हत् की दशा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधारणतया प्राणी पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का संघातमात्र है। वह अनन्त काल से इस भ्रान्ति में पड़ा है कि उसके भीतर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टाङ्गिक मार्ग के सेवन से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कन्धों से उसका शरीर बना हुआ है वे स्कन्ध विशिष्ट रूप से उसी के नहीं हैं; अपितु जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कन्धों से बने हैं। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है, तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जागरित हो जाती है। साधारण रीति से हीनयानी निर्वाण की यही कल्पना है। परन्तु महायानी कल्पना इससे नितान्त भिन्न है; महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्मधातु को ही सत्य मानते हैं। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी हैं वे सब कल्पना-जाल में

---

१. हीनयानी निर्वाण का वर्णन कथावत्थु, विसुद्धिमग्ग तथा अभिधम्मकोश के अनुसार है, तथा महायानी निर्वाण का वर्णन माध्यमिकवृत्ति, लंकावतार सूत्र के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिये देखिये दत्ताकृत आस्पेक्टस आव् महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १९७-२०१।

पड़े हैं। पुत्र और धन को रखनेवाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति में पड़ा हुआ है, जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को पानेवाला हीनयानी अर्हत्। दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपञ्च में पड़े हुए हैं। हीनयानी मत में निर्वाण ही परम सत्ता है, उसे छोड़कर जगत् के समस्त पदार्थ कल्पना-प्रसूत हैं। जिस क्षण प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही हैं), उस क्षण वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके लिये केवल अपने आत्मतत्त्व की भावना को दूर करने से काम नहीं चलेगा; प्रत्युत जिस वस्तु को वह देखता है वह पदार्थ भी आत्मशून्य है, इसका ज्ञान भी परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की भी प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य और वेदान्त की मुक्ति से निर्वाण की तुलना

उपरिनिर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदान्त की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों ब्राह्मण दर्शनों की मुक्ति में महान् अन्तर है। सांख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है, वेदान्त की दृष्टि में एक तत्त्व को अनेक समझना अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाह्य जगत् के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे-धीरे छँट जाते हैं, तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषयी और विषय के परस्पर मिश्रण का सूचक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अस्+मि। अस्=सत्त्व या प्रकृति तथा मि=उत्तम पुरुष=चेतन। 'अस्मि' पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्त्व का अंश नहीं है। 'अस्मि' प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि जड़ होने से वह 'मि' अर्थात् चेतन पुरुष नहीं हो सकती। इसीलिए 'अस्मि' मिश्रण है प्रकृति-पुरुष का और विषय-विषयी का। समाधि प्रज्ञा के बलपर हम इस अंश तक पहुँचते हैं। अब यहाँ से पुरुष को प्रकृति से हटाने का प्रयत्न आरम्भ होता है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथक्त्व ज्ञान को 'विवेक ख्याति' कहते हैं और सांख्य का यही चरम लक्ष्य है। 'योगसूत्र' के अनुसार सात भूमियाँ हैं जिनको क्रमशः पार करता हुआ पुरुष सत्त्व से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अन्धकारमय है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही वह दिखलाई पड़ता है। विवेक ख्याति होने पर जब पुरुष का प्रतिबिम्ब

हट जाता है, तब सत्त्व जड अन्धकारमय हो जाता है। पुरुष को स्वरूप में स्थिति लाभ करना ही सांख्य की मुक्ति है। अब प्रकृति का सर्वथा नाश न होकर केवल पुरुष से पृथक्त्व सिद्ध हो जाता है। इस मुक्ति में प्रकृति अवश्य रहती है, परन्तु पुरुष से उसका किसी प्रकार का लगाव नहीं रहता।

वेदान्त में मुक्ति कल्पना

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना इससे बढ़कर है। इसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं होता। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ ठहरा; माया नितान्त असत्य ठहरी। जब ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब माया की सत्ता कथमपि होती ही नहीं। ब्रह्म की ही केवल सत्ता रहती है और उस समय उसके सच्चिदानन्द रूप का भान होता है। वेदान्त की मुक्ति आनन्दरूपिणी है। यह न्याय और सांख्य की मुक्ति के समान आनन्दरहित नहीं होती। बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में कह सकते हैं कि सांख्य मुक्ति में क्लेशावरण का ही क्षय होता है, परन्तु वेदान्त मुक्ति में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण सांख्य-मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदान्त-मुक्ति का प्रतीक है। ब्राह्मण दर्शनों से तुलना करने पर यही परिनिष्ठित सिद्धान्त उपलब्ध होता है[1]।

---

१. बौद्ध निर्वाण की विस्तृत आलोचना के लिए द्रष्टव्य।
(क) डा० ओबरमिलर—'निर्वान एकार्डिङ्ग टु टिबेटन ट्रेडिशन' (अंग्रेजी लेख); इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता (जिल्द १०, सं० २; पृ० २११-२५७)।
(ख) डा० दत्त—'आस्पेक्ट्स आव महायान बुद्धिज्म' (कलकत्ता) पृ० १२६-२०४।
(ग) डा० पुर्से—लेक्चर्स ओफ निर्वान (आक्सफोर्ड)।
(घ) डा० शेरबात्स्की—दी सेन्ट्रल कन्सेप्शन आव निर्वाण वाराणसी।

सप्तम परिच्छेद

न्याय दर्शन

पृष्ठ १६७

टिप्पणी १—तर्क-विषय में मनु—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनु १२।१०६)

टिप्पणी २—'न्यायविद्याः' वात्स्यायन की दृष्टि में।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥

(न्यायभाष्य १।१।१)

टिप्पणी ३—'आन्वीक्षिकी' का अर्थ—

प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानं सा अन्वीक्षा। अथवा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इति 'आन्वीक्षिकी' न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।

(न्या० भा० १।१।१)

पृष्ठ १७२

टिप्पणी ४—'न्यायसूची-निबन्ध' का रचनाकाल—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

पृष्ठ १७३

टिप्पणी ५—'लक्षणावली' का रचनाकाल—

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

पृष्ठ १७४

टिप्पणी ६—'जयदेव' की प्रशंसा—

शंकरवाचस्पत्योः सदृशौ शंकरवाचस्पती एतौ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न भूतले क्वापि॥

पृष्ठ १७५

टिप्पणी ७—'बुद्धि' का अर्थ—

अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकः सकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानः आत्माश्रयो यः प्रकाशः, सा बुद्धिः (जिनवर्धन—सप्तपदार्थी-टीका)।

पृष्ठ १७८

टिप्पणी ८—भ्रम के विषय में वात्स्यायन—

वात्स्यायन (न्या॰ भा॰ ४।२।३५) ने स्पष्ट लिखा है—तत्त्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते, नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः, अर्थात् यथा प्रतिबोधे या ज्ञानवृत्तिस्तया स्वप्न-विषयाभिमानो निवर्त्यते नार्थो विषय-सामान्यलक्षणः; तथा माया गन्धर्वनगर मृगतृष्णाकानामपि या बुद्धयः 'अतस्मिन् तत्' इति व्यवसायाः, तत्रापि अनेनैव कल्पेन मिथ्योपलब्धिविनाशः तत्त्वज्ञानात्, नार्थ प्रतिषेध इति।

पृष्ठ १८०

टिप्पणी ९—'ज्ञान-व्यभिचार'—

यत् तदुदकादिज्ञानमुपजायते मरीचिषु स्पन्दमानेषु, न तत्रार्थो व्यभिचरति। न हि ते न मरीचयो न वा स्पन्दन्ते, किन्तु ज्ञानं व्यभिचरति। अतस्मिन् तदिति भावादिति ज्ञानस्य व्यभिचारः, नार्थस्य।

(उद्योतकर—न्यायवार्तिक १।१।४)

पृष्ठ १८२

टिप्पणी १०—'योगि-प्रत्यक्ष' का वर्णन

योगियों के प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषय में भर्तृहरि का महत्त्वपूर्ण कथन है कि जिन व्यक्तियों ने भीतर प्रकाश का दर्शन किया है तथा जिनका चित्त किसी प्रकार व्याघातों से अशान्त नहीं होता; उन्हें भूत तथा भविष्य काल का ज्ञान सद्यः हो जाता है और यह ज्ञान वर्तमान-कालिक प्रत्यक्ष से कथमपि भिन्न नहीं होता—

अनुभूत-प्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
(वाक्यपदीय १।३७)

पृष्ठ १८३

टिप्पणी ११—'पक्ष' का लक्षण—

सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति ।
स पक्षः ··· ··· ··· ··· ··· ···॥
(भाषापरिच्छेद, कारिका ७०)

पृष्ठ १९०

टिप्पणी १२—व्याप्ति परीक्षा में बौद्ध मत

तर्कप्रणाली में व्याप्ति की परीक्षा बड़ी आवश्यक है। हम कतिपय मानवों में ही मरणधर्मता को देखते हैं और उसी के आधार पर सब मानवों में उस धर्म को विद्यमान मान बैठते हैं। यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? ऐसी सार्वत्रिक व्याप्ति किस प्रकार यथार्थ मानी जा सकती है? इस विषय में बौद्ध नैयायिकों—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि ने व्याप्ति के निषेधात्मक पक्ष पर विशेष जोर दिया है। साध्य के अभाव में हेतु की अनुपलब्धि यदि मिले तो वह व्याप्ति यथार्थ मानी जायेगी। उनके मतानुसार व्याप्ति (अविनाभाव) का प्रत्येक दृष्टान्त हेतु तथा साध्य के नियत सम्बन्ध को सूचित करता है। यह सम्बन्ध तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्य-कारणभाव) पर आश्रित रहता है। पर्वत वह्निमान है, धूम की सत्ता रहने से' यहाँ जहाँ-जहाँ साध्य का (वह्नि का) अभाव है वहाँ हेतु की (धूम की) भी उपलब्धि नहीं होती, जैसे—तालाब तथा कुयें में। इसलिए यहाँ व्याप्ति बिलकुल ठीक है।

टिप्पणी १३—व्याप्ति परीक्षा में वेदान्तमत

वेदान्त मत बौद्ध मत से पृथक् है। वेदान्तियों का कहना है कि व्याप्ति साहचर्य के (एक साथ रहने) अवलोकन पर आश्रित रहती है। यदि दो वस्तुयें सदा एक साथ रहती हों (सहचार) तथा इसके विपरीत कोई भी दृष्टान्त हमारी दृष्टि में नहीं आया हो, तो वहाँ व्याप्ति सम्बन्ध ठीक माना जाता है; अर्थात् व्याप्ति की यथार्थता के लिए साध्य तथा हेतु का सहचार (एक साथ रहना) ही आवश्यक नहीं है; प्रत्युत व्यभिचार (उलटा उदाहरण)

का अदर्शन भी उतना ही आवश्यक होता है। फलतः व्यभिचार के अदर्शन के साथ ही साथ सहचार का दर्शन जहाँ होगा वहीं व्याप्ति ठीक मानी जायेगी। वेदान्तपरिभाषा का यही कथन है (पृष्ठ ८३)—व्यभिचारादर्शने सति सहचार-दर्शनेन गृह्यते व्याप्तिः। वेदान्त का यह मत न्याय को भी सम्मत है।

पृष्ठ १९८

टिप्पणी १४—आकाङ्क्षा आदि त्रिविध साधन

पद के समूह को वाक्य कहते हैं, परन्तु इन पदों में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक होता है। आकाङ्क्षा वहाँ होती जहाँ कोई पद दूसरे पद के अभाव में वाक्य के पूरे अर्थ को प्रकट नहीं करता। अन्नंभट्ट के शब्दों में—'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकाङ्क्षा'। यथा—'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' यह पदों का समूह होने पर भी वाक्य नहीं है, क्योंकि कोई भी पद वाक्य के सम्पूर्ण अर्थ को 'गच्छति' के समान क्रियापद के अभाव में प्रकट नहीं करता। योग्यता का अर्थ है—अर्थ का बाधित न होना (अर्था-बाधो योग्यता)। 'आग से सींचता है'—वाक्य नहीं है, क्योंकि सींचना-क्रिया से आग जैसी ठोस चीज का सम्बन्ध नहीं बैठता। सन्निधि का अर्थ है—पदों के उच्चारण में समीपता। यदि इस समय कोई कहता है—'घड़ा' और घण्टे भर के बाद कहता है 'लाओ', तो यहाँ 'घड़ा लाओ' यह वाक्य नहीं बन सकेगा। अत एव वाक्य के अर्थ-बोध में इन तीनों की आवश्यकता सदा रहती है।

पृष्ठ २००

टिप्पणी १५—कार्य-कारण का लक्षण और सम्बन्ध

'कारण' का मान्य लक्षण है—"अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्" (दीपिका, पृ० २५ तथा मुक्तावली, का० १६)। प्रागभाव के प्रतियोगी की संज्ञा 'कार्य' है (कार्यं प्रागभाव-प्रतियोगि)। जिस वस्तु का अभाव होता है, उसे अभाव के प्रति 'प्रतियोगी' कहते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कारण (मृत्तिका) में कार्य (घट) का अभाव 'प्रागभाव' है। इसके प्रतियोगी को अर्थात् घट को कार्य कहेंगे।

कार्य-कारण सम्बन्ध की मीमांसा दर्शनशास्त्र का नितान्त मौलिक कार्य है, क्योंकि इसी सम्बन्ध पर अन्य सिद्धान्तों की संगति सिद्ध होती है। कार्य-कारण का सम्बन्ध चार प्रकार का माना जाता है—(१) असत् से सत् की उत्पत्ति (बौद्ध) (२) सत् से सत् की उत्पत्ति (सांख्य-सत्कार्यवाद)

(३) सत् से असत् कार्य का उदय (वेदान्त-विवर्तवाद) तथा (४) सत् की उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य की उत्पत्ति (न्याय)। न्याय के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती, अर्थात् कारण-सामग्री के उपयोग करने से मृत्तिका में 'घट' नामक एक अभूतपूर्व नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है। नैयायिक दृष्टि में कार्य उपादान कारण से एकदम भिन्न है। जिस सूत्र-समूह से पट बनता है, वह सूत ही कपड़ा नहीं है; प्रत्युत कपड़ा सूत से अत्यन्त भिन्न है। कारणव्यापार से पूर्व कारण में विद्यमान कार्य नहीं रहता। अतः इस सिद्धान्त का नाम असत्-कार्यवाद या **आरम्भवाद** है।

पृष्ठ २०६

टिप्पणी १६—उदयानाचार्य की ईश्वरसिद्धि विषयक युक्तियाँ

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि अकाट्य युक्तियों के सहारे की है। उन्हीं की कतिपय युक्तियाँ संक्षेप में दी जाती हैं—(१) **कार्यात्**—जगत् समस्त पदार्थ परमाणुजन्य, सावयव तथा अवान्तर महत्त्व-विशिष्ट हैं। कार्य के लिए कर्ता की सत्ता मानना उचित ही है। घट की उत्पत्ति तदुत्पादक कुलाल की सत्ता के विना न्यायसंगत नहीं है; उसी प्रकार कार्यरूप इस जगत् की सृष्टि करने वाला कोई चेतन पदार्थ अवश्य होगा। (२) **आयोजनात्**—सृष्टि के अवसर पर परमाणुद्वय के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है, परन्तु जड परमाणुओं का एक साथ आयोजन होना स्वयं सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए किसी चेतन पदार्थ की कल्पना नितान्त तर्कयुक्त है। (३) **धृत्यादेः**—तीसरी युक्ति संसार के धारण करने के विषय में है। यदि कोई चेतन धारण करनेवाला न होता तो यह जगत् कब का गिर गया होता। इस सृष्ट जगत् का नाश प्रलयकाल में होता है अतः नाश के लिए किसी नाशकर्ता की आवश्यकता बनी हुई है। (४) **पदात्**—इस जगत् में अनेक कला-कौशल विद्यमान हैं, जैसे वस्त्र का बनाना, गृह की एक विशिष्ट प्रकार से रचना करना। इस सम्प्रदाय-व्यवहार के लिए इसकी उत्पत्ति के लिए किसी ज्ञानवान् व्यक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। (५) **प्रत्ययतः**—श्रुति हमारे लिए परम प्रमाण है। उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों में किसी प्रकार की त्रुटि या विप्रतिपत्ति नहीं होती। कितने भी कुशाग्रबुद्धि के द्वारा किया गया अनुमान श्रुति की शिला पर पटके जाने से, विरुद्ध होने पर चूर-चूर हो जाता है। श्रुति की इस प्रमाण-श्रेष्ठता का रहस्य क्या है? यही कि यह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा निर्मित की गई है। श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। (६) **श्रुतेः**—

श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर की सिद्धि बतलाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।११) प्रतिपादित कर रहा है कि ईश्वर सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह सबका नियामक तथा रक्षक है। भगवद्-गीता (९।१७) में श्रीकृष्ण ने अपने को जगत् का पिता, माता, धाता तथा प्रभव; प्रलय तथा स्थान बतलाया है। (७) वाक्यात्—महाभारत आदि ग्रन्थों के रचयिता के समान वाक्यभूत वेदों का भी कोई रचयिता अवश्य होगा। (८) संख्याविशेषात्—द्वयणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणुगत परिमाण (पारिमाण्डल्य) से न होकर परमाणुगत संख्याद्वय से होती है, ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। यह द्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धि के द्वारा उत्पन्न होती है जो चेतन व्यक्ति के ही द्वारा निष्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में द्वयणुकों में संख्या की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर रही है। (९) अदृष्टात्—धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म का अपर नाम अदृष्ट है। अदृष्ट कर्म-फल के उत्पादन में कारणभूत माने जाते हैं, परन्तु जड़ अदृष्ट में फलोत्पादन शक्ति बिना चेतन की प्रेरणा के सम्भव नहीं। अतः अदृष्ट की फलवत्ता के लिए भी ईश्वर को मानना ही न्यायसंगत होगा। इन युक्तियों की सहायता से न्याय ईश्वर की सिद्धि स्वीकार करता है।

इन युक्तियों को संक्षेप में उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि (५।१) के एक श्लोक में इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

> कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

पृष्ठ २०७

टिप्पणी १७—न्यायमत में प्रवृत्ति का विचार

मनुष्य की प्रत्येक चिकीर्षा (करने की इच्छा) किसी विशेष प्रयोजन के ऊपर आश्रित रहती है। चिकीर्षा के तीन हेतु हैं—(१) कृतिसाध्यता-ज्ञान—इस बात का ज्ञान कि यह कार्य हमारे द्वारा साध्य हो सकता है; (२) इष्टसाधनताज्ञान—कार्य के करने से किसी अभिलषित वस्तु की सिद्धि का ज्ञान; (३) बलवदनिष्टाजनकताज्ञान–बलवान् अनिष्ट के न उत्पन्न होने का ज्ञान। इन तीनों ज्ञानों की चिकीर्षा के प्रति हेतुता है, प्रथम दो भावात्मक हेतु हैं और अन्तिम अभावात्मक हेतु है। समग्र प्रकृति के मूल ये ही हैं। कार्य हमारे प्रयत्नों से साध्य हो सकता है, इसका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञान के अभाव में वर्षा

की उत्पत्ति अथवा चन्द्रमण्डल के पकड़ने में जीव की प्रवृत्ति नहीं होती। अभीष्ट वस्तु की सिद्धि का ज्ञान भी जब तक नहीं है, तब तक हमारी प्रवृत्ति हो नहीं सकती। तृप्त पुरुष के भोजन में अप्रवृत्ति का कारण यही है। बलवान् अनिष्ट की अनुत्पत्ति का ज्ञान भी प्रवृत्ति उत्पन्न करने में साधक होता है। रोग से दूषितचित्त पुरुष विषभक्षण कर आत्महत्या इसीलिये कर लेता है कि उसे बलवान् अनिष्ट न उत्पन्न होने का ज्ञान रहता है। उपादान का प्रत्यक्ष होना भी इसी प्रकार हेतु होता है। संक्षेप में प्रवृत्ति के दो कारण हैं—कार्यताज्ञान (इस काय का करना हमारा कर्तव्य है, इसका ज्ञान) तथा इष्टसाधनताज्ञान (कार्य के करने से इष्ट वस्तु की उत्पत्ति का ज्ञान)। प्रथम पक्ष प्रभाकर मीमांसकों का और द्वितीय पक्ष नैयायिकों तथा भाट्टमतानुयायी मीमांसकों का है।

प्रवृत्ति के तीन कारण हैं—राग (सुख देनेवाले पदार्थों में आसक्ति), द्वेष (प्रतिकूल वस्तुओं से विरक्ति) तथा मोह (वस्तु के यथार्थ रूप को न जानने से मिथ्याध्यवसायवस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणो मिथ्याध्यवसायो मोहः)—ये तीन प्रवृत्ति के साक्षात्कारण हैं। ये तीनों विशिष्ट समुदाय के प्रतिनिधि हैं। अतः गौतम ने ४।१।३ सूत्र में इनके सम्मिलित रूप को 'त्रैराश्य' कहा है। रागपक्ष में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ की गणना है। द्वेषपक्ष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया द्रोह, अमर्ष का तथा मोहपक्ष में मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (किं स्विदिति विमर्शः = यह क्या है ? ऐसा विचार), मान (असद्‌गुणाध्यारोपेण स्वोत्कर्ष-बुद्धिः = अविद्यमान गुणों की कल्पना कर अपने को उत्कृष्ट मानना = घमण्ड), प्रमाद (असावधानता) का समावेश किया जाता है। प्राणिमात्र की समस्त-प्रवृत्तियों का उदय इन्हीं कारणों से होता है, परन्तु राग-द्वेष के उत्पादक होने से प्रवृत्ति में सबसे अधिक हेतुता मोह की है। वात्स्यायन के द्वारा निर्दिष्ट 'पूर्वोक्ता दोषाः' का विस्तृत वर्णन जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (प्रवर्तनालक्षणो दोषः १।१।१८ में) किया है।

पृष्ठ २०८

टिप्पणी १८—मुक्त आत्मा का रूप—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।

(न्यायमञ्जरी, पृ० ७७)

टिप्पणी १९—मोक्ष का द्विविध रूप

उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है—(१) अपरनिःश्रेयस तथा (२) परनिःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपरनिःश्रेयस कहते हैं, विदेहमुक्ति को पर-निःश्रेयस। वाचस्पति ने तात्पर्य टीका (पृ० ८०-८१) में इन दोनों के अन्तर का विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ है—श्रवण, मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वीक्षिकी का उपयोग संशयादितत्त्व तथा प्रमाणतत्त्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्ययज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान आत्मसाक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। बिना योगज-ध्यान के आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पानेवाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी उपभोग से जब क्षीण कर देते हैं, तभी परनिःश्रेयस का उदय होता है।

परं निःश्रेयसं न तावद् भवति यावद् उपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते। तस्मात् तत्त्वसाक्षात्काराधानप्रयत्नात् परस्तदुपभोगप्रयत्नश्चास्थेयः। तथा च न तुल्यकाल उत्पादः परापरयोर्निःश्रेयसयोः—तात्पर्यटीका, पृ० ८१।

निःश्रेयसस्य परापरभेदात्। यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। परं च निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानात् क्रमेण भवति–(न्यायवार्तिक १।१।१)।

पृष्ठ २१०

टि० २०—न्याय का उद्देश्य—

दुःशिक्षितकुतर्कांश-लेश-वाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥

(न्यायमञ्जरी, पृ० ११)

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक दर्शन

पृष्ठ २२१

टिप्पणी १—शिवादित्य का समय

श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' में प्रमा के लक्षण का खण्डन किया है—तेषु तावत् तत्त्वानुभूतिः प्रमा इत्युक्तम् । इस वाक्य की टीका करते समय शंकर मिश्र ने इसे न्यायाचार्य के 'लक्षणमाला' ग्रन्थ का बतलाया है । ये न्यायाचार्य लक्षण-माला के कर्ता शिवादित्य मिश्र हैं । फलतः इनका समय १२ वी शती से इधर नहीं हो सकता ।

पृष्ठ २२३

टिप्पणी २—पदार्थ का लक्षण—

प्रमितिविषयाः पदार्थाः (सप्तपदार्थी), अभिधेयत्वं पदार्थस्य सामान्य-लक्षणम् (तर्कदीपिका, पृष्ठ २) ।

पृष्ठ २२४

टिप्पणी ३—तम का द्रव्यत्व परिहार

अन्धकार के विषय में नैयायिकों तथा वैशेषिकों की यही निश्चयात्मक धारणा है, पर श्रीधराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं । न्यायकन्दली में उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मत का वर्णन किया है। उनका कहना है कि किसी वस्तु पर आरोपित नील वर्ण के अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है । अतः वे तम को गुण के अन्तर्गत मानते हैं । उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन कर प्रकाशसामान्यभाव को स्वीकृत किया है (किरणा०, पृ० ११२) । माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ९०) में प्रभाकर मीमांसकों के एकदेशीय मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार अन्धकार आलोकज्ञान का अभाव रूप है; न कि आलोक-सामान्य का । इस प्रकार तम के स्वरूप के विषय में वैशेषिक ने खूब विवेचना की है । खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता दार्शनिकशिरोमणि श्रीहर्ष

इन मतवादों से पूरे परिचित थे। अतः उन्होंने औलूक दर्शन को तम के स्वरूप-निर्णय में नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनों का मनोरम सामञ्जस्य उपस्थित किया है :—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥
(नैषध० २२।३६)

पृष्ठ २२५

टिप्पणी ४—वायु की अनुपलब्धि—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः—(वैशेषिक सूत्र ४।१।७ तथा प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १६)।

टिप्पणी ५—प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप की कारणता

उद्भूत अर्थात् उत्पन्न रूप का ही नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होता है—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरः (भाषापरिच्छेद, कारिका ५४)।

टिप्पणी ६—वायु का प्रत्यक्ष—

तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवद् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव—(मुक्तावली, का० ४६)

पृष्ठ २२९

टिप्पणी ७—शरीर से आत्मा की भिन्नता

आत्मा शरीर से भिन्न है। इसके विषय में जयन्त भट्ट ने बड़ी ही सुन्दर युक्ति दिखाई है। शिशु का मुख विकसित दीखता है। यह हर्ष की सूचना है। हर्ष की यह स्मृति होने से ही शिशु के मुख में विकास दृष्टिगोचर होता है। स्मृति अनुभव के आधार पर होती है, परन्तु इस जन्म में अनुभव न होने से पूर्व-जन्म के अनुभव के कारण इस जन्म में यह स्मृति हो रही है। स्पष्टतः आत्मा शरीर से भिन्न है। जयन्त भट्ट का वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है—

तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो हर्षस्य च स्मृतिः।
स्मृतेरनुभवो हेतुः स च जन्मान्तरे शिशोः॥
(न्यायमञ्जरी, पृ० ४७०)

टिप्पणी ८—दुग्धपान में शिशु की प्रवृत्ति

द्रष्टव्य वैशेषिक सूत्र ३।२।४ तथा इस पर उपस्कार; प्रशस्तपादभाष्य। पृ० १२–१४; न्यायकन्दली, पृ० ७१–८८।

पृष्ठ २३०

टिप्पणी ९—आत्मा का अनुभव—

अब आत्मा के अनुभव पर विचार करना है। इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों में मतभेद सा दीख पड़ता है। वात्स्यायन का स्पष्ट मत है कि आत्मा अनुमान का विषय है तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इस अनुमान के लिंग हैं—(१।१।१० पर न्यायभाष्य)। किसी सुख देनेवाली वस्तु को पाने की इच्छा, दुःख देनेवाली वस्तु से द्वेष जिसमें उत्पन्न हुआ करता है, यही आत्मा है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिक आत्मा को अनुमेय मानते हैं, परन्तु पिछले नैयायिकों ने आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय माना है, तथा उसके प्रत्यक्ष के लिए एक पृथक् अन्तरिन्द्रिय (मन) स्वीकार किया है। इस मानस प्रत्यक्ष में भी मतभेद है। कोई नैयायिक आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होने पर 'अहमस्मि' (मैं हूँ) अहंप्रत्यय रूप से शुद्ध चैतन्यरूप में उसका अनुभव बतलाते हैं, परन्तु अन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्यरूप को प्रत्यक्ष का अविषय मान कर 'मैं जानता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में ज्ञातारूप से आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध स्वीकार करते हैं। आत्म-प्रत्यक्ष के साधनभूत मन के इन्द्रियत्व के विषय में नाना मत हैं। इन दोनों मतों का समन्वय जयन्त भट्ट ने यह कहकर दिखलाया है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मानने पर भी उसे अनुमेय मानना ही युक्तिसंगत है—''अनुमेयत्वमेवास्तु लिंगेनेच्छादिनाऽऽत्मनः'' (न्यायमञ्जरी, पृ० ४३४)।

आत्मा की अनुमेयता: प्राचीन मत

आत्मा का मानस प्रत्यक्ष-नवीन मत

दोनों का समन्वय जयन्त भट्ट

अहं-प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि कणाद को भी सम्मत है। आत्मा न तो आगमिक है और न अनुमेय; अपि तु प्रत्यक्षगम्य है। अनुमान के आश्रय लेने का अभिप्राय शरीरादि में आत्म-बुद्धि माननेवाले सन्देहवादियों

का निराकरण मात्र है। इसी अभिप्राय से शरीर में प्राण-अपान की सत्ता, निमेष, उन्मेष, जीवन कार्य आदि को कणाद ने आत्मसिद्धि में लिङ्ग बतलाया है।

पृष्ठ २३४

टिप्पणी १०—जाति तथा उपाधि का अन्तर—

अनेक व्यक्तियों में रहने पर भी कोई धर्म सामान्य या जाति नहीं बन सकता; जाति की बाधिका अनेक बातें हैं, जिनका एकत्र उल्लेख उदयनाचार्य ने इस प्रसिद्ध कारिका में किया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक-संग्रहः॥

जाति के बाधकों का निर्देश इस प्रकार है—

(१) व्यक्ति का एक होना—आकाश सर्वत्र एक ही होता है। इसलिए 'आकाशत्व' जाति नहीं हो सकती।

(२) व्यक्ति की तुल्यता—जहाँ भिन्न भिन्न शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक होते हैं, वहाँ भिन्न भिन्न जातियाँ नहीं होतीं। घट तथा कलश एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। फलतः व्यक्ति की तुल्यता होने से 'घटत्व' तथा 'कलशत्व' दो भिन्न जातियाँ नहीं हो सकतीं।

(३) संकर—जहाँ एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य में आ जायँ और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति प्रथम सामान्य में चले जायँ, तो 'संकर' दोष होता है। इस दशा में जाति नहीं होती। 'भूतत्व' तथा 'मूर्तत्व' को लीजिए। भूत पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूर्त भी पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन। यहाँ प्रथम चार व्यक्ति दोनों विभागों में वर्तमान हैं। फलतः 'संकरता' के कारण भूतत्व तथा मूर्तत्व जाति नहीं माने जा सकते।

(४) अनवस्था—घट की जाति है घटत्व। यदि घटत्व की भी जाति 'घटत्वता' मानें, तो उसकी भी जाति माननी पड़ेगी और इस सिलसिले का कहीं अन्त ही नहीं होगा। इस तरह जाति की जाति मानने में अनवस्था दोष आ जाता है ('इनफिनिट रिग्रेस' अंग्रेजी में ख्यात दोष)। इसलिए घटत्व आदि जाति की जाति नहीं होती।

(५) रूपहानि—स्वरूप की सिद्धि न होना। जहाँ जाति की कल्पना करने पर व्यक्ति के स्वरूप की हानि होती है, वहाँ जाति नहीं होती। 'विशेष' संख्या में बहुत होता है; तथापि 'विशेषत्व' जाति नहीं होती। विशेष सामान्य से विपरीत कल्पना है। उसमें जाति मानने से विशेष के रूप को हानि पहुँचती है।

(६) असम्बन्ध—सम्बन्ध न होना। जाति व्यक्ति में 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है। जहाँ यह सम्बंध सम्भव नहीं, वहाँ जाति नहीं होती। 'समवायत्व' जाति नहीं है, क्योंकि समवाय के साथ उसका समवाय सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका तात्पर्य यह है कि जाति केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहती है, सामान्य, विशेष तथा समवाय में जाति नहीं होती। किसी शब्द में 'त्व' लगा देने से वह जाति नहीं बनती, केवल उपाधि बनती है। ऐसे गुण जो अनेक वस्तुओं में तो रहते हैं, परन्तु जिनके द्वारा स्वतन्त्र जाति कल्पित नहीं हो सकती, वे उपाधि कहलाते हैं।

सामान्य के दो प्रकार होते हैं—(१) अखण्ड सामान्य तथा (२) सखण्ड सामान्य। अखण्ड सामान्य पदार्थ से साक्षात् सम्बद्ध होता है। इसे जाति कहते हैं। सखण्ड सामान्य पदार्थ से परम्परया सम्बद्ध होता है। इसी का प्रसिद्ध अभिधान उपाधि है जैसे दण्डत्व तथा दण्डित्व। समग्र दण्डों में रहने के कारण 'दण्डत्व' जाति का उदाहरण है। 'दण्डित्व' का अर्थ है दण्डधारण करनेवाले का भाव। यह तभी तक बना रह सकता है जब तक किसी ने दण्ड धारण कर रक्खा है। दण्ड-संयोग की अपेक्षा से ही 'दण्डित्व' कहा गया है। दण्डसंयोग हटते ही दण्डित्व धर्म भी हट जावेगा। इस प्रकार 'दण्डित्व' परम्परया सम्बद्ध है और इसी लिए यह 'उपाधि' का दृष्टान्त है।

साक्षात् सम्बद्धमखण्डसामान्यं जातिः। परम्परया सम्बद्धं सखण्डसामान्यम् उपाधिः (दीपिका किरणावली, पृष्ठ २२)।

बौद्ध लोग व्यक्ति से पृथक् 'जाति' नामक कोई पदार्थ नहीं मानते। 'सामान्य' कोई वास्तव चीज नहीं है, केवल नाममात्र है। अंग्रेजी शब्दों में कह सकते हैं कि सामान्य 'रीयल' न होकर 'नामिनल' है। उनकी दृष्टि में इसे सर्वगत मानें या सीमित मानें, दोनों दशाओं में दोष रहता है। जयन्त भट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में तथा श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' में इसका खण्डन किया है। जयन्त भट्ट के अनुसार व्यक्ति के साथ न तो जाति उत्पन्न होती है, न व्यक्ति के नाश के साथ नष्ट होती है; वह नित्य है। सब घट-व्यक्तियों के नष्ट हो जाने

पर भी 'घटत्व' विद्यमान ही रहता है। श्रीधर सामान्य को व्यक्ति के पहचान तथा नामनिर्देश का कारण मानते हैं। 'सामान्य' के कारण ही दो गो-व्यक्ति एक ही गो-नाम से पुकारे जाते हैं। पाश्चात्य दर्शन में भी सामान्य के विषय में 'नामिनलिज़्म' तथा रीअलिज़्म' के विभिन्न मत इस प्रकार विवाद के विषय है।

पृष्ठ २३८

टिप्पणी ११—न्याय तथा वैशेषिक मत में अन्तर

(१) वैशेषिक लोग द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं को 'अपेक्षाबुद्धि जन्य' मानते हैं। जब द्रष्टा के सामने कोई चीज आती है, उसका ज्ञान एक साथ ही नहीं हो जाता; प्रत्युत इनका ज्ञान एक एक कर होता है, जैसे 'यह एक चीज है,' 'वह एक चीज' है'। इसी कई एकत्व ज्ञान को अपेक्षा-बुद्धि कहते हैं। जब दो एकत्व का ज्ञान होता है, तो अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है कि 'ये दो चीजें हैं'। द्वित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है और इसी लिए यह अनित्य है। इस प्रका वैशेषिकों कों द्वित्वादि संख्या 'अपेक्षाबुद्धि-जन्य' है; यह सिद्धान्त मान्य है। नैयायिकों का मत इस विषय में भिन्न है। उनका कहना है कि द्वित्वादि संख्याओं का 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वारा केवल ज्ञान होता है, उत्पत्ति नहीं। वैशेषिक मत में द्वित्वादि संख्याओं की एक स्वयं स्वतन्त्र संज्ञा है, न्यायमत में ऐसा मान्य नहीं। एकत्व के ही अन्तर्गत ये सब अवान्तर संख्यायें हैं। जब कई एकत्व का भान होता है, तब द्वित्वादि संख्या का केवल ज्ञान होता है, स्वयं वह उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैशेषिक मत में द्वित्वादि संख्या 'अपेक्षाबुद्धि-जन्य' है, परन्तु न्यायमत में यह संख्या 'अपेक्षाबुद्धि-ज्ञाप्य' है। दोनों मतों में यही अन्तर है। निष्कर्ष यह है कि वैशेषिक मत में द्वित्व की कल्पना अनेक एकत्वों की कल्पना से स्वतन्त्र है। 'द्वित्व' एक स्वतन्त्र वस्तु है, जिसकी उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है, परन्तु न्यायमत में एकत्व की कल्पना के भीतर ही द्वित्व की कल्पना निविष्ट है। अतः अपेक्षाबुद्धि से इसकी केवल अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं (जैसा वैशेषिक मानते हैं)।

(२) पाकज उत्पत्ति—नैयायिकों का सिद्धान्त है कि घड़े को आग में डालने पर घड़े का नाश नहीं होता; प्रत्युत छिद्रों से होकर गर्मी परमाणुओं के रंग को बदल देती है। अतः घड़े का पाक होता है, परमाणुओं का नहीं। इसका

नाम 'पिठर पाक' मत है, परन्तु वैशेषिकों के मत में अग्नि व्यापार से परमाणु अलग अलग हो जाते हैं तथा पक कर लाल होकर वे ही द्व्यणुकादि क्रम से पुनः घटोत्पत्ति करते हैं। इसकी संज्ञा 'पीलु (अणु) पाक' है। पीलु-पाकवाद पर वैशेषिकों का बड़ा आग्रह है (मुक्ता०, का० १०५; न्या० मं०, पृ० ११-१२)।

(३) विभागज विभाग—विभाग से दूसरा विभाग उत्पन्न होता है। कागज से कलम का तथा कलम से हाथ का सम्बन्ध है। हाथ से ज्योंही कलम अलग हो जाता है, त्योंही कागज तथा हाथ का भी विभाग हो जाता है। यह विभाग एक अन्य विभाग से उत्पन्न होता है। दूसरा उदाहरण लीजिए। घड़े के परमाणुओं में जब चलन क्रिया होती है, तब एक परमाणु अन्य परमाणुओं से अलग हो जाता है और इसी कारण उनके रहने के आकाश-भाग भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। नैयायिकों को यह मान्य नहीं है। कारण यह है कि अवयवी से अवयव का (परमाणु का घट से) विभाग आदि माना जायगा, तो इनके बीच में रहने वाले नित्य समवाय-सम्बन्ध की दशा क्या होती। समवाय तो वहीं रहता है जहाँ वस्तुएँ कभी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकतीं। इसीलिए नैयायिक लोग इसे नहीं मानते। इसका खण्डन प्रशस्तपाद-भाष्य में किया गया है (पृ० १५२)।

न्याय तथा वैशेषिक के इन्हीं मतभेदों का निर्देश इस प्राचीन श्लोक में किया गया है—

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
> यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

पृष्ठ २३९

टिप्पणी १२—वैशेषिकों में 'अभाव' की कल्पना

कणाद तथा भाष्य में षट् पदार्थों का ही वर्णन मिलने के कारण 'अभाव' की कल्पना वैशेषिक दर्शन के इतिहास में पीछे के ग्रन्थकारों की अलौकिक सूझ है; यह कितने ही आलोचकों की धारणा है। शिवादित्य मिश्र के 'सप्तपदार्थी' ग्रन्थ में 'अभाव' का पदार्थों में प्रथम वर्णन मिलने से कुछ लोग उन्हें ही इस पदार्थ की प्रथम कल्पना करनेवाला मानते हैं, पर ये सब धारणायें भ्रान्त हैं। अभाव पदार्थ की कल्पना वैशेषिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। वास्तववाद के लिए अभाव की सत्ता उतनी ही यथार्थ तथा आवश्यक है जितनी भाव

पदार्थों की। वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखात्यन्ताभावरूपा मुक्ति के स्वरूप का विवेचन अभाव पदार्थ की कल्पना के बिना किया ही नहीं जा सकता। कणाद ने भी सूत्रों (१।२।१ तथा ६।१।३) में अभाव का वर्णन किया है, पर पदार्थ रूप से नहीं। उदयनाचार्य इसे सूत्रकार की त्रुटि या अननुमति मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि अभाव की कल्पना सूत्रकार को भी अभिमत थी, उन्होंने प्रतियोगी-मात्र के वर्णन करने से अभाव को भी पदार्थों में अंगीकार कर लिया है। अतः अभाव पदार्थ प्राचीन वैशेषिकों को भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार नवीन वैशेषिकों को। इसलिए 'अभाव' पदार्थ का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है :—

"एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः; प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्" (किरणावली)

प्रभाकरभट्ट अभाव को अधिकरणात्मक मानकर उसको पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते (मानमेयोदय, पृ० २९३–२९५)। नैयायिकों तथा भाट्टों ने गुरु-मत का खण्डन कर इसकी पृथक्-पदार्थता सिद्ध की है। द्रष्टव्य मुक्तावली (कारिका १२)।

पृष्ठ २४१

टिप्पणी १३—वैशेषिक मत में ईश्वर

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी गई या नहीं? इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में बड़ा मतभेद है। वैशेषिक सूत्रों में केवल दो सूत्र ईश्वर की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी व्याख्या में ऐकमत्य नहीं है, 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १।१।३) में 'तत्' शब्द ईश्वर का बोधक माना गया है, परन्तु वह धर्म का भी प्रतिपादक हो सकता है द्रष्टव्य उपस्कार)। वै सू० २।१।१८ सूत्र में अस्मद्विशिष्ट' शब्द ईश्वर के समान योगियों का भी बोधक माना जा सकता है। अतः सूत्रों में ईश्वर का विस्पष्ट निर्देश प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रशस्तपाद से लेकर अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वर की सिद्धि एकमत से स्वीकार करते हैं। प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत माना है, क्योंकि सृष्टिकाल में ईश्वर की सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) से ही जड़ परमाणुओं में आद्य स्पन्दन उत्पन्न होता है। भक्ति से संतोषित ईश्वर का

ईश्वर

अनुग्रह भी मोक्ष के सम्पादन में साधन माना गया है। गुणरत्न के कथनानुसार वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से 'पाशुपत' कहे जाते थे (षड्दर्शन-समुच्चयवृत्ति, पृ० ५१), जिस प्रकार शिव के भक्त होने से नैयायिक शैव कहे जाते थे। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का लांछन नहीं लगाया जा सकता।

ईश्वर का शरीर

वैशेषिक मतवाले भी अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि मानते हैं, जैसे नैयायिक। ईश्वर का शरीर होता है या नहीं ? यदि है, तो किस प्रकार का ? इस प्रश्न के उत्तर में काफी मतभेद है। अधिक ग्रन्थकारों का मत है कि ईश्वर का शरीर नहीं होता। शरीर उत्पन्न है आत्मा के धर्माधर्म से, परन्तु ईश्वर में धर्माधर्म नहीं होते। फलतः उसका शरीर भी नहीं होता (न्यायकन्दली पृ० ५६)। अन्य ग्रन्थकारों के मत में संसारी जीवों के धर्माधर्म से ईश्वर का शरीर बनता है और इसीलिए उनका अवतार भी होता है। किसी के मत में परमाणु और किसी के मत में आकाश ही ईश्वर का शरीर है।

पृष्ठ २४८

टिप्पणी १४—बौद्धों के द्वारा जातिखण्डन

बौद्ध दार्शनिक जातिकल्पना के सबसे कट्टर विरोधी और विदूषक हैं। उनकी आलोचना का सारांश यह है कि जगत् के स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ स्थिति के लिए पृथक् देश को ग्रहण करते हैं। घट से दण्ड पृथक् द्रव्य है, क्योंकि उसका स्थिति-साधक स्थान अलग है। परन्तु जाति के विषय में यह नहीं कह सकते; जाति के स्वतन्त्र पदार्थ होने से उसकी अनुभूति अलग होनी चाहिए थी, परन्तु उसका ग्रहण व्यक्तियों के अतिरिक्त कहीं भी अन्यत्र नहीं होता। पाचक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष होने पर क्या उनके सामान्य का कथमपि ग्रहण होता है ? पाचकों में जो सामान्यानुगत धर्म है, वह पाकक्रिया-मूलक है। पाक-क्रियाओं के विभिन्न होने पर भी एकाकार अनुगत धर्म के कारण उनमें परस्पर सादृश्य है। ऐसी दशा में सामान्य धर्म की उपलब्धि पाकक्रिया में होती है, न कि पाचक व्यक्तियों में। ऐसी विषम स्थिति में 'पाचकत्व' की कल्पना आकाशपुष्प के समान नितान्त निराधार और निःसत्त्व है। 'गोत्व' का अर्थ है गोभिन्न पदार्थों से (जैसे अश्वादिकों से) भिन्न पशुगत धर्म (तदितरेतरत्वम् अपोहः)। अतः व्यक्ति (स्वलक्षण) की कल्पना वास्तव है, जाति की सत्ता नामतः है, वस्तुतः नहीं। पण्डित अशोक

की यह व्यंग्योक्ति वस्तुतः मर्मस्पर्शिणी है कि पाँच अंगुलियों से अलग जो व्यक्ति सामान्यरूप (अगुलित्व) छठे पदार्थ का सद्भाव मानता है उसे अपने सिर पर सींगों की भी स्थिति माननी चाहिए—

इहासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमंगुलीषु।
साधारणं षष्ठमिहेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः॥

बौद्धों के 'अपोहवाद' की सिद्धि तथा सामान्य-निरास के लिए द्रष्टव्य महापण्डित रत्नकीर्ति कृत 'अपोहसिद्धि', पण्डित अशोक कृत 'सामान्य-दूषणदिक्-प्रसारिता, न्यायमञ्जरी'—पृ० २९८—३०० । जाति के मण्डन के लिए देखिए न्यायमञ्जरी, पृ० ३०१—३१८ ।

नवम परिच्छेद

सांख्य दर्शन

पृष्ठ २५१

टिप्पणी १—'सांख्य' का अर्थ

'सांख्य' नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त में छिपा हुआ है। प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने से इस दुःखमय जगत् की सत्ता है, परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय उसके लिए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक-ज्ञान कारण है तथा दुःख-निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की पारिभाषिकी संज्ञा है—पुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृति-पुरुष विवेक'। इसी का दूसरा नाम है संख्या = 'प्रकृतिसम्यक् ख्याति = सम्यग् ज्ञान = विवेकज्ञान। सांख्य दर्शन में 'संख्या' के नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा। महाभारत में 'सांख्य' शब्द की यही प्रामाणिक व्याख्या की गई है।

> संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
> तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः॥
>
> (महाभारत)

कुछ लोग तत्त्वनिर्णय के कारण गिनती के अर्थ में व्यवहृत होनेवाले 'संख्या' शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह व्याख्या उतनी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती जितनी पूर्वोक्त व्याख्या।

> दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
> कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥
>
> (महाभारत)

किसी वस्तु के विषय में उद्गत दोषों तथा गुणों की छानबीन करना 'संख्या' कहलाता है। 'संख्या' का अर्थ आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान भी किया गया है (शुद्धात्मकतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते—शाङ्करविष्णुसहस्रनामभाष्य)।

टिप्पणी २—सांख्य का उद्गम तथा विकास

सांख्य नितान्त प्राचीन दर्शन है। सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द 'योग' शब्द के साथ श्वेताश्वतर उपनिषद् (६ १३) में प्रथमतः उपलब्ध होता है; तथापि इसके अनेक माननीय सिद्धान्त उससे भी प्राचीन उपनिषदों से बीजरूप से मिलते हैं। सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुण का सिद्धान्त प्रथमतः छान्दोग्य में दृष्टिगोचर होता है। छान्दोग्य (६।४१) का कथन है कि अग्नि का रूप लाल है, जल का शुक्ल तथा पृथिवी का कृष्ण। इस जगत् की सृष्टि में ये तीनों ही रूप कारणभूत हैं। प्रकृति की कल्पना में श्वेताश्वतर ने इन्हीं वर्णों का उपयोग किया है। "प्रकृति एक है, अजा—उत्पन्न न होनेवाली है, लोहित, कृष्ण तथा शुक्ल रूपों को धारण करनेवाली है और अपने स्वरूपानुसार प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाली है।" 'इन्द्रियों से बढ़कर अर्थ; अर्थ से बढ़कर मन; मन से बढ़कर बुद्धि; बुद्धि से बढ़कर महान् आत्मा; महत् से बढ़कर अव्यक्त तथा अव्यक्त से बढ़कर पुरुष; पुरुष से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु नहीं होती।' कठ (१।३।१०, १३) के इस क्रम को सांख्य ने अपने ग्रन्थों में अपनाया है। प्रश्नोपनिषत् (६।२) में पुरुष की सोलह कलाओं का वर्णन मिलता है, जो सांख्य के सूक्ष्म शरीर की कल्पना का मूलाधार है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तों का भाण्डार है—

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां।
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥

(श्वेता० ४ ५)

ईश्वर प्रधान या प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवों का तथा गुणों का अधिपति है (श्वेता० ४।१६)। जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं से जाला तनता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा अपने को प्रकटित करता है (श्वेता० ६ १०) प्रकृति ईश्वर की मायाशक्ति है, इसीलिये प्रकृति का अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है (श्वेता ४।१०) तन्मात्रा, त्रिगुण तथा प्रकृति-पुरुष-विवेक के सिद्धान्त मैत्रायणी उपनिषद् (द्वितीय और तृतीय प्रपाठक) में संकेतित किये गये हैं।

सांख्य तथा बौद्ध दर्शन

बुद्धवचन तथा सांख्यदर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्धचरित में सिद्धार्थ आडार-कालाम जैसे सांख्य-

तन्त्रोपदेशक आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण के लिए जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि में भी कतिपय समानताएँ दृष्टिगत होती है। दुःख की सत्ता पर जोर देना, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता स्वीकृत करना, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था रखना तथा जगत् को सतत परिवर्तनशील मानना (परिणाम-नित्यता), अहिंसा आदि सिद्धान्त सांख्य तथा बौद्ध दर्शन दोनों में समानरूपेण मान्य हैं। परन्तु सांख्य के प्रकृति-पुरुष जैसे द्विविध तत्त्व की कल्पना, त्रिगुण के सिद्धान्त आदि बौद्ध दर्शन में उपलब्ध नहीं होते। बौद्धदर्शन आरम्भकाल में सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित अवश्य हुआ था। महाभारत के समय में अनेक सांख्याचार्यों का पता तो चलता ही है, साथ ही साथ तीन प्रकार के सांख्य का वर्णन भी मिलता है (महा० १२।३१८) एक सांख्य २४ तत्त्वों, दूसरा २५ तत्त्वों और तीसरा २६ तत्त्वों को अङ्गीकार करता था। महाभारत के जनक-पञ्चशिख संवाद में (शान्तिपर्व ३०३–३०८) सांख्य के प्रधान सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी लोकप्रिय दर्शन सांख्य ही है। इस प्रकार उपनिषद्, इतिहास, पुराण तथा स्मृति-ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि इसकी प्राचीनता तथा महनीयता की पर्याप्त बोधिका है।

कालविभाग

सांख्य दर्शन के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करने से निम्नलिखित समय-विभाग स्वीकृत किये जा सकते हैं—

(१) उपनिषदों तथा भगवद्गीता का सांख्य (१०००–८०० ई० पूर्व) इस काल में सांख्य वेदान्त के साथ सम्मिश्रित है तथा ईश्वरवाद का समर्थक है।

(२) महाभारत तथा पुराणों का सांख्य (लगभग १००–२०० ई० पूर्व)—इस काल में सांख्य वेदान्त के सिद्धान्तों से पृथक् होकर स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रकट होता है। सांख्य सिद्धान्तों में विशेष विकास दृष्टिगत होता है। चरक का सांख्य भी इसी काल के सांख्य से मिलता-जुलता है। चरक के सांख्य की अनेक विशेषताएँ (शरीर स्थान, १ अ०)—पुरुष को अव्यक्तावस्था में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव, मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा—महाभारत (१२।२१९) में भी उपलब्ध होती हैं, जिससे चरक पञ्चशिख के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

(३) ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट तथा सांख्यकारिका में वर्णित सांख्य (३०० ई० पू० ६०० ई०)। इस काल का सांख्य निश्चितरूपेण निरीश्वरवादी है। प्रकृति तथा पुरुष को अन्तिम तत्त्व मान कर विश्व की तात्त्विक व्याख्या की गई है। ईश्वर के लिए इस सांख्य में कोई स्थान नहीं है।

(४) विज्ञानभिक्षु का सांख्य (१६ शती)। विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक दार्शनिक थे। उन्होंने सांख्य से निरीश्वरवाद के लांछन को हटाकर पुनः सेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के लुप्त गौरव का पुनः उद्धार किया और उसका वेदान्त के साथ सुन्दर समन्वय उपस्थित कर उसे महाभारतकालीन व्यापकता प्रदान की है।

गुणरत्न ने (पृ० ६६) सांख्य के दो सम्प्रदायों का वर्णन किया है— मौलिक्य तथा उत्तर। मौलिक्य सांख्य में प्रत्येक आत्मा के लिए एक स्वतन्त्र प्रधान की कल्पना स्वीकृत की गई है। यह सिद्धान्त चरक-सांख्य से मिलता-जुलता है। अतः महाभारत तथा चरककालीन सांख्य 'मौलिक' सांख्य का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। 'उत्तर' सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य ही है।

पृष्ठ २५३

टिप्पणी ३—सांख्य की आचार्य परम्परा

सांख्यकारिका (७१ वीं कारिका) के अनुसार पञ्चशिख के अनन्तर शिष्य-परम्परा के द्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ था, परन्तु इस शिष्यपरम्परा का पूरा परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण के मध्यकालीन युग के कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों के नाम ये हैं—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठरवृत्ति); बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य, मूक (युक्तिदीपिका का० ७१); गर्ग और गौतम (जयमंगला)। इन सांख्याचार्यों के विशिष्ट मतों का निर्देश अनेक दर्शन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पौरिक के मत में प्रति-पुरुष प्रधान की पृथक् सत्ता रहती है (युक्तिदीपिका, पृष्ठ १६६) जो गुणरत्न के प्रमाण पर मौलिक्य सांख्यों का अन्यतम सिद्धान्त था (पृ० ६६)। आचार्य पञ्चाधिकरण के अनेक विशिष्ट मतों का उल्लेख प्रपञ्चसार-तन्त्र की पद्मपादाचार्य की टीका (१ म० पटल, ६४-६७ श्लोक) तथा युक्तिदीपिका में किया गया है। महत्-तत्त्व से पहले प्रधान के अनन्तर अनिर्देश्यस्वरूप एक तत्त्व की उत्पत्ति होती है; यह विचित्र मत (पञ्चाधिकरण) का ही था। वार्षगण्य के मत का निर्देश

योगभाष्य में ही है। जैन ग्रन्थों में भी इन आचार्यों का उल्लेख होना इनकी ऐतिहासिकता का पर्याप्त प्रमाण है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ५१) ने कपिल और माठर के अतिरिक्त उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति तथा वाद्धलि के नामों का निर्देश किया है।

पृष्ठ २५५

टिप्पणी ४—विन्ध्यवासी का उल्लेख

कुमारिल (श्लोकवार्तिक, पृ० ३९३, ७०४), भोजराज (भोजवृत्ति ४।२२) मेधातिथि (मनुभाष्य १।५५), युक्तिदीपिका (पृ० १०८, १४४, १४८) शान्तरक्षित (तत्त्वसंग्रह, पृ० ६३६), गुणरत्न (पृ० १०२ तथा १०४), मल्लिषेण (स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ६७) ने इनके विशिष्ट मतों का निर्देश किया है। प्राचीन सांख्यसम्मत 'अन्तराभवदेह' की कल्पना इन्हें मान्य न थी, जिसका उल्लेख अनेक बार मिलता है [अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना, श्लो० वा० आत्मवाद, श्लो० ६२; युक्तिदीपिका (का० ४०] इनके ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए वसुबन्धु ने 'परमार्थसप्तति' की रचना की। इस प्रकार इनका समय तृतीय शतक का अन्त तथा चतुर्थ का आदि (२५०–३२० ई०) प्रतीत होता है। इनका व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था—

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥

पृष्ठ २६१

टिप्पणी ५—व्यासभाष्य में 'प्रकृति' का स्वरूप

व्यासभाष्य (२।१९) में प्रकृति का स्वरूप अल्पाक्षरों में विवेचित किया गया है- "निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं अलिंगं प्रधानम्" तत्त्ववैशारदी ने इस वाक्य के गूढार्थ को विशद रूप से अभिव्यक्त किया है। पुरुषार्थ-क्रियाक्षमता का नाम 'सत्ता' है—वह वस्तु जो अपनी स्थिति से पुरुष के लिए क्रिया करने में समर्थ हो 'सत्' कही जाती है। असत्ता से तात्पर्य अत्यन्त अविद्यमानता (तुच्छता) से है। गुणत्रय की साम्यावस्थारूपिणी प्रकृति न तो किसी पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकती है, न गगनकमलिनी की तरह तुच्छ-स्वभावा है, सद् तथा असद् दोनों अवस्थाओं से विरहित है; तथापि शशविषाण की तरह नितरां असद् भी नहीं है। गुणक्षोभ न होने से व्यक्ति-रहित 'अव्यक्त'

और अन्यत्र लय न प्राप्त करने से वह है 'अलिंग' अर्थात् सृष्टि का जैसे वह आदि है, उसी प्रकार प्रलय का वही अन्तिम अधिष्ठान है, जिसमें समग्र पदार्थ लीन हो जाते हैं। सत्त्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति कारण-रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मिणी है (सां० का० १० और ११)।

टिप्पणी ६—विज्ञानभिक्षु के मत में 'गुण' का अर्थ—

गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते—(सां० प्र० भा० १।६१)।

टिप्पणी ७—गुणों का रूप और परिणाम--

उभय दशा में ये गुण परिणामशील हैं। अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशा में वे परिणामशील हैं। प्रकृति-अवस्था में उनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता, क्योंकि वे उस समय में अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इस दशा में भी परिणाम होता है, जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं; जब 'सत्त्वं सत्त्वतया परिणमित, रजः रजस्तया, तमश्च तमस्तया'। सृष्टि दशा में गुण 'परिणाम' को नहीं; प्रत्युत 'विकार' को उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है, परन्तु परिणाम विकार नहीं हो सकता। समानभाव से परिवर्तन 'परिणाम' है, परन्तु वैषम्यरूपेण परिवर्तन 'विकार' है। गुण इन्द्रियातीत हैं। उनका रूप कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, क्षित्यादिक विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं, जो मायिक और तुच्छ हैं—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥
(षष्टितन्त्र)

इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। बौद्धों के समान सांख्य सिद्धान्त भी परिणामनित्यता को स्वीकार करता है। प्रकृति नित्य-परिणामशालिनी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तित होते रहते हैं; परन्तु यह परिणाम ऐकान्तिक नहीं है, क्योंकि अवस्था परिवर्तित होने पर भी ये गुण अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जब गुणसाम्य के कारण अव्यक्तरूप में रहती है, तब प्रलय होता है। गुण-विषमता के कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्था में भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है। अन्तर

इतना ही होता है कि उस समय का परिणाम अपने से भिन्न वस्तुओं को पैदा न कर अपने को ही प्रकट किया करता है। इसे ही कहते हैं—सजातीय या 'स्वरूप परिणाम'। इस प्रकार भौतिक जगत् के विषय में सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि चितिशक्ति को छोड़कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तनशाली हैं—प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः (तत्त्वकौमुदी, का० ५)।

पृष्ठ २६५

टिप्पणी ८—पुरुष की अनेकता—

इन प्रमाणों में अरुचि होने पर नये प्रमाणों से भी पुरुष-बहुत्व की सिद्धि की जा सकती है। पुरुष देशकालातीत है, अत एव वह एक होगा; इसमें कोई आधार नहीं है। मन के देशातीत द्रव्य होने से क्या मन बहुसंख्यक नहीं माना जा सकता ? कालातीत का अर्थ है—विकारहीन। तो क्या विकारहीन होने से वस्तु एकसंख्यक ही होगी, इसका नियामक क्या है ? अतः देशकाल से अतीत होने पर भी पुरुष में बहुसंख्यकता अवश्यमेव विद्यमान है।

विशेष द्रष्टव्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्यक कृत योगभाष्य का बंगला अनुवाद पृष्ठ, ३३०–३३३।

पृष्ठ २६७

टिप्पणी ९—सांख्य में काल की कल्पना—

प्राचीन सांख्य में प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त 'काल' भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था (श्रीमद्भागवत ३।६।२)।

> अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
> अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥
>
> (विष्णुपुराण, प्रथमांश २।२६)

इस काल के कारण पुरुष के सान्निध्य में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिकों की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है। पीछे का सांख्य स्वभाव को पुरुष के व्यतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुण की प्रबलता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। गुणों में वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्त्व की प्रधानता

पहले रहती है। अतः महत् तत्त्व में सत्त्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृति में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है; भूत-सृष्टि में तम की ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

पृष्ठ २७१

टिप्पणी १०—सांख्य मत में शरीर की कल्पना—

वाचस्पति मिश्र के अनुसार शरीर दो प्रकार का होता है—(१) स्थूल शरीर तथा (२) सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के मत में ये चार ही महाभूतों से उत्पन्न माने जाते हैं, क्योंकि आकाश किसी भी वस्तु का उत्पादक (आरम्भक) नहीं होता (सांख्यसूत्र ३।१८) और किसी के मत में वे एक ही भूत से उत्पन्न होते हैं (सांख्यसूत्र ३।१९)। सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार, ११ इन्द्रिय तथा ५ तन्मात्र के समूह को कहते हैं। इसी का दूसरा नाम लिङ्ग शरीर है (सांख्यकारिका का० ४०)। इसे सत्रह वस्तुओं का समूह जब कहा जाता है, तब वह अहंकार को बुद्धि के अन्तर्गत मान कर ही (सांख्य सूत्र ३।९—सप्तदशैकं लिङ्गम्) विज्ञानभिक्षु इन शरीरों से अतिरिक्त एक तीसरा शरीर भी मानते हैं, जिसका नाम 'अधिष्ठान शरीर' है। जब सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करता है, तब इसके लिये जो आधार होता है उसे 'अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। सांख्य सूत्र ३।१२ (न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावत् चित्रवच्च) के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट दिखलाया है कि अधिष्ठान शरीर के बिना स्वतन्त्र रूप से सूक्ष्म शरीर अन्य स्थूल शरीर में नहीं जा सकता—छाया तथा चित्र के समान। छाया किसी आधार को चाहती है तथा चित्र अपनी स्थिति के लिए किसी आलम्बन को चाहता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को अधिष्ठान शरीर की अपेक्षा रखता है। विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग में

> चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
> तद्वद् बिना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥
> (सां० कारिका ४१)।

की व्याख्या अपने अनुकूल कर अधिष्ठान शरीर के लिए ईश्वर-कृष्ण का भी प्रमाण खोज निकाला है। वाचस्पति ने कौमुदी में मरण तथा जन्म के बीच में बुद्धि आदि के आश्रय लेनेवाले शरीर को सूक्ष्म शरीर ही माना है। वे अधिष्ठान-शरीर की कल्पना को मान्य नहीं मानते। (द्रष्टव्य कारिका ४१ की कौमुदी)।

पृष्ठ २७२

टिप्पणी ११—सांख्य में 'अनुभव' की प्रक्रिया

जबतक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता तब तक अनुभव का उदय नहीं होता। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के सम्पर्क होने का ही दूसरा नाम ज्ञान है—"उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते" (त० कौ० का० ५)। इस ज्ञान के साथ पुरुष के संयुक्त होने का फल तत्कालीन अनुभव में स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है—'चेतनोऽहं करोमि = मैं चेतन करता हूँ' यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का परिणाम है, क्योंकि न तो वस्तुतः निष्क्रिय पुरुष कार्य का सम्पादन कर सकता है और न कार्य करनेवाली बुद्धि में विचार करने की शक्ति है।

बुद्धितत्त्व प्राकृत होने से स्वभावतः अचेतन है, तथा उसमें पदार्थ की उपस्थिति होने पर जायमान अध्यवसाय तथा सुखादि भी उसी प्रकार अचेतन हैं। इधर चेतन पुरुष निःसंग होने से सुख दुःखादिकों से नितान्त असंपृक्त है। बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिम्ब पड़ने से दोनों का उपकार होता है। 'बुद्धिच्छायापत्ति' का यह अर्थ नहीं है कि पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रत्युत प्रतिबिम्ब में बुद्धि धर्मों का आरोप किया जाता है। इस बुद्धिच्छायापत्ति से चेतन अपने को सुख तथा ज्ञान आदि से संयुक्त समझने लगता है और पुरुष के संसर्ग (चिच्छायापत्ति) से अचेतन बुद्धि अपने को चेतन के समान समझने लगती है तथा उसका अचेतन अध्यवसाय चेतन के सदृश हो जाता है (कौमुदी का० ५)। पुरुष स्वभावतः असंग तथा निर्गुणातीत है, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने पर ही उसे भोक्ता तथा ज्ञाता कह सकते हैं—

"बुद्धावारोपितचैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्। ज्ञानेन सम्बन्धश्च चेतनोऽहं करोमीत्युपलब्धिः" (हरिदास भट्टाचार्य कुसुमांजलिटीका १।१४)। ऐसी दशा में ही वह अन्य दर्शनों में अभिमत जीव-स्थानीय होता है।

पृष्ठ २७७

टिप्पणी १२—सांख्य मत में भ्रमज्ञान तथा प्रामाण्यवाद

सांख्य दर्शन बुद्धिवृत्ति के द्वारा अनुभव प्राप्त करने का पक्षपाती है; तथापि विज्ञानवादियों के विपरीत बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान के समान ही उसे अभीष्ट है। बुद्धि में आरोपित पदार्थ का स्वरूप यदि बाह्य जगत् में विद्यमान उस पदार्थ

के रूप के साथ एकाकार हो, तो सांख्य की कल्पना में वह ज्ञान सच्चा कहलायेगा। अतः अनुभव की सत्यता की परीक्षा पदार्थ के भौतिक बाह्य रूप और बुद्ध्यारोपित पदार्थ रूप के अभिन्नाकार होने पर अवलम्बित रहता है। सांख्य-सम्मत भ्रान्ति की कल्पना विलक्षण है। उसकी सम्मति में माध्यमिकों, प्रभाकरों, वेदान्तियों और नैयायिकों के ख्यातिवाद अनेकांश में त्रुटिपूर्ण अत एव अनुपादेय हैं (सां० सू० ५।५२।५५)। शुक्ति में जब रजतज्ञान होता है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है), तब 'इदं' का ज्ञान सत् और 'रजतं' का ज्ञान असत् होता है। 'इदं' ज्ञान का आश्रय हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। अतः यह 'सत्' (विद्यमान) है। रजत ज्ञान का आश्रय हमारी इन्द्रियों से अगोचर है और नेदं रजतं (यह रजत नहीं है) ज्ञान के द्वारा उत्तरकाल में बाधित भी होता है, अतः वह 'असत्' है। भ्रान्तिज्ञान इस प्रकार सत्-असत् उभयविध पदार्थों पर आश्रित रहता है। यह है सांख्य का सदसत्-ख्यातिवाद (सां० सू० ५।५६)। पूर्वोक्त व्याख्या अनिरुद्ध-वृत्ति के अनुसार है, परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में सब पदार्थों का नित्य होने से स्वरूपतः अबाध है, परन्तु चैतन्य में आरोपित होने पर संसर्गतः बाध है (स्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति)। उदाहरणार्थ बाजार में बनियों की दूकानों पर रजत सद्रूप से विद्यमान है, परन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है। जगत् भी स्वरूपतः सत् है, परन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर असत् है—सदसदात्मक है (५।५६ पर सांख्यप्रवचनभाष्य)।

ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य सांख्य मत में 'स्वतः' माना गया है। 'प्रमाणाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः'— माधव के कथन का यही तात्पर्य है। 'स्वतः' का अर्थ होता है अपने आप। सांख्य की दृष्टि में ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य अपने आप ही होता है। उसे प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। सत्कार्यवादी होने से कोई भी ऐसी पदार्थ सांख्य मत में उत्पन्न नहीं होता जो पहले ही से कारण में विद्यमान नहीं होता। ऐसी स्थिति में ज्ञान के अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का जो उदय हुआ करता है, वह ज्ञान में स्वभावतः विद्यमान रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह आता ही कहाँ से ? जिस प्रकार कारण के व्यापार से मृत्तिका में स्थित घट की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार कारण के गुण से अथवा दोष से ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का अथवा अप्रामाण्य का उदय क्रमशः हुआ करता है। ये बाहरी वस्तुएँ नहीं हैं कि इनकी उत्पत्ति तर्कों के द्वारा सिद्ध की जाय। सांख्य का यही मत है।

टिप्पणी १३—सांख्य मत में अहिंसा तत्त्व

सांख्य वैदिक कर्मकाण्ड को दृष्ट उपाय के समान ही अकिञ्चित्कर स्वीकार करता है। परलोक में अदृष्ट फल साधन करनेवाले यज्ञों में क्षय तथा अतिशय रूप दो दोष विद्यमान हैं ही, परन्तु अविशुद्धि का दोष मुख्य है (सां० का० २)। पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही सद्यः देवत्व को प्राप्त कर लेता है। अतः यजमान तथा पशु दोनों की दृष्टि से यज्ञानुष्ठान उपादेय है, परन्तु सांख्य-योग की दृष्टि में इसमें पशु-हिंसा अवश्य होती है; पशु को प्राण-वियोग का असहनीय क्लेश भोगना पड़ता है; इसलिए इतने पापकर्म के लिये यथोचित पुण्यफल में से किञ्चित् पुण्य घट जाता है। इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में 'आवाप-गमन' दिया गया है। भाष्य में पञ्चशिख का यह प्रसिद्ध सूत्र उद्धृत है—'स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति।"

भागवत धर्म के साथ सांख्य के सम्बन्ध का भी यही रहस्य है। सांख्य-योग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम धर्म है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की मुख्यता मानी गई है। समस्त यम-नियम अहिंसामूलक हैं, तथा उनका प्रतिपादन 'अहिंसा' की विशुद्धि—अवदातता—के अभिप्राय से किया गया है। व्यासभाष्य (यो० सू० २।३०) में 'सत्य' की विवेचना करते समय स्पष्टतः लिखा है—"एषा सर्वभूतोपकारार्थे प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेत्; पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात् तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।" महाभारत की सत्यमीमांसा का भी तात्पर्य यही है—"यद् भूत-हितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।" तत्त्ववैशारदी में चोरों के प्रश्न के उत्तर में सार्थगमन के स्थान को बतलानेवाले 'सत्यतपाः' ऋषि की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से दी गई है। अतः सत्य से बढ़कर 'अहिंसा' को महत्त्व देना सांख्य दार्शनिकों के कर्तव्यशास्त्र की आधार-शिला है। इसलिए प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसामूलक होनी चाहिए। अतः अहिंसा के प्रचारक होने के कारण सांख्यदर्शन का सम्बन्ध भागवत धर्म से नितान्त घनिष्ठ है। (गुणरत्न-षड्दर्शन-समुच्चयवृत्ति, पृ० ९६)।

पृष्ठ २७९

टिप्पणी १४—सांख्य मत में अपवर्ग—

"यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव।"
(सांख्यप्रवचनभाष्य १७२)।

"द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः" —सांख्यसूत्र ६।६५।

पृष्ठ २८०

ठिप्पणी १५—ज्ञानी का कर्म—

क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते। तत्त्व-ज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामंकुरप्रसवः—(तत्त्वकौमुदी सां० कां० ६७)।

पृष्ठ २८१

टिप्पणी १६—सांख्य मत में ईश्वर

सांख्य के माननीय आचार्यों की एकमात्र सम्मति है कि जगत् की रचना तथा कर्मफल-प्रदान आदि कार्यों के लिए ईश्वर की सत्ता मानने के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। सांख्यसूत्रों ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि ईश्वर पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता—ईश्वरासिद्धेः—सा० सू० १।९३; प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः–सांख्यसूत्र ५।१०; सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—सांख्यसूत्र ५।११। ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है। अतः सांख्यसूत्र प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असिद्धि पर जोर देता हैं, परन्तु ईश्वरकृष्ण तथा कारिका के टीकाकारों ने स्पष्टतः ईश्वर का निषेध किया है। द्रष्टव्य कारिका और कौमुदी ५६–५७, सांख्यसूत्र और भाष्य १।९२–९५; ३।५६–५७; ५।२-१२। कुछ युक्तियाँ ये हैं:—

(१) कार्यभूत जगत् का कर्ता मानना तो उचित है ही, पर ईश्वर में उसकी कर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार—व्यापारहीन—है। अतः इस परिवर्तनशील जगत् का वह क्रियाशील कारण कभी नहीं हो सकता।

(२) चेतन पुरुष की कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होती है। इस जगत् की रचना में ईश्वर का कोई भी स्वार्थ नहीं जान पड़ता, क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है।

उसकी कोई भी इच्छा नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए वह इस व्यापार में प्रवृत्त होगा।

(३) जगत् के व्यापार में ईश्वर की प्रवृत्ति को कारुण्यवश मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सृष्टि के पहले विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के उत्पन्न न होने से जीवों में दुःख का सम्पर्क ही नहीं है, जिसके नाश की अभिलाषा ईश्वर में कारुण्य उत्पन्न करेगी। करुण्य से जगत् की उत्पत्ति और उत्पत्ति होने पर दुःखी प्राणियों की दीन दशा को देखकर कारुण्य की उत्पत्ति यदि मानी जाय, तो यह तर्क अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण नितान्त हेय ठहरता है। ऐसी दशा में ईश्वर में न तो कोई स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है और न कारुण्य की उत्पत्ति के लिए कोई युक्ति ही मिलती है। अतः बाध्य होकर ईश्वर का निषेध करना ही पड़ता है! विज्ञानभिक्षु इसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सांख्य को निरीश्वर नहीं मानते। कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर की सिद्धि भले न हो, परन्तु ईश्वर जगत् का साक्षी है, जिसके सन्निधिमात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है—परिणाम धारण कर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्यमात्र से लोहे में गति पैदा करता है। तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्—सांख्यसूत्र १।९६।

पृष्ठ २८३

टिप्पणी १७—कपिल की विशिष्टता—

> कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।
> कारुण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय॥
>
> (माठरवृत्ति)

दशम परिच्छेद

योग दर्शन

पृष्ठ २८४

टिप्पणी १—संहिता में योग

प्राणविद्या की महनीयता का प्रतिपादन संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में समभावेन उपस्थित किया गया है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में ऋक् संहिता के मन्त्रों का उल्लेख तथा व्याख्यान पुरःसर प्राणविद्या का उत्कृष्ट विवेचन है। दीर्घतमा ऋषि का कथन है कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है, जो सब इन्द्रियों का रक्षक है, कभी नष्ट नहीं होनेवाला है और भिन्न भिन्न मार्गों (नाड़ियों) के द्वारा बाहर-भीतर आता जाता है। यह प्राण अध्यात्म रूप में (शरीर में) वायु और अधिदैव रूप में आदित्य है (ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१७७।३)।

> अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
> स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

टिप्पणी २—ब्राह्मण में योग

प्राण ही अन्तरिक्ष का तथा वायु का द्रष्टा और पिता है। प्राणों की उपासना अनेक प्रकार से बतलाई गई है। प्राण ही देवतात्मक है। प्राण ही ऋषिरूप है। अतः देवताओं और ऋषियों की भावना प्राणों में करनी चाहिए। प्राण ही शयन के समय वागादि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रात्रि के समय वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद' है। अतः प्राण-अपान के संयोग को 'गृत्समद' कहते हैं। विश्व को पापों से बचाने के कारण प्राण 'अत्रि' है। इस शरीर में इन्द्रियों का सबसे बढ़कर वास या निवास कारण होने से प्राण ही 'वसिष्ठ' है। समस्त देव और श्रुतियाँ प्राणरूप हैं। अतः प्राण को इन विविध रूपों से उपासना करनी चाहिए (ऐत० आर० २।२।१०)।

टिप्पणी ३—उपनिषदों में योग

'संहिताओं में अनेक स्थलों पर अपने विशिष्ट अर्थ में योग' का प्रयोग मिलता है (ऋ० सं० १।५।३; १।१८।७; १।३०।७ आदि)। छान्दोग्य; बृहदारण्यक, कठ, मैत्री, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में योग की विशिष्ट प्रणाली का संकेत उपलब्ध होता है। कठ (१।१।१२; २।३।१०–११) का कथन है कि जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी जब किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तब इस अवस्था को 'परमा गति' कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं (तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्)। श्वेताश्वतर (२।७–१५) ने क्रियात्मक योग का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। समाधि करते समय सिर, गर्दन और रीढ़ को एक सीध में रखना, इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करना, श्वास-प्रश्वास का नियम करना, कंकड़, आग, बालू से रहित समतल, पवित्र, मनोऽनुकूल स्थान पर (विशेषतः गुफा में) योग का अभ्यास करना; योगसिद्धि के होने पर लघुता, आरोग्य, वर्णप्रसाद, स्वरमधुरता आदि का स्वतः उत्पन्न होना—प्रत्याहार, प्राणायाम और समाधि के साक्षात् परिचायक हैं। छान्दोग्य (८।६), बृहदारण्यक (४।३।२०) और कौषीतकि (४।१९) में हृदय से पुरीतत तक जाने वाली 'हिता' नामक नाड़ियों का निर्देश किया गया है। उपनिषद्-साहित्य में २१ उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें योग का सर्वांगीण विवेचन है—(१) अद्वयतारक, (२) अमृतनाद, (३) अमृतबिन्दु, (४) क्षुरिका, (५) तेजोबिन्दु, (६) त्रिशिखि ब्राह्मण, (७) दर्शन, (८) ध्यानबिन्दु, (९) नादबिन्दु, (१०) पाशुपत ब्रह्म, (११) ब्रह्मविद्या, (१२) मण्डलब्राह्मण, (१३) महावाक्य, (१४) योगकुण्डली, (१५) योगचूडामणि, (१६) योगतत्त्व, (१७) योगशिखा, (१८) वराह, (१९) शाण्डिल्य, (२०) हंस, (२१) योगराज। इन उपनिषदों में योग के समस्त आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि का पूर्ण विवरण मिलता है जिसके अनुशीलन से पिछले युग में योग के विकास का पूरा परिचय मिलता है।

पृष्ठ २८६

टिप्पणी ४—व्यासभाष्य का रचनाकाल

व्यासभाष्य पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास की रचना नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी इतनी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। इस भाष्य में बौद्ध ग्रन्थों के

वाक्यों से अल्पाधिक सादृश्य मिलता है। ३।१३ के भाष्य में दिए गए अनेक वाक्य भदन्त धर्मत्रात, भदन्त घोषक, भदन्त वसुमित्र तथा बौद्ध ग्रन्थकार बुद्धदेव के प्रसिद्ध मतों के प्रतिपादक वाक्यों से साम्य रखते हैं। योगभाष्य ३।१७, पातञ्जल महाभाष्य (५।२।६४) से हूबहू समानता रखता है। जयन्तभट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में (पृ० ८७, काशी संस्करण) 'अन्यत्राप्युक्तम्' कहकर जिस वाक्य का निर्देश किया है वह योगभाष्य (२।१५) में उपलब्ध होता है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१।२।६) में योगभाष्य (३।१३) के एक वाक्य का उद्धरण बिना नाम के ही किया है। न्यायभाष्य (३।२।१५) में परिणाम का लक्षण योगभाष्य (३।१३) से ही अक्षरशः गृहीत है। फलतः हम व्यासभाष्य को विक्रम की तृतीय शती से प्राचीन मानते हैं। सूत्रशैली भी प्राचीनता की द्योतिका है। द्रष्टव्य 'साहित्य पत्रिका' (पटना, वर्ष ७, अंक २)

पृष्ठ २६४

टिप्पणी ५—'विक्षिप्त' का अर्थ

चित्त की क्षिप्त दशा से उसकी 'विक्षिप्त' दशा सत्त्व गुण की अधिकता के कारण विशिष्ट होती है, क्योंकि इस दशा में चित्त कभी-कभी स्थिरता प्राप्त कर लेता है—

क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्। विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा। (तत्त्ववैशारदी १।१)।

टिप्पणी ६—एकाग्र तथा निरुद्ध वृत्तियों का अन्तर

चित्त की एकाग्र दशा में बाहरी वृत्तियों का निरोध होता है। निरुद्ध दशा में सब वृत्तियों का तथा सब संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार इन्हीं दोनों भूमियों में योग की सम्भावना रहती है—

एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च। इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः—(भोजवृत्ति १।२)।

पृष्ठ २६६

टिप्पणी ७—वृत्ति तथा संस्कार का चक्र—

संस्कारा वृत्तिभिः क्रियन्ते संस्कारेण च वृत्तयः।
एवं वृत्ति-संस्कार-चक्रमनिशमावर्तते॥

पृष्ठ २९७

टिप्पणी ८—सम्प्रज्ञात योग का स्वरूप—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि समुद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति; स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। योगभाष्य (१।१)।

पृष्ठ २९८

टिप्पणी ९—वितर्क का लक्षण

स्थूल आलम्बन में चित्त का जो 'आभोग' होता है, वह 'वितर्क' कहलाता है—"वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः" (व्यासभाष्य १।१७)। आभोग का अर्थ है—एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आरोपित होने पर दैहिक तादात्म्य।

पृष्ठ २९९

टिप्पणी १०—असम्प्रज्ञात-समाधि के भेद

असम्प्रज्ञात-समाधि दो प्रकार की है—भवप्रत्यय और उपाय-प्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही "असम्प्रज्ञात-समाधि" का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है—दोनों में स्व स्वामिभाव सम्बन्ध है। व्युत्थान (चित्त की विक्षिप्त) दशा में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भुला कर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार ग्रहण करता है। वृत्तिनिरोध होने पर वृत्तियों का आकार धारण नहीं करता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष की द्विविध गति की सम्भावना है—(१) जब चित्त पूर्ण चैतन्य प्राप्त कर द्रष्टा या साक्षी रूप से अवस्थित रहता है, अथवा (२) गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर जिस प्रकार एक ओर विषय-ज्ञान-शून्य हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर वह अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से भी वञ्चित रहता है। यह दूसरी दशा 'प्रकृति लय' या जड समाधि है। वृत्ति-निरोध होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तर्गत है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने से यह समाधि दशा है ही नहीं। पतञ्जलि उसे ही 'भवप्रत्यय' समाधि कहते हैं, जिसमें प्रकृतिलीन व्यक्तियों के समान विदेह देवता भी लीन रहते हैं। (यो० सू० १।१९)।

'उपाय-प्रत्यय' समाधि ही वास्तव समाधि है। उपाय का अर्थ है—प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। इसके साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि हैं। अर्थात्

सम्यक् ज्ञान के उदय होकर वृत्तियों के निरुद्ध होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसका नाम 'उपाय-प्रत्यय' है (यो० सू० १।२०)। 'भव-प्रत्यय' समाधि में कुछ समय तक चित्त अवश्य निरुद्ध होता है, परन्तु उसमें 'व्युत्थान' की आशंका बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के उदय न होने से कर्मजन्य संस्कारों का क्षय अभी तक नहीं होता; परन्तु 'उपाय प्रत्यय' में प्रज्ञा का उदय होने से क्रमशः संस्कारों के दाह होने से जो समाधि उत्पन्न होती है उसमें व्युत्थान की तनिक भी आशंका नहीं रहती। समस्त क्लेशों की जननी अविद्या है। अतः अविद्या को बिना दग्ध किये वृत्तिनिरोध होने पर भी क्लेशों का नाश नहीं होता। अविद्या का नाश शुद्ध ज्ञान के ही द्वारा हो सकता है, जिसकी प्राप्ति का पतञ्जलि-प्रदर्शित क्रम है— श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। भवप्रत्यय में क्षणिक निरोध होने पर भी अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होती, परन्तु उपाय-प्रत्यय में ज्ञानोन्मेष से पुरुष की चैतन्य रूप में प्रतिष्ठा होती है। अतः सच्चा समाधि उपाय-प्रत्यय ही है। बौद्ध धर्म में प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध का अन्तर ठीक इन्हीं दोनों समाधियों के अन्तर के समान है। अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण—'योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः' के साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ही है।

पृष्ठ ३०४

टिप्पणी ११—वैराग्य के दो प्रकार

जब तक साधक के हृदय में विषयों के लिए अभिलाषा बनी रहती है, तब तक चित्त में चाञ्चल्य कम नहीं होता। अतः चित्त की वृत्तियों को समेटने के लिए वैराग्य की बड़ी उपयोगिता है। वैराग्य दो प्रकार का है—अपर वैराग्य (भोगवितृष्णा) और पर वैराग्य (गुणवितृष्णा)। जब लौकिक तथा वैदिक विषयों के लिए चित्त में लेशमात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती, तब उन विषयों के ऊपर पुरुष का असाधारण अधिकार या प्रभुत्व उत्पन्न होता है। पुरुष समझता है कि ये विषय मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ। इसी वशीकरण का नाम 'वैराग्य' है। अभ्यास और अपर वैराग्य के सहयोग से पुरुष को 'सम्प्रज्ञात-समाधि' का उदय होता है। अस्मितानुगत समाधि में पुरुष बुद्धि से समन्वित होकर 'अस्मि' का बोध करता है। अस्मि के दो अंश हैं 'अस्' = सत्ता (सदंश) और 'मि' = उत्तर पुरुष या चैतन्य (चिदंश)। अस्मितासमाधि से विवेक-ख्याति का उदय होता है; अर्थात् सदंश से चिदंश का पृथक्करण करके पुरुष

स्वकीय निसर्ग-निर्मल स्वरूप-चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। 'परवैराग्य' सबसे उत्कृष्ट वैराग्य है, जिससे विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने पर चित्त गुणों से भी तृष्णा हटा लेता है। पुरुषख्याति के होने पर ही पुरुष को गुणों से वितृष्णा उत्पन्न होती है। भोगवितृष्णा होने से भोग्य जगत् में उसे आना नहीं होता; अब गुणवितृष्णा के उदय होने से पुरुष गुणों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इस 'परवैराग्य' के उदय होने से विवेकख्याति के भी निरोध होने पर असम्प्रज्ञात-समाधि का जन्म होता है। किसी आलम्बन के न रहने से इसको ही 'निर्बीज समाधि' कहते हैं। साधक की साधना में ऐसा एक अवसर अवश्य आता है जब उसके सामने सिद्धियाँ अनायास आने लगती हैं। जिस समय चित्त में सत्त्व के साथ-साथ रज का तनिक अंश अवशेष रहता है, तभी विभूतियों का उदय होता है, जिसे पतञ्जलि ने तृतीय पाद में बड़े विस्तार के साथ दिखलाया है। मधुमती भूमि में साधकों को ये सिद्धियाँ प्रलोभित करने लगती हैं। इस समय आसक्ति और अभिमान तनिक न करना चाहिए। जब पुरुष इन सिद्धियों के प्रलोभन को भी पार कर जाता है, तब 'कैवल्य' का अनुभव करता है। 'कैवल्य' का अर्थ है केवल (अकेले) रहने की स्थिति। बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध-विच्छेद होने पर पुरुष स्वरूप में चिद्रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, यही कैवल्य है। इस समय पुरुषार्थशून्य होने से गुणों का अपने कारण में प्रविलय हो जाता है—"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" (योगसूत्र ४।३४)।

पृष्ठ ३०५

टिप्पणी १२ – योगी के चार प्रकार

योगी चार प्रकार के होते हैं—(क) प्रथमकल्पित, (ख) मधुभूमिक, (ग) प्रज्ञाज्योति और (घ) अतिक्रान्त-भावनीय (योग भाष्य ३।५१)।

(क) प्रथमकल्पित योगी वे लोग होते हैं जो अष्टांगयोग से युक्त होने पर योगमार्ग में सद्यः प्रवेश करते हैं। वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होने लगता है।

(ख) मधुभूमिक योगी का चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है और देवता, अप्सरा आदि उसके पास उपस्थित होकर उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा को दशा होनी है। उसे आसक्ति और

अहंकार को दूर कर देना चाहिए; नहीं तो ये प्रलोभन उसे पदच्युत कर डालने में समर्थ होते हैं।

(ग) प्रज्ञाज्योति अवस्था में प्रज्ञाज्योतियों के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की पाँच प्रकार की अवस्थाओं पर अधिकार पाकर योगीगण भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय करने से योगी को वज्र के समान सिद्धदेह और अणिमा, महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तथा इन्द्रियजय होने पर मनोजवित्व, विकरणभाव (आश्रयहीन इन्द्रियों का अपने विषयों का ग्रहण) तथा भूतप्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाता है। इन सिद्धियों का नाम 'मधुप्रतीक' (यो० भा० ३।४६) है।

(घ) भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे 'विशोका' सिद्धि कहते हैं (यो० भा० ३।४६)। इसके बाद परवैराग्य के साथ-साथ त्रिगुण का राज्य समाप्त हो जाता है और योगी दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार कर परमपद में स्थित हो जाता है। इस दशा का नाम 'अतिक्रान्त-भावनीय' है। योगी की यही सर्वश्रेष्ठ चरम अवस्था है।

टिप्पणी १३—ईश्वर का रूप—

(क) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः—(योगसूत्र १।२४)।

(ख) यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य; स तु सदैव ईश्वरः (योगभाष्य १।२४)।

पृष्ठ ३०६

टिप्पणी १४—ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ

ईश्वर-प्रणिधान का निर्देश योगसूत्रों में तीन बार आता है—ईश्वरप्रणिधानाद् वा १।२३, तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः २।१, समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् २।४५। यहाँ 'प्रणिधान' का अर्थ है ईश्वर को ही अपने कर्म के फलों का समर्पण तथा कर्मफलों को स्वयं न भोगना। ईश्वर की योग में बड़ी उपयोगिता है। प्रकृति के विकास तथा परिणाम होने में जो-जो

प्रतिबन्ध आते हैं उन सबका दूरीकरण ईश्वर ही करता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र का कथन है—"ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थे प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः"। योगवार्तिक का कथन भी इसी प्रकार है—"ईश्वरस्तु साम्य-परिणामादि-रूपाखिलावरण-भंगेन उद्बोधकः"। भोजवृत्ति (२।४५) का भी यही कहना है कि ईश्वर प्रसन्न होने पर अन्तरायरूप क्लेशों को हटाकर समाधि का यथार्थ ज्ञान करा देते हैं—

स भगवान् ईश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं सम्बोधयति।

पृष्ठ ३०७

निर्माणकाय-सिद्धि

पुराणों में अनेकविध सिद्धियाँ वर्णित हैं, उनमें 'निर्माणकाय-सिद्धि' का प्रमुख स्थान है। निर्माणकाय 'निर्माणचित्त' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में यहाँ पर पुराण तथा अन्य शास्त्रों से प्रमाण उपस्थित करते हुये संक्षेप में विचार किया जा रहा है। पञ्चशिख नाम के प्रख्यात सांख्याचार्य ने योग-दर्शन के व्यासभाष्य में उद्धृत एक सूत्र[1] में यह स्पष्ट किया है कि परमर्षि कपिल ने आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश देते समय 'निर्माणचित्त' का आश्रय लिया था। वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु इस सूत्र को पञ्चशिख की रचना मानते हैं। इस सूत्र में प्रयुक्त 'कारुण्य' पद से यह ज्ञात होता है कि नाना प्रकार के दुःखों से घिरे हुये प्राणियों के उद्धार के लिए सिद्ध पुरुष भौतिक शरीर धारण करते हैं। बौद्धदर्शन में भी यह सिद्धान्त परलक्षित होता है। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समस्त प्राणियों के उद्धार की कामना से तथागत बहुधा निर्माणकाय का आश्रय लेते हैं। आचार्य असङ्ग के 'महायान सूत्रालङ्कार' की आचार्य वसुबन्धुरचित टीका में सम्भोगकाय से निर्माणकाय का पार्थक्य दिखलाया गया है। निर्माणकाय दूसरों के उपकार के लिए धारण किया जाता है, जब कि सम्भोगकाय निजी उपयोग के लिए गृहीत होता है। न्याय-दर्शन में यद्यपि निर्माणकाय शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है; तथापि जीवों के कल्याण के लिए समय समय पर भौतिक देह धारण करके ईश्वर अवतरित कहे

---

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

गये हैं। यह तथ्य न्यायग्रन्थों के लिए नवीन नहीं है। आचार्य उदयन ने अपने ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' में यह स्पष्ट बताया है कि ईश्वर अपने से रचे गये इस जगत् को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए सृष्टि के आरम्भ में गुरु के रूप में भौतिक देह धारण करते हैं। पाँचवें स्तवक में उदयन फिर कहते हैं कि ईश्वर केवल जगत् की सृष्टि के आरम्भ में ही इस प्रकार का शरीर धारण करते हों, ऐसी बात नहीं है; किन्तु जब कभी भी इस प्रकार के शरीर धारण करने की उनको आवश्यकता प्रतीत होती है, तभी वे अन्य रूप में भी शरीर धारण करके अपने सामर्थ्य की अभिव्यक्ति करते हैं।[1] यह सिद्धान्त शाङ्कर वेदान्त में भी प्रतिपादित है। "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" [ब्रह्मसूत्र १।१।२०]। इस वेदान्त सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु-हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" इस श्रुतिका ब्रह्म में तात्पर्य बताते हुये कहा है कि साधकों के कल्याण के लिये परमेश्वर अपनी इच्छा से मायामय शरीर धारण करते हैं[2]। आचार्य शङ्कर ने अपने मत की सन्तुष्टि के लिए महाभारत के इस पद्य को उद्धृत किया है—

> माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
> सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥

नारद मुनि ने श्वेत द्वीप में नारायण के जिस रूप का दर्शन किया था, उसके विषय में भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि हे नारद! तुमने मेरे जिस रूप का दर्शन किया है वह मेरा मायामय रूप है, तात्त्विक नहीं। फलतः इस श्लोक में भगवान् के निर्माणकाय का ही अन्य शब्दों में उल्लेख किया गया है। 'माया' शब्द का अर्थ यहाँ 'निर्माण' करना चाहिए। अतः इसमें किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिए कि सांख्य, बौद्ध और नैयायिकों की भाँति शाङ्कर अद्वैत मत में भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जीवों के उद्धार के लिए स्वयं परमेश्वर अथवा उसकी विभूतियों से सम्पन्न सिद्ध पुरुष समय-समय पर निर्माणकाय धारण करके अवतरित होते हैं। धर्म पर पड़े मालिन्य को हटाने तथा सात्त्विक मार्ग के अनुयायी साधुजनों की रक्षा के लिए भगवान् अवतार

---

१. गृह्णाति हि ईश्वरोऽपि कार्यवशात् शरीरमन्तरान्तरा दर्शयति च विभूतिमिति।

२. स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्।

धारण करते हैं, वे निर्माणकाय के अन्तर्गत ही आते हैं। जीवों के कल्याण और उनके उद्धार के लिये ही भगवान् निर्माणकाय को अङ्गीकार करते हैं। इसके लिये शरीर धारण का मुख्य हेतु करुणा ही है।

निर्माणकाय को स्वीकार करने के कुछ अन्य भी प्रयोजन हैं। अब हम उस पर विचार करते हैं—

(१) श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अलौकिक शक्ति से सम्पन्न, कन्दर्प कोटि लावण्यधारी, सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति, व्रजनन्दन श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रासलीला करते समय अनेक शरीर धारण किये थे। रासलीला में जितनी गोपियाँ सम्मिलित थीं उतने ही अपने रूप बनाकर आत्माराम श्रीकृष्ण ने उनके साथ क्रीडा की—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवान् ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥
(भाग० १०।३३।२०)

यहाँ पर 'लीला' पद निर्माणकाय की ओर ही संकेत करता है। श्रीमद्भागवत के ही दसवें स्कन्ध के उत्तरार्ध में एक दूसरी कथा है। श्रीकृष्ण गृहस्थाश्रम का किस प्रकार निर्वाह करते हैं, यह जानने के लिये नारद मुनि द्वारिका नगरी में जाते हैं। वहाँ वे देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार विवाहित पत्नियों के साथ एक ही काल में सर्वत्र विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण ही अनेक रूप धारण करके परस्पर विरोधी अनेक कार्यों में संलग्न हैं। अनन्त वीर्यशाली श्रीकृष्ण के इस योगमाया वैभव और कायव्यूह की सम्पत्ति को देखकर नारद आश्चर्य में पड़ जाते हैं—

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥ २॥
इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥ ४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम्।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः॥ ४२॥
(भाग० १०।६९)

(२) सौभरिमुनि में भी यह कायव्यूह सम्पत्ति थी। उन्होंने राजा मान्धाता की पचास कन्याओं के साथ विवाह किया था। विवाह के बाद उन्होंने पचास रूप धारण किये, इस प्रकार वे एक ही समय में सब स्त्रियों के साथ सहवास करते थे। इस पौराणिक कथा को वाचस्पति मिश्र ने भामती (४।४।११) में उद्‌धृत किया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी (४।५) में भी निर्माणकाय के प्रसङ्ग में निम्नलिखित पौराणिक श्लोक उदधृत किये हैं—

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।
एकधा च द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद् विषयान् केश्चित् केश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।

इनमें से अन्तिम श्लोक ब्रह्मपुराण (२३८।२७) में उपलब्ध है।

(३) योगी आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद अवशिष्ट प्राचीन कर्मों के उपभोग के लिए अनेक देह धारण करते हैं और उनसे उन कर्मों का भोग कर बन्धन से मुक्त हो कर कैवल्य प्राप्त करते हैं। 'प्रयोजकचित्त' नाम की मुख्य इच्छा से प्रभावित युगपत्-देह-सृष्टि 'कायव्यूह' नाम से जानी जाती है। इसी तथ्य का वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में इस प्रकार उपदेश करते हैं—"योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपज्ज्ञेयानुपलभते" (न्यायभाष्य ३।२।२०)। 'विकरणधर्मा' इस पद का तात्पर्यटीका में 'हमारी आपकी इन्द्रियों से विलक्षण' अर्थ किया गया है। योगी का इन्द्रिय-सामर्थ्य अद्‌भुत होता है, जिससे कि वह एक साथ ही अनेक शरीर धारण कर अनेक कर्मों को करता और नाना पदार्थों को जान लेता है।

(४) शङ्कराचार्य भी "विरोधः कर्मणीति चेन्नः अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्" (१।३।२७) ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहते हैं कि योगियों के समान देवों को भी निर्माणकाय-सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी सहायता से वे देवता लोग एक साथ ही अनेक देह धारण कर एक समय में अनेक यज्ञों में उपस्थित हो सकते हैं। इस प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य ने किसी स्मृति से दो श्लोक उद्‌धृत किये हैं, जो कुछ

पाठभेद के साथ ब्रह्मपुराण (२३८।२६-२७) में उपलब्ध होते हैं। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि वर्तमान पुराणों का शङ्कराचार्य को परिज्ञान नहीं था। इस उद्धरण से इस प्रश्न का खण्डन हो जाता है, शाङ्करभाष्य में अन्य स्थलों पर भी अनेक पौराणिक वचन 'स्मृति वचन' के नाम से उद्धृत हुए हैं।

(५) इच्छामृत्यु की सिद्धि के लिए योगी जन कायव्यूह का सहारा लेते हैं। कर्मों के उपभोग के बिना मृत्यु सम्भव नहीं है। वे कर्म ही योगी को फलभोग की ओर उन्मुख करते हैं। इस परिस्थिति में योगी की इच्छामृत्यु कैसे सम्भव हो सकती है ? इसके लिए योगी समग्र शेष कर्मों के उपभोग के लिए तथा प्रारब्ध कर्मों के तत्काल उपयोग के लिए अनेक शरीर धारण कर लेते हैं और इस प्रकार अल्प समय में ही फलभोग करके स्वेच्छामृत्यु की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार स्वेच्छामृत्यु की प्राप्ति के लिए भी कायव्यूह सम्पत्ति - नितान्त आवश्यक है।

'स्वोपक्रम' और 'निरुपक्रम' भेद से कर्म दो प्रकार का है। इनके संयम से व्यक्ति को अपनी मृत्यु की सूचना मिल जाती है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व-वैशारदी में योगसूत्र के रहस्य को इस प्रकार प्रकट किया है कि योगी अपने सोपक्रम कार्य को जान कर उसके उपयोग के लिए कायव्यूह की रचना करता है। इस प्रकार सभी कर्मों का फलभोग करके वह स्वेच्छामृत्यु का वरण करता है। निर्माणचित्त की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। देवताओं के शरीर धारण के प्रसङ्ग में वाचस्पति मिश्र भामती में कहते हैं कि प्राकृतजन के समान देवताओं के शरीर माता-पिता के सयोग से उत्पन्न नहीं होते, वरन् परमेश्वर की इच्छा मात्र से साक्षात् भूतों से उनकी उत्पत्ति होती है। आजान-सिद्ध देवताओं का ज्ञान दैशिक और कालिक व्यवधान से अवरुद्ध नहीं होता। देवता भूतजयी होते हैं। इसलिए किसी वस्तु के बनाने के लिये व स्वेच्छया कोई भी उपादान- ग्रहण कर सकते हैं। योगी भी इसी प्रकार किसी भी उपादान से किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। कार्य-कारण का नियम इनके लिए आवश्यक नहीं है।

निर्माणचित्त की उत्पत्ति के विषय में योगशास्त्र में इसके विपरीत दूसरा मत है—"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्" (४।४) तथा "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक-चित्तमेकमनेकेषाम्" (४।५)। इन सूत्रों में पतञ्जलि बताते हैं कि योगी केवल अस्मिता के बल से एक ओर यथेच्छ निर्माणचित्तों का उपपादन करता है, दूसरी

और वह एक प्रयोजकचित्त का भी निर्माण करता है, जो अन्य सभी चित्तों को अपने अधीन रखकर उनसे अभीष्ट कार्य कराता है। यदि ऐसा न हो तो विभिन्न कार्यों के वास्ते निर्माणचित्तों में एकरूपता न रह सकेगी और उनसे कोई अभीष्ट सिद्धि न हो सकेगी। शङ्कराचार्य ने भी—"प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति" (ब्र० सू० ४।४।१५) इस सूत्र के भाष्य में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है। एक मूल मन की आज्ञा का पालन करनेवाले मन सहित अनेक शरीरों की योगी अपने सत्य संकल्प से सृष्टि करेगा। इन नये बनाये गये शरीरों में उपाधिभेद से वह भिन्न आत्मावाला भी प्रतीत होगा। योगशास्त्र में इसी को अनेक शरीर-धारणप्रक्रिया के नाम से कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि योगी स्वेच्छा से अनेक शरीरों की रचना करता है और उन सबका नियमन करने के लिए एक प्रेरक चित्त भी बनाता है। इसीलिए इसको 'प्रयोजक-चित्त' भी कहा जाता है।

निर्माण चित्त का उपादान—यहाँ प्रश्न उठता है कि निर्माणचित्त की उत्पत्ति में विद्यमान परमाणु ही उपादान होते हैं, अथवा कोई नवीन अविद्यमान साधन की आवश्यकता होगी? नैयायिक तथा सांख्य के मत में विद्यमान परमाणु अथवा प्रकृति से ही निर्माण-चित्तों की भी उत्पत्ति मानी जायगी। इसके विपरीत वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रक्रिया भिन्न है[1]। अभिनवगुप्त का कहना है कि योगी को निर्माणकाय की उत्पत्ति के लिये परमाणु अथवा प्रकृति की आवश्यकता नहीं है। वह केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से ही इनका निर्माण करता है। इसका यह अभिप्राय है कि बाह्यदृष्टि से निर्माणकाय यद्यपि वास्तविक प्रतीत होता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह केवल माया का व्यापार है। योगी जन अपनी इच्छा से कुछ समय के लिए विशेष अभिप्राय से निर्माण-चित्त की सृष्टि करते हैं। कभी दयार्द्र होकर उपदेश देने के लिए, कभी धर्म की रक्षा के लिए, कभी इच्छामृत्यु की प्राप्ति के लिए और कभी लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए विभूतिमान् योगीजन कायव्यूह अथवा निर्माणचित्त का आश्रय लेते हैं। उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर यह चित्त स्वयं तिरोहित हो जाता है। इसलिए निर्माण-चित्त का मायिकत्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। महाभारत के नारायणपर्व में भगवान् नारायण नारद को कहते हैं कि मेरा श्वेत द्वीप में

---

१. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० १८४।१८५।

विद्यमान यह स्वरूप जिसको कि तुम देख रहे हो वास्तविक नहीं, अपि तु मायिक है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

इस प्रकार ईश्वर तथा योगीजन अनेक उपदेशों की सिद्धि के लिए विशेषकर तत्त्वोपदेश के लिए निर्माणकाय धारण करते है। भगवान् बुद्ध ने निर्माणकाय धारण करके ही अपने शिष्यों को तत्त्व का उपदेश किया था। सांख्यशास्त्र के प्रचार के लिये आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने निर्माणचित्त का आश्रय लेकर ही अपने शिष्य आसुरि को सांख्य के तत्त्वों का उपदेश दिया था; यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिए योगशास्त्र में निर्माणकाय की विशिष्ट महिमा बताई गई है। महाभारत के अनुशासन पर्व की टीका में नीलकण्ठ ने 'निर्माणकाय' शब्द का प्रामाणिक अर्थ इस प्रकार बताया है—

'निर्माणमनेकधा भवनम्, योगेन अनेकशरीरधारणम्" (१८-७५)

महाभारत में देवताओं के अनेक भेद बताये गये हैं, उनमें एक "निर्माणरत" भी है—

शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः।
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥
(अनु० पर्व १८।७५)।

और ये निर्माणरत देव वे ही होते हैं जो नया नया शरीर धारण कर अनेक यज्ञों में एक साथ ही उपस्थित होते हैं। समस्त यज्ञों में आहूत होने पर इस सिद्धि के द्वारा ही इन्द्र एक साथ ही सर्वत्र उपस्थित होते है।

———

एकादश परिच्छेद

मीमांसा दर्शन

पृष्ठ ३०८

टिप्पणी १—मीमांसा की प्राचीनता

'मीमांसा' शब्द पूजार्थक मान धातु से जिज्ञासा अर्थ में "मानेर्जिज्ञासायाम्" वार्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति सुदूर प्राचीन काल में हुई, क्योंकि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में इस शब्द का बहुल प्रयोग मिलता है। 'मीमांसते' इस धातुरूप में इसका प्रयोग बहुस्थलों पर पाया जाता है— "उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः, तद्वाहुः उत्सृज्यामेवेति" (तैत्तिरीयसंहिता ७–५।७।१) "ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसते, यत्तल्पे वा उदके वा विवाहे वा मीमांसिरन् त एता उपेयुः" (ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।६; २३।७।२)। "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते"—(कौषीतकि ब्राह्मण २।९) —इनमें मीमांसा दर्शन में विचार्यमाण हवन-विषयक प्रश्न पर विचार किया गया है, तथा ब्रह्मवादी गण के निर्णय का निर्देश है—"तस्मात् अनुदिते होतव्यम्" (सूर्योदय से पूर्व ही हवन करना चाहिए); "प्राचीनशाला औपमन्यवः महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः—को नु आत्मा किं ब्रह्मेति" (छान्दोग्य ५।११–१)। तैत्तिरीय उपनिषद् (२–८–१) में क्रियापद का नहीं, प्रत्युत तज्जन्य संज्ञा 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—"सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति"। इन उद्धृतांशों की आलोचना करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि श्रुतिकाल में ही श्रौतविषयक कर्मों में उपलभ्यमान विरोध की ओर प्राचीन ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उन लोगों ने इसके परिहार के लिए अनेक सिद्धान्तों की छानबीन की थी।

मीमांसा का सबसे प्राचीन नाम 'न्याय' है। इस दर्शन के न्यायकणिका, न्यायमालाविस्तार आदि ग्रन्थों में भी 'न्याय' शब्द का उपयोग इसी कारण से किया गया है। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड-विषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। इसने अनेक 'न्यायों' को खोज निकाला है, जिनके उपयोग से आभासमान विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता की जा सकती है। कर्मकाण्ड

ज्ञान-काण्ड से पहले है। अतः इसे पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा भी कहते हैं। ज्ञान-काण्ड की मीमांसा—उत्तर मीमांसा—के लिए 'वेदान्त' शब्द के प्रयोग होने से केवल 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग भी कभी-कभी इसी दर्शन के लिए किया जाता है।

पृष्ठ ३११

टिप्पणी २— मीमांसा के विषय में कुमारिल का कथन—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥
(श्लोकवार्तिक, श्लो० १०)

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता।
(न्यायरत्नाकर)

पृ० ३१५

टिप्पणी ३—प्रमा का लक्षण—

प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्—(मानमेयोदय १।२)।

पहले से नहीं जाने गये (अज्ञात) और सत्य अर्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।

टिप्पणी ४—प्रमाण का लक्षण—

कारणदोष बाधक-ज्ञान-रहितम अग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्—(शास्त्र-दीपिका १।१।५)।

वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है—(i) जिसके उत्पन्न करनेवाले कारणों में कोई दोष नहीं होता, (ii) जो किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होता तथा (iii जो पहिले से न जाने हुए पदार्थ को बतलाता है। इन तीनों वैशिष्ट्यों से संयुक्त ज्ञान ही प्रमाण कोटि में आता है।

पृष्ठ ३१९

टिप्पणी ५—वेद की अपौरुषेयता—

द्रष्टव्य मीमांसा सूत्र १।१।१०—१२ तथा इन सूत्रों पर शाबरभाष्य। शब्द की नित्यता के विषय में द्रष्टव्य—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" मीमांसा सूत्र १।१।५; श्लोकवार्तिक, पृ० ७२७–८६४ तथा शास्त्रदीपिका १।१।५।

टिप्पणी ६—स्फोट का खण्डन

अनित्य ध्वनि से अर्थ-सिद्धि न होते देख वैयाकरणों ने वर्णक्रमहीन निरवयव नित्य शब्द की कल्पना की है, जिसे वे 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्' (जिससे अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्फोट' नाम से अभिहित करते हैं।

न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः।
अर्थस्य वाचका वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा॥

(शेषकृष्ण—स्फोटतत्त्वनिरूपण, श्लो० ३)।

पर शब्द-स्फोट से बढ़कर वाक्य-स्फोट होता है, जिसमें नित्य निरवयव अखण्ड वाक्य अखण्ड निरवयव वाक्यार्थ का बोध कराता है। यह वाक्य-स्फोट ही नित्य है, तदंगभूत वर्ण तथा पद मृषा हैं। मीमांसा इस सिद्धान्त की युक्तियुक्तता स्वीकार नहीं करती। उसका कहना है कि वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों को मिथ्या मानने पर तत्प्रतिपाद्य प्रयाजादि अनुष्ठानविशेषों को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा, जिससे मीमांसा के मूल के ही उच्छेदन की आशंका है। शब्दाद्वैत माननेवाले वैयाकरण जगत् को कल्पनात्मक मानते हैं, वास्तव नहीं। केवल स्फोट ही नित्य है, पर जगत् का व्यवहार उसके अंगों को लेकर चलता है। अतः जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या हैं। भर्तृहरि का यह कथन सयुक्तिक है कि बालकों को शिक्षा देने के समान असत्य मार्ग में चलकर सत्य की उपलब्धि की जाती है।—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

(वाक्यपदीय)।

अतः जगत् का मिथ्यात्व व्याकरण-सम्मत है, परन्तु वास्तववादी मीमांसक जगत् के पदार्थों की सत्ता वास्तविक मानते हैं। अतः स्फोटवाद का आश्रय उनके सिद्धान्त से विरुद्ध है। इस प्रकार मीमांसा की दृष्टि में वर्णात्मक शब्द ही नित्य होता है, न तु स्फोटात्मक शब्द। आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद के खण्डन का उपसंहार बड़े सुचारु रूप से इसी युक्ति से किया है।

पृष्ठ ३२०

टिप्पणी ७—'अर्थापत्ति' का लक्षण—

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थ-कल्पना।
(शाबरभाष्य १।१।२)

टिप्पणी ८—छः प्रमाण—

वाल्मीकि रामायण में मीमांसा-सम्मत छहों युक्तियों के द्वारा लोक-व्यवहार की सिद्धि स्वीकृत की गई है—

राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते।

पृ० ३२२

टिप्पणी ९—मीमांसा में प्रामाण्यवाद

प्रामाण्यवाद के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर मीमांसकों ने बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका संघर्ष परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों के साथ बड़ा प्रबल है। संक्षेप ये नैयायिक मत यह है कि विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसके अनन्तर घटमहं जानामि' (मैं घड़े को जानता हूँ) इत्याकारक अनुव्यवसाय का जन्म होता है। अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की स्मृति और तदनन्तर उस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। पीछे प्रवृत्ति के चरितार्थ होने पर ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होने पर प्रामाण्य 'परतः' स्वीकृत किया जाता है, परन्तु मीमांसा 'स्वतः प्रामाण्यवाद' मानती है, किन्तु मीमांसा के तीनों सम्प्रदायों के अनुसार इसमें भी विशिष्टता है—

(क) प्रभाकर के मत से ज्ञान स्वतः प्रकाश है। ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। जिस प्रकार प्रकाश दृश्यमान घटपटादि पदार्थ को, अनन्तर अपने आप को, पश्चात् आश्रयभूत दीपक की बत्ती को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान प्रथमतः इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को प्रकाशित करता है, अनन्तर अपने आपको और पीछे ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रकट करता है। अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम है—त्रिपुटीप्रत्यक्ष। 'स्वतः' का अर्थ है 'स्वज्ञानजनक-

सामग्रीतः'। अतः ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है; अर्थात् ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उसी समय उदित होता है—(न्यायकन्दली, पृ० ६१; शास्त्रदीपिका पृ० २१३–२१४; तन्त्ररहस्य, पृ० ५–८; प्रकरणपञ्चिका, पृ० ३८–५३)।

(ख) कुमारिल का अनुभवविश्लेषण भिन्न प्रकार का है। घट के ज्ञान होने पर 'ज्ञातो घटः' (घड़ा मेरे द्वारा जाना गया है) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे पता चलता है कि प्रत्यक्ष-विषय घट में 'ज्ञातता' नामक धर्म का उदय होता है। कुमारिल की सम्मति में ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है; प्रत्युत ज्ञान के धर्मविशेष 'ज्ञातता' का ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात घट प्रत्यक्ष के अनन्तर ज्ञात—परिचित—हो जाता है। अतः ज्ञान का फल अनुभव-विषय में ज्ञातता' की उत्पत्ति है। इसी 'ज्ञातता' से ज्ञान का तथा प्रामाण्य का उदय होता है—(न्यायरत्नमाला, पृ० ३१–३५; शा० दी०, पृ० ६७–१०६; मा० मे० पृ० ४–६)।

(ग) मुरारिमिश्र के मत पर न्याय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे ज्ञान का प्रत्यक्ष ही मानते हैं। प्रथमतः इन्द्रिय-संयोग होने पर वस्तु का व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रामाण्य का उत्पादक होता है। यहाँ मुरारि का अपना विशिष्ट मत है[1] जो न्यायमत से कतिपय अंशों में समान होने पर भी भिन्न है। इन तीनों मीमांसक मतों की तारतम्य-परीक्षा करने पर मथुरा-नाथ तर्कवागीश[2] की सम्मान्य सम्मति है कि प्रभाकर का ही मत पक्का 'स्वतः प्रामाण्यवाद' है, अन्य मतों में न्याय-मत के समान ही 'परतः' प्रामाण्य' का ही सिद्धान्त मान्य है।

पृष्ठ ३२३

टिप्पणी १०—भ्रम के विषय में प्रभाकर मत

रजतमिदमिति नैकं ज्ञानम्, किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणं

---

१. मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः—इति मुरारिमिश्राः।
(वर्धमान—कुसुमाञ्जलिप्रकाशः, पृ० २१९)।

२. स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः; स्वं प्रमात्वम्। एतच्च गुरुमते।
परतः तदन्यसामग्रीतः, एतच्च मिश्रमत-भट्टमत-न्यायमतेषु।
(चिन्तामणिरहस्य पृ० ११७)।

तस्याननुभवरूपत्वान्न प्रामाण्यप्रसंगः। इदमिति विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव। भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात् (प्रकरणपञ्चिका, पृ० ४३)।

टिप्पणी ११—अख्याति का निर्देश

नयविवेक, पृ० ८६–९३; तन्त्ररहस्य, पृ० २–५।

पृष्ठ ३२६

टिप्पणी १२—मुरारिमिश्र का पदार्थ-भेद।

ब्रह्मैकम्, व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्च पदार्था इति वेदान्ता मुरारिमिश्राश्च—न्यायमाला।

टिप्पणी १३—जगत् की सत्यता—

> तस्माद्यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
> तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथ वेतरत्॥
> (श्लोकवार्त्तिक, पृ० ४०४)

टिप्पणी १४—अणुवाद

अणुवाद के समर्थन में द्रष्टव्य प्रभाकरविजय, पृ० ४३–४६।

कुमारिल अणुवाद को मीमांसा का सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं मानते:—

> मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः।
> यद्बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान्॥
> (श्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ ४०४)।

टिप्पणी १५—जगत् की परमाणुजन्यता

> जालरन्ध्रविसरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान्।
> अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः॥

पृष्ठ ३२८

टिप्पणी १६—आत्मा के विविध कर्म

> यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
> न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्॥
> (श्लोकवार्त्तिक, पृ० ७०७)।

टिप्पणी १७—आत्मा का परिणाम—

चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन; ज्ञानसुखादि-रूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः।

(काश्मीरक सदानन्द—अद्वैतब्रह्मसिद्धि)।

पृष्ठ ३२६

टिप्पणी १८—'चोदना' का अर्थ—

चोदना हि भूतं भवन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्च नेन्द्रियम् (शाबरभाष्य १।१।२)।

पृष्ठ ३३०

टिप्पणी १९—भावना का रूप तथा भेद

'भावना' का लक्षण 'आपदेव' ने किया है—भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः—(मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २)।

अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल कर्ता में व्यापार या प्रेरणा। वैदिक वाक्यों को सुनकर उन क्रियाओं को करने के लिए जो 'प्रेरणा' होती है, वही मीमांसा में 'भावना' कही जाती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट के सिद्धान्त में ऐसी प्रेरणा 'कैटेगारिकल इम्परेटिव' ('शुद्ध प्रेरणा') के नाम से अभिहित की गई है। भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना और आर्थी भावना। 'यजेत' इस क्रियापद में दो अंश हैं—धातु यज् तथा लिङ् लकार। लिङ् लकार जन्य भावना शाब्दी और क्रियाजन्य भावना आर्थी कहलाती है। संसार में 'सन्ध्यावन्दन करो' इस वाक्य में प्रवृत्ति के अनुकूल आचार्य आदि प्रेरक पुरुषों में रहनेवाला अभिप्राय 'भावना' कहलाता है, परन्तु वेद के कर्ता न होने से वह अभिप्राय लिङ्-लकारनिष्ठ माना जाता है। अतः यह शाब्दी भावना है। स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले याग के सम्पादनार्थ पुरुषविषयक प्रयत्न को आर्थी भावना कहते हैं, जो धात्वंश से अभिव्यक्त की जाती है।

'भावना' का सिद्धान्त मीमांसादर्शन का सर्वस्व है। अतः इसकी समुचित व्याख्या करने के लिये आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक—२।१।१; आपदेव–मीमांसान्यायप्रकाश—पृ० २–५। जिनमें मण्डनमिश्र का 'भावनाविवेक' नितान्त प्रख्यात है। इस प्रकार धर्म की साक्षात् प्रतिपादिका

श्रुति है। श्रुत्यर्थ के अनुगमन करने के कारण स्मृति का भी प्रामाण्य है। सदाचार को धर्मनिर्णायक सिद्ध करने के लिए तन्त्रवार्तिक (१।३।७, पृ० २०९-२१५) में कुमारिल ने बड़ी मीमांसा की है और उसको युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। आत्मतुष्टि धर्म में चतुर्थ तथा अन्तिम प्रमाण है।

यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वोज्ज्वलरत्नभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत् स्यात् तथा भवेद् वेदविदात्मतुष्टिः॥
(तन्त्रवार्तिक, पृ० २०७)

पृष्ठ ३२१

टिप्पणी २०—'अपूर्व' की सिद्धि—

यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते॥
(तन्त्रवार्तिक, पृ० ३९५)

टिप्पणी २१—'अपूर्व' के विषय से शंकराचार्य

बिना किसी अपूर्व को पैदा किये इस समय नष्ट होनेवाला कर्म कालान्तर में फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः जो कर्म की सूक्ष्म उत्तर अवस्था है या फल की पूर्वावस्था है, वही अपूर्व कहलाती है।

न चाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वम्, कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति; अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था, फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वनामास्तीति तर्क्यते (शंकरभाष्य ३।२ ४०)।

पृष्ठ ३२३

टिप्पणी २२—मीमांसा में कर्मयोग—

ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्धयानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति' भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्—(अर्थसंग्रह, पृ० १९६; मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १९७)।

टिप्पणी २३—मीमांसा में ईश्वर—

एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्, नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्—(प्रभाकरविजय, पृ० ८२)।

टिप्पणी २४—मोक्ष की मीमांसक कल्पना—

त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति—भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः—(शास्त्र दीपिका, पृ० १५८)।

पृष्ठ ३३४

टिप्पणी २५—वेदान्त में मोक्षकल्पना—

यह जगत् का प्रपञ्च अविद्या के द्वारा पैदा किया गया है। वह स्वप्न के प्रपञ्च के समान है। जैसे जागने पर स्वप्न का प्रपञ्च स्वयमेव नष्ट हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर संसाररूपी प्रपञ्च का नाश स्वयमेव हो जाता है।

"अविद्या निर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते"—(शा० दी०, पृ० ३५६)।

टिप्पणी २६—मुक्त दशा में आनन्द की सत्ता

मोक्षावस्था के स्वरूप निर्णय में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। गुरुमत में आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यन्तिक विच्छेद हो जाता है वह मोक्ष है। द्रष्टव्य मधुसूदन सरस्वती—वेदान्तकल्पलतिका, प० ४। भाट्टों में दो मत हैं। एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है—

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥

(मा० मे०, पृ० २१२)।

बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है। 'पार्थसारथि' दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं, जिसके अनुसार मुक्तात्मा में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' अर्थात् शरीर-हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक स्पर्श नहीं करते। यदि यह

वचन विषयसुख के विषय में माना जाय तो 'आनन्दं ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभावरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है—(शा॰ दी॰ ३५६)। इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन ने 'वेदान्त-कल्पलतिका' (पृ॰ ४) में किया है।

पृष्ठ ३३५

टिप्पणी २७—वेदान्त का अनुशीलन—

> इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
> दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥
>
> (श्लोकवार्तिक, पृ॰ ७२८)।

पार्थसारथि का कहना है—'नित्यात्मसत्तामात्रेणैव वेद-प्रामाण्यसिद्धि-स्तन्मात्रमिह प्रतिपादितम्। तद्व्यार्थिभिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवणमनननिदिध्यासनादिषु यतितव्यम्।' इस कथन से मीमांसकों को वेदान्तसम्मत उपायों के मान्य होने में सन्देह नहीं रह जाता।

———

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत वेदान्त

पृष्ठ ३३६

टिप्पणी १—उपनिषदों में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग

'वेदान्त' शब्द का प्रयोग अनेक उपनिषदों में उपलब्ध होता है। (१) वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः (मुण्डक उपनिषद् ३।२।६); (२) वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेताश्वतर ६।२२); (३) यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (महानारायण १०।८) इस प्रकार 'वेदान्त' शब्द के प्रयोग की प्राचीनता स्पष्ट सिद्ध होती है।

पृष्ठ ३४७

टिप्पणी १ क—अनुभूति में अनुभाविता की सत्ता

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है—

"आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति; आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते"—(२।३।७, शां० भा०)

पृ० ३४८

टिप्पणी २—आत्मा की स्वतः सिद्धि—

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्" (ब्रं० सू० १।१।१ पर शाङ्करभाष्य)।

टिप्पणी ३—आत्मा सत्ता की स्वयंसिद्धि

प्रमाणों की सिद्धि तो आत्मा के रहने पर ही होती है। ऐसी दशा में उस आत्मा को किन प्रमाणों के द्वारा कोई सिद्ध कर सकता है ? अर्थात् आत्मा की

सिद्धि प्रमाणों के बल पर कथमपि नहीं की जा सकती। इस विषय में सुरेश्वराचार्य का यह प्रामाणिक कथन है—

"यतो राद्धिः प्रमाणानां स कं तैः प्रसिध्यति।"

पृष्ठ ३४९

टिप्पणी ४—आत्मा ज्ञान-स्वरूप—

"द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः। × × आत्मदृष्ट्यादीनां नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति"—(शंकरकृत ऐतरेय भाष्य २।१)।

टिप्पणी ५—आत्मज्ञान के विषय—

"विषयानुकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभासाः ते आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते"—(शंकर तैत्ति० भाष्य २।१)।

पृष्ठ ३५०

टिप्पणी ६—ब्रह्म अधिष्ठानरूप—

प्रजा ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं। अतः उनका मूल सद्रूप ब्रह्म है। अत एव वे सन्मूलक हैं। यह तो हुई उनकी उत्पत्ति की चर्चा। स्थिति काल में भी वे सत् में ही निवास करती हैं, तथा सत् के ही ऊपर आश्रित होकर विद्यमान रहती हैं।

"प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतना। सदाश्रया एव"—(शंकर छा० भाष्य ६।४)।

टिप्पणी ७—पदार्थों की चैतन्य से अभिन्नता—

'चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते।" (प्रश्न भाष्य ६।२)।

टिप्पणी ८—पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं—

"नहि आत्मनोऽन्यत्···तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवद् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते"।

"यदा नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियेते।" (शारी० भा० २।१।६)।

पृष्ठ ३५१

टिप्पणी ९—तटस्थ लक्षण का रूप—

"स्वरूपं सद् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्।

टिप्पणी १०—'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का अर्थ

आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। सत्य', 'ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं; ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं, परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एकजातीय अनेक विशेषणयोगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। लेकिन ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थप्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है। विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करनेवाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म को एक होने के कारण 'सत्यं' 'ज्ञान' ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं—

"समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य, लक्षणं तु सर्वत एव। यथाऽवकाशप्रदातृ आकाशमिति" (तैत्ति० भाष्य १।१)।

'सत्य' का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होनेवाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति, तत् सत्यम् ; अर्थात् कारण सत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्म 'ज्ञान' कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है—अवबोध। जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही 'अनन्त' है। (यदि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्)। यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा। ज्ञानप्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्ता नहीं। अतः इस प्रकार ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञानस्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है।

पृष्ठ ३५६

टिप्पणी ११—माया का रूप—

"अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः ।"

(शारीरकभाष्य १।४ ३)

टिप्पणी १२—अविद्या का रूप—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ।
यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत् ॥

(बृहदारण्यक-भाष्य-वार्तिक १८१)

पृष्ठ ३५७

टिप्पणी १३—नैष्कर्म्यसिद्धि का कथन—

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम् ॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि २।६६)

टिप्पणी १४—माया का कार्य—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥

(विवेकचूडामणि, श्लोक ११०)

टिप्पणी १५—माया अनिर्वचनीया—

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥

(वही, श्लोक १११)

द्रष्टव्य प्रबोध-सुधाकर, श्लोक ८५–१०६ ।

टिप्पणी १६—माया की दो शक्तियाँ—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥

अन्तर्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥
(दृग्दृश्यविवेक, श्लोक १३, १५)।

पृष्ठ ३५९

टिप्पणी १७—ईश्वर की लीला—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' २।१।३३। पर शांकरभाष्य में लीलातत्त्व का आचार्य ने विस्तार से वर्णन किया है। उनके सिद्धान्त-प्रकाशक वाक्य ये हैं—

ईश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। नहीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यपि अस्माकमियं जगद्बिम्ब-विरचना गुरुतर-संरम्भेवाभाति, तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम् अपरिमितशक्तित्वात्॥

पृ० ३६१

टिप्पणी १८—उपास्य ब्रह्म का फल—

"यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते, यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते"—(शांकर भाष्य १।४।२४)।

टिप्पणी १९—माया के दो पुत्र—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि॥
(पञ्चदशी ६।२३६)।

टिप्पणी २०—जीव का रूप—

"अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।"
(शांकरभाष्य १।३।१७)।

पृष्ठ ३६३

टिप्पणी २१—साक्षी आत्मा का रूप—

अहङ्कारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः॥
(पंचदशी १०।१४०)

पृष्ठ ३६७

टिप्पणी २२—ईश्वर की जगत्-सृष्टि—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
(मुण्डक उप० १।१।७)

टिप्पणी २३—ईश्वर महायोगी

मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव स्वेच्छया।
(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र श्लोक २)

पृष्ठ ३६८

टिप्पणी २४—सत्य का लक्षण—

"यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति यत् सत्यम्"।

टिप्पणी २५—जाग्रत् और स्वप्न अन्तर—

"वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्"—(शांकरभाष्य २।२।२९)।

पृष्ठ ३७०

टिप्पणी २६—रज्जु में सर्प का भान—

रज्ज्वात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्पः सन्नेव भवति।
सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवद् जन्म युज्यते॥
(माण्डूक्यकारिका ३।२७ भाष्य)

टिप्पणी २७—जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥
(दृग्दृश्यविवेक, श्लोक २०)

टिप्पणी २८—व्यावहारिक सत्ता—

"सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। प्राग् ब्रह्मात्मता-प्रतिबोधाद् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः"—शांकर भाष्य २।१।१४)।

पृष्ठ ३७२

टिप्पणी २९—'अलीक' का लक्षण—

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥
(माण्डूक्यकारिका ३।२८)

पृष्ठ ३७२

टिप्पणी ३०—विवर्त रूप—

सिद्धान्तलेश में अप्पय दीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली भाँति बतलाया है। "कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्तः"—उपादान कारण का समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथा-भाव विवर्त है (प्रथम परिच्छेद, पृ० १८)।

परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

पृष्ठ ३७३

टिप्पणी ३१—अध्यास की गति—

"एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः"—ब्र० सू० शांकर भाष्य (उपोद्घात)।

टिप्पणी ३२—ज्ञान तथा कर्म का विभिन्न उद्देश्य—

"न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक् समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं सम्भवति। प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसन्तानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा, सा च प्रत्यक् समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते। पर्वतसर्षपयोरिव ग्रन्तरवान् विरोधः"—(गीता—शांकरभाष्य १८।५५)।

पृष्ठ ३७४

टिप्पणी ३३—कर्म के फल—

द्रष्टव्य ब्रह्म सू० १।१।४ तथा बृह० उप० ३।३।१ का शांकरभाष्य।

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि १।५३)

टिप्पणी ३४—कर्म से चित्त-शुद्धि—

"यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणम्। नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति। विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति।"

(गीताभाष्य १८।१०)।

"कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम्। एवं काम्यवर्जितं सर्वात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।"

(बृह० उप० भाष्य)।

टिप्पणी ३५—देव और असुर का भेद—

स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासनाप्राबल्येन धर्मपरायणो भवति, तदा देवः; यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति, तदा असुरः।

(गीताव्याख्यायां मधुसूदनः)

पृष्ठ ३७५

टिप्पणी ३६—कर्म का निर्हरण—

कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जापतोऽर्थतः।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥

(विज्ञानदीपिका, श्लोक २२)

पृष्ठ ३७८

टिप्पणी ३७—बीजगणित की प्रक्रिया

इसी पद्धति का प्रयोग बीजगणित में किया जाता है। यदि 'क^{२} + २क = २४' इस समीकरण में अज्ञात 'क' का मूल्य जानना होगा तो प्रथमतः दोनों ओर १ संख्या जोड़ देते हैं और अन्त में दी गई संख्या को निकाल देते हैं, तब 'क' का मूल्य ४ निकल जाता है। समीकरण का पूरा रूप यह होगा—

क^{२} + २क + १ = २४ + १

∴ (क + १)^{२} = ५^{२}

∴ (क + १) = ५

∴ (क + १) − १ = ५ − १

∴ क = ४

टिप्पणी ३८—शब्द से परोक्षज्ञान का उदय—

"निर्विचिकित्सादाम्नायाद् अवगतात्मतत्त्वस्य अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासोपचितबलवत् संस्कारसामर्थ्याद् मिथ्यावभासानुवृत्तिः, तन्निवृत्तयेऽस्ति अन्यदपेक्ष्यम्। तस्मात् तन्निवृत्तये विनिश्चितब्रह्मात्मभावेनापि साधनान्यपेक्ष्याणि।

(ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३२)

टिप्पणी ३९—अपरोक्षानुभूति का उदय—

"श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्माद् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिरूपोपासना कर्मसहकारिण्यविद्योच्छेदहेतुः"—(भामती जिज्ञासाधिकरणे)।

टिप्पणी ४०—शब्द से अपरोक्ष ज्ञान का उदय—

सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्कर्यं नास्त्यतोऽनयोः॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि १।७६)।

पृष्ठ ३८०

टिप्पणी ४१—लक्षणा का रूप और भेद

लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा (या भागवृत्ति-लक्षणा)। 'गंगायां घोषः' (गंगा में आभीरपल्ली है)—इस वाक्य में जलप्रवाहार्थक गंगा में घोष नहीं रह सकता। अतः 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर (जहत्) सामीप्यसम्बन्ध से 'तीर' अर्थ का बोधक होता है। यह 'जहत्-लक्षणा' का दृष्टान्त हुआ, परन्तु 'तत् त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वं' पद अपने अर्थ-चैतन्य का परित्याग नहीं करते, अतः जहती

के द्वारा अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है)—इस वाक्य में अन्वय के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना ही 'अश्व' अर्थ लक्षित होता है कि लाल घोड़ा दौड़ता है। यह है 'अजहल्लक्षणा'। इसका उपयोग भी प्रस्तुत वाक्य के लिए नहीं हो सकता। अतः अगत्या तृतीय प्रकार की लक्षणा से ही अर्थनिर्वाह होता है। 'तद्' (ब्रह्म) पद का अर्थ है—परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वं' (जीव) का अर्थ है अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य। यहाँ चैतन्य रूप में विरोध नहीं है। अत इन विरुद्धांशों के परित्याग (जहत्) से तथा अखण्ड चैतन्य के अंश को लेने से इस लक्षणा का नाम 'जहत्-अजहत् लक्षणा' या एक ही भाग के ग्रहण करने के कारण 'भागवृत्ति' है। इसका लौकिक उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः' है, कल देखा गया देवदत्त यही है। इसका अभिप्राय कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है। सुरेश्वर के मत में तीन सम्बन्धों की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है—(१) पदों का सामानाधिकरण्य, (२) पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव, (३) आत्म-ब्रह्म का लक्ष्य-लक्षणभाव।

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३)

पञ्चदशी का कहना है कि इस महावाक्य का अर्थ न तो संसर्ग है, न विशेष; प्रत्युत अखण्ड एकरस चैतन्य ही इसका प्रधान लक्ष्य है। अतः 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि चैतन्यरूप से जीव ब्रह्मरूप ही है। महावाक्यों की संख्या चार है—प्रत्येक वेद का एक वाक्य। महावाक्यों का स्वरूप यह है—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उ० ५।३), तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १।४।१०), अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उप० २) पंचम प्रकरण द्रष्टव्य पञ्चदशी का।

पृष्ठ ३८३

टिप्पणी ४२—शंकर के अनन्तर वेदान्त मत—

शङ्करपरवर्ती वेदान्ताचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वेदान्त के प्रधान सिद्धान्तों के ऊपर अपने विशिष्ट मतों की उद्भावना की है। इनका सुबोध संग्रह अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में किया है। अविद्या और माया का पार्थक्य, जीव ईश्वरस्वरूप, जगत् का उपादानकारणत्व आदि विषयों पर इन नव्य वेदान्तियों की युक्तिबहुल कल्पनायें मननीय हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को

जगत् का उपादान कारण बतलाया है। संक्षेपशारीककार की सम्मति में शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, परन्तु विवरणकार मायाशवलित ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को उपादान मानते हैं। तत्त्वनिर्णयकार ब्रह्म और माया दोनों को, पर सिद्धान्तमुक्तावलीकार केवल माया शक्ति को, जगत् का उपादान बतलाते हैं। पञ्चदशी के मत से माया शुद्ध-सत्त्वमयी है परन्तु अविद्या रजोगुण और तमोगुण के प्राधान्य होने पर होती है। माया के विषय में भिन्न भिन्न मत मिलते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका की चिकनाहट घट के उत्पादन के प्रति द्वारकारण होती है, उसी प्रकार शुद्धब्रह्म के उपादान होने में माया द्वारकारण है (संक्षेप शारीरक), परन्तु वाचस्पति मिश्र की सम्मति में जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म प्रपञ्चरूप से परिणत होता है। अतः ब्रह्म ही उपादान कारण है, माया तो सहकारी कारण है।

शङ्कर तथा भामतीकार के इस मतभेद का उल्लेख अमलानन्द ने इस प्रकार किया है—

स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्।
जीवभ्रान्तिनिमित्तं तद् बभाषे भामतीपतिः॥
अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्।
जीवाज्ञानं जगद्बीज जगौ वाचस्पतिर्यथा॥

(कल्पतरु, पृ० ४७१)

जीव-ईश्वर की स्वरूपकल्पना वैमत्य का प्रधान विषय है। इस विषय में (१) आभासवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद, (३) अवच्छेदवाद, (४) जीवैक्यवाद आदि अनेक विशिष्ट मत हैं।

(१) अद्वैत मत में एक आत्मा ही सत्य है; आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं हैं; अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण; तथापि अज्ञान-रूप उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के अविवेक के कारण अन्तर्यामी, साक्षी और ईश्वर कहलाता है। बुद्धि-उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत स्वकीय चिदाभास को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता कहा जाता है। इस मत की संज्ञा आभासवाद है। इसके अनुसार जीव नाना और ईश्वर एक हैं।

(२) अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, परन्तु अज्ञान की उपाधि से रहित बिम्बचैतन्य शुद्ध है (संक्षेप शारीरक); स्वतन्त्रतादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर

बिम्बस्थानापन्न है और परतन्त्रता के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है (विवरण) अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप है। यही प्रतिबिम्बवाद है, परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरुचि है। समस्त प्रतिबिम्बस्थलों मे प्रायः रूपवान् पदार्थ का रूपवान् आधार में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे रूपवान् चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रूपवान् जल में ही पड़ता है। परन्तु ब्रह्म के रूपहीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भव है और न रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति ही है।

(३) वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को युक्तियुक्त मानते हैं। इस पक्ष में एक ही चैतन्य अज्ञान के आश्रय और विषय के भेद से दो प्रकार का है— अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य जीव है। अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अज्ञान के नाना होने से इस मत में जीव भी नाना है। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत् का उपादान कारण है, ईश्वर उपचारमात्र से कारण माना जाता है (सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ८०)।

(४) वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त 'एक-जीव वाद' है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है और अज्ञान से उपहित चैतन्य जीव है। जीव ही अपने अज्ञानवश जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्तिमयी है, क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। गुरु की कृपा तथा शास्त्रविहित श्रवणादि उपायों से एक ही आत्मा का मोक्ष होता है, शुक वामदेवादिकों की मोक्षवार्ता अर्थवादमात्र है। इसी मत का दूसरा नाम दृष्टिसृष्टिवाद है:—

> आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।
> उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः॥
> (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक २२)।

(५) कुछ वेदान्तियों की सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कुन्तीपुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राधेय (राधापुत्र) रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविकृत ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त करता है। व्याध-कुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वशीभूत होकर अपने शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव को भुलाये हुए है। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वह मुक्त हो जाता है।

———

त्रयोदश परिच्छेद

वैष्णव दर्शन

पृष्ठ ३९२

टिप्पणी १—सविशेष वस्तु की प्रतीति—

"सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते"—(सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४३)।

टिप्पणी २—श्वेताश्वतर में पदार्थ-त्रैविध्य—

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्"।
(श्वेता० १।१२)।

पृष्ठ ३९३

टिप्पणी ३—ईश्वर का कार्य—

"सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्"—(श्रीभाष्य २।१)।

टिप्पणी ४—प्रलयकाल में ब्रह्म—

"स्थूलसूक्ष्मचिदचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचितोः सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतया पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः"—(श्रीभाष्य पृ० ८२)।

पृष्ठ ३९४

टिप्पणी ५—निर्गुण ब्रह्म—

निर्गुणवानश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते"—
(श्रीभाष्य पृ० ८१)

टिप्पणी ६—विशिष्टाद्वैत का अर्थ—

वस्त्वन्तरविशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण तदानीं सिद्धत्वाद् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम्"—(वेदान्ततत्त्वसार)।

पृष्ठ ३९६

टिप्पणी ७—जीव का अणुत्व—

बालाग्रशतभागस्य　शतधा　कल्पितस्य　च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
(श्वेता० ५।९)।

टिप्पणी ८—भेदमूलक श्रुतियाँ—

उपनिषदों में अनेक वचन ऐसे मिलते हैं जिनसे जीव तथा ब्रह्म के भेद का परिचय मिलता है। प्रधान श्रुतिवाक्य ये हैं—

(क) "स कारणं करणाधिपाधिपः"—श्वेता० उप० ६।९;

(ख) "य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।"
(बृहदा० उप० ३।६।१);

(ग) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"—(श्वेता० १।९)।

पृष्ठ ३९७

टिप्पणी ९—'विशिष्टाद्वैत में महावाक्य का अर्थ—

"तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति। तदैक्षत बहु स्याम (छा० ६।२।३)—इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। सद् मानाधिकरणत्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरक ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तु-परत्वात् सामानाधिकरण्यम्"—(श्रीभाष्य, पृ० ८०)।

पृष्ठ ३९९

टिप्पणी १०—'शुद्धसत्त्व' के विषय में मतभेद—

शुद्धसत्त्व के विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वानों में दो मत दीख पड़ते हैं। कुछ आचार्य उसे जड़ मानते हैं, परन्तु वेंकटनाथ, श्रीनिवास आदि अन्य मान्य आचार्य उसे चित् तत्त्व ही मानते हैं। श्रीनिवास ने यतीन्द्रमत-दीपिका (पृ० ३२) में इसे स्वयं-प्रकाश तथा अजडतत्त्व स्वीकार किया है।

वेंकटनाथ ने तत्त्वमुक्ताकलाप में भी यही माना है। इन वचनों से स्पष्ट है—"नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरम्" (१।६); "ज्ञानत्वाजाड्यकण्ठोक्तानुगुणमवदन् मुख्यतामात्मनीव"—(३ ६ २)।

श्रीवैष्णवों के एक प्रातःस्मरणीय पद्य से भी यही मत प्रतीत होता है:—

श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः।
सायुज्य समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान्॥
(वरद गुरु-रचना)

लोकाचार्य ने शुद्धसत्त्व के विषय में दो मतों का उल्लेख किया है—"केचन एतज्जडं वदन्ति, केचिदजड वदन्ति" (तत्त्वत्रय, पृ० ३६)। इन सूत्रों के भाष्य में वरवरमुनि ने स्पष्ट ही लिखा है कि लोकाचार्य शुद्धसत्त्व को अजड ही मानते हैं, शुद्धसत्त्व को आत्मा और ज्ञान से पृथक् सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ दी गई हैं (तत्त्वत्रय, पृ० ३७)। यह भेद-साधना यही सिद्ध करती है कि लोकाचार्य शुद्धसत्त्व को अजड ही मानते थे, अन्यथा यह भेद सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं होती। शुद्धसत्त्व को जड माननेवाले आचार्य का यथार्थ पता नहीं है। फलत शुद्धसत्त्व के स्वरूप के विषय में दोनों मतों में भेद मानना उचित नहीं (जैसा इस ग्रन्थ के पूर्व संस्करण में किया गया था)। विशेष के लिए देखिए—श्रीनिवासाचारी रचित 'दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत' (अड्यार, मद्रास)।

पृष्ठ ४००

टिप्पणी ११—भक्ति के उदय में ज्ञान-कर्म की सहकारिता—

यामुनाचार्य ने इसीलिए कहा है—"उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः" अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही ऐकान्तिक भक्तियोग से भगवान् को प्राप्त करता है। आशय है कि भक्तियोग से ही भगवान् प्राप्य हैं, परन्तु इसके लिए चाहिए विशुद्ध अन्तःकरण और यह विशुद्धि ज्ञान तथा कर्मद्वारा साध्य है। अतः भक्ति के लिए ज्ञान तथा कर्म की सहकारिता है।

टिप्पणी १२—भगवान् की कृपा—

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते॥
(अहि० सं० १४।२९)

टिप्पणी १३—भगवान् की शरणागति

यामुनाचार्य के आलवन्दार स्तोत्र (पद्य २५) में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस शरणागति-तत्त्व का प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्-पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

पृष्ठ ४०१

टिप्पणी १४—मुक्त जीव के व्यापार—

एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवेकं तेभ्यो देवे विशिष्यते॥

(स० द० सं०, पृ० ४७)

टिप्पणी १५—मुक्त जीव का रूप—

'नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भव अविद्याश्रयत्व-योग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात्''—(श्रीभाष्य १।१।१)।

टिप्पणी १६—सगुण ब्रह्म ही यथार्थ—

"निरस्तसमस्तोपप्लवकलंकनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्"—(श्रीकण्ठभाष्य १।१।१)।

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक्॥

पृष्ठ ४०४

टिप्पणी १७—'विशेष' का अर्थ—

"भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।"

(मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ७)

पृष्ठ ४०५

टिप्पणी १८—भगवान् के अवतारों की पूर्णता—

अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः।
पूर्णं च तत् परं पूर्णं पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः॥
न देशकालसामर्थ्यैः पारावर्यं कथञ्चन॥

(माध्वबृहद्भाष्ये)

टिप्पणी १९—लक्ष्मी का रूप—

"परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः"—(म० सि० सा०, पृ० २६)।

टिप्पणी २०—लक्ष्मी और भगवान् की तुलना—

द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ॥

(भागवततात्पर्यनिर्णय)

टिप्पणी २१—'मध्यम मनुष्य' का अर्थ—

मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि।

(भागवततात्पर्यनिर्णय)

टिप्पणी २२—मुक्ति का तारतम्य—

मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्।

(ईशावास्यभाष्य)

टिप्पणी २३—आनन्द में भी तारतम्य—

मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः॥

(गीतामध्यभाष्ये)

दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदः समा मताः।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते॥

(म० सि० सार०, पृ० ९२)।

पृष्ठ ४०६

टिप्पणी २४—जीव का ब्रह्म से पृथक्त्व

इसीलिए मध्वाचार्य ने 'अनुव्याख्यान' में लिखा है—

जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमात्रं न चापरम्।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम्॥

(म० सि० सा०, पृ० ३०)

पृष्ठ ४०७

टिप्पणी २५—'सायुज्य' का अर्थ—

सायुज्य मुक्ति का अर्थ है भगवान् में प्रवेश करके भगवान् के शरीर से ही विषयों का भोग करना। 'सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः'। यह मुक्ति सब मुक्तियों में श्रेष्ठ मानी जाती है।

पृष्ठ ४०८

टिप्पणी २६—भेदा-भेद की ऐतिहासिक परम्परा—

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक है। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्थाभेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद का सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। शङ्कराचाय के पहले ही नहीं, अपि तु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्था-विशेष से ब्रह्म जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविध कल्पना संघटित होती है। संसारदशा में नानारूप जीव तथा एकरूप ब्रह्म में नितान्त भेद है, परन्तु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्मरथ्य का सिद्धान्त है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परन्तु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकार कारण-रूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुण्डलादिरूप में दोनों में भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिता के कथन से प्रतीत होता है कि आश्मरथ्य के भेदाभेद को परवर्ती काल में यादव-प्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदान्तकौस्तुभ' में काशकृत्स्न को भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रय-मतद्वारा प्रसंगाद् भेदाभेदप्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शङ्कराचार्य के कथनानुसार ये अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते १।४।२३ शा० भा०)।

भर्तृप्रपञ्च

आचार्य शङ्कर से पूर्व वेदान्ताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त के पक्षपाती थे। आचार्य ने बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ४।३।३०) भाष्य

में इनके मत का उल्लेख तथा खण्डन किया है। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है–ब्रह्मरूप में एक है और जीवरूप में नाना है। जीव नाना तथा परमात्मा का एकदेशमात्र है। काम, वासनादि जीव के धर्म हैं। अतः धर्म तथा दृष्टि के भेद से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं, अपितु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र–तरंग–न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परन्तु विकाररूप तरंग, बुद्बुद् आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है। द्रष्टव्य "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (१।२।१४ शां० भा०) आचार्य ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) अन्तर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—सूत्र, विराट् तथा देवतारूप में, (३) जाति तथा पिण्डरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधन पक्ष में ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है, परन्तु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यन्तिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं, जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है। (२) ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को 'पर मोक्ष' (श्रेष्ठमुक्ति) कहते हैं, जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के सम्पन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपञ्च के मत से ब्रह्म साक्षात्कार होने पर भी अविद्या की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तब तक देह के साथ सम्बन्ध रखता है। परन्तु परामुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतो-भावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेश-एकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेद परम्परा का अनुसरण भर्तृप्रपञ्च ने अपने ग्रन्थों में किया।

भास्कर

शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४–१५) में, उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने न्यायकुसुमाञ्जलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक मानना चाहिए। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सल्लक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानन्त लक्षण है। चैतन्य तथा रूपान्तररहित अद्वितीय है। प्रलया-वस्था में समस्त विकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार

तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्कर-भाष्य) । भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगद्रूप में परिणत होती है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ परमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्र शक्तियों से सम्पन्न है।

"ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात् यथा क्षीरं दधिभावाय, अम्भो हिमभावाय, न तु तत्रापि "किञ्चनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते।"

(२।१।२४ भास्कर-भाष्य)।

जगत् को भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करता है।

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत् ॥

(भास्कर-भाष्य, पृ० ९६)।

ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निरवयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिमाण पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति— (२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुलिंगवत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों का अभेदरूप स्वाभाविक है तथा भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२-३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्म-रूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद सम्बन्ध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ सू० के अपने भाष्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद मानते हैं। मुक्ति का उदय शुष्क ज्ञान से नहीं; अपितु कर्म—संवलित ज्ञान से ही होता है। उपासना या योगाभ्यास के बिना अपरोक्ष ज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' दोनों अभीष्ट हैं। सद्योमुक्ति उनकी होती है जो साक्षात् कारण-ब्रह्म के उपासक होते हैं, परन्तु जो कार्य-ब्रह्म की उपासना करते हैं वे प्रथमतः अर्चिरादि मार्ग से हिरण्यगर्भ को प्राप्त करते हैं, अनन्तर महाप्रलय के समय हिरण्यगर्भ के मुक्त हो जाने पर ये भी मुक्ति प्राप्त कर लेते है। इस मुक्ति का नाम 'क्रममुक्ति' है।

यादव

ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादव-प्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थसंग्रह' (पृ० १५) में, वेदान्तदेशिक ने 'परमतभङ्ग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेद-सम्मत भाष्य का निर्माण किया। ये निर्गुणब्रह्म तथा मायावाद नहीं मानते। इनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनन्तर निम्बार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धान्त लुप्तप्राय से हो गये हैं, परन्तु निम्बार्क का कृष्णोपासक संप्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

टिप्पणी २७—जीव का रूप—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥

(दशश्लोकी १)

पृष्ठ ४०९

टिप्पणी २८—आत्मा का कर्तृत्व—

"कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" (ब्र० सू० २।३।३२) पर 'पारिजातसौरभ' देखिए।

पृष्ठ ४१०

टिप्पणी २९—अंश का अर्थ—

"अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः"—(२।३।४२ पर कौस्तुभ)।

टिप्पणी ३०—भगवत्प्रसाद का फल—

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।

(दशश्लोकी २)

टिप्पणी ३१—अचित् के तीन प्रकार—

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥

(दशश्लोकी ३)

पृष्ठ ४११

टिप्पणी ३२—ईश्वर का रूप—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

(दशश्लोकी ४)

टिप्पणी ३३—'नारायण' की व्यापकता—

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ५३ में उद्धृत)।

पृष्ठ ४१३

टिप्पणी ३४—चार वैष्णव सम्प्रदाय—

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥

(पद्मपुराण)

टिप्पणी ३५—भक्तमाल में विष्णु स्वामी—

नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदस उजागर।
गिरा गंग - उनहारि काव्य - रचना प्रेमाकर॥

आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन॥
नवधा प्रधानसेवा सुहृद मन वच क्रम परिचरणरति।
विष्णुस्वामि - सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति॥ छ० ४८।

पृष्ठ ४१४

टिप्पणी ३६—'शुद्धाद्वैत' का अर्थ—

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥
मायासंबन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २७-२८)

टिप्पणी ३७—ब्रह्म की उभयरूपता—

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्।
(ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणुभाष्य)

पृष्ठ ४१५

टिप्पणी ३८—'लीला' का अर्थ—

"लीला नाम विलासेच्छा, कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जायते, जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्, नापि कर्तरि प्रयासं जनयति; किन्तु अन्तःकरणे पूर्णे आनन्दस्तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"
(सुबोधिनी, तृतीय स्कन्ध)।

पृष्ठ ४१६

टिप्पणी ३९—भगवान् के अवतार का हेतु—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
(भागवत १०।२९।१४)।

"अतः स्वपरप्रयोजनाभावाद् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः = प्रादुर्भावः प्रयोजनरहितैव स्यात्।"
(सुबोधिनी)।

गीता के अनुसार धर्म की ग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान को रोकने के लिए भगवान् का अवतार होता है, परन्तु यही एकान्त प्रयोजन नहीं है, क्योंकि यह कार्य तो किसी विशिष्ट सेवकरूप देवता के द्वारा भी सम्पादित किया जा सकता है। अवतार का गम्भीर प्रयोजन है और उसका प्रकाशन भागवत का पूर्वोक्त श्लोक करता है। प्राणियों को मुक्तिदान के लिए ही भगवान् का प्राकट्य होता है। भगवान् स्वयं प्रादुर्भूत होकर जीव को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान करता है। उसके सौन्दर्य, सौशील्य, सौगन्ध्य, सौमनस्य आदि अलौकिक अनन्त गुणों का परिचय ही हमें न मिलता, यदि भगवान् धराधाम पर अवतीर्ण न होते।

टिप्पणी ४०--पुरुषोत्तम की प्राप्ति भक्ति से—

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ८।२२) इस गीता-वाक्य के आधार पर आचार्य का यह सिद्धान्त है—'तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्। यस्यान्तःस्थानीत्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम्। तच्च मृत्सादिप्रसंगे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते।'

(ब्र० सू० ३।३।३३ अणुभाष्य)।

पृष्ठ ४१७

टिप्पणी ४१—ज्ञान तथा आनन्द का तिरोधान—

'पराभिध्यानात्तु' ब्र० सू० ३।२।५ पर अणुभाष्य

पृष्ठ ४१९

टिप्पणी ४२--अविकृत परिणामवाद

श्रीमद्भागवत इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥

टिप्पणी ४३--आविर्भाव तथा तिरोभाव का अर्थ—

"अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः"—

(विद्वन्मण्डन, पृ० ७)।

अर्थात् अनुभव के विषय होने की योग्यता का ही नाम आविर्भाव है और विषय होने की योग्यता का अभाव तिरोभाव नाम से प्रख्यात है।

पृष्ठ ४२०

टिप्पणी ४४—पुष्टिमार्ग की विशेषता—

हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग की विशेषता सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है—

अनुग्रहेणेव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

(प्रमेयरत्नार्णव, पृ० १९)

आचार्य ने अणुभाष्य में ठीक ही कहा है—"पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादि-नैरपेक्ष्यम्, मर्यादामंगीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेव (अणुभाष्य ३।३।२९); पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यप्रमाणमार्गात् विलक्षणः" (अणुभाष्य ४।४।९)। दोनों आचार्यों की सम्मति एक ही तथ्य की प्रकाशिका है। मर्यादा मार्ग में अङ्गीकृत साधक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, परन्तु पुष्टिमार्ग में अङ्गीकृत साधक ज्ञानादि से निरपेक्ष बना रहता है। साधक के प्रयत्न जहाँ कार्य के साधक न हों और भगवान् का अनुग्रह ही लौकिक तथा वैदिक सिद्धि का एकमात्र उपाय हो वही है—पुष्टिमार्ग।

टिप्पणी ४५—मुक्ति का रूप—

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

(भागवत)

पृष्ठ ४२१

टिप्पणी ४६—सुबोधिनी की ख्याति

हरिराय का यह कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ५५)।

पृष्ठ ४२३

टिप्पणी ४७—'भगवन्' शब्द का अर्थ—

'भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः' तथा श्रीमद्भागवत भगवान् को गुणात्मा मानता है—"गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्।"

(भागवत १०।१४।७)।

पृष्ठ ४२४

टिप्पण ४८—'विशेष' का अर्थ—

"यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते, तत्रैव भेदप्रतिनिधिर्विशेषः कल्प्यते।"

(सिद्धान्तरत्न, पृ० २३)।

टिप्पणी ४९ भगवान् की अचिन्त्य शक्ति—

"विशेषनिर्भेदेदेपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्।"

(सिद्धान्तरत्न, पृ० २३)।

इसी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं। इस परिच्छिन्नत्व तथा विभुत्व की भगवान् में युगपत् स्थिति का वर्णन ब्रह्मसंहिता (५।४३) में स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

टिप्पणी ५०—भगवान् की तीन शक्तियाँ—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।

(विष्णुपुराण ६।७।६१)

टिप्पणी—५१—भगवान् की अभिव्यक्ति—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।

(विष्णुपुराण)

टिप्पणी ५२—'सन्धिनी' का अर्थ—

"सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी।"

टिप्पणी ५३—'ह्लादिनी' का अर्थ

सिद्धान्तरत्न पृ० ३९-४०।

पृष्ठ ४२५

टिप्पणी ५४—जगत् की सत्यता

(क) श्रुति जगत् की सत्यता बतलाती है—

यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

(ईशा० उप०, श्लोक ८)

(ख) स्मृति—

तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभाव - जन्मनाशविकल्पवत् ॥

(विष्णुपुराण १।२२।६०)

श्लोक का अर्थ—आविर्भाव (उत्पन्न होना) तथा तिरोभाव (छिप जाना), जन्म और नाश आदि विकल्प युक्त भी यह सम्पूर्ण जगत् वास्तव में नित्य और अक्षय है ।

टिप्पणी ५५—'अचिन्त्यभेदाभेद' का अर्थ—

"स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदावङ्गीकृतौ । तौ च अचिन्त्यौ; स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात् ।"

(भगवत्सन्दर्भस्य सर्वसंवादिन्यां जीवगोस्वामी)

पृष्ठ ४२६

टिप्पणी ५६—उत्तमा भक्ति का लक्षण—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥—(नारदपञ्चरात्र)

टिप्पणी ५७—'ह्लादिनी' रूप का अर्थ—

"भगवत्प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति, किं तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यथाऽऽनन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति"—(प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ७२४) ।

पृष्ठ ४२८

टिप्पणी ५८—ईश्वर का चिदचिद् विशेषण—

"व्यावर्त्याभावाद् व्यावर्तकत्वविशेषण-लक्षणत्वाभावः, तदभावे च ब्रह्मणो विशिष्टत्वाभावः सुतरां सिद्धः ।"

(वेदान्ततत्त्वबोध, पृष्ठ २७ सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ४३–४५) ।

———

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णवतन्त्र

पृष्ठ ४३२

टिप्पणी १--तन्त्र का अर्थ--

शैवसिद्धान्त के 'कामिक-आगम' में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

पृष्ठ ४३३

टिप्पणी २—स्मृति तन्त्र--

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः॥

"स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता"—(शां० भा० २।१।१)।

टिप्पणी ३--आगम का अर्थ

वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी (१।७) में इसकी व्याख्या की है— "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।"

टिप्पणी ४--चारों युगों की उपासना--

विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।

(महानिर्वाण)

कृते श्रुत्योक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः॥

(कुलार्णवतन्त्र)

टिप्पणी ५—आगम के सात लक्षण—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥

पृष्ठ ४३८

टिप्पणी ६—शाक्त की अद्वैत धारणा—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

पृष्ठ ४३९

टिप्पणी ७—'कुल' शब्द का अर्थ—

'कलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्य भास्कर' भाष्य में भास्करराय ने लिखा है—"कुलं सजातीयसमूहः। स च एकविज्ञानविषयत्वरूपसाधारण्यापन्न-ज्ञातृ ज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्।" इस अर्थ में कालिदास-कृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—"मेयमातृमिति लक्षणं कुल प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्"।

टिप्पणी ८—कौल की अद्वैत भावना—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि! तथैवं काञ्चने तृणे॥
न भेदो यस्य देवेशि! स कौलः परिकीर्तितः।

॥ भावचुडामणितन्त्र ॥

(द्रष्टव्य सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण-कौलमार्गरहस्य नामक बंगला ग्रन्थ, पृ० १०-२०)।

पृष्ठ ४४०

टिप्पणी ९—कौल का नाना आचार—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

कौलसम्प्रदाय

कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदाय भी प्राचीन काल में थे जो 'कौलज्ञाननिर्णय तन्त्र' के १४ वें पटल में रोमकूपादि कौल, वृष्णोत्थ कौल, वह्नि कौल, काल सद्-भाव, पदोत्थित कौल के नाम से उद्दिष्ट हैं। इसी ग्रन्थ के १७ वें पटल में महा-कौल, सिद्धकौल, ज्ञाननिर्णीतकौल, सिद्धामृतकौल, योगिनीकौल नाम से जिन कौलों का वर्णन उपलब्ध होता है वे कौलों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रतीत होते हैं। इससे कौलो की व्यापकता तथा महत्ता का स्पष्टतः परिचय मिलता है। 'कौलज्ञाननिर्णय' की पुष्पिका से प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध 'योगिनीकौल' से जान पड़ता है, जिसका उत्पत्ति 'कामरूप' में हुई थी (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे—पृ० ७८)। इस प्रकार 'नाथसम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौलमत से निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होता है। अतः गोरक्षनाथ आदि हठयोग के आचार्यों का भी सम्बन्ध कौल मार्ग से ही है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में 'कौलज्ञाननिर्णय', 'अकुलवीरतन्त्र', 'कुलानन्दतन्त्र', 'ज्ञानकारिका' का कलकत्ता संस्कृत सीरीज (नं० ३) में तथा 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' और 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' काशी से (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में) प्रकाशन हुआ है।

टिप्पणी १०—'समय' शब्द का अर्थ—

"दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति रूढ्या उच्यते।"

(भास्करराय)

-कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्।

इसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है।

पृष्ठ ४४१

टिप्पणी १२—समय तथा समयाचार

'समय' तथा 'समया' तन्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। 'समय' से तात्पर्य है शिव से और 'समया' का अर्थ है शक्ति। इन दोनों नामों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ समान ही है—समं = साम्यं, याति = गच्छति इति समयः समया च। शम्भु के साथ साम्य धारण करने से 'समया' का अर्थ देवी है और देवी के साथ साम्यधारण करने से 'समय' शिव का द्योतक है। लक्ष्मीधर के अनुसार—यह साम्य पाँच प्रकार का होता है = अधिष्ठानसाम्य, अवस्थानसाम्य, अनुष्ठान-

साम्य, रूपसाम्य तथा नामसाम्य। इनके उदाहरण के लिए द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी की ४१ वें पद्य की व्याख्या। शिवशक्ति के सामरस्यके उपासक साधक 'समयी' कहलाते हैं। समयी तथा कौल मत में लक्ष्मीधर मूलतः पार्थक्य मानते हैं। समयमार्ग में अन्तार्य है, तो कौलमार्ग में वहिर्य। समयी के लिए न मन्त्र का पुरश्चरण है, न जप है, न बाहरी होम है, न बाहरी पूजाविधि है। हृदय कमल में ही यह पूजा सम्पन्न की जाती है :—

"समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति, बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमल एव यावत् सर्वमनुष्ठेयम्।"

(लक्ष्मीधर-सौन्दर्यलहरी-टीका, श्लोक ४१)।

टिप्पणी १३—पञ्चमकार का रहस्य—

कौलाचार के विषय में बड़ा भ्रान्त धारणायें फली हुई हैं। तन्त्रों के प्रति लोगों के हृदय में जो एक अवहेलना तथा तिरस्कार का भाव बना हुआ है उसका प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान है। 'कौल' शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल वही है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन करने में समर्थ होता है। 'कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो योगक्रिया से कुण्डलिनी का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। स्वच्छन्दतन्त्र का कहना है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

कुल या कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलम्ब है। कुलाचार ही कौलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इस पञ्च 'म'कार या पञ्चतत्त्व या पञ्चमुद्रा के सहयोग से अनुष्ठित होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

इन पञ्च मकारों का रहस्य नितान्त गूढ है। वास्तव बात यह है कि ये आभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है वह यथार्थ से बहुत ही दूर है।

(१) मद्य का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जो सहस्रदल कमल है उससे जो सुधा क्षरित होती है, उसे ही मद्य कहते हैं।

उसी को पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसी लिए तन्त्रों का कथन है—

व्योमपंकजनि:स्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपापिनः॥
जिह्वया गलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपैष्टिकम्॥

इनमें पहला वचन 'कुलार्णव' का और दूसरा 'गन्धर्वतन्त्र' का है।

(२) मांस—जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहारी है। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्ये पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशो स निगद्यते॥

(३) मत्स्य—शरीरस्थ इडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा तथा यमुना है। इनमें प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालन करता है, वही यथार्थतः मत्स्य-साधक है। 'आगमसार' कहता है—

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः॥

(४) मुद्रा—सत्संगके प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत्-संग के मुद्रण (त्याग) का ही नाम मुद्रा है। 'विजयतन्त्र' का यही मत है—

सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता॥

(५) मैथुन का अर्थ है मिलाना। किसका ? सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुण्डलिनी का अथवा सुषुम्ना तथा प्राण का। स्त्री-सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख मिलता है उससे शतकोटिगुणित अधिक सुख सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने से होता है। यही वास्तव मैथुन है—

ईडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः॥
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्।

इन अर्थों से स्पष्ट है कि इन पंच मकारों का सम्बन्ध अन्तर्याग से है। इसका अधिकारी भी साधारण व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत उच्च कोटि का साधक ही इसका उपयुक्त पात्र है, जो परद्रव्य के विषय में अन्धतुल्य, परस्त्री के विषय में नपुंसकतुल्य, परनिन्दा में मूकतुल्य तथा जितेन्द्रिय है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

पृष्ठ ४४२

टिप्पणी १४—तन्त्र स्मृतिरूप है—

"तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्य-प्रकाश); परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्ड-शेषत्वमिति सिद्धान्तात्"—(सौभाग्यभास्कर का उपक्रम)।

टिप्पणी १५—तन्त्र की मान्यता—

"वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः, वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः; तस्य तत्कर्तृत्वात। अतः शिवागमो द्विविधस्त्रैवर्णिकवेदागमो।"
(श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८)।

पृष्ठ ४४९

टिप्पणी १६—'एकायन' शाखा—

(क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।
(ईश्वरसंहिता १।४३)

(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥
(श्रीप्रश्नसंहिता)

(ग) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि वाको वाक्यमेकायनम्।
(छान्दोग्य ७।१।२)

टिप्पणी १७—'एकायन' काण्व शाखा—

द्रष्टव्य काण्वशाखामहिमासंग्रह (मद्रास हस्तलिखित पुस्तक सूची, भाग ३)

टिप्पणी १८—पाञ्चरात्रश्रुति—

पञ्चरात्रश्रुतावपि यद्वत् सोपानेन प्रासादमावहेत्, प्लवनेन वा नदीं तरेत्; तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः।

(स्पन्दकारिका, पृ० २)

पाञ्चरात्रोपनिषत् च—ज्ञाता च ज्ञेयश्च वक्ता च भोक्ता च भोज्यश्च।

(स्पन्दकारिका, पृ० ४०)

पृष्ठ ४५०

टिप्पणी १९—'एकायन' का महत्त्व—

शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते॥
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(ईश्वरसंहिता)

टिप्पणी २०—यूनानी वैष्णव—

इण्डियन एण्टीक्वेरी १९११, पृ० १३।

टिप्पणी २१—सात्त्वत विधि—

सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च॥

(महाभारत-भीष्मपर्व)

टिप्पणी २२—'सात्त्वत' की प्राचीनता—

एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्त्वतां राजानो भोज्यायैव ते अभिभोजेति एतान् अभिषिक्तान् आचक्षते।

(ऐतेरेय ब्राह्मण ८।३।१४)

टिप्पणी २३—पाञ्चरात्र का अर्थ—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

(श्रीभाष्य २।२।४२)

पृष्ठ ४५१

टिप्पणी २४—'सात्वत' का अर्थ—

सातयति सुखयति आश्रितानिति सात् परमात्मा। स एषामस्तीति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महाभागवताः (पराशरभट्ट—विष्णुसहस्रनामभाष्य)।
(वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृ० ४६५)।

'सात्वत' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य इस प्रकार है—

आश्रितों को सुख देने के कारण 'सात्' = परमात्मा। सुखवाची 'सात्' धातु से निष्पन्न शब्द। सात् को धारण करने के हेतु 'सात्वत' का अर्थ हुआ भगवान् के भक्त = भागवत व्यक्ति।

टिप्पणी २५—पाञ्चरात्र का अर्थ—

रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारद पाञ्चरात्र १।४४।
नारद पञ्चरात्र १।४५।५३, तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता।११।६४।

पृष्ठ ४५२

टिप्पणी २६—पाञ्चरात्र की ब्रह्मकल्पना

पाञ्चरात्र की यह ब्रह्मभावना औपनिषद् कल्पना के नितान्त अनुरूप है—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥
(अहि० सं० २।५३)

पृष्ठ ४५४

टिप्पणी २७—नारायणी शक्ति का रूप—

व्यापकावति संश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ।
(अहि० सं० ४।७८)

टिप्पणी २८—शक्ति तथा शक्तिमान् का सम्बन्ध—

अहिर्बुध्न्य संहिता (३।२५) में दोनों का भेद स्पष्टाक्षरों में उल्लिखित है—"देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।"
(अहि० सं० ३।२५।२७)।

टिप्पणी २९—भगवान् की शक्ति

स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥

(अहि० सं० ५।४)

टिप्पणी ३०—भगवान् की शक्तियाँ—

क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपो विष्णोः संकल्प उच्यते॥

(अहि० सं० ३।२१)

पृष्ठ ४५५

टिप्पणी ३१—अन्तर्यामी का अर्थ—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

(बृह० उप० ३।७।३)

पृष्ठ ४५७

टिप्पणी ३२—शरणागति का अर्थ—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

(अहि० सं० ३७।३१)

पृष्ठ ४५८

टिप्पणी ३३—मुक्त दशा में जीव की स्थिति—

यथाऽनेकेन्धनादीनि संप्रविष्टानि पावके।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वद् ब्रह्मण्युपासकाः॥
सरित्संघाद् यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा॥

(जयाख्य सं० ४।१२१, १२३)

टिप्पणी ३४—औखेय शाखा की रचना—

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

पृष्ठ ४६१

टिप्पणी ३५—भागवत में भगवत्-तत्त्व—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
(भागवत २।६।३२)

पृष्ठ ४६२

टिप्पणी ३६—भागवत में परमतत्त्व—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भागवत १।२।११)

टिप्पणी ३७—'भगवान्' शब्द का अर्थ—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
(भागवत ५।१२।११)

टिप्पणी ३८—भगवान् का 'पुरुष' अवतार—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥
(भागवत ११।४।३)

श्लोक का तात्पर्य—भगवान् ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच भूतों को अपने आप से सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें लीला से अपने अंश अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करते हैं (भोक्ता रूप से नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्यों के फलस्वरूप जीव ही होता है), तब उन आदिदेव नारायण को 'पुरुष' नाम से पुकारते हैं। यही उनका पहिला अवतार है।

टिप्पणी ३९—भागवत में 'माया' का रूप—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
यद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः॥
(२।९।३३)

पृष्ठ ४६३

टिप्पणी ४०—भक्ति का महत्त्व—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(११।१४।२०)

टिप्पणी ४१—हरि की प्रीति का साधन—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च॥
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।
(७।७।५१–५२)

टिप्पणी ४२—ज्ञानमार्ग में क्लेश—

श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(भागवत १०।१४।४)।

श्लोक का अर्थ—हे भगवन्, आपकी भक्ति सब प्रकार के कल्याण का मूल स्रोत-उद्गम है। जो लोग इसे छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रम उठाते हैं और दुःख भोगते हैं, उनको बस क्लेश हाथ लगता है और कुछ नहीं, जैसे थोथी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं।

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योंकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

पृष्ठ ४६४

टिप्पणी ४३—भक्त की कामना—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(भागवत ११।१०।१४)।

टिप्पणी ४४—भक्त की अभिलाषा—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(६।११।२६)।

टिप्पणी ४५—भागवत की महिमा—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥
(भाग० १२।१३ १८)।

[भागवत निर्मल पुराण है जो वैष्णवों को प्रिय है। इसमें जीवन्मुक्त परमहंसों में सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय एवं माया के लेश से रहित ज्ञान का गान किया है। इस ग्रन्थ की सबसे अधिक विलक्षणता यह है कि इसका नैष्कर्म्य (कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति) भी ज्ञान वैराग्य और भक्ति से युक्त है। इसके श्रवण, पठन तथा मनन से भक्ति पाकर जीव मुक्त हो जाता है।]

पञ्चदश परिच्छेद

शैव-शाक्त तन्त्र

पृष्ठ ४७६

तन्त्रों के भेद तथा विस्तार

लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी पद्य ३१ की व्याख्या करते समय तीनों मार्गों (कौल, मिश्र तथा समय) के तन्त्रों का विशेष परिचय दिया है। कौल मार्ग के अनुसार महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि तन्त्रों की संख्या ६४ है, जिनके नाम तथा विषय का उल्लेख 'वामकेश्वर', 'कुलचूडामणि', 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा लक्ष्मीधर की टीका में किया गया है ! इन ग्रन्थों में विशेष पार्थक्य मिलता है। समयमार्ग के अनुसार ये समस्त तन्त्र अवैदिक हैं, तथा ऐहिक-सिद्धि-प्रतिपादक होने से वैदिक मार्ग से कोसों दूर हैं (एवं चतुःषष्टितन्त्राणि परिज्ञातॄणामपि वञ्चकानि । ऐहिकसिद्धिपरत्वाद् वैदिकमार्गदूराणि)। मिश्रमार्ग के तन्त्र आठ प्रकार के हैं—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दुर्वास-मत। ये तन्त्र उच्च ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने पर भी लौकिक अभ्युदय के साधक हैं; अतः कौल और समय उभयमार्गों के मिश्रण होने से यह 'मिश्रमार्ग' कहलाता है। समय-मत का मूलग्रन्थ 'शुभागमपञ्चक' कहलाता है, जिसमें वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार-द्वारा विरचित संहितापञ्चक की गणना है। लक्ष्मीधर ने इन संहिताओं का उद्धरण भी टीका में दिया है। तन्त्र-साहित्य नितान्त विशाल, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। शाक्त तन्त्रों की संख्या हजार से ऊपर है, परन्तु इस विशाल साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। इन प्रकाशित तन्त्रों में कुलचूडामणि, कुलार्णव, तन्त्रराज (टीका प्राणमञ्जरी, सुदर्शन-रचित) शक्तिसंगम तन्त्र (कालीखण्ड तथा ताराखण्ड); कालीविलास, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता आदि विशेष विख्यात हैं। शंकराचार्य ने भी 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्र का निर्माण किया, जिसकी टीका आचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने लिखी। लक्ष्मणदेशिक (११ शतक) का 'शारदातिलक' राघवभट्ट की टीका के साथ तान्त्रिक रहस्यों

का आधार है। इन सामान्य तन्त्रों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आचार्यों के भी अपने विशिष्ट ग्रन्थ हैं।

श्रीविद्या के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं—मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोधभट्टारक (दुर्वासामुनि)। श्री नटनानन्द कृत कामकलाविलास की टीका (श्लो० ५२) से पता चलता है कि श्रीविद्या के दो सन्तान सुप्रसिद्ध हैं—कामराजसन्तान और लोपामुद्रा सन्तान, जिनमें कामराज सन्तान ही अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है; लोपामुद्रासन्तान तो विच्छिन्न हो गया है। कामराज में दिव्यौघ गुरुओं के नाम भी वहाँ दिए गए हैं।

पृ० ४७७

तान्त्रिक पूजा के केन्द्र

तान्त्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र थे, जिनमें पूजा का विधान भिन्न-भिन्न द्रव्यों की सहायता से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा गौड (बंगाल या कामाख्या)। इनकी पूजा-पद्धति में पर्याप्त भिन्नता थी। मद्य, मांस आदि पञ्च मकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में नितान्त आवश्यक है; परन्तु केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था। काश्मीर में उन द्रव्यों की केवल भावना की जाती थी। केवल गौड देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष प्रयोग था। इसका विवेचन 'शक्तिसंगमतन्त्र' के कालीखण्ड के नवम पटल (श्लोक २०) में इस प्रकार है—

दुग्धेन केरले पूजा काश्मीरे भावना मता।
गौडे प्रत्यक्षदानं स्यात् त्रितयं कीर्तितं मया॥

इन पद्धतियों के भीतर भी अनेक अवान्तर प्रकार प्राचीन काल में विद्यमान थे, जिससे इस पूजा के विशेष प्रचार तथा प्रसार का पता चलता है।

द्रष्टव्य—शक्तिसंगमतन्त्र, पृ० १०७–१०७ (कालीखण्ड)।

पृष्ठ ४७९

टिप्पणी १—पाशुपतों की पञ्चपदार्थी—

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत्—तत्त्वनिश्चयः॥

(सर्वदर्शन-संग्रह)

टिप्पणी २—'पशु' का अर्थ

कौण्डिन्य भाष्य में इस शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति दी गई है—"पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशा नाम कार्यकरणाख्याः कलाः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सन्निरुद्धाः शब्दादिविषयपरवशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते।"

इसका तात्पर्य है कि पश्यन (दर्शन) तथा पाशन (बन्धन) के साथ सम्बद्ध होने से पशु कहलाता है। पाश इस तन्त्र का पारिभाषिक शब्द है। पाश का अर्थ है कार्य (=पृथिवी आदि भूतपञ्चक तथा उनके गुण गन्धरस आदि) तथा करण (=त्रयोदश इन्द्रियाँ) नामक कलायें। इन पाशों के द्वारा पाशित अर्थात् बद्ध जीव शब्दादि विषयों में परवश होकर रहता है। इसलिए 'पशु' का तात्पर्य बद्ध जीव से है।

(कौण्डिन्यभाष्य, पृ० ५)

पृष्ठ ४८०

टिप्पणी ३—कर्ता की स्वतन्त्रता—

कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं वा अपेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।

(कौण्डिन्यभाष्य २।६)

टिप्पणी ४—'मल' का रूप तथा प्रकार—

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च शक्तिर्हेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वं मूलं पञ्चैते तन्त्रे हेयाधिकारतः॥

(गणकारिका ८)

पृ० ४८२

टिप्पणी ५—स्थिरदेह का महत्त्व

शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद ने 'रसहृदय' तन्त्र में बहुत ही ठीक कहा है—

इति धन-शरीर-भोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात् तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहे॥

टिप्पणी ६—'पारद' का अर्थ—

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।

पृष्ठ ४८३

टिप्पणी ७—पारद का महत्त्व—

मूर्च्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥

टिप्पणी ८—रस की सिद्धि

भर्तृहरि ने इसी की ओर संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

टिप्पणी ९—'रस' का अर्थ –

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"—(तैत्ति० उप० २।७।१)

पृष्ठ ४८४

टिप्पणी १०—वाक् ही परम तत्त्व

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ में इस तत्त्व का प्रतिपादन इस सुप्रसिद्ध कारिका में किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

उमामहेश्वर ने अपने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है—"महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति"। यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते—"तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम् । आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ।"

पृष्ठ ४८५

टिप्पणी ११—भर्तृहरि के मत में त्रयी वाक्

भर्तृहरि के मत में वाक् के तीन ही रूप होते हैं—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥

(वाक्यपदीय १।१४४)

यहा स्पष्ट ही वाक् के त्रिविध रूपों का वर्णन है और इस वाक् का व्याकरण आगम में सर्वोच्च तथा अद्भुत स्थान माना गया है। हेलाराज ने स्पष्टतः भर्तृहरि की पश्यन्ती वाक् को औरों की परा वाक् माना है—"संविच्च पश्यन्तीरूपा परा वाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते, विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः" (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्य-समुद्देश ११)। इसी मन्तव्यानुसार भर्तृहरि ने पश्यन्ती का वर्णन वही किया है जो इतर वैयाकरणों ने परा वाक् का किया है। नागेश ने 'लघुमञ्जूषा' में वाक् के चार भेद माने हैं, जिसमें परावाक् की गणना तथा कल्पना कौल तन्त्र से गृहीत की गई है। तन्त्रों का उदय भर्तृहरि (षष्ठ शती) से प्राचीन है; तथापि इन्होंने तन्त्र का मत न मान कर अपनी नई कल्पना की है। भर्तृहरि मूल तत्त्व को सत्ता या 'प्रतिभा' के नाम से पुकारते हैं। वाक् अपनी समग्रता में इसी 'प्रतिभा' का ही रूप है। मध्यमा का नामकरण वाक् के तीन भेदों की सत्ता होने पर ही संगत होता है।

टिप्पणी १२—व्याकरण की प्रशंसा—

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मालानां चिकित्सितम्।
पवित्रं　सर्वविद्यानामधिविद्यं　प्रकाशते॥

पृष्ठ ४८६

टिप्पणी १३—'शक्तिविशिष्टाद्वैत' का अर्थ

इसकी व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार बतलायी है—"शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ। तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।"

टिप्पणी १४—शक्ति की नित्यता

श्रुति ने एक स्थान पर कहा है कि—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥
तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी
(सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद २)

इस उक्ति से भी ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्द परशिव की वह शक्ति समस्त भुवन-निर्माण के लिए उस परशिव से समवेत होकर उनकी इच्छानुसार साक्षात् स्वरूप रहती है, अर्थात् परशिवाभिन्न वह विमर्शशक्ति विश्वोत्पादन में कारणीभूत हुआ करती है। 'सिद्धान्तशिखामणि' से यह भी पता चलता है कि नाना प्रकार विश्वसृष्टि करनेवाली विमर्श नामक पराशक्ति, जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है, वही ब्रह्म और वही 'विश्वभाजन' कहलाता है।

पृष्ठ ४८७

टिप्पणी १५—जगत की नित्यता—

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम्।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः॥
शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते।
फेनोर्मिबुद्बुदाकारो यथा सिन्धोर्न भिद्यते॥

(सिद्धान्तशिखामणि)

यथा पुष्पपलाशादिर्वृक्षरूपान्न भिद्यते।
तथा शिवात् पराकाशाद् जगतो नास्ति भिन्नता॥

पृष्ठ ४८८

टिप्पणी १६—जगत् का प्रसार

इसी विषय को श्रीरेणुकाचार्यजी ने संक्षिप्त रूप में बड़ी सुन्दर रीति से समझाया है।

आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात्॥

टिप्पणी १७—जीव का रूप

रेणुकाचार्यजी ने भी कहा है—

"अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामकः।"

पृष्ठ ४८९

टिप्पणी १८—'स्थल' का अर्थ

शास्त्र में लिखा भी है कि—

स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः ॥

टिप्पणी १९—ब्रह्म का स्वरूप—

आलयः सर्वभूतानां लोकानां लोकसम्पदाम् ।
यद् भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत् प्राहुरक्षरम् ॥

पृष्ठ ४९०

टिप्पणी २०—शक्ति का कार्य—

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माण -- समवायस्वरूपिणी ॥
तदिच्छयाऽभवत् साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी ।

(सिद्धान्तशिखामणि, परि० २)

टिप्पणी २१—मुक्ति का रूप—

तस्माद् लिंगांगसंयोगात् परा मुक्तिर्न विद्यते ।

टिप्पणी २२—'वीरशैव' का अर्थ

इस संप्रदाय के वीरशैव नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः ॥
नादयति यन्न नश्यति निर्वाति न निर्वृतिं प्रयच्छति च ।
ज्ञानक्रियास्वभावं यत्तत्तेजः शाम्भवं जयति ॥

(तत्त्वप्रकाशिका)

पृष्ठ ४९१

टिप्पणी २३—बिन्दु से उत्पत्ति—

जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यः नादबिन्द्वर्णकारणम् ॥

(रत्नत्रय, का० २२)

टिप्पणी २४—बिन्दु तथा शिव का सम्बन्ध

श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्टतः यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—

स हि तादात्म्यसम्बन्धी जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्ड चिद्घनैकस्वरूपिणः ॥

टिप्पणी २५—शाक्त देह का अर्थ—

मलाद्यसम्भवात् शाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः।

(श्रीमृगेन्द्रागम)

पृष्ठ ४९३

टिप्पणी २६—मल की निवृत्ति—

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद् वा ॥

(तत्त्वप्रकाशिका, का० १८)

पृष्ठ ४९४

टिप्पणी २७—माया का रूप—

माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा।

(तत्त्वप्रकाशिका, का० ९)

टिप्पणी २८—ज्ञानादि का मुक्ति में अनुपयोग—

असिधारा सुतीक्ष्णापि न स्वात्मच्छेदिका यतः।

(मोक्षकारिका, का० ६७)

टिप्पणी २९—'दीक्षा' का अर्थ

'दीक्षा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रलोक' १ जिल्द पृ० ८३) में इस प्रकार किया है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

टिप्पणी ३०—दीक्षा के द्वारा उद्धार—

आचार्यसंस्थितो देवो दीक्षाशक्त्यैव मुञ्चति ।
स्वशक्त्योद्धृतान् पुंसो मन्त्रसाधनसाध्यया ॥

(मोक्षकारिका, का० ६६)

टिप्पणी ३१—'प्रत्यभिज्ञा' में दीक्षा का उपयोग—

स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः ।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत् स्पृशत्यप्यणुतामयः ॥

(तन्त्रालोक, जि० ८।१०।१६३)

पृष्ठ ४६५

टिप्पणी ३२—दीक्षा का लाभ

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन यथार्थ है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥

(परमार्थसार, का० ६०)

टिप्पणी ३३—'जीवन्मुक्त' का रूप—

प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः ।

(परमार्थसार, का० ६१)

संवित् का रूप—

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः ।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः ॥

(क्षेमराज)

टिप्पणी ३४—जगत् परमशिव का रूप—

"श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य अखिलमभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति ।"

(प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र ३)

टिप्पणी ३५—जगत् का उन्मीलन—

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"।

(प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २)

पृष्ठ ४९६

टिप्पणी ३६—शिव का कला-विलास

आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है:—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

टिप्पणी ३७—'आनन्दशक्ति' का अर्थ—

आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।

(तन्त्रसार)

टिप्पणी ३८—आमर्ष का अर्थ—

आमर्षं ईषत्तया वेद्योन्मुखता।

टिप्पणी ३९—क्रियाशक्ति का अर्थ—

"सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः"—(तन्त्रसार, १ आह्निक)

पृष्ठ ४९८

टिप्पणी ४०—आभासवाद का अर्थ—

"आभासरूपा एव जडचेतन-पदार्थाः"।

(प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।२।१)

अभिनव का विवृत्तिविमर्शिनी में यह कथन यथार्थ है:—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥

पृष्ठ ४९९

टिप्पणी ४१—'स्वातन्त्र्यवाद' का अर्थ—

"अविद्या अनिर्वाच्या वैचित्र्यं चावत्ते इति व्याहतम्। परमेश्वरीशक्तिरेव द्वयमिति हृदयावर्जकः क्रमः। तस्माद् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्व-

भावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः"—अभिनव-प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ।

टिप्पणी ४२—'तत्व' का अर्थ—

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः ॥
तत् तत्वं क्रमशः पृथिवी–प्रधानं–पुंशिवादयः ।

(तन्त्रालोक ६।४-५)

पृष्ठ ५००

टिप्पणी ४३—विमर्श का रूप—

"विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्"—(परा प्रावेशिका, पृ० २)

टिप्पणी ४४—शिव को शक्ति से लाभ

इसीलिए शंकराचार्य का कथन है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १)

टिप्पणी ४५—शिव-शक्ति का सामरस्य—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः ।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

टिप्पणी ४६—शिव तथा शक्ति का सहवास—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते ॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।

(सोमानन्द-शिवदृष्टि ३।२।३)

पृष्ठ ५०२

टिप्पणी ४७—ईश्वर का उन्मेष—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३)

टिप्पणी ४८—'सदाशिव' की कल्पना—

अहन्ताच्छादितमस्फुटेदन्तामयं यादृशं परावररूपं विश्वं ग्राह्यम्।

(प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृ० ७)

'सत्ता' का आरम्भ यहीं से होता है। इसी से इसका नाम 'सदाख्य' तत्त्व है—

सदाख्यायां भवं सादाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या।"

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।१।२)

टिप्पणी ४९—'सद्विद्या' की धारणा—

समानाधिकरण्यं च सद्विद्याऽहमिदंधियोः।

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३)

टिप्पणी ५०—"माया" का अर्थ—

"कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया"—(शिवसूत्र)

पृष्ठ ५०३

टिप्पणी ५१—'प्रत्यभिज्ञा' का तात्पर्य—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तव्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ४।१।२)

पृष्ठ ५०४

टिप्पणी ५२—परमेश्वर का स्वातन्त्र्य

प्रत्यभिज्ञाहृदय में 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' तथा 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इन सूत्रों का यही तात्पर्य है।

पृष्ठ ५०५

टिप्पणी ५३—अहेतुकी भक्ति का रूप

इसी भक्ति को लक्षित कर भागवत का कथन है:—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

बोधसार में (पृ० २००-२०१) नरहरि का कथन भी यथार्थ है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म-परमात्मनोः॥

टिप्पणी ५४—शक्ति का स्वरूप—

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः॥

(कामकलाविलास)

टिप्पणी ५५—भवभूति की 'अमृतकला'—

विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।

(उत्तररामचरित १।१)

१६—दर्शनों में समन्वय

टिप्पणी १—अभेद ही शास्त्र का तात्पर्य

वाचस्पति मिश्र के इस कथन का यही तात्पर्य है—

"भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते, अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति"।

टिप्पणी २—अधिकारिभेद से उपदेश भेद—

अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्ययुक्तान्यशेषतः।

टिप्पणी ३—दर्शन की सोपान परम्परा—

आरुह्य भूमिमधरामितराधिरोढुं
शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम्।
उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन
सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्ध्यै॥

(संक्षेपशारीरक २६०)

टिप्पणी ४—प्रस्थान भेद का तात्पर्य

द्रष्टव्य संक्षेपशारीरक २।५९.६५।

टिप्पणी ५—दर्शनों में क्रमिक विकास—

"नहि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात् तेषाम्, किन्तु बहिर्विषयप्रवाहाणामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः। सर्वेषां प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेन अद्वितीये परमेश्वर एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्"—प्रस्थानभेद।

टिप्पणी ६—'न्याय' की प्रथम भूमिका—

"न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखिदुःख्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेन आत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः। एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्।"

पृष्ठ ५३१

टिप्पणी ७—सांख्य का प्रामाण्य—

"सांख्यस्य नाप्रामाण्यम्; व्यावहारिकात्मनो जीवस्य इतरविवेकज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वे विवक्षितार्थे बाधाभावात्"—विज्ञानभिक्षु।

टिप्पणी ८—न्यायाचार्य की उक्ति—

इदं तु कण्टकावरणं तत्त्वं तु बादरायणात्।

टिप्पणी ९—परमार्थ का रूप

कुलार्णव तन्त्र में (१।११०) शङ्कर के इस कथन का तात्पर्य यही है:—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

टिप्पणी १०—उदयन की व्याख्या

उदयनाचार्य का स्पष्ट कथन है—

"सा चावस्था न हेया, मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात् । निर्वाणं तु तस्य स्वयमेव । × × । तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत् ।"

(आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ४५१)

पृष्ठ ५३३

टिप्पणी ११—धर्मों के भीतर समान तत्त्व—

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥

(ब्रह्मबिन्दु, १९)

परिशिष्ट २

प्रमाण-ग्रन्थावली

(मूल संस्कृतग्रन्थों का निर्देश पुस्तक के तत्तत् स्थानों पर किया गया है। अतः कलेवरवृद्धि के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता)।

सामान्य ग्रन्थ

चन्द्रकान्त तर्कालंकार—बसुमल्लिक फेलोशिप लेक्चर (१ भाग, बंगला)।

करालप्रसन्न मुखोपाध्याय—तत्त्वज्ञानामृत (४ खण्ड, बंगला)।

नरसिंह चिंतामणि केळकर—हिन्दू तत्त्वज्ञान (मराठी)।

नर्मदाशङ्कर मेहता—हिन्दी तत्त्वज्ञान नो इतिहास (२ भाग-गुजराती)।

साधु शांतिनाथ—प्राच्यदर्शनसमीक्षा।

राहुल सांकृत्यायन—दर्शन-दिग्दर्शन (प्रयाग)।

Maxmuller—Six Systems of Philosophy.

S. Ayengar—Outlines of Indian Philosophy.

S. N. Dasgupta—History of Indian Philosophy.

S. Radha Krishnan—Indian Philosophy.

Hiriyanna—Outlines of Indian Philosophy.

J. Sinha—Indian Psychology (Perception).

S. K. Maitra—Hindu Ethics. (Calcutta Univ.)

Chatterjee and Dutt—Introduction to Indian Philosophy (Calcutta)

J. N. Farquhar—Outline of Religious Literature of India (Oxford)

श्रौत दर्शन

कोकिलेश्वर शास्त्री—उपनिषदेर उपदेश (४ भाग बंगला)।

हीरेन्द्रनाथ दत्त—उपनिषद् (ब्रह्मतत्त्व-बंगला)।

Gough—Philosophy of Upanisads.

Deussen—Philosophy of Upanisads.

Belvelkar and Ranade—Indian Philosophy (Creative Period.), Poona.

R. D. Ranade—Constructive Survey of Upanisadic Philosophy; Poona.

B. M. Barua—Pre-Buddhist Philosophy.

Hume—Thirteen Upanishads (Introduction).

Sen—Mystic Philosophy of Upanisads. (Lucknow).

गीता दर्शन

लोकमान्य तिलक—गीता-रहस्य (पूना)।

हीरेन्द्रनाथ दत्त—गीता में ईश्वरवाद (प्रयाग)।

Aurobindo—Essays on Gita. (2 Series)

" —Message of Gita.

Garbe—Introduction to Gita.

M. Rangacharya–Bhagavata Gita Lectures. (Madras)

V. G. Rele--Bhagavad Gita. (Bombay)

M. N. Sarkar–Mysticism in Bhagavad Gita (Calcutta)

D. G. Vedeker—Bhagawad Gita (Poona)

S. K. Prem—Yoga of Bhagawad Gita.

Saradananda--Religion and Philosophy of Gita.

D. Sharma—Lectures on Gita. (Madras)

चार्वाक दर्शन

G. N. Kaviraj—Theism in Ancient India (S. B. studies Vol. II)

D. R. Sastri—A short History of Indian Materialism.

D. R. Sastri--Charvaka Sasthi. (Calcutta)

जैन दर्शन

Weber—Jain Canon (Indian Antiquary Vol. XVII-XXI)
Buhler—The Indian Sect of Jainism.
C. R. Jain—The Practical Path.
H. Warren—Jainism.
महेन्द्रकुमार—जैनदर्शन (काशी) ।
Ghoshal—द्रव्यसंग्रह (Introduction and Notes)
A. Chakravarti—पञ्चास्तिकायसार (Introduction)
W. Schuring—Die Leher der Jains.
Mrs. Stevenson—The Heart of Jainism.
A. Sen—Schools and Sects in Jain Literature.
B. C. Law—Life and Teachings of Mahavira.
C. L. Shah—Jainism in North India.

बौद्ध दर्शन

बलदेव उपाध्याय—बौद्ध दर्शन मीमांसा (काशी) ।
नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्मदर्शन (पटना) ।
Oldenberg—Buddha.
Kern—Indian Budhism.
Yamakami Sogen—Systems of Buddhistic Thought. (Calcutta)
Mrs. Rhys Davids—Buddhism.
" —Buddhist Psychology.
A. B. Keith—Buddhist Philosophy.
Lala Hardayal—Bodhisattva.
N. Dutt—Spread of Buddhism.
Macgovern—Introduction to Mahayana Buddhism.
" —Manual of Buddhist Philosophy.
D. Suzuki—Outlines of Mahayana Buddhism.
" —Studies in Lankavatar Sutra.

Scherbastky—Central Conception of Buddhism.
,, Conception of Buddhist Nirvana.
,, Buddhist Logic (2 Vols.).
Poussin—Way to Nirvana.
S. Mukerjee-Buddhist Philosophy of Universal Flux.
Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism.
Winternitz—History of Indian Literature (Vol 2.).
Law—History of Pali Literature (2 Vols.).
भरतसिंह उपाध्याय—पालिसाहित्य का इतिहास (प्रयाग)।
S. Dutt—Early Buddhism Monachism.
Eliot—Hinduism and Buddhism (2 Vols).
Grimm—The Doctrine of the Buddhism.
Pratt—Pilgrimage of Buddhism
Obermiller—Buston's History of Buddhism.
B. Bhattacharya—Buddhist Esoterism.
Lounspery—Buddhist Meditation.

न्यायवैशेषिक

Ui—The Vaishesika Philosophy.
Seal— Positive Sciences of the Hindus.
Faddigon—Vaishesika philosophy.
Bodas—Tarka Sangraha
Keith—Indian Logic and Atomism.
Randle--Indian Logic in Early Schools.
Kuppu Swami—A primer of Indian Logic. (Madras)
J. C. Chaterjee—Hindu Realism. (Cambridge)
Gopinath Kaviraj--Bibliography of Nyaya Vaise'sika.
J. Sinha—Indian Realism.
S. C. Chaterjee—Nyaya Theory of Knowledge. (Calcutta University)
Umesha Mishra—Conception of Matter. (Allahabad)
फणीभूषण तर्कवागीश—न्याय परिचय (बंगला; कलकत्ता)।

सांख्य-योग

S. N. Dasgupta—Study of Patanjali. (Calcutta)
—Yoga as Philosophy and Religion.
Yoga Philosophy.—

A. B. Kieth—Sankhya System.

Yajneshvara Ghosh—Sankhya and Modern Thought.

Yajneshvara Ghosh—A Study of Yoga.

Mazumdar—Sankhya Conception of Personality.

N. K. Brahma—Philosophy of Hindu Sadhana.

G. N. Kaviraj—योग परिचय (कल्याण, योगाङ्क, पृ० ५१-६१)।

" —Causality : Sankhya.—
Yoga View (Saraswati Bhavan Studies Vol IV)

" —The Life of a Yogi (S. B. Studies Vol IX)

हरिहरानन्द आरण्य—सांख्यीय प्रकरणमाला।

हरिहरानन्द—योगभाष्य (हिन्दी अनुवाद, लखनऊ)।

मीमांसा

G. N. Jha—Prabhakar School of Mimansa.

G. N. Jha—Mimansa Philosophy. (B. H. U., Varanasi)

Keith—Karma Mimansa.

P. N. Sastri—Introduction to the Purva Mimansa.

C. Raja—Introduction to the Brihati.

Ram Swami Sastri—Introduction to Tattvabindu.

Kaviraj—Mimansa Mss, in Govt. Skt. Library (Saraswati Bhavan Studies, Vol. VI)

Kaviraja—Introduction to Tantravartika.

Sarkar—Mimansa Rules of Interpretation.

अद्वैत वेदान्त

Paul Deussen—System of Vedanta.

K. C. Bhattacharya—Studies in Vedantism.

K. Sastri—Introduction to Advaita Philosophy.
K. Sastri—Realistic Interpretation of Shankar Vadant.
M. N. Sarkar—System of Vadantic Thought and Culture. (Calcutta Univarsity)
M. N. Sarkar—Comparative Studies in Vedantism.
P. N. Mukhopadhyaya—Introduction to Vedant Philosophy (Calcutta)
V. Kirtikar—Studies in Vedant (Bombay)
D. M. Datta—Six Ways of Knowing.
S. K Das—A Study of Vedant.
हारेन्द्रनाथ दत्त—वेदान्त रहस्य (प्रयाग) ।
Urquahart—Vedant and Modern Thought.
G. N. Jha—Sankara Vedant. (Allahabad)
,, —Philosophical Discipline. (Calcutta)
Mahadevan—Philosophy of Advaita. (Madras)
कविराज—अद्वैत वेदान्त (शांकरभाष्यानुवाद की प्रस्तावना; वाराणसी) ।
बलदेव उपाध्याय—आचार्य शंकर (प्रयाग)
बलदेव उपाध्याय—आचार्य सायण और माधव (प्रयाग) ।
Ghate—The Vedant. (Poona)
Belvelkar—Vedant Philosophy. (Poona)

वैष्णव दर्शन

R. G. Bhandarkar—Vaisnavism, S'aivism and minor Sects.
Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect.
Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti Cult in Ancient India.
Schrader—Introduction to the Pancharatra.
Gopinath Rao—History of S'rivaisnavas.
Govindacharya—Metaphysique of Mysticism.
V. Rangachary—Heritage of Indian Culture (Vol. II, pp. 99-103).

S'rinivasachari—Ramanuja's Idea of the Finite.
S'rinivasachari—Philosophy of Bhedabheda.
संतदास बाबा—गुरुशिष्यसंवाद (ब्रह्मविद्या)।
Umesha Mishra—Nimbarka Pholosophy.
Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy.
Padmanabhacharya—Life and Teachings of S'ri Madhava,
व्रजनाथ शर्मा—वल्लभाचार्य और उनका सिद्धान्त।
Glasenapp—Philosophy of Madhva. (German)
C. R Krishna Rao—S'ri Madhva—Life and Teachings.
केदारनाथदत्त, भक्तिविनोद—जैनधम (बं०)।
केदारनाथदत्त—श्रीचैतन्यशिक्षामृत (बं०)।
गौर गोविन्दानन्द—साधन कुसुमांजलि (बं०)।
गौर गोविन्दानन्द—कृपाकुसुमांजलि (बं०)।
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्यचरितावली (५ भाग)।
Kennedy—Chaitanya Movement. (Calcutta)
S. N. Mallick—Philosophy of Vaisnava Religion (Lahore)
बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय (काशी)।

शैव-शाक्ततन्त्र

C. Pillai—Studies in S'aiva Siddhanta.
S. Sundaram—'Saiva School of Hinduism.
N. Ayyar—Origin and Early History of S'aivism in South India.
S. S. Sasti—S'ivadvaita of S'ri Kantha.
J C. Chatterjee—Kashmira S'aivism.
K. C. Pande—Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study (Second Ed Varanasi, 1963.)

Woodroffe—Shakti and Shakta.
Woodroffe—Garland of Letters.
Woodroffe—Serpent Power.
Woodrooffe and Mukhopadhyaya—World As Power Series.
नर्मदाशंकर मेहता—शाक्त सम्प्रदाय (गुजराती)।
सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण—कौलमार्ग रहस्य (बंगला)।
P. C. Chakravarti—Philosophy of Sanskrit Grammar.
Kaviraj—Some Aspects of Vir-Saiva Philosophy. (S. B Studies Vol. 2)
—Notes on Pas'upata Philosophy. (S. B. S. Vol. IX)
Tripura Philosophy (S. B. S. Vol. IX.)
गोपीनाथ कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना (२ भाग; प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६१.)
गोपीनाथ कविराज—तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि (प्रकाशक वही, १९६३)
डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय—शैव दर्शनबिन्दु (संस्कृत) (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६७)।

अनुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

ज

ट

त

ब

PRINTED BY SKYLARK PRINTERS, 11355, ID-GAH ROAD, NEW DELHI

ह